ॐ नमः सिद्धेभ्यः

ओंकार विन्दुसंयुक्तं नित्य ध्यायन्ति योगिन·।
कामद मोक्षद चैव ओंकाराय नमो नम·॥ १॥
अविरलशब्दघनौघ प्रक्षालितसकलभूतलमलकलका ।
मुनिभिरुपासिततीर्था सरस्वती हरतु नो दुरितान् ॥ २॥
अज्ञानतिमिरान्धाना ज्ञानाजनशलाकया । चक्षुरुन्मीलित येन तस्मै श्रीगुरवे नम.॥
श्रीपरमगुरवे नम परम्पराचार्य्यं श्रीगुरवे नम. ।

सकलकलुषविध्वसक श्रेयसा परिवर्द्धक धर्म्मसवन्धक भव्यजीवमन प्रति· बोधकारकमिद शास्त्र **'सहज सुख साधन'** नामधेय, एतन्मूलग्रन्थकर्त्तार श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रथकर्त्तार श्रीगणधरदेवा प्रतिगणधरदेवास्तेषा वचोनुसार-मासाद्य। **ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी जैन** विरचितम् ।

मगल भगवान् वीरो मगल गौतमो गणी ।
मगल कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मगलम् ॥
सर्वे श्रोतार सावधानतया श्रृण्वन्तु ॥

श्री वीतरागाय नम.

ब्रह्मचारी शीतल प्रसाद जी जैनधर्म के उद्भट विद्वान थे। उनका जन्म नवम्बर 1878 ई० मे और स्वर्गवास 10-2-1942 को हुआ। उन्होने लगभग 100 ग्रन्थो की टीका व रचना की है। सभी ग्रन्थ उच्चकोटि के तथा आध्यात्मिक प्रधान हैं। उन्होने "सहज सुख साधन" नामक लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना 16 10 1934 को पूर्ण की थी। यह ग्रन्थ दो जगह छप चुका था लेकिन अनुपलब्ध होने पर सन् 1971 मे फुलेरा मे मुनि विवेक सागर जी की प्रेरणा द्वारा भी प्रकाशित हुआ था। ये मुनि श्री आचार्य ज्ञानसागर जी (आ० विद्या सागर जी के गुरु) के शिष्य थे।

प्रस्तुत ग्रन्थ का यह सस्करण श्रीमती विद्यावती जैन A-90 विवेक विहार दिल्ली, श्रीमती सुन्दरी देवी जैन ट्रस्ट 7/36 A दरियागज, नई दिल्ली, श्रीमती विमला देवी जैन 11, दरियागज, नई दिल्ली, श्री धनपाल सिंह जैन 7/9 दरियागज नई दिल्ली, श्री रतनचन्द जैन 23, दरियागज नई दिल्ली की प्रेरणा से हुआ है। सभी धन्यवाद के पात्र हैं। यह ग्रन्थ जैन मन्दिरो, त्यागियो, विद्वानो एव स्वाध्याय करने वालो को स्वाध्यायार्थ भेंट किया जायेगा।

श्री महावीर जयन्ती 18-4-1989 महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ

प्राक्कथन

॥ श्री वीतरागाय नम. ॥

मोक्ष मार्गस्य नेतार भेत्तार कर्म भूभृताम् ।
ज्ञातार विश्वतत्त्वानां वंदे तद्गुण लब्धये ॥

मोक्षमार्ग के नेतृत्व, कर्म रूपी पर्वतो के भेतृत्व तथा समस्त तत्वो के ज्ञातृत्व सदृश अनुपम गुणो की प्राप्ति के लिए मैं उन गुणो के धारक तीर्थंकर प्रभु की वन्दना करता हू ।

ससारी प्राणी ने क्षणभगुर और नाशवान भौतिकवाद मे सुख मान रक्खा है और वह मोह के जाल मे फसकर रागद्वेषादिक कषाय के वश होकर हर समय कर्मों को बाधता रहता है । मिथ्यात्व मे फसकर, स्व-वस्तु जो अपनी आत्मा है उसे भूलकर पर-वस्तुओ को अपनी मान रहा है । शरीर, स्त्री, कुटुम्ब सभी पर-वस्तु हैं इनसे मोह छोडना चाहिए, इष्ट अनिष्ट कल्पना नही करनी चाहिए । पहले श्रद्धान पक्का करो । बिना सम्यग्दर्शन के आगे का प्रयत्न बिना अक की बिन्दी के समान निष्फल है । सच्चे देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा से ही मनुष्य अपने जीवन को सुखी बना सकता है । मुनिधर्म का यदि पालन कर सके तो उत्तम है । यदि वह धारण नही किया जा सके तो श्रावक धर्म भी मानव जीवन के भवन का कलश है ।

आजकल धर्म का सम्बन्ध शरीर सम्बन्धी बाह्य क्रियायो से जोडा जा रहा है जबकि धर्म आत्मा का स्वभाव है । स्वानुभूति अथवा आत्मानुभूति ही धर्म है । आत्मा को आधार मानकर चिन्तन करने वाले मुनियो की परम्परा जो श्रमण परम्परा है वो ही गन्तव्य स्थान मोक्ष तक ले जाने वाली है । निश्चय-व्यवहार एक-दूसरे के पूरक हैं । जैन दर्शन वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान का दर्शन है, इसमे पूर्वाग्रह अथवा हठवाद को स्थान नही ।

प्राणी को हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह रूप पापो तथा अभक्ष्य, सप्तव्यसन, रात्रि भोजन, चर्म प्रयोग, मद्य, मास, मधु, पाँच अदम्बर फल, द्विदल आदि का त्याग करना चाहिए । छना पानी पीना, दान देना, देवदर्शन, जलाभिषेक, पूजा-पाठ, जाप, स्वाध्याय, तीर्थयात्रा, व्रत उपवास, मुनि समागम आदि शुभकार्यों को सदैव करते रहना चाहिए । वैराग्यभाव उत्पन्न हो, कषाय मद हो, भोगो से निवृत्ति हो, मुनि बनने के भाव हो, न बन सके तो अनुमोदना करे, अत समय मे समाधिमरण की तीव्र उत्कठा हो । यदि ऐसा भाव जाग्रत नही हुआ है तो समझना चाहिए कि ये क्रियायें भोगो की प्राप्ति के लिए की जा रही है ।

चरित्र खलुधम्मो जो सो समोत्ति णिछिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो ह समो ॥

वास्तव मे चरित्र धर्म है वही साम्यभाव है । मोह तथा क्षोभरहित आत्मा का परिणाम ही साम्यभाव है ।

'स्वरूपेचरण चारित्र स्व समय प्रवृत्तिरित्यर्थ । तदेव वस्तु स्वाभाव त्वाद्धर्म' स्वरूप मे आचरण करना चारित्र है—वही वस्तु का स्वाभाव होने से धर्म है ।

मात्र ज्ञान से दु ख का नाश नही होता—

णाणी खवेइ कम्म णाणवलेणेदि वोल्लए अण्णाणी ।
वेज्जो भेसज्जमहु जाणे इदि णस्सदे वाली ॥६१॥

ज्ञानी पुरुष ज्ञान के बल से कर्मों का क्षय करता है ऐसा अज्ञानी कहता है । वैद्य औषधि जानता है तो क्या केवल जानने से रोग दूर होगा ? औषधि के साथ उसका सेवन भी जरूरी है । मोक्ष-मार्ग के ज्ञान के साथ सम्यक् आचरण भी जरूरी है ।

आचरण उचित करुणापूर्ण तथा सयमी जीवन आत्मोत्थान का आद्यचरण है । कागज के शेर से डरने वाले क्या सिंह को पकड सकेंगे ? जो विषय और भोगो के दास हैं, शरीर के गुलाम हैं, सदाचार पालन करने से जी चुराते हैं, क्या वो आध्यात्मिक गुणो का विकास कर सकेंगे ? जिस गृहस्थ ने मुनियो को दान नही दिया, जिनेन्द्र भगवान की पूजा नही की तथा पचपरमेष्ठियो की वन्दना नही की उसे मोक्ष की प्राप्ति कसे हो सकती है ?

सच्चे गुरु का स्वरूप

विषयाशावशातीतो, निरारम्भोऽपरिग्रह ।
ज्ञानध्यान तपोरक्त, तपस्वी स प्रशस्यते ॥१०॥

जो गृहस्थ पाप के आश्रवो को त्याग करने मे असमर्थ है, उसे पुण्य के कारणो को नही छोडना चाहिए । जो निरन्तर पाप को बाधता रहता है वह मरकर पशु योनि या नरक पर्याय रूप कुगति को प्राप्त करता है ।

सर्वार्थसिद्धि के देव ३३ सागर तक हर समय तत्व चर्चा करते हैं परन्तु कर्मों का विनाश तो दूर रहा देश सयम भी उन्हें प्राप्त नही होता । यदि तत्व-चर्चा या ज्ञान मात्र से मुक्ति हो जावे तो फिर सम्यग्दर्शन और सम्यग्चरित्र निष्फल हो जायेगा । द्वादशाग की रचना मे प्रथम स्थान आचार सम्बन्धी अग को दिया है ।

स्वाध्याय ही परम तप है । उससे हेय उपादेय का ज्ञान होगा । अनादि-काल से अधिकाश प्राणीमात्र क्रियायो को धर्म मानते हैं । धर्म वह है जो मोक्ष ले जावे ।

"देहाश्रित कार क्रिया आपको, मानत शिव मगचारी रे
शिव चाहे तो द्विविधि कर्म तें, कर निज परनति न्यारी रे
आपा नहि जाना तूने, कैसा ज्ञानधारी रे ॥"

धर्म ही अपना सच्चा बन्धु है । अत धर्माराधना करना ही अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य है । धर्म याने ज्ञाता दृष्टा रहना, इष्ट अनिष्ट पना नही होना । समभाव का होना । राग, द्वेष व मोह के अभाव का नाम ही समभाव है । समभाव में रत्नत्रय, दशधर्म, अहिसा, श्रावक व निर्ग्रन्थ धर्म, दयाधर्म आदि 2 सभी गर्भित हो जाते हैं । हम सभी भव्य आत्मायें इस आध्यात्मिक ग्रन्थ की स्वाध्याय कर आत्म-कल्याण कर सकें, इसी शुभ भावना सहित ।

श्री महावीर जयन्ती — महावीर प्रसाद जैन, सर्राफ

भूमिका

मानव पर्याय एक दिन बदल जरूर जाती है, परन्तु पर्यायधारी द्रव्य नित्य बना रहता है। यह मानव पर्याय जीव और पुद्गल द्रव्य से रचित है। दोनो की अनादि सगति ससार मे हो रही है। दोनो मे वैभाविक परिणमन शक्ति है। इस कारण कार्माण शरीर मे बद्ध कर्मों के विपाक से आत्मा की राग द्वेष मोह परिणति होती है। इस अशुद्ध भाव का निमित्त पाकर पुन कार्माण शरीर मे कर्म पुद्गलो का कर्मरूप बन्ध होता है। बीज वृक्षवत् एक दूसरे के विभाव परिणमन मे निमित्त हो रहे है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से यह जीव पुद्गल के मोह में उन्मत्त होकर अपने असल जीव द्रव्य को भूले हुए हैं। जिस २ पर्याय को यह जीव धारता है उसी मे तन्मय हो जाता है और तद्रूप

ही अपने को मान लेता है। रातदिन इन्द्रिय सुख की तृष्णा मे आकुल होकर उसके शमन का उपाय करता है। परन्तु सत्य उपाय को न पाकर तृष्णा का रोग अधिक-अधिक बढता चला जाता है।

पुद्गल की सगति से जीव को भी उसी तरह अनेक दुख व त्रास भोगने पडते हैं जैसे लोहे की सगति से अग्नि पीटी जाती है। इस कर्म पुद्गल की सगति से जीव उसी तरह पराधीन है जैसे पिजरे मे बन्द पक्षी पराधीन है। सच्चा सहजसुख आत्मा का गुण है। इसकी श्रद्धा विना यह मूढ प्राणी विषय सुख का लोलुपी होकर भव भ्रमण मे सकट उठाता हुआ पराधीनता की बेडी में जकडा हुआ महान विपत्ति मे ग्रसित है। यदि उस प्राणी को अपने सहज सुख की श्रद्धा हो जावे और यह ज्ञान हो जावे कि वह सहज सुख मेरे ही पास है तथा मुझे मेरे ही द्वारा मिल सकता है तब इसको स्वाधीन होने का मार्ग मिल जावे। रागद्वेष, मोह जब पराधीनता को आमन्त्रण करते है तब वैराग्य पूर्ण आत्मज्ञान पराधीनता को काट कर आत्मा को स्वाधीन करता है।

जिस चिकनाई से बन्ध होता है उस चिकनाई के सूखने से ही बन्ध कटता है। प्राचीन काल मे श्री ऋषभ, अजित, सम्भव, अभिनन्दन, सुमति, पद्मप्रभु, सपार्श्व, चन्द्रप्रभु, पुष्पदन्त, शीतल, श्रेयास, वासपूज्य, विमल, अनन्त, धर्म, शान्ति, कुन्थु, अरह, मल्लि, मुनिसुव्रत, नमि, नेमि पार्श्व, महावीर चौबीस तीर्थंकर हो गए है। इनके मध्य मे अनगिनती महात्मा हो गए है। श्री महावीर पीछे श्री गौतम, सुधर्म, जबू तीन केवल ज्ञानी हो गए हैं। इन सबो ने आत्मा को पहचाना और जाना था कि आत्मा स्वभाव से शुद्ध ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय परमात्मा रूप ही है।

यह आत्मा भावकर्म रागद्वेषादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि से भिन्न है। इसी ज्ञान को सम्यग्दर्शन सहित सम्यग्ज्ञान करके

शारीरिक तथा मानसिक दु खो से भरा हुआ यह ससाररूपी खारा समुद्र है। जैसे खारे समुद्र से प्यास बुझती नही वैसे ससार के नाशवत पदार्थों के भोग से तृष्णा की दाह शमन होती नही। बडे २ सम्राट भी ससार के प्रपचजाल से कष्ट पाते हुए अन्त मे निराश हो मर जाया करते हैं।

इस ससार के चार गतिरूपी विभाग हैं—नरक गति, तिर्यंच गति, देव गति मनुष्य गति। इनमे से तिर्यंच गति व मनुष्य गति के दु ख तो प्रत्यक्ष प्रगट है। नरक गति व देव गति के दु ख यद्यपि प्रगट नहीं हैं तथापि आगम के द्वारा श्री गुरु वचन प्रतीति से जानने योग्य हैं।

(१) **नरक गति के दु.ख**—नरक गति मे नारकी जीव दीर्घ काल तक वास करते हुए कभी भी सुखशान्ति पाते नही। निरतर परस्पर एक दूसरे से क्रोध करते हुए वचन प्रहार, शस्त्र प्रहार, कायप्रहार आदि से कष्ट देते व सहते रहते है, उनकी भूख प्यास की दाह मिटती नही, यद्यपि वे मिट्टी खाते है, वैतरणी नदी का खारा जल पीते है परन्तु इससे न क्षुधा शात होती है न प्यास बुझती है। शरीर वैक्रियिक होता है जो छिदने भिदने पर भी पारे के समान मिल जाता है। वे सदा मरण चाहते है परन्तु वे पूरी आयु भोगे विना नरक पर्याय छोड नही सकते। जैसे यहाँ किसी जेल खाने मे दुष्टबुद्धिधारी चालीस-पचास कैदी एक ही बडे कमरे मे रख दिये जावे तो एक दूसरे को सताएँगे, परस्पर कुवचन बोलेगे लडेगे, मारे पीटेगे और वे सब ही दु खी होगे व घोर कष्ट पाने पर रुदन करेगे, चिल्लावेगे तो भी कोई कैदी उन पर दया नही करेगा। उलटे वाक्प्रहारके वाणोसे उनके मन को छेदित किया जायगा। यही दशा नरकधरा मे नारकी जीवो की है। वे पचेन्द्रिय सैनी नपुसक होते है। पाँचो इन्द्रियों के भोगो की तृष्णा रखते हैं। परन्तु उनके शमन का कोई साधन न पाकर निरतर क्षोभित व सतापित रहते हैं। नारकियो के परिणाम बहुत खोटे रहते हैं। उनके अशुभतर कृष्ण, नील व कापोत तीन लेश्याएँ होती हैं। ये लेश्याएँ बुरे भावो के दृष्टान्त हैं। सबसे बुरे कृष्ण लेश्या के, मध्यम बुरे नील लेश्या के, जघन्य खोटे कापोत लेश्या के भाव होते हैं। नारकियो के पुद्गलो का स्पर्श, रस, गंध, वर्ण सर्व बहुत अशुभ वेदनाकारी रहता है। भूमि कर्कश दुर्गन्धमई होती

ग्रन्थो का पठन करेगे जिनके वाक्यो का इसमे सग्रह है तो पाठको को विशेष आत्मलाभ होगा। इसमे यथासम्भव जिनवाणी का रहस्य समझ कर ही लिखा गया है। तौभी कही अज्ञान व प्रमाद से कोई भूल हो तो विद्वज्जन मुझे अल्पश्रुत जानकर क्षमा करे व भूल को ठीक करलें। मेरी भावना है कि यह ग्रन्थ सर्वजन पढकर आत्मज्ञान को पाकर सुखी हो।

अमरावती।
आश्विन सुदी ८ वीर स० २४६०
ता० १६—१०—१६३४

जैन धर्मप्रेमी—
ब्रह्मचारी सीतलप्रसाद।

विषय-सूची

विषय **पृष्ठ**

प्रथम अध्याय—

विषय		पृष्ठ

सातवां अध्याय—

विषय	पृष्ठ

आठवां अध्याय—

नौवां अध्याय—

ॐ

सहज सुख साधन।

दोहा

सहजानन्द स्वभाव को, सुमरण कर बहु वार।
भाव द्रव्य से नमन कर, लहूँ सुबुद्धि उदार ॥ १ ॥

श्री जिनेन्द्र ऋषभेश से, वीर धीर पर्यन्त।
वर्तमान चौबीस जिन, नमहुँ परम गुणवन्त ॥ २ ॥

सिद्ध शुद्ध आतम विमल, परमानन्द विकास।
नमहुँ भाव निज शुद्ध कर, होय आतम हुल्लास ॥ ३ ॥

श्री गुरु आचारज गुणी, साधु संघ प्रतिपाल।
निजाराम के रमण से, पायो ज्ञान विशाल ॥ ४ ॥

उपाध्याय श्रुत के धनी, ज्ञान दान कर्तार।
अध्यातम सत ज्ञान से, किये भव्य उद्धार ॥ ५ ॥

साधु साधते आपको, निज अनुभव पथ लीन।
कर्म कलंक मिटाय के, रहे सदा स्वाधीन ॥ ६ ॥

तीनो पद ध‍‍र गुरुनिको, बार बार सिर नाय।
जिनवाणी पावन नमूँ, आतम तत्व दरशाय ॥ ७ ॥

आत्मधर्म जग सार है, यही कर्म क्षयकार।
यही सहज सुखकार है, यही भर्म हरतार ॥ ८ ॥

यही धर्म उत्तम महा, यही शरण धरतार।
नमन करूँ इस धर्म को, सुख शान्ती दातार ॥ ९ ॥

सहजानन्द सुधा महा, जे चाखन उत्साह।
तिन हित साधन सार यह, लिखूँ तत्व अवगाह ॥१०॥

प्रथम अध्याय
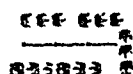
संसार स्वरूप।

"संसरणं संसारः परिवर्तनम्" संसार उसको कहते है जहाँ जीव संसरण या भ्रमण करता रहता है, एक अवस्था से दूसरी अवस्था को धारता है, उसको छोडकर फिर अन्य अवस्था को धारता है। संसार मे थिरता नही, ध्रुवता नही, निराकुलता नही, संसार दु:खो का समुद्र है।

शरीर सम्बन्धी दु:ख है—जन्मना, मरना, वृद्ध होना, रोगी होना, अशक्त होना, भूख प्यास से पीडित होना, गर्मी सरदी से कष्ट पाना, डास मच्छरादि से पीडित होना, बलवानो द्वारा शस्त्र घात सहना, आदि।

मन सम्बन्धी दु:ख है—इष्ट वियोग व अनिष्ट संयोग तथा रोग पीडासे शोकित व खेदित होना, परकी सम्पत्ति अधिक देखकर ईर्ष्या भाव से संतापित रहना, बहुत धनादि परिग्रह की प्राप्ति की तृष्णा से आकुलित रहना, अपनी हानि करने वाले पर द्वेष व क्रोध भाव से कष्ट पाना, अप-मानकर्ता को हानि करने के भाव से पीडित रहना, संताप व कष्ट दातारो से भयभीत रहना, इच्छानुकूल वस्तु न पाकर क्षोभित रहना, आदि।

उन महात्माओं ने इसी आत्माके शुद्ध स्वभाव का ध्यानरूप सम्यक्चारित्र पाला। इसी रत्नत्रयमई आत्म-समाधि के द्वारा अपने को बन्ध रहित मुक्त करके परमात्मपद मे स्थापित किया। उन्ही तीर्थंकरादि महान् पुरुषों के दिखाए हुए मार्ग पर उनके पश्चात् अनेक महात्मा चले और अनेको ने उसी सार उपदेश को ग्रन्थो के भीतर स्थापित किया।

अध्यात्ममय निश्चय धर्म के ग्रन्थ निर्माताओं मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य का नाम अति प्रसिद्ध है। उनके निर्मापित पचास्तिकाय, प्रवचनसार, अष्ट-पाहुड आदि मे श्री समयसार एक अपूर्व ग्रन्थ है, जो आत्मा को आत्मारूप परसे भिन्न दिखाने को दर्पण के समान है। श्री कुन्दकुन्दाचार्य के तीनो प्राभृतो के टीकाकार श्री अमृतचन्द्र आचार्य बडे ही आत्मज्ञानी व न्यायपूर्ण सुन्दर लेखक हो गए है। श्री समयसार के अर्थ को खोलने वाले जयपुर निवासी पडित जयचन्दजी हो गए हैं। उनको आत्म-ख्याति नाम टीका आत्मतत्त्व झलकाने को अपूर्व उपकार करती है। कारजा (बरार) निवासी श्री सेनगण के विद्वान् भट्टारक श्री वीरसेनस्वामी समयसार के व्याख्यान करने को एक अद्वितीय महात्मा है। उनके पास एक वर्षाकाल बिताकर मैंने समयसार आत्मख्याति का वाचन किया था। श्री वीरसेनस्वामी के अर्थ प्रकाश से मुझ अल्प बुद्धि को विशेष लाभ पहुचा था। उसी के आश्रय से और भी जैन साहित्य के मनन करने से तथा श्रीमद् राजचन्द्रजी के मुख्य शिष्य श्री लघुराजजी महाराज की पुन प्ररणा से इस ग्रन्थ के लेखन मे इस बात का उद्यम किया गया है कि श्री तीर्थंकर प्रणीत जिन धर्म का कुछ बोध दर्शाया जावे व अनेक आचार्यो के वाक्यो का सग्रह कर दिया जावे जिससे पाठकगण स्वाधीनता को कुंजी को पाकर अपने ही अज्ञान के कपाटो को खोलकर अपने ही भीतर परमात्मदेव का दर्शन कर सकें।

जो भव्य जीव इस ग्रन्थ को आदि से अन्त तक पढ़कर फिर उन

इस सफे के बाद आगे/पीछे वाला 4 पेज प॰

है। हवा छेदक व असह्य चलती है। शरीर उनका बहुत ही कुरूप भयावना होता है, जिसके देखने से ग्लानि आ जावे। अधिक शीत व अधिक उष्णता की घोर वेदना सहनी पड़ती है। इस तरह नरक गति मे प्राणी बहु काल तक तीव्र पाप के फल से घोर वेदना सहते है। जो रौद्रध्यानी है वे अधिक तर नर्क गति मे जाते है। दुष्ट परघातक स्वार्थसाधक हिसक परिणामो की प्रणाली को रौद्रध्यान कहते है। यह चार प्रकार का है—

१—**हिसानन्दी**—दूसरे प्राणियो को कष्ट देकर, कष्ट दिलाकर व कष्ट देते हुए जानकर जिसके मन मे बडी प्रसन्नता रहती है वह हिसानदी रौद्रध्यानी है। वह मानवो को रोगी, शोकी, दुखित, भूखे प्यासे देखकर भी दया नही लाता है, किन्तु उनसे यदि कुछ अपना मतलब निकलता हुआ जानता है तो उनकी हिसा करके उनसे धनादि ग्रहण कर लेता है। किसी देशके मानव कारीगरी द्वारा मिहनत मजूरी करके अपना पेट भरते है, हिसानन्दी ऐसा उद्योग करता है कि वैसी कारीगरी की वस्तु स्वय बना कर व बनवाकर उस देश मे सस्ते दाम मे विक्रय करता है और उस देश की कारीगरी का सत्यानाश करके व आप धनी होकर अपने को बडा चतुर मानता है व बडा ही प्रसन्न होता है।

हिसानन्दी वैद्य दिनरात यही चाहता है कि प्रजा मे रोगो की वृद्धि हो जिससे मेरा व्यापार चले। वह रोगीको जो शीघ्र अच्छा होसकता है देर तक बीमार रखके अपना स्वार्थ साधता है। हिसानन्दी नाज का व्यापारी यह चाहता है कि अन्न न पैदा हो, दुर्भिक्ष पडे, लोगो को अन्न का कष्ट हो, जिससे मेरा अन्न अच्छे दामो मे बिके और मै धनवान होजाऊँ। हिसानन्दी वकील यह चाहता है कि भाई भाई मे, माता पुत्र मे, परस्पर झगडा हो, मुकद्दमा चले, मै खूब धन कमाऊँ व जगत के प्राणी परस्पर मार पीट करे, फौजदारी केस चले, मुझे खूब धन मिले। हिसानन्दी वेश्या यह चाहती है कि धनिक पुत्र अपनी स्त्री से स्नेह न करके मुझ से स्नेह करे और मुझे अपना सब धन दे डाले। यह धर्म कर्म से शून्य हो जावे। हिसानन्दी चोर मानवो को गोली से व खड्ग से मारकर धन लूट लेते है।

हिसानन्दी देवी देवताओ के नाम पर व परमेश्वर के नाम पर

पशुओ की निर्दयता मे बलि करता हुआ व शिकार मे पशुओ का घात करता हुआ व मासाहार के लिये पशुओ का वध करता हुआ बडा ही प्रसन्न होता ह । हिसानन्दी व्यापारी पशुओ के ऊपर भारी बोझा लादकर उनको मार-मारकर चलाता हे। भूखे प्यासे होने पर भी अन्नादि नही देता हे । दु खी करके अपना काम लेता हे । हिसानन्दी ग्राम मे, वन में आग लगा कर प्रसन्न होता है । थोडी-सी बात मे क्रोधित हो मानवो को मार डालता है । जगत मे हिसा होती हुई सुनकर प्रसन्न होना, हिसानन्दी का भाव रहता है । हिसानन्दी व्यर्थ बहुत पानी फेक कर, भूमि खोदकर, अग्नि जलाकर, वायु को आकुलित कर, वृक्षो को काटकर प्रसन्न होता है। हिसानन्दी के बडे क्रूर परिणाम रहते हैं। यदि कोई दोषी अपना दोष स्वीकार करके आधीनता मे आता है तो भी उस पर क्षमा नही करता है और उसे जडमूल से नाश करके ही प्रसन्नता मानता है।

२—**मृषानन्दी**—जो असत्य बोल करके, असत्य बुलवा करके, असत्य बोला हुआ जानकर व सुनकरके प्रसन्न होता है वह मृषानन्दी रौद्रध्यानी है । मृषानन्दी धन कमानेके लिये भारी असत्य बोलता है,उसको दया नही आती है कि यदि इसे मेरी मायाचारी विदित होगी तो कष्ट पाएगा। मृषानन्दी टिकटमास्टर मूर्ख गरीब ग्रामीण स्त्रीको असत्य कहकर अधिक दाम लेकर कम दाम का टिकट दे देता है। मृषानन्दी झूठा मुकद्दमा चलाकर, झूठा कागज बनाकर, झूठी गवाही देकर दूसरो को ठग कर बडा प्रसन्न होता है। मृषानन्दी हिसाब-किताब मे भोले ग्राहक से अधिक दाम लेकर असत्य कहकर विश्वास दिला कर ठग लेता है । मृषानन्दी गरीब विधवा के गहनो का डिब्बा रखकर पीछे मुकर जाता है ओर उसे धोखा देकर बडा ही अपने को चतुर मानता है। मृषानन्दी मिथ्या धर्म की कल्पनाओ को इसलिये जगत मे फैलाता हे कि भोले लोग विश्वास करके खूब धन चढाएँगे जो मुझे मिल जायगा । उसे धर्म के बहाने ठगते हुए कुछ भी दया नही आती है।

३—**चौर्यानन्दी**—चोरी करके, चोरी कराके व चोरी हुई जानकर जो प्रसन्न होता हे वह चौर्यानन्दी रौद्रध्यानी है। चौर्यानन्दी अनेक प्रकार के जाला से चाहे जिसका धन बिना विचारे ठग लेता है, छिपाके चुरा लाता है, डाका डालकर ले लेता है, प्राण वध करके ले लेता है, छाटे-

छोटे बच्चो को फुसलाकर जगल मे ले जाता है, उनका गहना उतार कर उन्हे मार कर फेंक देता है। चौर्यानन्दी चोरो से मित्रता करके चोरी का माल सस्ते दाम मे खरीदकर धनिक होकर अपना बडा गौरव मानता है, झूठा सिक्का चलाकर झूठे नोट बनाकर प्रजा को ठगता है। घी मे चरबी, तेल व चाहे जो कुछ मिलाकर ठीक घी कहकर बेचता है और धन कमाता है। वह कम तोल कर व कम नापकर धोखा देकर धन एकत्र करने मे बडा ही राजी रहता है। चौर्यानन्दी चोरी करने की शिक्षा देकर अनेको को चोरी के व्यसन मे फँसा देता है।

४—**परिग्रहानन्दी**—जो तृष्णावान होकर अन्याय से दूसरो को कष्ट देकर भी धनादि परिग्रह को एकत्र करने की तीव्र लालसा रखता है वह परिग्रहानन्दी रौद्रध्यानी है। परिग्रहानन्दी स्त्रियो के उचित हको को मार कर व भाइयो के हको को मार कर लक्ष्मी अपनाना चाहता है। वह दूसरो का अपने से अधिक परिग्रह देखकर निरन्तर यह भावना करता है कि या तो मेरा धन बढ जावे या इन दूसरो का धन नष्ट हो जावे। परिग्रहानन्दी धर्म सेवन के लिये समय नही निकालता है। धर्म के समय मे धन के सचय के आरम्भ मे लगा रहता है। परिग्रह के लिये भारी से भारी पाप करने मे उसको ग्लानि नही आती है। अत्यन्त तृष्णावान होकर जगत के मानवो को व पशुओ को कष्टदायक व्यापार का आरम्भ करता है। वृद्ध होने पर भी धनाशा त्यागता नही। परिग्रह के मोह मे अन्धा बना रहता है। परिग्रहानन्दी को जब कभी धन की व कुटुम्ब की हानि हो जाती है तब घोर विलाप करता है। प्राण निकलने के समान उसको कष्ट होता है।

इन चारो ही प्रकारके रौद्रध्यान करने वाले प्राणियो के भाव अशुभ रहते हैं। उनके कृष्ण नील कापोत लेश्या सम्बन्धी भाव पाये जाते है जिनसे वे नर्क आयु बाधकर नर्क चले जाते है जहा भी ये ही तीन लेश्याएँ होती है। अन्याय पूर्वक आरम्भ करने का व तीव्र धनादि का मोह नर्क मे प्राणी को पटक देता है।

(२) **तिर्यंचगति का दुःख**—तिर्यंचगति मे छ प्रकार के प्राणी पाये जाते हैं।

(१) **एकेन्द्रिय स्थावर**—जैसे पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक, तथा वनस्पतिकायिक। ये सब सचित्त दशा मे हवा के द्वारा जीते है व बढते है, हवा न मिलने से मर जाते है। खान की व खेत की मिट्टी जीव सहित है। सूखी व जली हुई मिट्टी जीव रहित है। कूप, बावडी, नदी का पानी सचित्त है। गर्म किया हुआ, रौदा हुआ, टकराया हुआ पानी जीव रहित है। लाल ज्योतिमय स्फुलिगो के साथ जलती हुई अग्नि सचित्त है। गर्म कोयलो मे अचित्त आग है। समुद्र, नदी, सरोवर व उपवन की गीली हवा सचित्त है। गर्म व सूखी व धुएँ वाली हवा अचित है। फल फूल पत्ता शाखा हरी भरी वनस्पति सचित्त है। सूखा व पका फल, गर्म व पकाया हुआ सागादि व यत्र से छिन्न भिन्न किया हुआ साग फलादि व लवणादिसे स्पर्श रस गधादि बदलाया हुआ साग फलादि जीव रहित अचित्त वनस्पति है।

जीव सहित सचित्त एकेन्द्रिय जीवो को एक स्पर्शन इन्द्रिय से छूकर ज्ञान होता है। इसे मतिज्ञान कहते है। स्पर्शके पीछे सुख व दु ख का ज्ञान होता है इसे श्रुत ज्ञान कहते है। दो ज्ञान के धारी होते है। इनके चार प्राणपाये जाते है—स्पर्शनेंद्रिय, शरीर का बल, श्वासोछ्वास, आयु कम।

(२) **द्वेन्द्रिय प्राणी**—जैसे सीप, शख, कौडी, केचुआ, लट आदि। इनके दो इन्द्रियाँ होती है। स्पर्शन ओर रसना। इनसे ये जानते है। इनके प्राण छ होते है, एकेन्द्रिय से दो प्राण अधिक होते हैं। रसना इद्रिय और वचन बल। एकेन्द्रिय की तरह इनके भी दो ज्ञान होते है।

(३) **तेन्द्रिय जीव**—जैसे कुन्थु, चीटी, कुम्भी, विच्छू, घुन, खटमल, जू। इनके घ्राणेद्रिय अधिक होती है। ये छूकर, स्वाद लेकर व सूँघकर जानते हैं। ज्ञान दो होते हे—मति श्रुत। प्राण एक अधिक होता है। घ्राण को लेकर सात प्राण होते है।

(४) **चौन्द्रिय**—जैसे मक्खी, डास, मच्छर, भिड, भ्रमर, पतगा आदि। इनके आँख अधिक होती है। इससे आठ प्राण व दो ज्ञान मति-श्रुत होते है।

(५) **पचेन्द्रिय मन रहित असैनी**—जैसे कोई जाति के पानी मे पैदा

होने वाले सर्प । इनके कान भी होते हैं । इसमें नौ प्राण व दो ज्ञान मति श्रुत होते हैं ।

(६) पंचेन्द्रिय मन सहित सैनी—जैसे चार पगवाले मृग, गाय, भैंस, कुत्ता, बिल्ली, बकरा, घोड़ा, हाथी, ऊट आदि । दो पगवाले पक्षी जैसे मोर, कबूतर, तीतर, बटेर, काक, चील, हंस मैना, तोता आदि । उर से चलने वाले नागादि व जल में पैदा होने वाले मछली, मगरमच्छ, कछुए आदि । इनके मन बल को लेकर दश प्राण होते हैं । साधारण दो ज्ञान मति श्रुत होते हैं । मन एक सूक्ष्म हृदय स्थान में कमल के आकार अंग होता है, जिसकी सहायता से सैनी प्राणी संकेत समझ सकता है, शिक्षा ग्रहण कर सकता है, कारण कार्य का विचार कर सकता है, तर्क वितर्क कर सकता है व अनेक उपाय सोच सकता है ।

छः प्रकार के तिर्यंचों को क्या २ दुःख हैं वे सब जगत को प्रगट हैं । एकेन्द्रिय जीवों के अकथनीय कष्ट हैं । मिट्टी को खोदते हैं रौंदते हैं, जलाते हैं, कूटते हैं, उन पर अग्नि जलाते हैं । धूप की ताप से मिट्टी के प्राणी मर जाते हैं । मिट्टी के शरीर धारी का देह एक अंगुल का असंख्यातवाँ भाग बहुत ही छोटा होता है । एक चने के दाने बराबर सचित्त मिट्टी में अनगिनती पृथ्वी कायिक जीव हैं । जैसे हमें कोई कूटे, छीले, कुल्हाड़ी से छेदे तो स्पर्श का कष्ट होता है वैसे पृथ्वी के जीवों को हल चलाने आदि से घोर कष्ट होता है । पराधीन पने वे सहते हैं, कुछ बचने का उपाय नहीं कर सकते, भागने को असमर्थ हैं । सचित्त जल को गर्म करने, मसलने, रौंदने आदि से महान कष्ट उसी तरह होता है जैसे पृथ्वी के जीवों को । इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है । एक पानी की बून्द में अनगिनती जलकायिक जीव होते हैं । पवन कायिक जीव शीतादि की टक्करों से, गर्मी के झोकों से, जल की तीव्र वृष्टि से, पंखों से, हमारे दौड़ने कूदने से टकराकर बड़े कष्ट से मरते हैं । इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है । एक हवा के छोटे झोंके में अनगिनती वायुकायिक प्राणी होते हैं ।

अग्नि जल रही है, जब उसको पानी से बुझाते हैं, मिट्टी डालकर बुझाते हैं व लोहे से निकलते हुए स्फुलिंगों को घन की चोटों से पीटते

हैं तब उन अग्निकायिक प्राणियो को स्पर्श का बहुत दु ख होता है । इनका शरीर भी बहुत छोटा होता है । एक उठतीहुई अग्नि की लौमे अनगिनती अग्निकायिक जीव है । वनस्पति दो प्रकार की होती है—एक साधारण, दूसरी प्रत्येक । जिस वनस्पति का शरीर एक हो व उसके स्वामी बहुत से जीव हो,जो साथ२ जन्मे व साथ२मरे उनको साधारण वनस्पति कहते है । जिसका स्वामी एक ही जीव हो उसको प्रत्येक कहते है । प्रत्येक के आश्रय जब साधारण काय रहते है तब उस प्रत्येक को सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है । जब साधारण काय उनके आश्रय नही होते है तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है । जिन पत्तो मे, फलादि मे जो रेखाएँ बधन आदि निकलते है वे जब तक न निकले तब तक उनको सप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है, जब वे निकल आते है तब उनको अप्रतिष्ठित प्रत्येक कहते है । तुच्छ फल सप्रतिष्ठित प्रत्येक के दृष्टान्त है ।

साधारण वनस्पति को ही एकेन्द्रिय निगोद कहते है । बहुधा, आलू, घुइया, मूली, गाजर भूमि मे फलने वाली तरकारियाँ साधारण या सप्रतिष्ठित प्रत्येक होती है । अपनी मर्यादा को प्राप्त पकी ककडी, नारगी व पका आम, अनार, सेव, अमरूद आदि प्रत्येक वनस्पति है । इन वनस्पति कायिक प्राणियो को बडा कष्ट होता है । कोई वृक्षो को काटता है, छीलता है, पत्तो को नोचता है, तोडता है, फलो को काटता है, सागको छौकता है, पकाता है, घास को छीलता है । पशुओ के द्वारा व मानवो के द्वारा इन वनस्पति जीवो को बडी निर्दयता से कष्ट दिया जाता है। वे विचारे पराधीन होकर स्पर्श द्वारा घोर वेदना सहते है व बडे कष्ट से मरते है । इस तरह एकेन्द्रिय प्राणियो के कष्टो को विचारते हुए रोएँ खडे हो जाते है जैसे—कोई किसी मानव की आख बद कर दे, जबान पर कपडा लगा दे, हाथ पैर बाध दे और मुग्दरो से मारे, छीले, पकावे, कुल्हाडी से टुकडे करे तो वह मानव महाकष्ट वेदन करेगा, पर कह नही सकता, चिल्ला नही सकता, भाग नही सकता, इसी तरह ये एकेन्द्रिय प्राणी अपने मति ज्ञान श्रुतज्ञान के अनुसार जानकर घोर दु ख सहन करते है । वे सब उनके ही बाधे हुए असाता वेदनीय आदि पाप कर्म के फल हैं ।

दो इन्द्रिय प्राणियो से चौन्द्री प्राणियो को विकलत्रय कहते है । ये

कीडे, मकोडे, पतगे, चीटी, चीटे आदि पशुओ व मानवो से व हवा, पानी,आग, आदि से भी घोर कष्ट पाकर मरते है। वडे सवल जतु छोटो को पकडकर खा जाते है। वहुत से भूख प्यास से, पानी की वर्षा से,आग जलने से, दीपक की लो मे, नहाने व धाने के पानी से, बुहारने से कपडो से, फटकारने से, शस्त्रो से तडफ तडफ कर मरते है। पैरो के नीचे, गाडियो के नीचे, भार के नीचे, चोकी पलग कुर्सी सरकाने से, विछोना विछाने से दवकर, टुकडे होकर, कुचलकर प्राण देते है। निर्दयी मानव जान वूझकर इनको मारते हैं। मक्खियो के छत्ते मे आग लगा देते है, मच्छरो को हाथो से मुरछलो से मारते है।

रात्रि को भोजन बनाने व खाने से वहुत से भूखे, प्यासे जतु अग्नि मे व भोजन मे पडकर प्राण गमाते है। सडीगुली चीज मे ये पैदा होजाते है, अनाज मे पैदा हो जाते है, इनको धूप मे गली मे डाल दिया जाता है, गर्म कढाओ मे पटक दिया जाता है, आटे, मैदे व शक्कर की वोरी मे वहुत से चलते फिरते दीख पडते है तो भी हलवाई लोग दया न करके उनको खौलते हुए पानी मे डाल देते है। रेशम के कीडो को औटते पानी मे डालकर मार डालते है। इन विकलत्रयो के दुख अपार है।

पचेन्द्रियोके दुखो को विचारा जावे तो विदित होगा कि जिन पशु पक्षियोका कोई पालक नही है, उनको रात दिन भोजन ढूढते हुए बीतता है, पेट भर खाने को नही मिलता है, वे विचारे भूख प्यास से, अधिक गर्मी सरदी,से अधिक वर्षा से तडफ तडफकर मरते है। शिकारी निर्दयता से गोली व तीर मारकर मार डालते है। मासाहारी पकडकर कसाईखानो मे तलवार से सिर अलग करते है। पशुवलि करने वाले धर्म के नाम से वडी ही कठोरता से पकडकर मारते है। जिनको पाला जाता है उनसे वहुत अधिक काम लिया जाता है, ज्यादा वोझा लादा जाता है। जितना चाहिये उतना घास दाना नही दिया जाता है। थके मादे होने पर भी कोडो की मार से चलाया जाता है, बेकाम व जखमी होने पर यो ही जगल मे व रास्ते में कही पटक दिया जाता है। वे भूखे प्यासे व रोग की वेदना से तडफ २ कर मरते है। पिंजरो मे बद किया जाता है, वे स्वतत्रता से उड नही सकते।

मछलियो को पकडकर जमीन पर छोड दिया जाता है, वे तडफ २ कर मरती है, जाल मे फँसकर प्राण गमाती है। हाथियो को दात के

लिए मार डाला जाता है। वैल, गाय, भैसो को हड्डी के लिए, चमडे के लिये मारा जाता है।

जीते हुए पशुओ को उबालकर चरबी निकाली जाती है। उनको कोडो मे मारकर चमडा खीचा जाता है। सवल पशु पक्षी निर्बलो को मारकर खाते है। हिसक मानव पशुओ को घोर कष्ट देते है, अपना स्वार्थ साधते है, उनके अगो को छेद डालते है, उनकी पूँछ काट डालते है, उनको घोर मानसिक व शारीरिक कष्ट देते है। इस तरह पचेन्द्रिय तिर्यचो को असहनीय दुख सहना पडता है।

तिर्यचगति मे व मनुष्य गति मे कितने प्राणी तीव्र पाप के उदय से लब्ध्यपर्याप्त पैदा होते है। जो गर्मी सरदी पसीना मलादि से सम्मूर्छन जन्म पाते है, वे एकश्वास मे अठारह वार जन्मते मरते है। उनकी आयु १/१८ श्वास होती है। स्वास्थ्ययुक्त पुरुष की नाडी फडकन की एक श्वास होती है, ४८ मिनट या एक मुहूर्त मे ऐसे ३७७३ श्वास होते है ऐसे जीव एक अतर्मुहूर्त मे ६६३३६ नीचे प्रमाण क्षुद्र भव धर कर जन्म मरण का कष्ट पाते है।

१	साधारण वनस्पति	वादर के	लगातार	६०१२ जन्म
२	,, ,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
३	पृथ्वीकायिक	वादर के	,,	६०१२ जन्म
४	,, ,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
५	जलकायिक	वादर के	,,	६०१२ जन्म
६	,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
७	वायुकायिक	वादर के	,,	६०१२ जन्म
८	,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
९	अग्निकायिक	वादर के	,,	६०१२ जन्म
१०	,,	सूक्ष्म के	,,	६०१२ जन्म
११	प्रत्येक वनस्पति के		,,	६०१२ जन्म

कुल एकेन्द्रियो के		६६१३२ जन्म
द्वेन्द्रियो के	लगातार	८० ,,
तेन्द्रियो के	,,	६० ,,
चौन्द्रियो के	,,	४० ,,
पचेन्द्रियो के	,,	२४ ,,
		६६३३६

पचेन्द्रियो के २४ मे से ८ असैनी तिर्यच, ८ सैनी तिर्यच, ८ मनुष्य के गर्भित हैं। तिर्यच गति के महान दुःखो मे पड़ने लायक पाप अधिकतर आर्तध्यान से बन्ध होता है।

आर्तध्यान—दुःखित व शोकित भावो की प्रणाली को आर्तध्यान कहते हैं। इसके चार भेद है—

(१) **इष्ट वियोगज आर्तध्यान**—प्रिय पुत्र, माता, पिता, भाई, बहिन के मरने पर व किसी बन्धु व मित्र के परदेश जाने पर व धनादि की हानि होने पर जो शोक भाव करके भावो को दुःखित रखना सो इष्ट वियोगज आर्तध्यान है।

(२) **अनिष्ट संयोगज आर्तध्यान**—अपने मन को न रुचने वाले चाकर, भाई, पुत्र, न रुचने वाली स्त्री आदि के होने पर व मन को न रुचने वाले स्थान, वस्त्र, भोग व उपभोग के पदार्थ होने पर उनका सम्बन्ध कैसे छूटे इस बात की चिन्ता करना अनिष्ट सयोगज आर्तध्यान है।

(३) **पीड़ा चिन्तवन आर्तध्यान**—शरीर मे रोग होने पर उसकी पीडा से क्लेशित भाव रखना पीडा चिन्तवन आर्तध्यान है।

(४) **निदान आर्तध्यान**—आगामी भोग मिले इस चिन्ता से आकुलित भाव रखना निदान आर्तध्यान है।

आर्तध्यानी रात दिन इष्ट वस्तु के न पाने पर व अनिष्ट के सयोग होने पर व पीडा होने से व आगामी भोग की तृष्णा से क्लेशित भाव रखता है। कभी रुदन किया करता है, कभी उदास हो पड जाता है, कभी रुचि से भोजन पान नही करता है। शोक से धर्म कर्म छोड बैठता है। कभी छाती पीटता है, कभी चिल्लाता है, कभी अपघात तक कर लेता है। रोगी होने पर रात दिन हाय हाय करता है। भोगो की प्राप्ति के लिये भीतर से तडफडाता है। अनिष्ट सम्बन्ध दूर करने के लिये चिन्तित रहता है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पुरुषार्थों के साधन मे मन नही लगाता है।

मायाचार से भी तिर्यच आयु का बध होता है। जो कोई कपट से दूसरो को ठगते है, विश्वासघात करते हैं, कपटसे अपनी प्रतिष्ठा कराते है वे तिर्यच आयु का बध करते है।

एक मुनि ने एक नगर के बाहर चार मास का वर्षा योग धारण किया था। योग समाप्त होने पर वह दूसरे दिन वहा से बिहार कर गए। दूसरे एक मुनि निकटवर्ती ग्राम से आकर वही ठहर गए। तब नगर के नर नारी आकर मुनि वन्दना पूजा करते हुए ऐसा कहने लगे कि आपने हमारे नगर के बाहर देवालय मे योग साधन किया हमारा स्थान पवित्र हुआ आदि२। उस समय उन मुनि को कहना चाहिए था कि मैं वह मुनि नही हूँ, परन्तु वह अपनी पूजा देखकर चुप रहे। कपट से अपना परिचय नही दिया। इस माया के मुनि ने पशु गति बाध ली और मरकर हाथी की पर्याय पाई।

एकेन्द्रिय से चौन्द्रिय तक को कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्याएँ होती है। पचेन्द्रिय असैनी के पीत सहित चार व सैनी पचेन्द्रियो के पीत, पद्म, शुक्ल सहित छहो हो सकती है। अधिकतर खोटी लेश्या रूप भावो से तिर्यच आयु बाध कर एकेन्द्रिय आदि आकर जन्मते है। तिर्यंच गति के कष्ट प्रत्यक्ष प्रगट है। वे प्रत्यक्ष पाप के फल बता रहे है। अधिक कहने की आवश्यकता नही है।

(३) देवगतिके दुःख—देवगतिमे यद्यपि शारीरिक कष्ट नहीहै परन्तु मानसिक कष्ट बहुत भारी है। देवोमे छोटी बडो पदविया होती है, विभूति सम्पदा कम व अधिक होती हे उनमे दश दरजे हे(१)राजाके समान इन्द्र, (२) पिता, भाई के समान सामानिक, (३) मन्त्री के समान त्रायस्त्रिंश (४) सभा निवासी सभासद पारिषद, (५) इन्द्र के पीछे खडे होने वाले आत्मरक्ष, (६) कोतवाल के समान लोकपाल, (७) सेना बनने वाले अनीक, (८) प्रजा के समान प्रकीर्णक, (९) दास के समान वाहन बनने वाले आभियोग्य, (१०) कातिहीन क्षुद्रदेव किल्विषक। इन दशजातियो मे भी अनेक भेद होते हैं। नीची पदवीवाले ऊँचो को देखकर मन मे बड़ा ईर्ष्या भाव रखते हैं, जला ही करते है।

भोग सामग्री अनेक होती हैं। एक समय एकही इन्द्रिय द्वारा भोग हो सकता है। इच्छा यह होती है कि पांचो इन्द्रियोके भोग एकसाथ भोगूं सो भोगने की शक्ति न होने पर आकुलता होती है जैसे किसी के सामने ५० प्रकार की मिठाई परोसी जावे तो वह बार२ घबडाता है कि किसे खाऊं किसे नखाऊं,चाहता यह है कि मैं सबको एकसाथ भोगूं। शक्ति न होनेपर वह दुःखी होता है। इसी तरह देव मन मे क्षोभित हो कष्ट पाते है। जब किसी देवी का मरण होता है तब इष्ट वियोग का दुःख होता है। जब अपना मरण काल आता है तब वियोग का बडा दुःख होता है। सबसे अधिक कष्ट मानसिक तृष्णा का होता है। अधिक भोग करते हुए भी उनकी तृष्णा बढजाती है यद्यपि कुछ दान पूजा परोपकार आदि शुभ भाव से पुण्य बांधकर देव होते है परन्तु मिथ्या दर्शन के होने से वे मानसिक कष्ट ही मे जीवन बिताते है।

शरीर को ही आपा जानना, इन्द्रियसुख को ही सुख समझना, आत्मा पर व अतीन्द्रिय सुखपर विश्वास न होना मिथ्यादर्शन है। सच है मिथ्यादृष्टी हर जगह दुःखी रहता है। क्योंकि उसे तृष्णा की दाह सदा सताती है।

(४) **मनुष्य गति**—इस गति के दुःख प्रकट ही है। जब गर्भ मे नौ मास रहना पडता है तब उल्टा टँग कर दुर्गंध स्थान मे रह कर नर्क सम महान दुःख होता है। गर्भ से निकलते हुए घोर कष्ट होता है। शिशु अवस्था में असमर्थ होने के कारण खानेपीने को न पाकर बारबार रोना पडता है, गिरकर पड कर दुःख सहना पडता है, अज्ञान से जरासा भी दुःख बहुत वेदित होता है। किसी के छोटी वय मे माता पिता मर जाते है तब बडा दुःख से जीवन बिताना पडता है। कितने ही रोग से पीडित रहते है। कितने अल्प आयु मे मर जाते है, कितने ही दलिद्र से दुःखी रहते है, कितने ही इष्ट मित्र व इष्ट बन्धु के वियोग से, कितने अनिष्ट भाई व मालिक व सेवक के सयोग से दुःखी रहते हैं।

मानव गति मे बडा दुःख तृष्णा का है। पाचो इन्द्रियो के भोगो की घोर तृष्णा होतीहै। इच्छित पदार्थ नही मिलते है तब दुःख होता है। यदि मनोज्ञ पदार्थ चेतन या अचेतन छूट जाते है तब उनके वियोग से घोर कष्ट

होता है। किसी की स्त्री दु ख दाई होती है, किसी के पुत्र कुपुत्र होते हैं, किसीके भाई कष्टदायक होते है। चाह की दाह मे बडे २ चक्रवर्ती राजा भी जला करते है। मानव गति मे घोर शारीरिक व मानसिक कष्ट है।

जिन किन्ही मानव, पशु व देवो को कुछ सुख देखने मे आता है वह ऐसा विनाशीक व अतृप्तिकारी है कि उससे आशा तृष्णा बढ जाती है। वह सुख अपने फल मे कष्टदायक ही होता है। जैसे मृग को पानी रहित जगल मे मृग तृष्णा रूप चमकती घाम या बालू से प्यास नही बुझती मृग पानी समझकर जाता है परन्तु पानी न पाकर अधिक तृषातुर होजाता है, वैसे ही ससारी प्राणी सुख पाने की आशा से पाचो इन्द्रियो के भोगो मे बार-बार जाते है, भोग करते है परन्तु विषय-सुख की तृषा को मिटाने की अपेक्षा बढा लेते है, जिससे उनका सन्ताप भवभव मे कभी भी मिटता नही।

असल बात यह है कि यह ससार केले के खम्भे के समान असार व दु खो का समुद्र है। इसमे जो आसक्त है, इसमे जो मगन है ऐसे मूढ मिथ्या दृष्टी बहिरात्मा को चारो ही गति मे कही भी सुख नही मिलता है। वह कही शारीरिक व कही मानसिक दु खोको ही भोगता है। तृष्णाकी आताप से अनन्तवार जन्म मरण करता हुआ चारो गतियो मे भ्रमण करता हुआ फिरता है।

यह ससार अथाह है, अनादि व अनन्त ह। इस ससारी जीवने पाच प्रकार के परावर्तन अनन्तवार किए है। वे परावर्तन है—द्रव्य परावर्तन, क्षेत्र परावर्तन, काल परावर्तन, भव परावर्तन, भाव परावर्तन। इनका अति सक्षेप से स्वरूप यह है—

(१) **द्रव्य परावर्तन**—पुद्गल द्रव्य के सर्व ही परमाणु व स्कन्धो को इस जीवने क्रम क्रम से ग्रहण कर करके व भोग करके छोडा है। एक ऐसे द्रव्य परिवर्तन मे अनन्त काल बिताया है।

(२) **क्षेत्र परावर्तन**—लोकाकाश का कोई प्रदेश शेष नही रहा, जहा

यह क्रम २ से उत्पन्न न हुआ हो। इस एक क्षेत्र परावर्तन मे द्रव्य परावर्तन से भी अधिक अनन्त काल वीता है।

(३) **काल परावर्तन**—उत्सर्पिणी जहा आयु काय सुख बढ़ते जाते हैं। **अवसर्पिणी** जहा ये घटते जाते है। इन दोनो युगो के सूक्ष्म समयो मे कोई ऐसा शेष नही रहा जिसमे इस जीव ने क्रम क्रम से जन्म व मरण न किया हो। इस एक काल परावर्तन मे क्षेत्र परावर्तन से भी अधिक अनन्त काल वीता है।

(४) **भव परावर्तन**—चारो ही गतियो मे नौ ग्रैवेयिक तक कोई भव शेष नही रहा जो इस जीवने धारण न किया हो। इस एक भव परा-वर्तन मे काल परावर्तन से भी अधिक अनन्त काल बीता है।

(५) **भाव परावर्तन**—इस जीव ने आठ कर्मो के बधने योग भावो को प्राप्त किया है। इस एक भाव परावर्तन मे भव परावर्तनसे भी अधिक अनन्तकाल वीता है।

इस तरह के पाचो प्रकार के परावर्तन इस ससारी जीव ने अनन्त-वार किए हैं।

इस सब ससार के भ्रमण का मूल कारण मिथ्या दर्शन है। मिथ्या दर्शन के साथ अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग भी हैं। मिथ्यादृष्टी ससार के भोगो की तृष्णा से हिसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रह के अतिचार रूपी पाच अविरति भावो मे फसा रहता है। वही मिथ्यादृष्टी आत्महित मे प्रमादी रहता है। तीव्र क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय करता है तथा मन वचन कायो को अति क्षोभित रखता है।

इस असार ससार में अज्ञानी मिथ्यादृष्टी ही कष्ट पाता है, उसी के लिए ही ससार का भ्रमण है। जो आत्म ज्ञानी सम्यग्दृष्टि होता है वह ससार से उदास व वैराग्यवान हो जाता है व अतीन्द्रिय आत्मीक सच्चे सुख को पहचान लेता है, वह मोक्ष प्राप्ति का प्रेमी हो जाता है, वह शीघ्र ही मुक्त हो जाता है। यदि कर्मो के उदय से कुछ काल किसी गति

मे रहना भी पडता है तो वह ससार मे लिप्त न होने से ससार मे प्राप्त शारीरिक मानसिक कष्टो को कर्मोदय विचार कर समताभाव से भोग लेता है। वह हर एक अवस्था मे आत्मीक सुख को जो सच्चा सुख है स्वतन्त्रता से भोगता रहता है, यह बात सच है।

मिथ्या दृष्टी सदा दुखी-सम्यग्दृष्टी सदा सुखी।

जैनाचार्यो ने ससार का स्वरूप क्या बताया है सो पाठको को उनके नीचे लिखे अनुभव पूर्ण वाक्यो से प्रकट होगा।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है—

पंचविहे ससारे जाइजरामरणरोगभयपउरे।
जिणमग्गमपेच्छंतो जीवो परिभमदि चिरकालं ॥२४॥

भावार्थ—इस द्रव्यक्षेत्रादि पाच तरह के ससार भ्रमण मे जहा यह जीव जन्म, मरण, रोग, भय के महान कष्ट पाता है, श्री जिनेन्द्र के धर्म को न जानता हुआ दीर्घकाल तक भ्रमण किया करता है।

सव्वेवि पोग्गला खलु एगे भुत्तुज्झिया हु जीवेण।
असयं अणतखुत्तो पुग्गलपरियट्टसंसारे ॥२५॥

भावार्थ—प्रथम पुद्गल द्रव्य परिवर्तन मे इस एक जीवने सर्व ही पुद्गलो को वारवार अनन्त दफे ग्रहण कर और भोग कर छोडा है।

सव्वम्हि लोयखेत्ते कमसो तण्णत्थि जण्ण उप्पण्णं।
उग्गाहणेण बहुसो परिभमिदो खेत्तसंसारे ॥२६॥

भावार्थ—दूसरे क्षेत्र परिवर्तन मे यह जीव वारवार सर्व ही लोकाकाशके प्रदेशो मे क्रम-कम से जन्मा हे। कोई स्थान ऐसा नही है जहाँ बहुवार पैदा न हुआ हो और अनेक प्रकार के छोटे व वडे शरीर धारे हैं।

अवसप्पिणिउस्सप्पिणिसमयावलियासु णिरवसेसासु।
जादो मुदो य बहुसो परिभमिदो कालसंसारे ॥२७॥

भावार्थ—तीसरे काल परिवर्तन मे इस जीवने उत्सर्पिणी तथा अव-

सर्पिणी के सर्व ही समयो मे बहुतवार जन्म मरण किया है। कोई समय बचा नहीं जिसमे यह अनन्तवार जन्मा या मरा न हो।

णिरयाउजहण्णादिसु जाव दु उवरिल्लवा दुगेवेज्जा।
मिच्छत्तासंसिदेण दु बहुसोवि भवट्ठिदीब्भमिदा॥२८॥

भावार्थ—चौथे भव परिवर्तन मे नरक की जघन्य आयु से लेकर ऊर्द्ध लोक की ग्रैवेयिक की उत्कृष्ट आयु तक सर्व ही जन्मो को इस जीवने बहुवार मिथ्या दर्शन के कारण धारण करके भ्रमण किया है।

सव्वे पयडिट्ठादिओ अणुभागप्पदेसबंधठाणाणि।
जीवो मिच्छत्तवसा भमिदो पुण भावसंसारे॥२९॥

भावार्थ—पाचवे भाव परिवर्तन मे यह जीव मिथ्या दर्शन के कारण आठो कर्मों के सर्व ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग व प्रदेश इन चार प्रकार बन्ध स्थानो को धारता हुआ बार-बार भ्रमा है।

पुत्तकलत्तणिमित्तं अत्थं अज्जयदि पावबुद्धीए।
परिहरदि दयादाणं सो जीवो भमदि संसारे॥३०॥

भावार्थ—जो जीव पुत्र व स्त्री के लिए पाप की बुद्धि से धन कमाता है, दया धर्म व दान छोड देता है, वह जीव ससार में भ्रमण करता है।

मम पुत्तं मम भज्जा मम धणधण्णोत्ति तिव्वकखाए।
चइऊण धम्मबुद्धिं पच्छा परिपडदि दीहसंसारे॥३१॥

भावार्थ—मेरा पुत्र, मेरी स्त्री, मेरा धन धान्यादिइत्यादि तीव्र तृष्णा के वश यह जीव धर्म की बुद्धि को त्यागकर इस दीर्घ ससार मे भ्रमता रहता है।

मिच्छोदयेण जीवो णिंदंतो जेण्णभासियं धम्मं।
कुधम्मकुलिंगकुतित्थं मण्णंतो भमदि संसारे॥३२॥

भावार्थ—मिथ्या दर्शन के उदय से यह जीव श्री जिनेन्द्र कथित धर्म की निन्दा करता है और मिथ्या धर्म, मिथ्या गुरु, व मिथ्या तीर्थ को पूजता है इसलिए ससार मे भ्रमता है।

हंतूण जीवरासिं महुमंसं सेविऊण सुरपाणं ।
परदव्वपरकलत्तं गहिऊण य भमदि संसारे ॥३३॥

भावार्थ—यह जीव अनेक जतु-समूह को मारता है, मास मदिरा मधु खाता है, पर द्रव्य व पर स्त्री को ग्रहण कर लेता है, इसलिए ससार मे भ्रमता है ।

ज:तेग कुणइ पावं विसयणिमित्तं च अहणिसं जीवो ।
मोहंधयारसहिओ तेण दु परिपडदि संसारे ॥३४॥

भावार्थ—यह जीव मोह के अधेरे मे अधा होकर रात दिन उद्योग करके विषय भोगो के लिए पाप किया करता है इसीलिए इस ससार मे भ्रमता है ।

संजोगविप्पजोगं लाहालाहं सुहं च दुक्खं च ।
संसारे भूदाणं होदि हु माणं तहावमाणं च ॥३६॥

भावार्थ—इस ससार मे जीवो को सयोग वियोग, लाभ हानि, सुख दु ख, मान अपमान हुआ करता है ।

कम्मणिमित्तं जीवो हिंडदि संसारघोरकांतारे ।
जीवस्स ण संसारो णिच्चयणयकम्मणिम्मुक्को ॥३७॥

भावार्थ—कर्मो के वश होकर यह जीव इस भयानक ससार बन मे भ्रमता फिरता है । निश्चय नयसे विचार किया जावे तो इस जीवके ससार नही है । यह तो कर्मो से भिन्न ही है ।

संसारमदिक्कन्तो जीवोवादेयमिदि विचिंतिज्जो ।
संसारदुहक्कन्तो जीवो सो हेयमिदि विचिंतिज्जो ॥३८॥

भावार्थ—जो जीव ससार से पार हो गया है, उसकी सी अवस्था ग्रहण करने योग्य है ऐसा विचार करना चाहिए । तथा जो जीव ससार के दु खो मे फसा है, यह ससार दशा त्यागने योग्य है ऐसा मनन करना चाहिए । श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड मे कहते हैं—

भीसणणरयगईए तिरियगईए कुदेवमणुगइए ।
पत्तोसि तिव्वदुक्ख भावहि जिणभावणा जीव ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने भयानक नरक गति मे, पशु गति मे, कुदेव गति मे व मनुष्य गति मे तीव्र कष्ट पाए है । अव तो तू शुद्ध आत्मभाव की भावना कर । वही जिन या कषायो को जीतने वाला परमात्मा रूप है ।

सत्तसुणरयावासे दारुणभीसाइं असहणीयाइं ।
भुत्ताइं सुइरकालं दुःक्खाइं णिरंतरं सहिय ॥ ९ ॥

भावार्थ—सात नरको के आवासो मे तीव्र, भयानक, असहनीय दुक्खो को दीर्घकाल तक निरतर भोगकर तूने कष्ट सहा है ।

खणणुतावणवालणवेयणविच्छेयणाणिरोहं च ।
पत्तोसि भावरहिओ तिरियगईए चिर कालं ॥१०॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने पशु गति मे शुद्ध भावको न पाकर चिर-काल तक खोदे जाने के, गर्म किए जाने के, जलाने के, धक्के खाने के, छेदे जाने के, रोके जाने के दु ख पृथ्वी कायादि मे क्रम से पाए है ।

आगंतुक माणसियं सहजं सारीरियं च चत्तारि ।
दुक्खाइ मणुयजम्मे पत्तोसि अणंतयं कालं ॥११॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने मनुष्य गति मे पुन पुन जन्म लेकर अनन्तकाल अकस्मात् वज्रपात गिरने आदि के, शोकादि मानसिक कर्म के द्वारा सहज उत्पन्न रागद्वेषादि के, तथा रोगादि शारीरिक ऐसे चार तरह के कष्ट पाए है ।

सुरणिलएसु सुरच्छरविओयकालेय माणसं तिव्वं ।
संपत्तोसि महाजस दुक्खं सुहभावणारहिओ ॥१२॥

भावार्थ—हे महायशस्वी जीव ! तूने देवो के स्थानो मे प्रिय देव या देवी के वियोग के काल मे तथा ईर्षा सम्बन्धी मानसिक दु ख शुद्ध आत्मा की भावना से शून्य होकर उठाया है ।

पीओसि थणच्छीरं अणंतजम्मंतराइं जणणीणं ।
अण्णाण्णाण महाजस सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१८॥

भावार्थ—हे महायशस्वी जीव ! तूने अनन्त मानव जन्म धारण करके भिन्न-भिन्न माता के स्तनो का दूध पिया है, जो एकत्र करने पर समुद्र के जल से भी अधिक हो जायगा ।

तुह मरणे दुक्खेण अण्णण्णाणं अणेयजणणीणं ।
रुण्णाण णयणणीरं सायरसलिलाहु अहिययरं ॥१९॥

भावार्थ—तूने माता के गर्भ से निकल कर फिर मरण किया तब भिन्न-भिन्न जन्मो की अनेक माताओ ने रुदन किया । उनके आखो के आसुओ को एकत्र किया जावे तो समुद्र के जल से अधिक ही हो जायगा ।

तिहुयण सलिल सयलं पीयं तिण्हाइ पीडिएण तुमे ।
तो वि ण तण्हाछेओ जाओ चित्तेह भवमहणं ॥२३॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने तीन लोक का सर्व पानी प्यास की पीडा से पीडित होकर पिया है । तो भी तेरी तृषा या तृष्णा न मिटी । अव तू इस ससार के नाश का विचार कर ।

छत्तीसं तिण्ण सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि ।
अन्तोमुहुत्तमज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥२८॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने एक श्वास के अठारहवे भाग आयु को धारकर निगोद की लब्ध्यपर्याप्तक अवस्था मे एक अन्तर्मुहूर्त के भीतर ६६३३६ जन्म मरण किए हैं । इनका हिसाब पीछे लिख चुके हैं ।

रयणत्तए अलद्धे एवं भमिओसि दीहसंसारे ।
इय जिणवरेहिं भणियं तं रयणत्तं समायरह ॥३०॥

भावार्थ—रत्नत्रय मई जिन धर्म को न पाकर तूने ऊपर प्रमाण इस दीर्घ सासार मे भ्रमण किया है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है । अव तू रत्न त्रय को पाल । श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते है—

जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो ।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसु गदी ।।१२८।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इन्दियाणि जायंते ।
तेहि दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा ।।१२९।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि ।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।१३०।

भावार्थ—इस ससारी जीव के रागादि भाव होते है उनके निमित्त से आठ कर्मो का वन्ध होता है, कर्मों के उदय से एक गति से दूमरी गति मे जाता है। जिस गति मे जाता है वहा स्थूल शरीर होता है उस देह मे इन्द्रिये होती है। उन इन्द्रियो से भोग्य पदार्थों को भोगता है तब फिर राग व द्वेष होता है, इस तरह इस ससार रूपी चक्र मे इस जीव का भ्रमण हुआ करता है। किसी के यह ससार अनादि अनन्त चला करता है किसी के अनादि होने पर भी अन्त हो जाता है।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है—

मिच्छत्तेणो छण्णो मग्गं जिणदेसिदं अपेक्खंतो ।
भमिहदी भीमकुडिल्ले जीवो संसारकंतारे ।।१३।।

भावार्थ—यह जीव मिथ्यादर्शन से ढका हुआ व जिनेन्द्र कथित मार्ग पर श्रद्धान न लाता हुआ इस ससार रूपी अति भयानक व कुटिल वन मे भ्रमण किया करता है।

तत्थ जरामरणभयं दुक्खं पियविप्पओग वीहणयं ।
अप्पियसंजोगं वि य रोगमहावेदणाओ य ।।१६।।

भावार्थ—इस संसार मे वूढापना, मरण, भय, क्लेश, भयानक इष्ट वियोग, अनिष्ट सयोग, रोग आदि की महान वेदनाओ को यह जीव सहा करता है।

जायंतो य मरंतो जलथलखयरेसु तिरियणिरएसु ।
माणुस्से देवत्ते दुक्खसहस्साणि पप्पोदि ।।१७।।

भावार्थ--यह जीव पशु गति, नरक गति, मनुष्य गति व देव गति मे तथा जलचर थलचर, नभचर प्राणियो मे जन्मता व मरता हुआ सहस्रो कष्टो को भोगता है।

संजोगविप्पओगा लाहालाहं सुह च दुक्खं च।
संसारे अणुभूदा माणं च तहावमाणं च ॥१९॥
एवं बहुप्पयारं संसारं विविहदुक्खथिरसारं।
णाऊण विचिंतिज्जो तहेव लहुमेव णिस्सारं ॥२०॥

भावार्थ—इस ससार मे इस जीव ने सयोग, वियोग, लाभ, हानि सासारिक सुख, दु ख, मान व अपमान अनुभव किया है। इस तरह इस ससार के नाना प्रकार के सदा ही मिलने वाले दु खो को जानकर यह असार ससार जिस उपाय से कम हो वह उपाय विचारना चाहिये।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है—

अनित्यमत्राणमहंक्रियाभिः प्रसक्तमिथ्याध्यवसायदोषम्।
इदंजगज्जन्मजरान्तकार्तं निरञ्जनां शांतिमजीगमस्त्वम्।१२।

भावार्थ—यह ससार अनित्य है,अशरण है,अहकार बुद्धि से ससारी प्राणियो मे मिथ्यात्व भाव प्रवेश हो रहा है। यहा ससारी जीव नित्य जन्म- जरा व मरण से दु खी है ऐसा जानकर आप हे सभवनाथ ! निर्मल शाति को भजते हुए।

स्वजीविते कामसुखे च तृष्णया दिवाश्रमार्ता निशि शेरते प्रजाः।
त्वमार्य्य नक्त दिवमप्रमत्तवानजागरेवात्मविशुद्धवर्त्मनि ४८।

भावार्थ—ससार के प्राणी अपने जीवन की तथा काम भोगो की तृष्णा से पीडित होकर दिन भर परिश्रम करके थक जाते है व रात को सो रहते है। इस तरह कभी तृष्णा को व ससार कष्टो को नही मिटा सकते, ऐसा जानकर हे शीतलनाथ ! आपने आलस्य टालकर इस ससार के नाश के लिये आत्मीक वीतराग मार्ग मे रात दिन सदा जागृत रहना ही स्वीकार किया।

श्री शिवकोटि मुनि भगवती आराधना मे कहते है—

णिरयेसु वेयणाओ अणोवमाओ असादवहुलाओ ।
कायणिमित्तं पत्तो अणंतसो तं वहुविधाओ ॥१५६२॥

भावार्थ—हे मुने ! इस सासार मे काय के निमित्त असयमी होकर ऐसा कर्म बांधा जिससे तूने नर्क मे जाकर वहुत प्रकार की उपमा रहित बहुत असमुता सहित वेदना अनतवार भोगी ।

ताड़णतासणबन्धण,-वाहणलंछणविहेडणं दमणं ।
कण्णच्छेदणणासा,-वेहणणिल्लंछणं चेव ॥१५८२॥
छेदणभेदणडहणं, णिच्छलणं गालणं छुहा तण्हा ।
भक्खणमद्दणमलणं, विकत्तणं सीदउण्हं च ॥१५८३॥
जं अत्ताणो णिप्पडियम्मो वहुवेदणट्टिओ पडिओ ।
वहुएहि मदो दिवसेहि, चडयडंतो अणाहो तं ॥१५८४॥
रोगा विविधा वाधाउ, तह य तिव्वं भयं च सव्वत्तो ।
तिव्वा उ वेदणाओ, धाडणपादाभिघादा य ॥१५८५॥
इच्चेवमादि दुक्खं. अणंतखुत्तो तिरिक्खजोणीए ।
जं पत्तो सि अदीदे, काले चिंतेहि तं सव्वं ॥१५८७॥

भावार्थ—हे मुने ! तिर्यच गति मे तूने नाना प्रकार की लाठी घूसे व चाबुको की ताडना भोगी, शस्त्रनि की त्रास सही, दृढता से बाधा गया हाथ पगादि वाधे गए, गला वाधा गया, पिंजरे मे डाला हुआ तीव्र दु ख पाया तथा कान छेदे गए, नाक छेदी गई, शस्त्रो से वीधा गया, घसीटा गया आदि दु ख भोगे, वहुत बोझे से हाड टूट गए, मार्ग मे बोझ लादे वहुत दूर रात दिन चलना पडा, आगमे वला जल मे डूवा परस्पर खाया गया, भूख, प्यास, सरदी गर्मी की घोर वेदना भोगी पीठ गल गई, असमर्थ होकर कीचड मे पडा रहा घोर धूप मे पडा रहा । जो २ क्लेश पाए हैं उसका विचार करो नाना प्रकार के रोग सहे सर्व तरफ से डरता रहा तथा दुष्ट मनुष्य व पशुओ से घोर कष्ट पाया, वचन का तिरस्कार सहा, पगो की मार दीर्घ काल तक सही । इत्यादि दु ख अनतवार तिर्यच योनि मे तूने गत काल मे भोगे है उन सवको अव विचार करो ।

देवत्तमाणुसते जं ते जाएण सकयकम्मवसा ।
दुक्खाणि किलेसा वि य, अणंतखुत्ता समणुभूदं ।१५८८।

। भावार्थ—हे मुने ! अपने किये हुए कर्मों के वश से देव गति मे तथा मनुष्य गति मे पैदा होकर अनतवार बहुत दु ख क्लेश भोगे हैं।

जं गब्भवासकुणिमं, कुणिमाहारं छुहादिदुक्खं च ।
चिंतं तस्स य सुचियसुहिद्दस्स दुक्खं चयणकाले।।१६०१।।

भावार्थ—देवो को मरते हुए ऐसा चितवन होता है जो मेरा गमन, अब तिर्यंच गति व मनुष्य गति के गर्भ मे होगा। दुर्गंध गर्भ मे रहना दुर्गंध आहार लेना, भूख प्यास सहना पडेगा, ऐसा विचारते बहुत कष्ट होता है।

भावार्थ—इस मनुष्य पर्याय मे निर्धनता, सप्त धातुमय मलीन रोगो का भरा का देहका धरना, कुदेश मे वसना, स्वचक्र पर चक्रका दु ख सहना, वैरी समान बाधवो मे रहना, कुपुत्र का सयोग होना, दुष्ट स्त्री की सगति होनी, नीरस आहार मिलना अपमान सहना, चोर, दुष्ट राजा व मत्री व कोतवाल द्वारा घोर त्रास सहना, दुष्काल मे कुटुम्ब का वियोग होना, पराधीन रहना, दुर्वचन सहना, भूख प्यास आदि सहना इत्यादि दु खो का भरा मनुष्य जन्म है।

तण्हा अणंतखुत्तो, ससारे तारिसी तुमं आसि ।
जं पसमेदुं सव्वोदधीणमुदगं पि ण तीरेज्ज ।।१६०५।।
आसी अणंतखुत्तो, ससारे ते छुधा वि तारिसिया ।
जं पसमेदुं सव्वो, पुग्गलकाओ ण तीरिज्ज ।।१६०६।।

भावार्थ—हे मुने ! सासार मे तुमने ऐसी प्यास की वेदना अनतवार भोगी जिसके शात करने को सर्व समुद्रो का जल समर्थ नही । व ऐसी क्षुधा वेदना अनतवार भोगी जिसके शान्त करने को सर्व पुद्गल काय समर्थ नही।

जावं तु किंचि दुक्खं, सारीरं माणसं च संसारे ।
पत्तो अणंतखुत्त कायस्स ममत्तिदोसेण ।।१६६७।।

भावार्थ—हे मुने ! इस ससार मे जो कुछ शारीरिक व मानसिक

दुःख अनंतवार प्राप्त हुए है सो सब इस शरीर से ममता दोष से प्राप्त हुए है।

णत्थि भयं मरणसमं, जम्मणसमयं ण विज्जदे दुक्खं।
जम्मणमरणादंकं छिण्णममत्तिं सरीरादो ॥१६६८॥

भावार्थ—इस ससार मे मरण के समान भय नही है, जन्म के समान दुःख नही है। इसलिये जन्म मरण से व्याप्त इस शरीर से ममता छोड़।

श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि मे कहते हैं—

अत्र जीवा अनादिससारेऽनन्तकाल नानायोनिषु दुःख भोग भोग पर्यटन्ति। न चात्र किंचिन्नियतमस्ति। जल बुद्बुदोपम जीवित, विद्युन्मेघादिविकारचपलाभोगसम्पदइत्येवमादि जगतस्य भावचिंतनात् ससारात् सवेगो भवति ॥ १७-७ ॥

भावार्थ—इस जगत मे जीव अनादि काल से अनत काल तक नाना योनियो मे दुःख भोगते हुए भ्रमण किया करते हैं। जल के बुल्ले के समान जीवन क्षणिक है। बिजली की चमक, बादलो के विघटन के समान भोग सम्पदा अथिर है, ऐसा जगत का स्वभाव विचारने से भय होता है।

श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते हैं—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

भावार्थ—इन ससार के दुःखो का मूल यह शरीर है, इसलिये आत्मज्ञानीको इसका ममत्व छोड कर व इद्रियो से विरक्त होकर अतरग आत्म ध्यान करना चाहिये।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवांछति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ—शरीर को आत्मा मानकर अज्ञानी सुन्दर शरीर व मनोहर भोगो की सदा वाछा किया करता है परन्तु तत्वज्ञानी इस शरीर को ही नही चाहते है।

जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च।
स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥

भावार्थ—जो शरीर मे आत्म बुद्धि रखने वाले हैं उनको यह ससार विश्वास योग्य तथा रमणीक भासता है, परन्तु आत्मा मे आत्मबुद्धि धारको का इस ससार मे न विश्वास है न उनकी रति है।

स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम् ।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥

भावार्थ—जब तक कोई शरीर वचन काय को आत्मा रूप मानता रहेगा तब तक ससार का दु ख है । जब आत्मा को इनसे भिन्न विचारने का अभ्यास करेगा तब दु खो से छूट जायगा।

श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश में कहते है—

विपद्भवपदावर्ते पदिकेवातिबाह्यते ।
यावत्तावद्भवत्यन्याः प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

भावार्थ—इस ससार की घटी यत्र मे इतनी विपत्तिया है कि जब एक दूर होती है तब दूसरी अनेक आपदाए सामने आकर खडी हो जाती हैं।

विपत्तिमात्मनो मूढः परेषामिव नेक्षते ।
दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥१४॥

भावार्थ—जैसे कोई मानव वन के वृक्ष पर बैठा हुआ यह तमाशा देखे कि वन मे आग लगी है, मृग भागे जाते हैं, परन्तु आप स्वय न भागे और वह यह न विचारे कि आग इस वृक्ष को भी जलाने वाली है, इसी तरह ससार मे मूर्ख प्राणी दूसरो की विपदाओ को देखा करता है परन्तु मेरे पर आपत्तिया आने वाली है, मेरा मरण होने वाला है, ऐसा नही देखता है।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है —

संसारे नरकादिषु स्मृतिपथेऽप्युद्वेगकारीण्यलं ।
दुःखानि प्रतिसेवितानि भवता तान्येवमेवासताम् ॥
तत्तावत्स्मरसि स्मरस्मितशितापांगैरनंगायुधै-
र्वामानां हिमदग्धमुग्धतरुवद्यत्प्राप्तवान्निर्धनः ॥५३॥

भावार्थ—हे जीव ! तूने इस ससारमे नरक आदि योनियोमे अत्यन्त

दु ख भोगे है जिनके स्मरण करने से आकुलता पैदा होती है, उन दु खो की बात तो दूर रहो इस नर भव मे तू निर्धन हुआ है परन्तु नाना प्रकार भोगो का अभिलाषी हे। काम से पूर्ण स्त्रियो के मदहास्य और कामके वाण समान तीक्ष्ण कटाक्षो से वेधा हुआ तू पाले से मारे हुए वृक्ष की दशा को प्राप्त हुआ हे। इस दु ख ही को तू विचार कर। काम की तृष्णा भी वडी दु ख दाता है।

उत्पन्नोस्यतिदोषधातुमलवद्देहोसि कोपादिमान्।
साधिव्याधिरसि प्रहीणचरितोस्यऽस्यात्मनो वञ्चकः ॥
मृत्युव्याप्तमुखान्तरोऽसि जरसा ग्रस्तोसि जन्मिन् वृथा-
किं मत्तोऽस्यसि किं हितारिरहितो किं वासि बद्धस्पृहः ५४

भावार्थ—हे अनतज॰मकेधरनहारे अज्ञानी जीव ! तू इस ससार मे अनेक योनियोमे उपजा हे। अव यहा तेरा शरीर दोषमई धातुसे बना अति मलीन है, तेरे भीतर क्रोधादि कषाय है, तू शरीर के रोग व मन की चिंता से पीडित है, हीन आचार मे फँसा है, अपने आत्मा को ठग रहा है, जन्म मरण के बीच मे पडा है, बुढापा सता रहा है, तो भी वृथा बावला हो रहा है। मालूम होता हे तू आत्मा के हित का शत्रु है, तेरी इच्छा अपना बुरा ही करने की झलकती है।

उग्रग्रीष्मकठोरधर्मकिरणस्फूर्जद्गभस्तिप्रभैः ।
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ॥
अप्राप्याभिमत विवेकविमुखः पापप्रयासाकुल-
स्तोयोपान्तदुरन्तकर्दमगतक्षीणोक्षवत् क्लिश्यते ॥५५॥

भावार्थ— भयानक गर्म ऋतु के सूर्य की तप्तायमान किरणो के समान इन्द्रियो की इच्छाओ से आकुलित यह मानव हो रहा है। इसकी तृष्णा दिन पर दिन बढ रही है सो इच्छानुकूल पदार्थो को न पाकर विवेक रहित हो अनेक पापरूप उपायो को करता हुआ व्याकुल हो रहा है व उसी तरह दु खी है जैसे जल के पास की गहरी कीचड मे फसा हुआ दुर्बल बूढा बैल कष्ट भोगे।

शरणमशरणं यो बन्धवो बन्धमूलं।
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणां ॥

विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत् ।
त्यजत भजत धर्म्मम् निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ—जिस घर को तू रक्षक समझता है वही तुझे मरण से बचा नही सकता। ये भाई बन्धु सर्व स्नेह के बंधन के मूल हैं। दीर्घ काल से परिचय मे आई हुई तेरी स्त्री अनेक आपदाओ का द्वार है। ये तेरे पुत्र स्वार्थ के सगे तेरे शत्रु है। ऐसा विचार कर इन सबको तज और यदि तू सुख को चाहता है तो धर्म की सेवा कर।

अवश्यं नश्वरैरेभिरायुःकायादिभिर्यदि ।
शाश्वतं पदमायाति मुधाऽऽयातमवेहि ते ॥७०॥

भावार्थ—ये आयु शरीरादि सब अवश्य नाश होने वाले हैं, यदि इनकी ममता को छोडने से अविनाशी मोक्ष पद तेरे हाथ मे आ सकता है तो सहज मे ही आया जान।

गलत्यायुः प्रायः प्रकटितघटीयन्त्रसलिलं
खलः कायोप्यायुर्गतिमनुपतत्येष सततम् ।
किमस्यान्यैरन्यैर्द्वयपयमिदं जीवितमिह
स्थिता भ्रान्त्या नावि स्वमिव मनुते स्थास्नुमपधीः॥७२॥

भावार्थ—यह आयु प्रकट ही अरहट की घडी क जल की तरह छिन छिन गल रही है। यह दुष्ट शरीर भी आयु की गति के अनुसार निरंतर पतन शील है। जरावान होता जाता है। जिनसे जीवन है वे आयु व काय ही क्षणभगूर हैं व विनाशीक है तब पुत्र स्त्री व धनधान्यादि के सम्बध की क्या बात, वे तो छूटने ही वाले है तो भी यह अज्ञानी अपने को थिर मानता है। जैसे नाव मे बैठा पुरुष चलता हुआ भी भ्रम से अपने को थिर मान लेता है।

बाल्ये वेत्सि न किंचिदप्यपरिपूर्णांगो हितं वाहितं ।
कामान्धः खलु कामिनीद्रुमघने भ्राम्यन्वने यौवने ॥
मध्ये वृद्धतृषार्जितुं वसु पशुः क्लिश्नासि कृष्यादिभि-
र्वृद्धो वार्द्धमृतः क्व जन्म फलितं धर्मो भवेन्निर्मलः ॥८६॥

भावार्थ—हे जीव ! बालावस्था मे तू पूर्णांग न पाता हुआ अपने हित या अहित को कुछ भी नही जानता है, जवानी मे स्त्री रूपी वृक्षो के वन मे भ्रमता हुआ काम भाव से अन्धा बन गया। मध्य वय मे बढी हुई धन की तृष्णा से पशु के समान खेती आदि कर्मों को करता हुआ क्लेश पाता है। बुढापे मे अधमरा हो गया। तब बता नर जन्म को सफल करने के लिए तू पवित्र धर्म को कहा पालन करेगा।

श्री पद्मनंदि मुनि अनित्य पचाशत् मे कहते हैं—

सर्वत्रोद्गतशोकदावदहनव्याप्तं जगत्काननं।
मुग्धास्तत्र वधू मृगी गतधियस्तिष्ठंति लोकैणका: ॥
कालव्याध इमान्निहंति पुरत: प्राप्तान् सदा निर्दय:।
तस्माज्जीवति नो शिशुर्नच युवा वृद्धोपि नो कश्चन॥३४॥

भावार्थ—यह ससार रूप वन सर्व जगह शोक रूपी दावानल से व्याप्त हो रहा है। यहां विचारे भोले लोग रूपी हिरण स्त्री रूपी मृगी मे प्रेम कर रहे है, अचानक कालरूपी शिकारी आकर निर्दयी हो सामने से इनको मारता है इस कारण न तो बालक मरण से बचता है न युवान बचता है न वृद्ध बचता है। इस ससार मे मरण सर्व को घात करता हैं।

वांछत्येव सुखं तदत्र विधिना दत्तं परं प्राप्यते।
नूनं मृत्युमुपाश्रयन्ति मनुजास्तत्राप्यतो बिभ्यति।
इत्थं कामभयप्रसक्तहृदया मोहान्मुधैव ध्रुवं।
दु:खोर्मिप्रचुरे पतंति कुधिय: संसारघोरार्णवे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—यह जीव इस ससार मे निरन्तर इन्द्रियजनित सुख ही की वाछा करता है परन्तु वह उतना ही मिलता हैं जितना पुण्य कर्म का उदय है। इच्छा के अनुसार नही मिलता हैं। निश्चय से मरण सब मानवो को आने वाला है इसलिये यह जीव मरने से भय करता रहता है। ऐसे यह कुबुद्धी जीव काय की तृष्णा और भय से मलीन चित्त होता हुआ मोह से वृथा ही दु ख रूपी लहरो से भरे हुए इस भयानक समुद्र मे गोते खाता है।

आपन्मयसंसारे क्रियते विदुषा किमापदि विषाद:।
कस्त्रस्यति लंघनत: प्रविधाय चतुःपथे सदनं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—यह ससार आपत्तियो का घर है। यहाँ रोग शोक इष्ट-वियोग अनिष्ट सयोग जरा मरण रूपी आपदाएँ आने ही वाली हैं इसलिये विद्वान को आपत्ति आने पर शोक नही करना चाहिये, जो कोई चौराहे पर अपना मकान बनाएगा उसको लोग उल्लघन करेहीगे, उससे कौन भय करेगा।

स्वकर्म्मव्याघ्रेण स्फुरितनिजकालादिमहसा।
समाघ्रातः साक्षाच्छरणरहिते संसृतिवने॥
प्रिया मे पुत्रा मे द्रविणमपि मे मे गृहमिदं।
वदन्नेवं मे मे पशुरिव जनो याति मरणं॥ ४८॥

भावार्थ—जैसे अशरण वन मे बलवान् सिह से पकडा हुआ पशु मैं मैं करता मर जाता है वैसे ही शरण रहित ससार रुपी वन मे उदय प्राप्त अपने कर्म रुपी सिह से पकडा हुआ प्राणी मेरी स्त्री, मेरे पुत्र, मेरा धन, मेरा घर ऐसे पशु की तरह मै मै करता हुआ मरण को प्राप्त हो जाता हैं।

लोकागृहप्रियतमासुतजीवितादि।
वाताहतध्वजपटाग्रचलं समस्तं॥
व्यामोहमत्र परिहृत्य धनादिमित्रे।
धर्मे मति कुरुत किं बहुभिर्वचोभिः॥५४॥

भावार्थ—ऐ लौकिकजनो! यह घर, स्त्री, पुत्र, जीवन आदि सर्व पदार्थ उसी तरह चचल हैं विनाशीक है जैसे पवन से हिलती हुई ध्वजा के कपडे का अग्रभाग चचल है। इसलिये तू धनादि व मित्रो मे मोह को छोडकर धर्म साधन मे बुद्धि को धारण कर। अधिक वचनो से क्या कहा जावे।

श्री अमितिगति आचार्य तत्वभावना या बृहत् सामायिक पाठ मे कहते हैं —

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगै-
स्तनुधनसुतहेतोः कर्म्म यादृक् करोषि।

सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से
सुखममलमनंतं किं तदा नाऽश्नुषेऽलं ॥६६॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! तू शरीर, धन, पुत्र के लिए असिकर्म, मसि कर्म, विद्या कर्म, शिल्प कर्म, तथा वाणिज्य कर्म से जैसा परिश्रम करता है वैसा यदि तू एक दफे भी सयम के लिए करे तो तू निर्मल अनन्त सुख क्यो नही भोग सकेगा ?

दिनकरकरजाले शैत्यमुष्णत्वमिंदोः ।
सुरशिखरिणि जातु प्राप्यते जंगमत्वं ॥

न पुनरिह कदाचित् घोरसंसारचक्रे ।
स्फुटमसुखनिधाने भ्राम्यता शर्म पुंसा ॥ ६८ ॥

भावार्थ—कदाचित सूर्य ठण्डा हो जावे, चन्द्रमा उष्ण हो जावे, मेरु पर्वत चलने लग जावे तौभी इस भयानक दुखो के भरेहुए ससार चक्र मे भ्रमण करते हुए प्राणी को सच्चा सुख नही प्राप्त हो सकता है।

श्वभ्राणामविसह्यमतरहितं दुर्जल्पमन्योन्यजं ।
दाहच्छेदविभेदनादिजनित दुःख तिरश्चा परं ॥
नृणां रोगवियोगजन्ममरणं स्वर्गौकसां मानसं ।
विश्वं वीक्ष्य सदेति कष्टकलितं कार्या मतिर्मुक्तये॥७९॥

भावार्थ—हे भव्य जीव ! तू इस जगत को सदा कष्टो से भरा हुआ देखकर इनसे मुक्ति पाने की बुद्धि कर—नारकियो के असह्य, अनन्त, वचन अगोचर पारस्परिक दुख होता है तिर्यंचो के अग्नि मे जलने का, छेदन भेदन आदि के द्वारा महान् दुख होता है, मानवो के रोग, वियोग, जन्म, मरण का दुख है। देवो मे मानसिक कष्ट है।

यावच्चेतसि बाह्यवस्तुविषयः स्नेहः स्थिरो वर्तते ।
तावन्नश्यति दुःखदानकुशलः कर्मप्रपंचः कथं ।
आर्द्रत्वे वसुधातलस्य सजटा शुष्यंति किं पादपा ।
मृज्जत्तापनिपातरोधनपरा शाखोपशाखान्विता ॥८६॥

भावार्थ—जब तक तेरे मन मे बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध मे राग भाव दृढता से मौजूद है तब तक तेरे किस तरह दु खकारी कर्म नाश हो सकते हैं। जब पृथ्वी पानी से भीगी हुई है तब उसके ऊपर सूर्य ताप के रोकने वाले अनेक शाखाओ से मडित जटाधारी वृक्ष कैसे सूख सकते है ?

रामाः पापाविरामास्तनयपरिजना निर्मिता वह्वनर्था ।
गात्रं व्याध्यादिपात्रं जितपवनजवा मूढलक्ष्मीरशेषा ।।
किं रे दृष्टं त्वयात्मन् भवगहनवने भ्राम्यता सौख्यहेतु-
र्येन त्वं स्वार्थनिष्ठो भवसि न सततं बाह्यमत्यस्य सर्वं९८।

भावार्थ—हे मूढ ! ये स्त्रिया पापवर्द्धक अहितकारी हैं, ये पुत्र परिजन बहुत अनर्थ के कारण है। यह शरीर रोग शोक से पीडित है। यह सम्पूर्ण सम्पदा हवा से अधिक चचल है। इस ससार रूपी भयानक वन मे हे आत्मा ! तूने क्या देखा है जिसमे तू सर्व बाहरी पदार्थों को छोडकर अपने आत्महित मे सदा के लिये लीन नही होता है ?

सकललोकमनोहरणक्षमाः करणयौवनजीवितसंपदः ।
कमलपत्रपयोलवचंचलाःकिमपिनस्थिरमस्तिजगत्त्रये१०९

भावार्थ—सर्वजन के मन को हरने वाली इन्द्रिये, युवानी, जीतव्य व सम्पदाएँ उसी तरह चचल है। जैसे कमल के पत्तो पर पडी हुई पानी की बूंद चचल है। इन तीनो लोको मे कोई भी पर्याय स्थिर नही रह सकती।

जननमृत्युजरानलदीपितं जगदिदं सकलोऽपि विलोकते ।
तदपिधर्ममतिंविदधातिनोरतमनाविषयाकुलितोजनः११८।

भावार्थ—यह सर्व जगत जन्म, मरण, जरा की अग्नि से जल रहा है, ऐसा देखते हुए भी यह विषयो की दाह से आकुलित प्राणी उनमे मन को लीन करता हुआ धर्म साधन मे बिलकुल बुद्धि को नही लगाता है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है ---

चतुर्गतिमहावर्त्ते दुःखवाडवदीपिते ।
भ्रमन्ति भविनोऽजस्रं वराका जन्मसागरे ।।१।।

भावार्थ---चार गति रुपी महान भवर वाले तथा दु ख रुपी वडवा-

नरा रो प्रज्वलित इस ससार रूपी समुद्र मे जगत के प्राणी निरन्तर भ्रमा करते है।

रूपाण्येकानि गृह्णाति त्यजत्यन्यानि सन्ततम् ।
यथा रंगेऽत्र शैलूषस्तथायं यन्त्रवाहकः ॥८॥

भावार्थ---जैसे नृत्य के अखाडे मे नृत्यकार अनेक भेषो को धारता है और छोडता है वैसे यह प्राणी सदा भिन्न-भिन्न रूपो को--शरीरो को ग्रहण करता है और छोडता है।

देवलोके नृलोके च तिरश्चि नरकेऽपि च ।
न सा योनिर्न तद्रूप न तद्देशो न तत्कुलम् ॥१२॥

भावार्थ---इस ससार की चार गतियो मे फिरते हुए जीव के वह योनि, वह रूप, वह देश, वह कुल, वह सुख दुख, वह पर्याय नही है, जो निरन्तर गमनागमन करने से प्राप्त न हुई हो।

भूपः कृमिर्भवत्यत्र कृमिश्चामरनायकः ।
शरीरी परिवर्त्तेत कर्मणा वञ्चितो बलात् ॥१५॥

भावार्थ---इस ससार मे यह प्राणी कर्मो के फल से ठगा हुआ, राजा से मर कर लट हो जाता है और लट का जीव क्रम-क्रम से इन्द्र पद पा लेता है।

माता पुत्री स्वसा भार्या सैव संपद्यतेऽगजा ।
पिता पुत्रः पुनः सोऽपि लभते पौत्रिकं पदम् ॥१६॥

भावार्थ---इस ससार मे प्राणी की माता मर कर पुत्री हो जाती है, बहन मर कर स्त्री हो जाती हे, वही स्त्री मर कर अपनी ही पुत्री हो जाती है। पिता मर कर पुत्र हो जाता है। फिर वही मर कर पुत्र का पुत्र हो जाता हे, इस प्रकार उलट-पलट हुआ करती है।

श्वभ्रे शूलकुठारयन्त्रदहनक्षारक्षुरव्याहतै-
स्तिर्यक्षु श्रमदुःखपावकशिखासंभार भस्मीकृतैः ।
मानुष्येऽप्यतुलप्रयासवशगैर्देवेषु रागोद्धतैः
संसारेऽत्र दुरन्तदुर्गतिमये बम्भ्रम्यते प्राणिभिः ॥१७॥

भावार्थ---इस दुर्निवार दुर्गतिमय ससार मे जीव निरन्तर भ्रमण करते है। नरको मे तो ये शूली, कुल्हाडी, घाणी, अग्नि, क्षार, जल, छुरा,

कटारी आदि से पीडा को हुए नाना प्रकार के दु खो को भोगते है । पशु-गति मे अग्नि की शिखा के भार से भस्म होकर खेद और दु ख पाते है। मनुष्य गति मे भी अतुल परिश्रम करते हुए नाना प्रकार के कष्ट भोगते हैं। देवगति मे राग भाव से दग्ध होते हुए दु ख सहते हैं। श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञान-तरगिणी मे कहते है ---

दृश्यंते गंधनादावनुजसुतसुताभीरुपित्र्वंबिकासु
ग्रामे गेहे खभोगे नगनगरखगे वाहने राजकार्ये ।
आहार्येऽगे वनादौ व्यसनकृषिमुखे कूपवापीतडागे
रक्ताश्च प्रेषणादौ यशसि पशुगणे शुद्धचिद्रूपके न ।२२-११।

भावार्थ—इस ससार मे कोई मनुष्य तो इत्रफुलेल आदि सुगधित पदार्थोमे रागी है। बहुतसे छोटा भाई, पुत्र, पुत्री, स्त्री, पिता, माता,ग्राम, घर, इन्द्रिय भोग, पर्वत, नगर, पक्षी, वाहन, राज कार्य, भक्ष्य पदार्थ, शरीर, वन, सात व्यसन, खेती, कूआ, बावडी, सरोवर आदिमे राग करनेवाले हैं, बहुत से मनुष्य व वस्तुओ को इधर उधर भेजनेमे, यश लाभमे, तथा पशुओ के पालन मे मोह करनेवाले है, परन्तु शुद्ध आत्मा के स्वरूप के प्रेमी कोई नही।

कीर्तिं वा पररंजन खविषय केचिन्निज जीवितं
संतानं च परिग्रहं भयमपि ज्ञान तथा दर्शनं ।
अन्यस्याखिलवस्तुनो रुगयुति तद्धेतुमुद्दिश्य च
कुर्युः कर्म विमोहिनो हि सुधियश्चिद्रूपलब्ध्यै पर ।।६-६।।

भावार्थ--इस ससारमे बहुतसे मोही पुरुष कीर्तिके लिये काम करते हैं, अनेक दूसरो को रजायमान करने के लिए, बहुत से इन्द्रियो के विषयो की प्राप्ति के लिये, अपने जीवन की रक्षा के लिये सतान व परिग्रह प्राप्ति के लिये, भय मिटाने के लिये, ज्ञान दर्शन पाने के लिये, रोग मिटाने के लिये काम करते हैं। कोई बुद्धिमान ही ऐसे है जो शुद्ध चिद्रूप की प्राप्ति के लिये उपाय करते है ।

एकेंद्रियादसंज्ञाख्यापूर्णपर्यंन्तदेहिनः ।
अनंतानंतमाः संति तेषु न कोऽपि तादृशः ।।

पंचाक्षिसंज्ञिपूर्णेषु केचिदासन्नभव्यतां ।
नृत्वं चालभ्य तादृक्षाः भवंत्यार्याः सुबुद्धयः ॥१०-११॥

भावार्थ—इस ससार मे एकेंद्रिय से लेकर असैनी पचेद्रिय तक अनतानत जीव है उनमे किसी के भी सम्यग्दर्शनके पाने की योग्यता नही है। पचेन्द्रिय सैनी मे भी जो निकट भव्य मनुष्य है आर्य हैं व सुबुद्धी हैं वे ही मुख्यता से सम्यक्ती होकर शुद्ध चिद्रूप का ध्यान कर सकते हैं।

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्या चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितोमोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक् ।६-१७।

भावार्थ—जो मानव मोही, पर पदार्थ मे रागी हैं वे चाहे पुर, ग्राम, पर्वत वा शिखर, समुद्र व नदी के तट, मठ, गुफा, वन, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किला, स्वर्ग, भूमि, मार्ग, आकाश, लतामण्डप, तम्बू, आदि स्थानो पर कही भी निवास करे, उन्हे निराकुल सुख रचमात्र भी प्राप्त नही हो सकता। पण्डित बनारसी दास जी बनारसी विलास मे कहते है—

सवैया ३१

जामे सदा उतपात रोगनिसो छीजे गात कछू न उपाय छिन२आउ खपनो।
कीजेबहुपापऔर नरक दु खचिताव्यापआपदाकलापमेविलाप ताप तपनो।
जामेपरिग्रहकोविषादमिथ्या बकवादविषै भोग सुख है सवाद जैसी सपनो।
ऐसौहे जगतवास जैसो चपलाविलास जामेंतूमगनभयो त्यागिधर्मअपनो॥६।
जग मे मिथ्यातीजीव भ्रम करैहसदीव भ्रम के प्रवाह मे बहाहैंआगेबहेगा।
नाम राखिवेकोमहारम्भकरे दभकरै यो न जाने दुर्गतिमे दु ख कौन सहेगा।
वारवार कहे मै ही भागवत धनवत मेरा नाम जगत मे सदा काल रहेगा।
याही ममतासो गहि आयोहै अनन्त नाम,आगे योनिमे अनतनामगहेगा।१०।

कवित्त

जैसे पुरुष कोई धन कारन हीडत दीप दीप चढि यान।
आवत हाथ रतनचिंतामणि, डारत जलधि जानि पाषान॥
तैसे भ्रमत भ्रमत भव सागर पावत नर शरीर परधान।
परम जतन नहि करत बनारसि खोवत वादि जनम अज्ञान॥ ४॥
ज्यो जडमूल उखाडि कलपतरु बोवत मूढ कनक को खेत।
ज्यो गजराज वेचि गिरिवर सम कूर कुबुद्धि मोल खर लेत॥

जैसे छाडि रतन चितामणि मूरख काच खण्ड मन देत ।
तैसे धरम विसारि बनारसि धावत अधम विषय सुख हेत ।। ५ ।।
ज्यो मतिहीन विवेक बिना नर साजि मतग जु ई धन ढोवै ।
कचन भाजन धूरि भरै शठ मूढ सुधारससो पग धोवै ।।
वाहित काग उडावन कारण, डारि महामणि मूरख रोवै ।
त्यो यह दुर्लभ देह बनारसि पाय अजान अकारथ खोवे ।। ६ ।।

सवैया २३

मात पिता सुत बन्धु सखी जन मीत हितू सुख कामिन कीके ।
सेवक राजि मतगज वाजि महादल साजि रथी रथ नीके ।।
दुर्गति जाय दुखी विललाय परै सिर आय अकेले ही जीके ।
पथ कुपथ सुगुरु समझावत और सगे सब स्वारथ ही के ।। ७ ।।

पण्डित द्यानतरायजी अपने द्यानत विलास मे कहते है—

हाट बनाय के वाट लगाय के टाट बिछाय के उद्यम कीना ।
लेन को वाढ सुदेन को घाट सुबाटनि फेरि ठगे बहु दीना ।।
ताहूमे दानको भाव न रचक पाथर की कहु नाव तरी ना ।
द्यानत याहीते नर्क मे वेदनि, कोड किरोडन और सही ना ।। ४१ ।।
नर्कन माहि कहे नहि जाहि सहे दुख जे जब जानत नाही ।
गर्भ मझार कलेश अपार तले सिर था तब जानत नही ।।
धूलके बीचमे कीच नगीचमे नीचक्रिया सबजानत नाही ।
द्यानत दाव उपाव करो जम आवहिगो जब जानत नाही ।। ४४।।
आए तजिकौनधाम चलवोहै कौनठाम करतहो कौनकाम कछूहू विचारहै ।
पूरवकमायलाय यहाआइ खायगए आगेको खरच कहावाध्यो निरधारहे ।।
विनालिये दामएककोस गामको न जातउतराई दियेविना कौनभयो पारहै।
आजकालविकरालकाल सिघआवतहै मैं करूँपुकार धर्मधारजोतयारहे२४।।

सवैया ३१

केईकेई वार जीवभूपति प्रचण्ड भयो केईकेई वार जीव कीट रूप धरो हे ।
केई२बारजीवनवग्रीवकजाय वस्योकेई२वारजीव सातवेनरक जाबतरोहै ।।
केई२बार जीव राघो मच्छ होइ चुक्यो केई२ बार साधारन काय वरो हे ।
सुखऔरदुख दोउ पावतहै जीवसदायही जान ज्ञानवानहर्पशोक हरोहै।।१६।।
याहीजगमाहि चिदानद आप डोलतहे भर्मभाव धरे हरेआतम सकतिको ।
अष्टकर्मरुप जेजे पुद्गल के परिनाम तिनको सरुप मान मानत सुमतिको।।
जाहीसमैमिथ्यामोह अधकरानाशिगयाभयो परकाश भानु चेतनकोतनको ।
ताही समैजान्योआप२ पर२ रुपमानिभवभावरीनिवारो चारोगतिको।।७५।।

छप्पय

कबहुँ चढत गजराज वाभ्फ कबहूँ सिर भारी ।
कबहुँ होत धनवत कबहुँ जिमि होत भिखारी ।।
कबहुँ असन लहि सरस कबहुं नीरस नहिं पावत ।
कबहुं वसन शुभ सघन कबहुं तन नगन दिखावत ।।
कबहुँ स्वछन्द बन्धन कबहुँ करमचाल वहु लेखिये ।
यह पुन्य पाप फल प्रगट जग, राग दोष तजि देखिये ।।५२।।
कबहुँ रुप अति सुभग कबहुँ दुर्भग दुखकारी ।
कबहुँ सुजस जस प्रगट कबहुँ अपजस अधिकारी ।।
कबहु अरोग शरीर कबहुं बहु रोग सतावत ।
कबहुँ वचन हित मधुर कबहुं कछु बात न आवत ।।
कबहुँ प्रवीन कबहुँ मुगध विविध रुप नर देखिये ।
यह पुन्य पाप फल प्रगट जग, राग दोष तजि देखिये ।।५३।।

सवैया ।

रुजगार बनैनाहि धनतो न घरमाहि खानेकी फिकर वहु नारि चाहे गहना ।
देनेवालेफिरिजाहि मिलत उधारनाहि साभ्फमिलेचोर धन आवेनाहिलहना ।
कोऊपूतजारी भयोघरमाहि सुत ययो एक पूत मरि गयो ताको दुखसहना ।
पुत्री वरजोगभई व्याहो सुना मरिगई एतेदु खमुखमानै तिसे कहा कहना४०।
शिष्यकोपढावतहै हेमको गढ़ावत है मानको वढावत है नाना छन्न छानके ।
कौडीकौडीमागतहैकाभर होभागत है प्रात उठे जागतहै स्वारथ पिछानके ।
कागद को लेखत है केई ना पेखत है केई कृषि देखत है आपनो युवानि के ।
एकसेर नाजकाज अपनो सरूप त्याग डोलतहै लाजकाज धर्मकाजहानके३६।।
देखो चिदानन्दराम ज्ञानदृष्टिखोलकरि तात मात भ्रातस्वारथ पसारा है ।
तू तो इन्हे आपमानि ममतामगनभयो वह्योभर्ममाहि निजधर्मको विसाराहै।।
यहतो कुटुम्ब सब दु खहीको कारणहै तजि मुनिराज निजकारज विचाराहै।
ताते धर्मसार स्वर्गमोक्ष सुखकार सोइ लहे भवपार जिन धर्मध्यानधाराहै३४

कुण्डलिया

यह ससार असार है, कदली वृक्ष समान ।
या मे सार पनो लखे, सो मूरख परधान ।।
सो मूरख परधान मान कुसुमनि नभ देखै ।
सलिल मथै घृत चहे शृङ्ग सुन्दर खर पेखै ।।

अगिनि माहि हिम लखै सर्पमुख माहि सुधा रह ।
जान जान मन माहि नाहि ससार सार यह ॥ ३० ॥

भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते हैं —

सवैया २३ ।

काहे को देहसो नेह करै तू अत न राखी रहेगी ये तेरी ।
मेरी ये मेरी कहा करै लच्छिसो काहूकी ह्वै के कहूँ रहि तेरी ॥
मानि कहा रहो मोह कुटुम्ब सो स्वारथ के रस लागे सबेरी ।
ताते तू चेत विचच्छन चेतन झूठि ये रीति सबे जग केरी ॥८८॥

सवैया ३१

कोटि-कोटि कष्ट सहै कष्ट मे शरीर दहे,
धूमपान किये पै न पायो भेद तन [illegible] ।
वृक्षिन के मूल रहे जटानि में भूल रहे,
मान मध्य भूल रहे किये कष्ट तन को ॥
तीरथ अनेक नए तीरथ न कहूँ भये,
कीरति के काज दियो दान हूँ रतन को ।
ज्ञान बिना बेर-बेर क्रिया करी फेर-फेर,
कीयो कोऊ कारज न आतम जतन को ॥६४॥

सवैया २३

बालक है तब बालक सी बुधि जोबन काम हुताशन जारे ।
वृद्ध भयो तन अङ्ग रहे थकि आये है श्वेत गए सब कारे ॥
पाय पसारि पर्‌यो धरनी महि रोवै रटै दुख होत महारे ।
बीतो यो बात गयो सब भूलि तू चेतत क्यों नहि चेतन हारे ॥५१॥

सवैया ३१

देखत हो कहा-कहा केलि करै चिदानन्द,
आतम सुभाव भूलि और रस राचा है ।
इन्द्रिन के सुख मे मगन रहे आठो जाम,
इन्द्रिन के दुख देख जानै दुख साचो है ॥
कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ,
अहभाव मानि मानि ठौर ठौर माचो है ।
देव तिरयच नर नारकी गतीन फिरै,
कौन कौन स्वाँग धरै यह ब्रह्म नाचो है ॥३९॥
पाय नर देह कहो कीना कहा काम तुम,
रामा रामा धन धन करत विहातु है ।

कैंक दिन कैंक छिन रही है शरीर यह,
याके सग ऐसे काज करत सुहातु है ॥
जानत है यह घर मरवेको नाहि डर,
देख भ्रम भूलि मूढ फूलि मुसकातु है ।
चेतरे अचेत फुनि चेतवेको ठौर आज,
काल पीजरेसो पक्षी उड जातु है ॥२१॥

विकट भव सिन्धु तारु तारिवेको तारु कौन,
ताके तुम तीर आये देखो दृष्टि धरि के ।
अव के सम्भारेते पार भले पहुँचत हो,
अब के सम्भारे बिन बूडत हो तरि के ॥
बहुरि फिर मिलवो न ऐसो सजोग कहूँ,
देव गुरु ग्रन्थ करि आये यही धरि के ।
ताहि तू विचार निज आतम निहारि भैया,
धारि परमात्मा विशुद्ध ध्यान करिके ॥ ७ ॥

धूअन के धौर हर देखि कहा गर्व करे,
ये तो छिन माहि जाइ पौर परसत ही ।
सन्ध्या के समान रग देखत ही होय भग,
दीपक पतग जैसे काल गरसत ही ॥
सुपने मे भूप जैसे इन्द्र धनु रुप जैसे,
ओस बूँद धूप जैसे दुरे दरसत ही ।
ऐसो ही भरम सब कर्म जाल वर्गणा को,
तामे मूढ मग्न होय मरै तरसत ही ॥१७॥

जहा तोहि चलिवो है साथ तू तहा को,
ढूँढि यहा कहाँ लोगनिसो रहो लुभायरे ।
सग तेरे कौन चलै देख तू विचार हिये,
पुत्र के कलत्र धन धान यह कायरे ॥
जाके काज पाप करि भरतु है पिण्ड,
निज ह्वै है को सहाय तेरे नर्क जब जायरे ।
तहा तो इकेलो तू ही पाप पुन्य साथ,
दोय तामे भलो होइ सोई कीजे हँसराय रे ॥

— (०) —

द्वितीय अध्याय
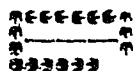
शरीर स्वरूप।

इस ससार मे जितनी आत्माएँ भ्रमण कर रही है वे सब शरीर के सयोग मे हैं। यदि शरीर का सम्बन्ध न होता तो सर्व ही आत्माएँ सिद्ध परमात्मा होती ससार का अभाव ही होता। वास्तवमे दूध पानीकी तरह शरीर आत्मा का सम्बन्ध हो रहा है। आत्मा बडा ही सूक्ष्म अतीन्द्रिय पदार्थं है जबकि शरीर जड मूर्तीक पुद्गल परमाणु के स्कन्धो से बना है इसलिये ससारी प्राणियो की स्थूल दृष्टि मे आत्मा के होने का विश्वास नही होता, क्योकि रातदिन शरीर का ही प्रभुत्व व साम्राज्य हो रहा है, आत्मा का महत्व ढक रहा है।

यह मोही प्राणी बाहरी स्थूल शरीर को ही आपा मान रहा है, उसके जन्ममे मै जन्मा, उसके मरणमे मैं मरा, उसके रोगी होने पर मैं रोगी, उसके दुर्बल होने पर मै दुर्बल, उसके वृद्ध होने पर मैं वृद्ध, उसके निरोगी होने पर मैं निरोगी, उसके सबल होने पर मैं सबल, उसके युवान होने पर

में युवान ऐसा मान रहा है। यदि वह धनवान माता पिता से जन्मा है तो यह अपने को धनवान मानता है। यदि निर्धन मे जन्मा है तो निर्धन मानता है। राज्य कुल वाला अपने को राजा, या दालिद्र कुलवाला अपने को दालिद्र, कृषक कुलवाला अपने को किसान, जुलाहे का कुलवाला अपने को जुलाहा, दरजी कुलवाला अपने को दरजी, धोवी कुलवाला अपने को धोवी, चमार कुलवाला अपने को चमार, सुनार कुलवाला अपने को सुनार, लुहार कुलवाला अपने को लुहार, बढई कुलवाला अपने को वढई, थवई कुलवाला अपने को थवई, रगरेज कुलवाला अपने को रगरेज, माली कुल-वाला अपने को माली मान रहा है।

शरीर की जितनी दशाएं होती है वे सब मेरी है ऐसा घोर अज्ञान तम छाया हुआ है। शरीर के मोह मे इतना उन्मत्त है कि रात-दिन शरीर की ही चर्चा करता है। सबेरे से सध्या होती है, सध्या से सवेरा होता है। शरीरकी ही रक्षा, शरीरके ही शृ गारका ध्यान रहता है। इसे साफ करना है, इसे धोना है, इसे कपडे पहनाना है, इसे चदन लगाना है, इसे भोजनपान कराना है, इसे व्यायाम कराना है, इसे परिश्रम कराना है, इसे आराम देना है, इसे शयन कराना है इसे आभूषण पहिनाने है, इसे वाहन पर ले जाना है, इसके सुखदाता स्त्री, नौकर चाकरो की रक्षा करनी है इसके विरोधी शत्रुओ का सहार करना है इसी धुन मे इतना मस्त है कि इसे अपने आतमा के जानने की व समझने की फुरसत नही मिलती है।

जिस शरीर के मोह मे आपको भूलकर काम काम किया करता है वही शरीर पुराना पडते पडते या युवानी मे ही या बालवय मे ही आयु कर्म के समाप्त होने पर छूटने लगता है तो महा विलाप करता है। मैं मरा, मै मरा, मेरे साथी छूटे, मेरा घर छूटा, मेरा सर्वस्व लुट गया, ऐसा मेरा-मेरा करता हुआ मरता है और तुर्त ही दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त कर लेता है।

जिसकी सगति से यह बावला होरहा है उसका स्वभाव क्या है इसका यदि विचार किया जावेगा—विवेकबुद्धिसे इस बातका मनन किया जावेगा तो विदित होगा कि शरीर भिन्न सडन गलन पडन मिलन विछुडन स्वभाव है जब कि मैं अखड, अविनाशी, अजात, अजर, अमर, अमूर्तिक, शुद्ध ज्ञाताद्दष्टा ईश्वर स्वरूप परमानन्दमय अनुपम एक सत् पदार्थ हूँ।

ससारी जीवो के सर्व शरीर पाच तरह के पाए जाते है—कार्मण, तैजस, आहारक, वैक्रियिक और औदारिक। सबसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय कार्मण शरीर है। सबसे स्थूल औदारिक है तथापि सबसे अधिक पुद्गलके परमाणुओका सघट्ट कार्मणमे है,उससे बहुत कम तैजस आदिमे क्रमसे है। सबसे अधिक परम बलिष्ट शक्ति कार्मण मे है, उससे कम शक्ति क्रम से ओर शरीरो मे है।

कार्मण शरीर कार्मणवर्गणारूपी सूक्ष्म स्कधो से बनता है। इसके बनने मे मुख्य कारण ससारी जीवो के शुभ व अशुभ रागद्वेष मोहमई भाव तथा मन वचन काय योगो का हलन-चलन है। यही अन्य चार शरीरो के बनाने का निमित्त कारण है। इसी के फल से बिजली(electric) कीसी शक्ति को रखनेवाली तैजसवर्गणारूपी सूक्ष्म स्कधो से तैजस शरीर (electric) बनता है। ये दो शरीर प्रवाहरुप से ससारी जीव के साथ अनादिकाल से चले आरहे है। जबतक मोक्ष न हो साथ रहते है, मोक्ष होते ही छूट जाते है। तौभी ये एक से नही रहते है, इन मे से पुरानी कर्म तथा तैजस वर्गणाए छूटती रहती है व नई कर्म व तैजस वर्गणाए मिलती रहती है।

यदि किसो मिथ्यादृष्टी मोही बहिरात्मा सैनी पचेन्द्रिय के कार्मण शरीरकी परीक्षा की जावे तो पुरानी से पुरानी कार्मण वर्गणा उसके कार्मण शरीर मे सत्तर कोडाकोडी सागर (सागर अनगिनती वर्षों को कहते हैं) से अधिक पुरानी नही मिल सकेगी। आहारक शरीर भी सूक्ष्म है। यह शरीर तपस्वी ऋद्धिधारी महा मुनियो के योगबल से बनता है। पुरुषाकार एक हाथका सफेद बडा सुन्दर पुतला मस्तक द्वार से निकलता है और एक अतर्मुहूर्त तक ही बना रह सकता है, फिर दूसरा बन सकता है। यह शरीर साधु की भावना के अनुसार तार के समान किसी अरहन्त केवली व श्रुत केवलो के दर्शन को जाता है, कोई सूक्ष्म शका किसी तत्व मे होती है वह दर्शन मात्र से मिट जाती है। कार्य लेने तक ही यह बना रहता है फिर विघट जाता है।

वैक्रियिक शरीर और औदारिक शरीर दो शरीर ऐसे हैं जो चारो गतिधारी प्राणियो के स्थूल शरीर हैं—जीवनतक रहते हैं, फिर छूट जाते

है, नए प्राप्त होते है। देवगति व नरकगतिवाले प्राणियो के स्थूल शरीरो को वैक्रियिक तथा तिर्यंच और मनुष्यगतिवाले प्राणियो के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। नारकियो का वैक्रियिक शरीर बहुत ही अशुभ दुर्गंधमय आहारक वर्गणाओ से बनता है। वे वर्गणाए नामकर्म के फल से स्वय मिल जाती है और एक अतर्मुहूर्त मे जितना बडा शरीर होना चाहिये उतना बडा तय्यार होजाता है। यह शरीर बहुत ही असुहावना, डरावना, हुडक सस्थानमय पापकर्म के फल को दिखानेवाला होता है। इस शरीर को वैक्रियिक इसलिये कहते है कि इसमे विक्रिया करने की शक्ति होती है। नारकी इच्छानुसार अपने शरीर को सिंह, भेडिया, कुत्ता, नाग, गरुड आदि बुरे पशुरुपो मे बदल सकते है, वे अपने अगो को ही शस्त्र बना लेते है। परस्पर दुख देने के साधन बनाने मे उनके शरीर नानाप्रकार की अपृथक विक्रियाएँ करते रहते है। इस शरीर मे ऐसी शक्ति होती है कि छिन्नभिन्न होने पर भी पारेके समान मिल जाते है—नारकी निरन्तर पीडा से आकुलित हो चाहते है कि यह शरीर छूट जावे परन्तु वह शरीर पूरी आयु भोगे बिना छूटता नही, उसका अकाल मरण होता नही। वे ऐसे शरीर मे रत नही होते है इसी से उन को नरत भी कहते है।

देवो के भी स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते है। यह शरीर भी एक अन्तर्मुहूर्त मे स्वय नामकर्म के उदय के सुन्दर सुहावनी सुगधमय आहारक वर्गणाओ से बनता है। यह सुन्दर व कातिकारी होता है। पुण्यकर्म के कमती बढती होने के कारण सर्व देवोका शरीर एकसा सुन्दर नही होता है, कोई कम कोई अधिक। इसी से देव परस्पर एक दूसरे को देखकर ईर्षावान होकर मन मे घोर दुख पाते है। अपने को दूसरो के मुकाबले मे कम सुन्दर देखकर कुढते है व रातदिन मन ही मन मे जलते रहते हैं। मिथ्यादृष्टी अज्ञानी देवो को यह बडा मानसिक दुख रहता है।

शरीर सुन्दर होने से वे देव शरीर के मोह मे रत रहते हुए शरीर मे प्राप्त पाँचो इन्द्रियो के भोगो मे बडे आसक्त रहते हैं। इनके शरीर में अपृथक् तथा पृथक् पृथक् विक्रिया करने की शक्ति होती हैं। एक देव या देवी अपने एक शरीर के बहुत शरीर बनाकर आत्मा को सब मे फैला देते हैं और मन द्वारा सर्व शरीरो से काम लिया करते है। एक ही शरीर से बने हुए भिन्न भिन्न शरीरो को भिन्न भिन्न स्थानो मे भेजकर काम लेते हैं।

छोटा बडा, हलका भारी नाना प्रकार करने की शक्ति उन के वैक्रियिक शरीर मे होती है। एक देवी अनेक प्रकार शरीर बनाकर क्रीडा किया करती है। इन देवो मे शरीरसम्बन्धी सैर, भ्रमण, नाच, गाना, नाटक, खेल, तमाशा इतना अधिक होता है कि ये रात दिन इस ही रागरग मे मगन होकर शरीर के ही सुख मे आसक्त हो शरीररूप ही अपने को मान लेते हैं। मिथ्यात्वी देवो को स्वप्नमे भी ख्याल नही आता है कि हम शरीर से भिन्न कोई आत्मा है।

शरीर के गाढ मोह के कारण कोई प्रिय देवी मरती है तो देवोको महान कष्ट होता है। अपना मरण निकट होता है तो बडा दुख होता है। वे चाहते है कि और अधिक जीते रहे परन्तु आयुकर्म के समाप्त होते ही उनको शरीर छोडना पडता है। अकाल मरण तो इन मे भी नहीं होता है। आर्तध्यान से शरीर छोडते है। कोई कोई मर करके वृक्ष वनस्पति कायों में या रत्नादि पृथ्वी कायी मे, कोई-कोई मृग, श्वान, अश्व, हाथी, वृषभ पशुओ मे और मोर, कबूतर आदि पक्षियो मे उत्पन्न हो जाते है। कोई-कोई दीन हीन मनुष्यो मे जन्म लेते है। जैसा मोह कर्म वश पाप कर्म बाँधते हैं वैसे ही कम बुरी व अधिक बुरी योनि मे आकर जन्म पाते हैं। शरीर का मोह देवो को पचेन्द्रिय से एकेन्द्रिय तक की योनि मे पटक देता है, जहाँ से उन्नति करके फिर पचेन्द्रिय होना उनके लिये अनन्त काल मे भी दुर्लभ हो जाता है।

तिर्यंच गति मे—एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि व वायुकादिको का शरीर भी आहारक वर्गणाओ से बनता है। ये वर्गणाएँ कुछ शुद्ध है। वनस्पतियो का शरीर पृथ्वी आदि धातुओ से व आहारक वर्गणाओ से बनता है। विकलत्रय व पचेन्द्रिय पशुओ का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार की अच्छी बुरी आहारक वर्गणाओ से बनता है जिससे किन्ही का शरीर सुन्दर, किन्ही का असुन्दर होता है, किन्ही का दुर्गन्धमय, किन्ही का सुगध-मय होता है। असैनी पचेन्द्रिय तक सर्व पशुओ के मन नही होता है। इससे उनके विचारने की शक्ति ही नही होती है कि वे यह विचार सकें कि आत्मा कोई भिन्न है व शरीर कोई भिन्न है। वे शरीर रूप ही अपने को माना करते है। उनकी तीव्र आसक्ति शरीर मे होती है। जो सैनी पचेन्द्रिय पशु है उनके मन होता है, वे विचार कर सकते है परन्तु उनको शरीर व आत्मा की भिन्नता के ज्ञान पाने का अवसर क्वचित् ही होता

है। वे भी शरीर मे मोही होते हुए शरीर से ही अपना जन्म मरण मानते रहते है। व शरीर के छेदन भेदन भूख प्यास से बहुत कष्ट भोगते है।

मनुष्य गति मे—इस कर्म भूमि के मनुष्यो का शरीर भी सुन्दर असुन्दर नाना प्रकार की आहारक वर्गणाओ से बनता है। पहले तो शरीर की उत्पत्ति मे कारण गर्भ है। वहा अति मलीन, पुरुष का वीर्य व स्त्री के रज का सम्बन्ध होता है तब गर्भ बनता है। उसमे जीव अन्य पर्याय से आता है तब वह चारो तरफ की और भी आहारक वर्गणारूपी पुद्गल को ग्रहण करता है। विग्रह गति से आया हुआ जीव मनुष्यगति मे एक साथ आहारक वर्गणा, भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा को ग्रहण करता है। अन्तर्मुहूर्त तक अपर्याप्त अवस्था कहलाती है। जब तक उन वर्गणाओ मे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन इनके बनने की शक्ति का प्रकाश न हो तब तक वह मानव अपर्याप्त कहलाता है,फिर वह पर्याप्त हो जाता है।

मानव शरीर—नौ मास के अनुमान महान कष्ट मे पूरा बनता है। तब तक इस जीव को गर्भ स्थान मे उल्टा रहना पडता है। वह स्थान महा अपवित्र दुर्गन्धमय होता है। माता द्वारा खाए हुए भोजनपान द्वारा वह वहाँ अपना खाद्य ग्रहण करके बढता है। अ[illegible] सिकुडे हुए एक भिल्ली के भीतर रहते है। जब वह गर्भ से निकलता है तो उस बालक को बडा भारी कष्ट होता है। बाल्यावस्था मे शरीर बडी कठिनाई से माता द्वारा पाला जाता है। भूख प्यास लगती है, समय पर दूध व अन्नादि मिलता है, कभी नही मिलता है तब रोता है, मल-मूत्र से अपने को सान लेता है।

मानव इस स्थूल शरीर को ऊपर से चिकना देखकर इसमे लुभा जाते है परन्तु इस औदारिक शरीर के सम्बन्ध मे विचार नही करते हैं। यदि भले प्रकार शरीर के स्वभाव पर विचार किया जावे तो कोई भी बुद्धिमान ऐसे अशुचि, मैले, घिनावने शरीर की सगति पसन्द न करे। इसकी उत्पत्ति का कारण माता पिता का अत्यन्त मलीन रज-वीर्य है। यह मलमई गर्भ स्थान मे बढता है। इसके भीतर सात धातु व उपधातु है। **सात धातुएं हैं**—रस रुधिर, मास, मेद (चरबी), हाड, मिज्जी, शुक्र

(वीर्य)—जो भोजनपान किया जाता है वह इन दशाओ मे पलटते-पलटते अनुमान एक मास मे वीर्य को तैयार करता है।

सात उपधातुएं हैं—वात, पित्त, श्लेष्म, सिरा स्नायु, चर्म, उपराग्नि। इनके भरोसे पर शरीर बना रहता है। यदि इनमे से कोई उपधातु बिगड जाती है तो रोग पैदा हो जाता है। यदि कोई ऊपर की खाल का ढकना जरा भी हटादे तो इस शरीर पर मक्खियां बैठ जायेंगी। इतना घिनावना दिखेगा कि स्वय को ही बुरा लगेगा। इस शरीर के भीतर मल, मूत्र, पीप अनेक कीडे बिलबिला रहे हैं। यह मैल के घडे के समान मलीन पदार्थों से भरा है। शरीर मे करोडो रोम छिद्र हैं उनसे रात दिन पसीना रुपी मैल ही निकलता है। नव बडे द्वारो से निरन्तर मैल ही निकलता है। नव द्वार है--दो कर्ण छिद्र, दो आँख, दो नाक छिद्र, एक मुख, दो कमर के वहाँ लिग व गुदा। यह शरीर निरन्तर झडता रहता है व नए पुद्गलो से मिलता रहता है।

अज्ञानी समझते है कि यह शरीर थिर है परन्तु यह सदा अथिर रहता है। जैसे एक सेना के व्यूह मे युद्ध के समय सिपाही मरते जाते हैं, नये उनकी जगह को आकर भर देते है वैसेही इस शरीरमे पुराने परमाणु झडते है, नए मिलते हैं। बालकपन, कुमारपन, युवानीपन, इन तीन मे कुछ सुन्दर दीखता है। जरा आने पर निर्बल व असुन्दर होने लगता है। इसकी अवस्था एकसी नही रहती है। इसमे अनगितनी रोग ज्वर, खाँसी, श्वाँस, पेट दर्द, शिर दर्द, कमर दर्द, गठिया, जलोदर, कोढ आदि पैदा होते रहते है। इसके छूट जाने का कोई नियम नही।

देव व नारकियो का शरीर तो पूरी आयु होने पर ही छूटता है परन्तु कर्म भूमि के मनुष्य व तिर्यंचो का अकाल मरण भी हो जाता है। जैसे दीपक मे तेल इतना हो कि रात भर जलेगा परन्तु यदि तेल किसी कारण से गिर जावे तो दीपक जल्दी बुझ जायगा। इसी तरह आयु कर्म की वर्गणाएँ समय-समय फल देके खिरती रहती हैं, वे यदि इसी समान उदय मे आती रहती है, कोई प्रतिकूल कारण नही होता है तब तो पूरी आय भोग ली जाती है परन्तु असातावेदनीय के उदय से असाध्य रोग हो जावे, विष खाने मे आजावे, तलवार लग जा[illegible] में जल जावे, जल मे डूब जावे व और कोई अकस्मात् हो जावे

प्रगट है। जितने पवित्र पदार्थ है शरीर का स्पर्श पाते ही अशुचि हो जाते है। पानी, गंध, माला, वस्त्र आदि शरीर के स्पर्शबाद दूसरे उसको ग्रहण करना अशुचि समझते है। नगर व ग्राम मे सारी गन्दगी का कारण मानवो के शरीर का मल है।

ऐसे अपवित्र शरीर भी पूज्यनीय व पवित्र मानेजाते है,यदि आत्मा धर्मरत्नो से विभूषित हो। अतएव हम सबको उचित है कि हम इस मानव देह को पुद्गलमई, अशुचि,नाशवन्त व आयु कर्म के आधीन क्षणिक समझ कर इसके द्वारा जो कुछ आत्महित साधन हो सके सो शीघ्र कर ले। यदि विलम्ब लगाई तो यह शरीर धोखा दे जायगा। और मरते समय पछताना पडेगा कि हमने कुछ नही किया। शरीर का स्वरुप आत्मा के स्वरुप से बिलकुल विलक्षण है। इसे अपने से भिन्न जानकर इससे वैराग्यभाव ही रखना चाहिये और इसी शरीर से ऐसा यत्न करना चाहिये जिससे फिर इस शरीर की प्राप्ति ही न हो, फिर इस शरीर के जेलखाने मे आना ही न पड और हम सदा के लिये स्वाधीन परमानन्दमय हो जावे। हमको मिथ्यात्व रुपी अन्धकार से निकल कर सम्यक्त के प्रकाश मे आने का पूरा-पूरा यत्न करना चाहिये।

जैनाचार्यो ने शरीर का स्वरुप कैसा बतलाया है सो नीचे के शास्त्रो के वाक्यो से प्रगट होगा —

श्री कुन्दकुन्दाचार्य ने द्वादशानुप्रेक्षा मे कहा है —

दुग्गंधं बीभत्थं कलिमल भरिदं अचेयणो मुत्तं।
सडणपडणं सहाव देहं इदि चिन्तये णिच्चं ॥४४॥

भावार्थ—ज्ञानी को नित्य ऐसा विचारना चाहिये कि यह शरीर दुर्गंधमयी है, घृणामय है, मैल से भरा है, अचेतन है, मूर्तिक है, इसका स्वभाव ही सडना व पडना है।

देहादो वदिरित्तो कम्मविरहिओ अणंतसुहणिलयो।
चोक्खो हवेइ अप्पा इदि णिच्चं भावणं कुज्जा ॥४६॥

भावार्थ—देह के भीतर वसा परन्तु देह से जुदा, कर्मों से भिन्न अनत सुख-समुद्र, अविनाशी, पवित्र आत्मा है ऐसी सदा भावना करनी योग्य है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड मे कहते है—

एक्केक्कंगुलि वाहो छण्णवदी होंति जाण मणुयाणं।
अवसेसे य सरीरे रोया भण कित्तिया भणिया ॥३७॥

भावार्थ—इस मनुष्य के देह मे एक-एक अगुल मे छयानवे-छयानवे रोग होते हैं तब कहो सर्व शरीर मे कितने रोग होगे।

ते रोया वि य सयला सहिया ते परवसेण पुव्वभवे।
एवं सहसि महाजस किं वा बहुएहिं लविएहिं ॥३८॥

भावार्थ—हे महायश! तूने पूर्व भवो मे उन रोगो को परवश हो सहा है। ऐसे ही फिर सहेगा, बहुत क्या कहे।

पित्तंतमुत्तफेफसकालिज्जयरुहिरखरिसकिमिजाले।
उयरे वसिओसि चिरं नवदसमासेहिं पत्तेहिं ॥३९॥

भावार्थ—हे मुने! तू ऐसे महान अपवित्र उदरमे नौ मास तथा दस मास बसा जो उदर पित्त और आतो से बेढा है, जहाँ मूत्र, फेफस, कलेजा, रुधिर, श्लेष्म और अनेक कीडे पाए जाते हैं।

सिसुकाले य अयाणे असुईमज्झम्मि लोलिओसि तुमं।
असुई असिया बहुसो मुनिवर! बालत्तपत्तेण ॥४१॥

भावार्थ—हे मुनिवर! तू बालपने के काल मे अज्ञान अवस्था मे अशुचि अपवित्र स्थान मे अशुचि मे लोटा और बहुतबार अशुचि वस्तु भी खाई।

मंसट्ठिसुक्कसोणियपित्तंतसवत्तकुणिमदुग्गंध।
खरिसवसपूयखिब्भिस भरियं चिंतेहि देहउडं ॥४२॥

भावार्थ—हे मुने! तू देह रुपी घडेको ऐसा विचार कि यह देह घट मास, हाड, वीर्य, रुधिर, पित्त, आतो से झडती मुरदेकी सी दुर्गंध, अपक्व मल, चरबी, पीप आदि मलीन वस्तुओ से पूर्ण भरा है।

श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार मे द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है—

असुइविलिविले गब्भे वसमाणो वत्थिपडलपच्छण्णो ।
मादूइसेभलालाइयं तु तिव्वासुहं पिवदि ।।३३।।

भावार्थ—अपवित्र मूत्रमल, श्लेष्मपित्त, रुधिरादि से घृणायुक्त गर्भ मे बसता हुआ, मास की झिल्ली से ढका हुआ, माता के कफ द्वारा पाला हुआ यह जीव महान दुर्गन्ध रस को पीता है।

मंसट्ठिसिंभवसरुहिरचम्मपित्ततमुत्तकुणिपकुडि ।
बहुदुक्खरोगभायण सरीरमसुभ वियाणाहि ।।३४।।

भावार्थ—मास, हाड, कफ, चरवी, रुधिर, चमडा, पित्त, आते, मूत्र, पीप आदि से भरी अपवित्र यह शरीर रुपी कुटी अनेक दु ख और रोगो का स्थान है ऐसा जान ।

अत्थं कामसरीरादिय पि सव्वमसुभत्ति णादूण ।
णिव्विज्जंतो झायसु जह जहसि कलेवरं असुइं ।।३५।।

भावार्थ—द्रव्य, काम, भोग,शरीरादि ये सव तेरे विगाड करनेवाले अशुभ हैं ऐसा जानकर इनसे वैराग्यवान होकर ऐसा आतमध्यान कर जिससे यह अपवित्र शरीर का सम्बन्ध सदा के लिये छूट जावे ।

मोत्तूणं जिणक्खादं धम्मं सुहमिह दु णत्थि लोगम्मि ।
ससुरासुरेसु तिरिएसु णिरयमणुएसु चिंतेज्जो ।।३६।।

भावार्थ—देव,असुर, तिर्यच, नारकी व मानवो से भरे हुए इस लोक मे एक जिनेन्द्रप्रणीत धर्मको छोडकर कोई शुभ तथा पवित्र वस्तुनही है ।

उसी मूलाचार की अनागार भावना अधिकार मे कहते है—

रोगाणं आयदणं वाधिसदसमुच्छिदं सरीरघरं ।
धीरा खणभवि रागं ण करेंति मुणी सरीरम्मि ।।७७।।

भावार्थ—यह शरीर रुपी घर रोगो का भण्डार है। सैंकडो आपत्तियो से व रोगो को झेलकर बना हुआ है । ऐसे शरीर मे धीर वीर मुनि क्षणमात्र भी राग नही करते हैं ।

एदं सरीरमसुई णिच्चं कलिकलुसभायणमचोक्खं ।
अंतोछाइद ढिड्ढस खिब्भिसभरिद अमेज्झघरं ।।७८।।

भावार्थ—यह शरीर महान अशुचि है, नित्य राग द्वेष पैदा करने का कारण है, अशुभ वस्तुओ से बना है, चमडे से ढका है, भीतर पीप, रुधिर, मास, चरबी, वीर्य, आदि से पूर्ण है तथा मलमूत्रका भण्डार है ।

अट्ठिणिछण्णं णालिणिबद्ध कलिमलभरिदं किमिउलपुण्णं ।
मंसविलित्तं तयपडिछण्ण सरीरघरं तं सददमचोक्खं।।८३।।

भावार्थ—यह शरीररूपी घर हड्डियो से बना है, नसो से बँधा है, मलमूत्रादि से भरा है, कीडो से पूर्ण है, मास से भरा है, चमडे से ढका है, यह तो सदा ही अपवित्र है ।

एदारिसे सरीरे दुग्गंधे कुणिमपूदियमचोक्खे ।
सडणपडणे असारे रागं ण करिंति सप्पुरिसा ।।८४।।

भावार्थ—ऐसे दुर्गंधित, पीपादि से भरे, अपवित्र, सडने पडनेवाले, साररहित, इस शरीर मे सत्पुरुष राग नही करते है ।

श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र मे कहते है—

अजंगमं जंगमनेययन्त्रं यथा तथा जीवधृतं शरीरम् ।
वीभत्सुपूतिक्षयितापकं च स्नेहोवृथात्रेति हितं त्वमाख्यः ३२।

भावार्थ—हे सुपार्श्वनाथ भगवान ! आपने जगत के कल्याण के लिये यह उपदेश दिया है कि यह शरीर स्वय जड है, जीव द्वारा काम करता है, जैसे किसी स्थिर यत्र को कोई चलने फिरनेवाला प्राणी चलावे तथा यह शरीर घृणायुक्त, अपवित्र, नाशवत व सताप उत्पन्न करने वाला है, इस से राग करना वृथा है ।

श्री शिवकोटी आचार्य भगवती आराधना मे कहते हैं—

देहस्स सुक्कसोणिय, असुईपरिणामकारणं जह्मा ।
देहो विहोइ असुई, अमेज्झघदपूरओ व्व तदो।।१००३।।

भावार्थ—इस देहकी उत्पत्तिका कारण महा अशुचि माताका रुधिर

पिताका वीर्य है। जैसे मलीन से बनाया हुआ घेवर सो भी मलीन ही होता है, वैसे अशुचि बीज से पैदा हुआ देह भी अशुचि है।

कललगदं दसरत्तं, अच्छदि कलुसीकदं च दसरत्तं।
थिरभूदं दसरत्तं, अच्छदि गब्भम्मि तं वीयं ॥१००६॥
तत्तो मासं वुब्वुदभूदं, अच्छदि पुणो वि घणभूदं।
जायदि मासेण तदो, य मंसपेसी य मासेण ॥१००७॥
मासेण पंच पुलगा, तत्तो हुंति हु पुणो वि मासेण।
अंगाणि उवगाणि य, णरस्स जायंति गब्भम्मि॥१००८॥
मासम्मि सत्तमे तस्स, होदि चम्मणहरोमणीप्पत्ती।
फुंदणमट्ठमसासे, णवमे दसमे य णिग्गमणं ॥१००९॥
सव्वासु अवत्थसु वि, कललादीयाणि ताणि सव्वाणि।
असुईणि अमेज्झाणि य, विहिंसणिज्जाणि णिच्चंपि१०१०।

भावार्थ—गर्भ मे माता का रुधिर पिता के वीर्य से मिला हुआ दश रात्रि तक हिलता रहता है, फिर दश रात्रि काला होकर ठहरता है, फिर दश दिन मे थिर होता है, फिर दूसरे महिने मे वुदवुदा रूप होकर ठहरता है। तीसरे मास मे वह कठोर होकर ठहरता है। चौथे मास मे मासकी डली होकर ठहरता है। पाचवे मास मे उस मासकी डली मे पाच पुलक निकलते है—एक मस्तकका आकार, दो हाथोका व दो पगो का आकार। छठे मास मे मनुष्य के अग उपग प्रगट होते है। सातवे मास मे चाम, नख, रोमकी उत्पत्ति होती है। आठवे मास मे गर्भ मे कुछ हिलता है। नवमे या दसवे मास मे गर्भ से निकलता है। ऐसे जिस दिन गर्भ मे माता का रुधिर पिताका रुधिर स्थित हुआ, उसी दिन से यह जीव महान मलीन दशा मे ही रहा।

कुणिमकुडी कुणिमेहि य, भरिदाकुणिमंच सवदि सव्वत्तो।
भाणं व अमिज्झमयं, अमिज्झभरिदं सरीरमिणं।१०२५॥

भावार्थ—यह देह मलीन वस्तुओ की कुटी है व मलीन पदार्थों से ही भरी है व सर्व द्वारो से व शरीर के अग व उपगो से सडे दुर्गंध मल

को नित्य बहाती है। जैसे मल से बना बर्तन मल ही से भरा हो, वैसा ही यह शरीर है।

अट्ठीणि होंति तिण्णि दु,सदाणि भरिदाणि कुणिममज्झाए।
सव्वम्मि चेव देहे संधीणि सवंति तावदिया ॥१०२६॥

ण्हारूण णवसदाइं सिरासदाणि हवंति सत्तो व।
देहम्मि मंसपेसी, ण होंति पचेव य सदाणि ॥१०२७॥

चत्तारि सिराजलाणि होंति सोलसय कंडराणि तहा।
छच्चे व सिराकुच्चा देहे दो मंसरज्जू य ॥१०२८॥

सत्त तयाओ काले, जयाणि सत्तेव होंति देहम्मि।
देहम्मि रोमकोड़ी-,ण होंति असीदी सदसहस्सा ।१०२९॥

पक्कामयासयत्था, य अतगुंजाऊ सोलस हवंति।
कुणिमस्स आसया स-,त्त होंति देहे मणुस्सस्स ॥१०३०।

थूण उ तिण्णि देह-, म्मि होंति सत्तत्तर च मम्मसदं।
णव होंति वणमुहाइं णिच्चं कुणिमं सवंताइं ॥१०३१॥

देहम्मि मत्थुलिंगं अञ्जलिमित्तं सयप्पमाणेण।
अञ्जलिमेत्तो मेदो ओजो वि य तत्तिओ चेव ॥१०३२॥

तिण्णि य वसञ्जलीओ छच्चेव य अंजलीउ पित्तस्स।
सिंभो पित्तसमाणो लोहिदमद्धाढ्य हवदि ॥१०३३॥

मुत्तं आढयमेत्तं उच्चारस्स य हवति छप्पत्था।
बीसं णहाणि दंता बत्तीसं होंति पगदीए ॥१०३४॥

किमिणो व वणो भरिद सरीरय किमिकुलेहि बहुगेहिं।
सव्वं देहं अप्फुंदिऊण वादा ठिदा पंच ॥१०३५॥

एवं सव्वे देहम्मि अवयवा कुणिमपुग्गला चेव ।
एक्कं पि णत्थि अंगं पूयं सुचियं च जं होज्ज ।।१०३६।।

भावार्थ—इस देह मे सडी हुई भीजी से भरेतीनसौ हाड हैं, तीनसौ ही सधिएँ हैं, नवसौ(स्नायु)नसे हैं, सातसौ छोटी(सिरा)नसै हैं, पाचसौ मास की डली हैं, चार नसो के जाल हैं, सोलह कडरा हैं, छ सिरामूल हैं, दो मास की रस्सी हैं, सात त्वचा हैं, सात कलेजे हैं, अस्सी लाख करोड रोम हैं, वक्राशय व आमाशय मे तिष्ठती सोलह आतो की पष्टि हैं, सात मल के आश्रय हैं, तीन स्थूणी है, एवसौ सात मर्मस्थान हैं, नव मल निकलने के द्वार हैं, देह मे मस्तिष्क अपनी एक अजली प्रमाण है, एक अजली प्रमाण मेद धातु है । एक अजली प्रमाण वीर्य है, मास के भीतर चरबी या घी अपनी तीन अजली प्रमाण हैं, पित्त छ अजली प्रमाण है, कफ भी छ अजली प्रमाण है, रुधिर आध आढक प्रमाण हैं, मूत्र आठ आढक प्रमाण है, आढ सेर का आढक होता है, मल छ सेर है, देह मे बीस नख है । बत्तीस दाँत है । यह प्रमाण सामान्य कहा है, विशेष हीन व अधिक भी होता है, देशकाल रोगादि के निमित्त से अनेक प्रकार होता है । सडे हुए घावकी तरह बहुत कीडो से भरा हुआ यह देह है, सर्व देह को व्यापकर पाँच पवन हैं । ऐसे इस देह मे सर्व ही अग व उपग दुर्गंध पुद्गल हैं । इस देह मे ऐसा एक भी अग नही है जो पवित्र हो—सर्व अशुचि ही है ।

जदि होज्ज मच्छियापत्तसरिसिया तयाए णो पिहिदं
को णाम कुणिमभरियं सरीरमालद्धुमिच्छेज्ज ।।१०३७।।

भावार्थ—जो यह देह मक्खी के पर समान पतली त्वचा से ढका न हो तो इस मैल से भरे हुए शरीर को कौन स्पर्शना चाहेगा ?

परिदड्ढसव्वचम्मं पंडुरगत्तं मुयंतवणरसियं ।
सुट्ठु वि दयिदं महिलं दट्ठुं पि णरो ण इच्छेज्ज१०३८।

भावार्थ—जो इस देह का सर्व चमडा जल जावे और सफेद शरीर निकल आवे और घावो से रस झडने लग जावे तो अपनी प्यारी स्त्री भी उसे देखना पसद न करेगी ।

इंगालो धोवंतो ण हु सुज्झदि जहा पयत्तेण ।
सव्वेहिं समुद्देहिं सुज्झदि देहो ण धुव्वंतो ॥१०४५॥

भावार्थ—जैसे कोयले को सर्व समुद्र के जल से धोने पर भी वह उजला नही हो सकता वैसे देहको बहुत जलादि से धोने पर भी भीतर से पसीना आदि मल ही निकलेगा ।

सिण्हाणब्भंगुव्वट्टणेहि मुहदन्त अच्छिधुवणेहिं ।
णिच्चं पि धोवमाणो वादि सदा पूदियं देहो ॥१०४४॥

भावार्थ—स्नान तथा अतर, फुलेल, उबटना से धोने पर व मुख दांत, नेत्रो के धोने पर व नित्य स्नानादि करने पर भी यह देह सदा दुर्गंध ही वमती है ।

अन्तो बहिं च मज्झे व कोइ सारो सरीरगे णत्थि ।
एरंडगो व देहो णिस्सारो सव्वहिं चेव ॥१०४८॥

भावार्थ—जैसे एरण्ड की लकडी मे कुछ सार नही हैं वैसे इस मनुष्य की देह मे भीतर बाहर कुछ भी सार नही हैं ।

जदि दा रोगा एकम्मि चेव अच्छिम्मि होंति छण्णउदी ।
सव्वम्मि चेव देहे होदव्वं कदिहि रोगेहिं ॥१०५३॥
पंचेव य कोडीओ अट्ठासट्ठिं तहवे लक्खाइं ।
णव णवदिं च सहस्सा पंचसया होंति चुलसीदी ।१०५४।

भावार्थ—जो एक नेत्र मे ९६ (छानवे) रोग होते है, तो सपूर्ण देह मे कितने रोग होगे । पाच करोड अडसठ लाख निन्याणवे हजार पाच से चौरासी ५६८९९५८४ रोग देह मे उपजने योग्य होते है ।

रूवाणि कट्ठकम्मादियाणि चिट्ठंति सारवेतस्स ।
धणिदं पि सारवेतस्स ठादि चिरं सरीरमिमं ॥१०५८॥

भावार्थ—काष्ठ व पत्थर की मूर्तिये सँवारी हुई बहुत काल ठहर सकती है, परन्तु यह मनुष्य का देह अत्यन्त सम्हाल करते हुए भी बहुत देर नही ठहरता है ।

श्री पूज्यपादस्वामी सर्वार्थसिद्धि मे कहते हैं—

"शरीरमिदमत्यन्ताशुचिशुक्रशोणितयोन्यशुचि सर्वधितमवस्करवत् अशुचिभाजन त्वङ् मात्रप्रच्छादितम् अतिपूतिरसनिष्यन्दि स्रोतो विलम् अगारवत् आत्मभाव आश्रितमपि आश्वेवापादयति। स्नानानुलेपनधूपप्रघर्षवासमाल्यादिभिरपि न शक्यमशुचित्वम् अपहर्तुमस्य।"

भावार्थ—यह शरीर अत्यत अशुचि है। वीर्य और रुधिर की योनि मे अशुचि पदार्थो से बढा है। मलभाजन के समान अशुचि का बर्तन है। ऊपर से त्वचा से ढका है। इसके द्वारो से अत्यन्त अपवित्र मल बहा करता है। जैसे अगार को हाथ मे लेने से हाथ जल जाता है, वैसे इस शरीर को अपना मानने से अपना शीघ्र ही घात होता है। स्नान,विलेपन,धूप,वस्त्र, मालादि कोई भी पदार्थ इस देह की अशुचिता दूर नही कर सकते हैं।

श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश मे कहते है—

भवंति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि।
स कायः सततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥१८॥

भावार्थ—यह शरीर निरतर क्षुधादि से पीडित रहता है व नाशवन्त है, इस की सगति को पाकर पवित्र भी भोजन वस्त्रादि पदार्थ अपवित्र होजाते हैं। ऐसे नाशवत व अपवित्र शरीर के लिये धनादि की वाछा वृथा है।

श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक मे कहते है—

मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः।
त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥

भावार्थ—सर्व ससार के दुखो का मूल इस देह से राग करना है। इसलिये आत्मज्ञानी इससे राग छोडकर व इन्द्रियो को सकोचकर अपने आत्मा मे प्रवेश करते हैं।

शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति।
उत्पन्नात्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥

भावार्थ—जो मूर्ख देह को आत्मा मान लेता है वह यह चाहा करता है कि शरीर सुन्दर बना रहे व मनोहर इन्द्रियो के पदा सदार्थ प्राप्त होते रहे। तत्वज्ञानी इस शरीर से छूटना ही चाहता है।

घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।
घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥
जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णम् मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णम् मन्यते बुधः ॥६४॥
नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥
रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मान न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

भावार्थ—जैसे मोटे कपडो को पहननें पर भी कोई आप को मोटा नही मानता है, इसी तरह अपने शरीर को मोटा देख कर ज्ञानी अपने आत्मा को मोटा नही मानता है। पुराने कपडे देखकर कोई अपने को पुराना नही मानता है, इसी तरह अपने शरीर को पुराना देखकर बुद्धिमान आत्माको पुराना नही मानता है। वस्त्रों को नाश होते जानकर कोई अपना नाश नही मानता है वैसे देह को नाश होते देखकर बुद्धिमान अपना नाश नही मानता है। वस्त्रो को लाल देखकर कोई अपने को लाल नही मानता है, वैसे देह को लाल देखकर कोई बुद्धिमान अपने आत्मा को लाल नही मानता है। शरीर से आत्मा भिन्न है।

प्रविशद्गलितां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।
स्थिति भ्रांत्या प्रपद्यन्ते तममात्मानमबुद्धयः ॥६९॥

भावार्थ—समान आकार वना रहने पर भी इस शरीररूपी सेना के चक्र मे नए परमाणु मिलते है, पुराने झडते है तौभी अज्ञानी इस शरीर को थिर मानकर अपना माना करता है।

गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यंगेनाविशेषयन् ।
आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥

भावार्थ—ज्ञानी जानते हैं कि शरीर ही गोरा, मोटा, दुवला होता है, आत्मा नही। आत्मा तो मात्र सदा ज्ञान शरीरधारी है, वह पुद्गल नही शरीर पुद्गल है।

देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।
बीजं विदेह निष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ।।७४।।

भावार्थ—इस शरीर मे ही आत्मापने की भावना करनी अन्य-अन्य देह प्राप्त करने का हेतु है तथा शरीर से भिन्न आतमा मे ही आत्मापने की भावना करनी इस शरीर से छूटने का उपाय है ।

दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मन' ।
मित्रादिभिर्वियोगं च विभेति मरणाद्भृशम् ।।७६।।

भावार्थ—जो इस शरीर मे ही अपनेपने की गाढ बुद्धि रखते हैं वे अपना नाश जानकर निरतर डरते रहते हैं कि कही पुत्र मित्र आदि का वियोग न हो जाय, कही मेरा मरण न हो जाय।

श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है—

अस्थिस्थूलतुलाकलापघटितं नद्धं शिरास्नायुभि-
श्चर्माच्छादितमस्रसान्द्रपिशितैर्लिप्तं सुगुप्तं खलैः ।
कर्मारातिभिरायुरुच्चनिगलालग्नं शरीरालय
कारागारमवेहि ते हतमते प्रीतिं वृथा मा कृथाः ।।५९।।

भावार्थ—हे निर्बुद्धि ! यह शरीररूपी घर तेरा वदीघर के समान है इस से वृथा प्रीति मत कर । यह शरीररूपी कैदखाना हड्डीरूपी मोटे पाषाणो से घडा हुआ है, नसो के जालरूपी वधनो से वेढा हुआ है, चमडे से छाया हुआ है, रुधिर व मास से लिप्त है, इसे दुष्ट कर्मरूपी वैरीने रचा है। इस मे आयुकर्मरूपी गाढी बेडी है।

दीप्तोभयाग्रवातारिदारूदरगकीटवत् ।
जन्ममृत्युसमाश्लिष्टे शरीरे वत सीदसि ।।६३।।

भावार्थ—जैसे दोनो तरफ आग से जलते हुए एरड के काष्ठ के बीच मे प्राप्त कीडा महान दुखी होता है वैसे जन्म तथा मरण से व्याप्त इस शरीर मे यह प्राणी कष्ट पाता है।

उपायकोटिदूरक्ष्ये स्वतस्तत इतोन्यतः ।
सर्वतः पतनप्राये काये कोऽयं तवाग्रह ।।६९।।

भावार्थ—हे प्राणी ! तेरा इस शरीर मे कौनसा आग्रह है कि मैं इसकी रक्षा कर लूँगा, यह तो करोडो उपायो के करने से भी नही रहेगा। न आप ही रक्षा कर सकता है, न दूसरा कोई बचा सकता हैं। यह तो अवश्य पतनशील है।

शरीरेऽस्मिन् सर्वाशुचिनि बहुदुःखे पि निवसन्
व्यरसीन्नो नैव प्रथयति जनः प्रीतिमधिकाम् ।
इमां दृष्ट्वाप्यस्माद्विरमयितुमेनं यतते
यतिर्याताख्यानैः परहितरतिं पश्य महतः ॥ ९७॥

भावार्थ—सर्व प्रकार अपवित्र और बहुत दुखो के देने वाले इस शरीर मे रहता हुआ यह मानव इस देह से विरक्त नही होता है, किन्तु अधिक प्रीति करता है तथापि ऐसा देखकर साधुजन सार उपदेश देकर इस प्राणी को शरीर से विरक्त करने का यत्न करते है। महान पुरुषो का अनुराग परहित मे रहा करता है ऐसा देखो। यह प्राणी शरीर के मोह से कष्ट पावेगा इसीलिये सत पुरुष शिक्षा देकर इसको आत्मज्ञान पर आरूढ करने का उद्यम करते हैं।

इत्थं तथेति बहुना किमुदीरितेन
भूयस्त्वयैव ननु जन्मनि भुक्तमुक्तम् ।
एतावदेव कथितं तव संकलय्य
सर्वापदां पदमिदं जननं जनानाम् ॥ ९८॥

भावार्थ—ऐसा है वैसा है ऐसा बहुत कहने से क्या ? हे जीव ! तूने इस ससार मे शरीर को बार बार भोगा है और छोडा है। अब तुझे सकोच करके इतना ही कहा जाता है कि प्राणियो के लिये यह शरीर सर्व आपदाओ का स्थान है।

विमृश्योच्चैर्गर्भात्प्रभृति मृतिपर्यंतमखिलं
मुधाप्येतत् क्लेशाशुचिभयनिकाराघबहुलम् ।
बुधैस्त्याज्यं त्यागाद्यदि भवति मुक्तिश्च जडधीः
स कस्त्यक्तुं नालं खलजनसमायोगसदृशम् ॥ १०५॥

भावार्थ—ज्ञानी लोगो के लिये यह शरीर त्यागने योग्य है, क्योकि वे विचारते है कि यह सर्व शरीर गर्भ से लेकर मरण पर्यंत वृथा ही क्लेश, अपवित्रता, भय, पराभव, पीप आदि से पूर्ण है। फिर जो इस शरीर के राग छोडने से मुक्ति का लाभ हो तो ऐसा कौन मूर्ख है जो इस को त्याग करने मे समर्थ न हो ?

आदौ तनोर्जननमत्र हतेन्द्रियाणि
कांक्षन्ति तानि विषयान् विषयाश्च मानं।
हानिप्रयासभयपापकुयोनिदाः
स्युर्मूलं ततस्तनुरनर्थपरम्पराणाम् ॥१९५॥
शरीरमपि पुष्णंति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छन्ति जीवितम् ॥१९६॥

भावार्थ—प्रथम ही शरीर की उत्पत्ति होती है उस शरीर मे इन्द्रियाँ विषम विषयो को चाहती हैं, वे विषयभोग महानपने की हानि करते हैं, महाक्लेश के कारण है, भय के करनेवाले है, पाप के उपजानेवाले हैं व निगोदादि कुयोनि के दायक है। इसलिये यह शरीर ही अनर्थ की परम्परा का मूल कारण है। मूर्ख लोग कैसा न करने योग्य काम करते हैं, शरीर को पोषते है, विषयभोगो को सेवते हैं, उन को विवेक नही, वे विष पीकर जीना चाहते है।

माता जातिः पिता मृत्युराधिव्याधी सहोद्गतौ।
प्रांते जन्तोर्जरा मित्रं तथाप्याशा शरीरके ॥२०१॥

भावार्थ—इस शरीर की उत्पत्ति तो माता है, मरण इसका पिता है, मानसिक शारीरिक दुःख इस के भाई हैं, अत मे जरा इस का मित्र है तौभी इस शरीर मे तेरी आशा है यह बडा आश्चर्य है।

शुद्धोऽप्यशेषविषयावगमोऽप्यमूर्तोऽप्यात्मन्
त्वमप्यतितरामशुचीकृतोसि।
मूर्तं सदाऽशुचि विचेतनमन्यदत्र किंवा
न दूषयति धिग्धिगिदं शरीरम् ॥२०२॥

भावार्थ—हे चिदानद ! तू तो शुद्ध है, सर्व पदार्थों का ज्ञाता है, अमर्तीक है तौभी इस जड शरीरने तुझे अपवित्र कर दिया है। यह शरीर मूर्तीक है, सदा अपवित्र चेतनारहित है, यह तो केशर कर्पूरादि सुगध वस्तुओको भी दूषित करदेता है। इस शरीरको धिक्कार हो,धिक्कार हो।

हा हतोसितरां जन्तो येनास्मिस्तव सांप्रतम् ।
ज्ञानं कायाऽशुचिज्ञानं तत्यागः किल साहसः ॥२०३॥

भावार्थ—हाय हाय ! हे प्राणी ! तू अत्यन्त ठगाया गया, नष्ट भया, तू शरीर से ममत्व कर के अति दुखी भया। अव तू विचार, यह शरीर अशुचि है, ऐसा जानना यही सच्चा ज्ञान है तथा इस का ममत्व तजना ही साहस का काम है।

श्री अमितिगति तत्वभावना मे कहते है—

संयोगेन दुरन्तकल्मषभुवा दुःखं न कि प्रापितो
येन त्वं भवकानने मृतिजराव्याघ्रव्रजाध्यासिते ॥
सगस्तेन न जायते तव यथा स्वप्नेऽपि दुष्टात्मन' ।
किंचित्कर्म तथा कुरुष्व हृदये कृत्वा मनो निश्चलम्।१७।

भावार्थ—जरा व मरण रुपी व्याघ्र समूह से भरे हुए इस सगार-वन मे महान पाप को उत्पन्न करने वाले इस शरीरके सयोग से ऐसा कौन सा दुख है,जो तूने प्राप्त नही किया हे ? अव तू अपने मनको निश्चल कर ऐसा काम कर जिससे तुझे स्वप्न मे भी इस दुष्ट शरीर का फिर सग न हो।

दुर्गंधेन मलीमसेन वपुषा स्वर्गापवर्गश्रियः ।
साध्यंते सुखकारिणा यदि तदा संपद्यते का क्षतिः ॥
निर्माल्येन विगर्हितेन सुखदं रत्नं यदि प्राप्यते ।
लाभः केन न मन्यते वत तदा लोकस्थितिं जानता॥१८॥

भावार्थ—यह शरीर तो दुर्गधमय अशुचि है। ऐसे शरीर से यदि स्वर्ग व मोक्ष देने वाली सुखकारी सम्पत्तिय प्राप्त हो सके तो क्या हानि है, उसके लिये यत्न करना ही चाहिये। यदि किसी निन्दनीक तुच्छ वस्तु के वदले मे सुखदाई रत्न प्राप्त हो सके तो लोक की मर्यादा को जाननेवाले को लाभ क्यो न मानना चाहिये ?

एकत्रापि कलेवरे स्थितिधिया कर्माणि संकुर्वता ।
गुर्वी दुःखपरंपरानुपरता यत्रात्मना लभ्यते ।।
तत्र स्थापयता विनष्टममता विस्तारिणी संपदम् ।
का शक्रेण नृपेश्वरेण हरिणा न प्राप्यते कथ्यताम् ।।४३।।

भावार्थ—इस शरीरके साथ रहते हुए मूढ आत्माने शरीर को स्थिर मानकर जो पाप कर्म किये हे उससे दु खो की परम्परा इसने उठाई है। यदि यह इस शरीर से ममता हटा ले तो ऐसी कौनसी सम्पत्ति है जो इसको प्राप्त न हो सके ? क्या इन्द्र की, क्या चक्रवर्ती की, क्या नारायण की।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ।।
तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवंति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थता१२।।

भावार्थ—अनेक प्रकार के उपायो से पालते रहने पर भी जहा इस आत्मा के साथ देह नही रह सकती छूट जाती है तब पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्री, जमाई, पिता आदि कैसे इसके साथी रह सकते है ? ये सब अपने अपने कर्म के वश जाने वाले हे,ऐसा जानकर बुद्धिमान को सदा आत्मा के हित मे अपनी बुद्धि रखनी योग्य है ।

श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है—

सर्वदैव रुजाक्रान्तं सर्वदैवाशुचेर्गृहम् ।
सर्वदा पतनप्रायं देहिना देहपञ्जरम् ।।८।।

भावार्थ—इन जीवो का देहरुपी पीजरा सदा ही रोगो से व्याप्त सर्वथा अशुचि का घर व सदा ही पतनशील है ।

तैरेव फलमेतस्य गृहीतम् पुण्यकर्मभिः ।
विरज्य जन्मनः स्वार्थे यैः शरीरं कदर्थितम् ।।९।।

भावार्थ—इस शरीर के प्राप्त होने का फल उन्होने ही लिया, जिन्होने ससार से विरक्त होकर अपने अपने आत्मकल्याण के लिये ध्यानादि पवित्र कर्मो से इसे क्षीण किया ।

भवोद्भवानि दुःखानि यानि यानीह देहिभिः ।
सह्यन्ते तानि तान्युच्चैर्वपुरादाय केवलम् ॥११॥

भावार्थ— इस जगत मे ससार से उत्पन्न जो जो दुख जीवो का सहने पडते है, वे सब इस शरीर के ग्रहण से ही सहने पडते है ।

कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि ।
भव्यान्यपि संसर्गान्मलिनयति कलेवरं नृणाम् ॥१२॥

भावार्थ- कपूर, केशर, अगर, कस्तूरी, हरिचन्दनादि सुन्दर सुन्दर पदार्थो को भी यह मनुष्यो का शरीर ससर्गमात्र से मैला कर देता है ।

अजिनपटलगूढं पञ्जरं कीकसानाम्
कुथितकुणपगन्धैः पूरितं मूढ गाढम् ।
यमवदननिषण्णं रोगभोगीन्द्रगेहं
कथमिह मनुजानां प्रीतये स्याच्छरीरम् ॥१३॥

भावार्थ—हे मूढ प्राणी ! इस ससार मे मनुष्यो का देह चर्म के परदे से ढका हुआ हाडो का पिंजरा है तथा बिगडी हुई राध की दुर्गंध से परिपूर्ण है । रोगरूपी सर्पो का घर है । काल के मुख मे बैठा हुआ है । ऐसा शरीर प्रीति करने योग्य कैसे हो सकता है ?

श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरंगिणी मे कहते है—

दुर्गंधं मलभाजनं कुविधिना निष्पादितं धातुभि-
रंगं तस्य जनैर्निजार्थमखिलैराख्या धृता स्वेच्छया ।
तस्याः किं मम वर्णनेन सततं किं निंदनेनैव च
चिद्रूपस्य शरीरकर्मजनिताऽन्यस्याप्यहो तत्त्वतः ॥६-८॥

भावार्थ—यह शरीर दुर्गन्धमय है, विष्ठा, मूत्र, आदि मलो का घर है, अशुभ कर्म के उदय से मज्जा आदि धातुओ से बना है । तथापि मूढ जनो ने अपने स्वार्थ के लिये इच्छानुसार इसकी प्रशसा की है । परन्तु मुझे इस शरीर की प्रशसा और निन्दा से क्या प्रयोजन ? क्योकि मैं तो निश्चय से शरीर से और कर्म से उत्पन्न हुए रागादि विकारो से रहित शुद्ध चिद्रूप हूँ ।

होऽहं कर्मरूपोऽहं मनुष्योऽहं कृशोऽकृशः ।
गौरोऽहं श्यामवर्णोऽहमद्विजोऽहं द्विजोऽथवा ।।१०-२।।
अविद्वानप्यहं विद्वान् निर्धनो धनवानहं ।
इत्यादि चिंतनं पुंसामहंकारो निरुच्यते ।।१०-३।।युग्मं।।

भावार्थ—मैं शरीर हूँ, मैं कर्म रुप हूं, मैं मानव हूँ, मैं दुवला हूं, मैं मोटा हूं, मैं गोरा हूं, मैं काला हूं, मै क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, हूं, मै ब्राह्मण हूं, मे मूर्ख हूं, मे विद्वान् हूं, मे निर्धन हूं, मं धनवान हूं इत्यादि मन मे विचार करना अहकार है। मूढ मानव इसी अहकार मे चूर रहते हैं।

प० बनारसीदास समयसार नाटक मे कहते हैं —

सवैया २३

देह अचेतन प्रेत दरी रज रेत भरी मल खेत की क्यारी।
व्याधिकी पोट अराधिकी ओट उपाधिकी जोट समाधिसो न्यारी ।।
रे जिय देह करे सुख हानि इते पर तोहि तो लागति प्यारी।
देह तो तोहि तजेगी निदान पै तू ही तजे क्यो न देह की यारी ।।७६।।

सवैया ३१

रेत की सी गढी किधो मढी है मसान कीसी,
अन्दर अधेरी जैसी कन्दरा हैं सैल की।
ऊपर की चमक दमक पट भूषन की,
धोखे लागे भली जैसी कली है कनैल की ।।
औगुन की ओडी, महा मोडी मोह की कनोडी,
माया की मसूरति है मूरति है मैल की।
ऐसी देह याही के सनेह याकी सगति सो,
हो रही हमारी मति कोलू कैसे बैलकी ।।७८।।

ठौर ठौर रक्त के कुण्ड कसनि के झुण्ड,
हाडनिसो भरी जैसे थरी है चुडैल की।
थोडे से धकाके लगे ऐसे फट जाय मानो,
कागद की पुरी कीधो चादर है चैल की ।।
सूचे भ्रम वानिठानि मूढ़निसो पहिचानि,
करै सुख हानि अर खान बद फैल की।

ऐसी देह याही के सनेह याकी सगति सो,
हो रही हमारी मति कोलू कैसे वैल की ॥७९॥

सवैया ३१

कोउ कूर कहे काया जीव दोऊ एक पिण्ड,
जब देह नसेगी तवही जीव मरेगो।
छाया को सो छल किधो माया को सो परपच,
काया मे समाय फिर काया को न धरेगो॥
सुधी कहे देह सो अव्यापक सदीव जीव,
समय पाइ परको ममत्व परिहरेगो।
अपने सुभाव आइ धारना धरा मे धाई,
आप मे मगन होके, आपा शुद्ध करेगो॥६६॥

प० द्यानतराय द्यानत विलास मे कहते है —
वालक बाल खियालन खियाल जुवान सियान गुमान भुलानें।
ये घरबार सबै परिवार शरीर सिगार निहार फुलाने।
वृद्ध भये तन रिद्ध गई खिदि सिद्ध व कामन घाट तुलानें।
द्यानत काय अमोलक पाय न मोक्ष द्वार किवाड खुलानें।।३८॥

प० भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते है —
लाल वस्त्र पहरे सो देह तो न लाल होय,
लाल देह भये हस लाल तो न मानिये।
वस्त्र के पुरान भये देह न पुरान होय,
देह के पुराने जीव जीरन न जानिये॥
वस्त्र के नाश कछू देह को न नाश होय,
देह के नाश हुए नाश न बखानिये।
देह दर्व पुद्गल कि चिदानन्द ज्ञानमई,
दोउ भिन्न भिन्न रुप भैया उर आनिये॥१०॥

सवैया ३१

मास हाड लोहू सानि पूतरी बनाई काहू,
चामसो लपेट तामे रोम केश लाए है।
तामे मल मूत भरि कृम कई कोटि धरे,
रोंग सचै करि करि लोक मे ले आए है॥
वोले वह खाउ खाउ विन दिये गिर जाउँ,
आगे को न धरुँ पाउँ ताही वे लुभाए है

तीसरा अध्याय
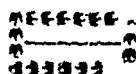
भोगो का स्वरूप।

जैसे ससार असार है, शरीर अशुचि है, वैसे इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा के बढानेवाले है। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नही होसकती है। जैसे जलरहित वनमे मृग प्यासा होता है वहा जल तो है नही परन्तु दूर से उस को चमकती घास मे या बालू मे जल का भ्रम होजाता है। वह जल समझकर जाता है परन्तु वहा जल को न पाकर अधिक प्यासा होजाता है। फिर दूर से देखता है तो दूसरी तरफ जल के भ्रमसे जाता है वहापर भी जल न पाकर और अधिक प्यासा होजाता है। इस तरह बहुत बार भ्रममे भटकते रहनेपर भी उसको जल नही मिलता। अत मे वह प्यासकी बाधा से तडफ तडफ कर प्राण दे देता है। यही हाल हम ससारी प्राणियोका है, हम सब सुख चाहते है, निराकुलता चाहते है।

भ्रम यह होरहा है कि इन्द्रियो के भोग करने से सुख मिल जायगा, तृप्ति हो जायगी। इसलिये यही प्राणी कभी स्पर्शनेन्द्रिय के भोग के लिये स्त्री सम्बन्ध करता है,कोमल पदार्थोको स्पर्श करता है,कभी रसनाइन्द्रिय के भोग के लिये इच्छित पदार्थो को खाता है,कभी घ्राणइन्द्रिय के भोग के लिये अत्तर फुलेल पुष्पादि सूँघता है, कभी चक्षुइन्द्रिय के भोग के लिये रमणीक चेतन व अचेतन पदार्थों को देखता है, कभी कर्णेन्द्रिय के भोग के लिये मनोहर गानादि सुनता है।

इस तरह पाचो इन्द्रियो का भोग बारबार करता है परन्तु तृप्ति नही पाता है । जैसे खाज को खुजाने से और खाज का कष्ट बढ जाता है वैसे इन्द्रिय भोगो को जितना किया जाता है उतनी ही अधिक तृष्णा बढ जाती है । तृष्णा ही क्लेश है, बाधा है, चिताका कारण है । यदि किसीको स्त्रीका भोग एक वार हुआ है तो वह बार२ भोगना चाहता है । शक्ति न होनेपर कष्ट पाता है या स्त्री की इच्छा न होनेपर दु ख भोगता है । यदि कोई मिठाई खाई है तो उस से बढिया मिठाई खाने की बार-बार इच्छा होती है, यदि नही मिलती है तो बडा दु ख मानता है, यदि मिल जाती है तो अधिक इच्छा बढ जाती है । यदि किसीने किसी सुगध को सूँघा है तो उससे बढिया सुगध के सूँघनेकी इच्छा होजाती है, नही मिलती हैं तो बडा दु ख पाता हैं, यदि मिल जाती है तो और अधिक तृष्णा बढ जाती है । यदि किसीने किसी तमाशेको देखा है तो इससे बढिया तमाशा देखने की इच्छा होजाती हैं । यदि नही मिलता है तो कष्ट पाता है । यदि मिल जाता हैं तो अधिक तृष्णा बढा लेता है । यदि कोई मनोहर गाना सुना हैं तो उस से बढिया सुनना चाहता हैं । यदि नही मिलता हैं तो दु ख मानता है, यदि मिल जाता है तो इच्छाको अधिक बढा लेता है । बहुतसे प्राणियो को इच्छानुसार भोग नही मिलते हैं, चाहते वे कुछ है मिलते कुछ है तब वे बहुत दु खी होते हैं । किसीके यहा निमन्त्रण था । जानेवालेने यह इच्छा की, वहाँ बढिया मिठाइयाँ मिलेगी, परन्तु वहा ऐसा भोजन था जो वह रोज खाता था उससे भी घटिया था । बश, इच्छानुसार न पाकर वह मन से बहुत क्लेश मानता है । जिनको इच्छानुसार मिल जाता है उनकी तृष्णा बढ जाती है । मनुष्यका शरीर तो पुराना पडता जाता है । इन्द्रियो की शक्ति घटती जाती है परन्तु भोगो की तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढती जाती हैं ।

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुए भोगो को असमर्थता के कारण भोग नही सकता है तो इसे बडा दु ख होता है । वृद्धो से पूछा जावे कि जन्म भर तक आपने इन्द्रियो के भोग भोगे इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी तब वे वृद्ध यदि सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी नही है, मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा है तो यही जवाब देगे कि यद्यपि विषयो के भोग की शक्ति नही है, शरीर निर्बल है, दाँत गिर गये है, आखो से दिखता नही, कानो से सुनाई नही देता, हाथ पगो मे बहुत देर खडे होने की व बहुत देर बैठने की शक्ति

ऐसे मोह भ्रम मे अनादि के भ्रमाए जीव,
देखे परतक्ष तऊ चक्षु मानो छाए हैं ॥१४॥

चाम के शरीर महिं वसत लजाति नाहिं,
देखत अशुचि तऊ लीन होय तन मे।
नारि बनी काहे की विचार कछू करे नाहिं,
रीझ रीझ मोह रहे चाम के वदन मे॥
लक्ष्मी के काज महाराज पद छांडि देत,
डोलत है रक जैसे लोभ की लगन मे।
तनकसी आउ मे उपाय कई कोउ करे,
जगत के वासी देख हांसी आवे मन में ॥७॥

अचेतन की देहरी न कीजे तासो नेहरी,
सु औगुन की गेहरी महान दुख भरी है।
याही के सनेहरी न आवे कर्म छेहरी,
पावे दुख तेहरी जिन याकी प्रीति करी है॥
अनादि लगी जेहरी जु देखत ही खेहरी,
तू या मे कहा लेहरी रोगन की दरी है।
काम गज केहरी सुराग द्वेष केहरी,
तू तामे दृष्टि देयरी जो मिथ्यात हरी है॥
देख देह खेत क्यारी ताकी ऐसी रीति न्यारी,
वोए कछू आन उपजत कछू आन है।
पच अमृत रस सेती पोखिये शरीर नित,
उपजे रुधिर मांस हाडनिको ठान है॥
एते पर रहे नाहि कीजिए उपाय कोटि,
छिनक मे विनशि जाय नाउ न निशान है।
एतो देख मूरख उछाह मन माहि धरे,
ऐसी झूठ वातनिको सांच करि मान है ॥१०१॥

सवैया २३

बालपने तव बालनिके सग, खेलो है ताकी अनेक कथा रे।
जोवन आय रमो रमनी रस सोऊ तो बात विदित्त जथा रे॥
वृद्ध भयो तन कंपत डोलत, लारे परे मुख होत विथा रे।
देख शरीर के लच्छन भइया तू, चेतत क्यो नही चेतनहारे ॥५२॥

तूही जु आय वसो जननी उर, तूही रम्यो नित बालक तारे ।
जोवनता जु भई कुनि तोहीको, ताहीके जोर अनेक ते मारे ।।
वृद्ध भयो तूही अग रहै सब, बौलत वैन कहे तु तरारे ।
देखि शरीरके लच्छन भइया तू, चेतत क्यो नहि चेतनहारे ।।५३।।

सवैया ३१

सात धातु मलिन है महा दुर्गंधभरी, तासो तुम प्रीति करी लहत आनद हो ।
नरक निगोदके सहाई जे करन पच, तिनहीकी सीख सचि चलत सु छद हो।।
आठोंजाम गहे कामरागरसरग राचि,करत किलोल मानो माते जो गयद हो।
कछूतो विचारकरो कहा२भूलि फिरो,भलेजु भलेजुभैया भले चिदानदहो।।४६।।

सवैया २३

रे मन मूढ कहा तुम भूले हो, हस विसार लगै पर छाया ।
यामे सरुप नही कछु तेरो जु, व्याधिकी खोट वनाई है काया ।।
सम्यक रूप सदा गुन तेरो है, और बनी सब ही भ्रम माया ।
देख तू रुप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनद बताया ।।४७।।
चेतन जीव निहार हु अ तर, ये सब है परकी जड काया ।
इन्द्र समान जो मेघ घटा महि, शोभित है पै रहे नहि छाया ।
रैन समै सुपनो जिम देखि तु, प्रात भए सब झूठ बनाया ।
त्यो नदि नाव सजोग मिल्यो सब, चेतो चित्त जु चेतन राया ।।४८।।
देहके नेह लग्यो कहा चेतन, न्यारियको अपनी करि मानी ।
याही सो रीझ अज्ञान मे मानिके, याही मे आपके तू हो रहो थानी ।।
देखत है परतक्ष विनाशी, तऊ अनचेतन अन्ध अज्ञानी ।
होहु सुखी अपनो बल फोटि के, मानि कह्यो सर्वज्ञकी वानी ।।४९।।
वे दिन क्यो न विचारत चेतन, मातकी कूँष मे आय बसे है ।
ऊरध पाउँ लगे निशिवासर, रच उसासनुको तरसे है ।
आउ सजोग बचे कहुँ जी अरु, लोगनकी तब दिष्टि लसे है ।
आज भये तुम जोवनके रस, भूलि गए कितते निकसे है ।।३२।।

—:(०).—

तीसरा अध्याय

भोगो का स्वरूप।

जैसे ससार असार है, शरीर अशुचि है, वैसे इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारी, अथिर और तृष्णा के वढानेवाले है। इनके भोगने से किसी को भी तृप्ति नही होसकती है। जैसे जलरहित वनमे मृग प्यासा होता है वहा जल तो है नही परन्तु दूर से उस को चमकती घास मे या बालू मे जल का भ्रम होजाता है। वह जल समझकर जाता है परन्तु वहा जल को न पाकर अधिक प्यासा होजाता है। फिर दूर से देखता है तो दूसरी तरफ जल के भ्रमसे जाता है वहापर भी जल न पाकर और अधिक प्यासा होजाता है। इस तरह बहुत वार भ्रममे भटकते रहनेपर भी उसको जल नही मिलता। अत मे वह प्यासकी बाधा से तडफ तडफ कर प्राण दे देता है। यही हाल हम ससारी प्राणियोका है, हम सब सुख चाहते हैं, निराकुलता चाहते है।

भ्रम यह होरहा है कि इन्द्रियो के भोग करने से सुख मिल जायगा, तृप्ति हो जायगी। इसलिये यही प्राणी कभी स्पर्शनेन्द्रिय के भोग के लिये स्त्री सम्बन्ध करता है,कोमल पदार्थोको स्पर्श करता है,कभी रसनाइन्द्रिय के भोग के लिये इच्छित पदार्थो को खाता है,कभी घ्राणइन्द्रिय के भोग के लिये अत्तर फुलेल पुष्पादि सूँघता है, कभी चक्षुइन्द्रिय के भोग के लिये रमणीक चेतन व अचेतन पदार्थों को देखता है, कभी कर्णेन्द्रिय के भोग के लिये मनोहर गानादि सुनता है।

इस तरह पाचो इन्द्रियो का भोग बारबार करता है परन्तु तृप्ति नही पाता है। जैसे खाज को खुजाने से और खाज का कष्ट बढ जाता है वैसे इन्द्रिय भोगो को जितना किया जाता है उतनी ही अधिक तृष्णा बढ जाती है। तृष्णा ही क्लेश है, बाधा है, चिताका कारण है। यदि किसीको स्त्रीका भोग एक बार हुआ है तो वह बार२ भोगना चाहता है। शक्ति न होनेपर कष्ट पाता है या स्त्री की इच्छा न होनेपर दु ख भोगता है। यदि कोई मिठाई खाई है तो उस से बढिया मिठाई खाने की बार-बार इच्छा होती है, यदि नही मिलती है तो बडा दु ख मानता है, यदि मिल जाती है तो अधिक इच्छा बढ जाती है । यदि किसीने किसी सुगध को सूँघा है तो उससे बढिया सुगध के सूँघनेकी इच्छा होजाती है, नही मिलती हैं तो बडा दु ख पाता हैं, यदि मिल जाती है तो और अधिक तृष्णा बढ जाती है। यदि किसीने किसी तमाशेको देखा है तो इससे बढिया तमाशा देखने की इच्छा होजाती हैं। यदि नही मिलता है तो कष्ट पाता है। यदि मिल जाता हैं तो अधिक तृष्णा बढा लेता है। यदि कोई मनोहर गाना सुना हैं तो उस से बढिया सुनना चाहता हैं। यदि नही मिलता हैं तो दु ख मानता है, यदि मिल जाता है तो इच्छाको अधिक बढा लेता है। बहुतसे प्राणियो को इच्छानुसार भोग नही मिलते हैं, चाहते वे कुछ है मिलते कुछ है तब वे बहुत दु खी होते हैं। किसीके यहा निमन्त्रण था। जानेवालेने यह इच्छा की, वहाँ बढिया मिठाइयाँ मिलेगी, परन्तु वहा ऐसा भोजन था जो वह रोज खाता था उससे भी घटिया था । बश, इच्छानुसार न पाकर वह मन से बहुत क्लेश मानता है। जिनको इच्छानुसार मिल जाता है उनकी तृष्णा बढ जाती है। मनुष्यका शरीर तो पुराना पडता जाता है। इन्द्रियो की शक्ति घटती जाती है परन्तु भोगो की तृष्णा दिन दूनी रात चौगुनी बढती जाती हैं।

जब यह प्राणी तृष्णा होते हुए भोगो को असमर्थता के कारण भोग नही सकता है तो इसे बडा दु ख होता है। वृद्धो से पूछा जावे कि जन्म भर तक आपने इन्द्रियो के भोग भोगे इनसे अब तो तृप्ति हो गई होगी तब वे वृद्ध यदि सम्यग्दृष्टी आत्मज्ञानी नही है, मिथ्यादृष्टी बहिरात्मा है तो यही जवाब देगे कि यद्यपि विषयो के भोग की शक्ति नही है, शरीर निर्बल है, दाँत गिर गये है, आखो से दिखता नही, कानो से सुनाई नहीं देता, हाथ पगो मे बहुत देर खडे होने की व बहुत देर बैठने की शक्ति

नही रही है तथापि पाचो इन्द्रियो के भोग की तृष्णा तो पहले से बहुत बढी हुई है। यह वस्तु का स्वभाव है कि इन्द्रियो के भोगो से तृष्णा बढती ही जाती है, कभी तृप्ति नही होती है। यह जीव अविनाशी है, अनादि अनन्त है। चारो गतियो मे भ्रमण करते हुए इसने अनन्त जन्म कभी एकेन्द्रिय के, कभी द्वेन्द्रिय के, कभी तेन्द्रिय के, कभी चौन्द्रिय के, कभी पचेन्द्रिय के, पशु के, मानव के, देव के, नारकी के धारण किये है। तथा नरक के सिवाय तीन गतियो मे यथासम्भव पाँचो इन्द्रियो के भोग भी भोगे है परन्तु आज तक इस मानव की एक भी इन्द्रिय की तृष्णा शान्त नही हुई।

इन इन्द्रियो के भोगो मे दूसरे पदार्थों की आवश्यकता होती हैं। यदि वे भोग्य पदार्थ नष्ट हो जाते है, उनका वियोग हो जाता है तो इस प्राणी को बडा भारी कष्ट होता है। कभी प्रिय स्त्री का वियोग हो जाता है तब यह गृहस्थी के सब आराम से छूट जाता है। कभी प्रिय पुत्र का, कभी प्रिय पुत्री का, कभी हितकारिणी माता का, कभी पिता का, कभी प्रेमपात्र मित्र का, कभी आज्ञाकारी सेवक का, कभी आजीविका देने वाले स्वामीका वियोग होजाता है तब बडा भारी कष्ट होता हैं। कभी धन की हानि हो जाती हैं तब इन्द्रियो के भोग योग्य मनवाछित पदार्थ सग्रह नही कर सकता है,बडा ही दु खी होता है। इन्द्रियो के भोगो को भोगते-भोगते तृष्णा को बढाते हुए कदाचित् अपना मरण आ जाता है तब सर्व भोगो के व चेतन अचेतन पदार्थों के छूट जाने का बडा भारी शोक करता हैं, रोता है, तडपता हैं। इन इन्द्रियो के भोगो मे रात दिन मगन रहते हुए यह ऐसा भोग्य पदार्थों मे मोही हो जाता है कि इसे धर्म की चर्चा बिलकुल सुहाती नही, सबेरे से ही शरीर की सेवा मे लग जाता हे। दिन भर धन कमाता है, रात को थककर सो जाना हैं। तृष्णा की अधिकता से बहुत मनोहर पदार्थों को भोगना चाहता है। जब न्याय से धन नही आता है तब अन्याय पर कमर कस लेता है। असत्य बोल कर, विश्वासघात कर, चोरी कर, किसी के प्राण तक लेकर धन का सचय करता हैं। उसके भीतर से दया व प्रेम चले जाते है, परम प्रेमी मित्र को भी अवसर पाकर ठग लेता है। अधिक धन पाने की लालसा से जूआ खेलने लग जाता हैं। जूए में धन हारता है तब चोरी करने लगता हैं। कुसगति मे पडकर मदिरापान मासाहार की आदत डाल लेता हैं। स्वस्त्री मे सन्तोष न पाकर वेश्याओ मे या परस्त्रियो मे आसक्त हो जाता हैं। भोगो की तृष्णा-

वश घोर से घोर पाप कर्म करने लगता हैं, अनाथ विधवाओ का धन छीन लेता हैं, झूठा मुकदमा बनाकर धन लेने का उपाय करता है। यदि राज्य विरुद्ध काम करने पर कभी दण्ड पाता हैं तो कारावास मे जाकर अपनी सब प्रतिष्ठा गमा देता हैं। सर्व ससार के दु खो का मूल भोगो की तृष्णा हैं—घोर पापो से मर कर कुगति मे जन्म पाता है, मनुष्य से एकेन्द्रिय हो जाता हैं।

यदि विचार कर देखा जावे तो ससार के सर्व ही मिथ्यादृष्टी प्राणी इन्द्रियो के भोगो की लोलुपता से रात दिन आकुल व्याकुल व प्रयत्नशील बने रहते है। पिपीलिकाएँ इसी तृष्णावश बहुत सा दाना एकत्र करती हैं, मक्खियाँ मधु को एकत्र करती है, पतगे चक्षु इन्द्रिय के रागवश दीपक की लौ मे जलकर प्राण गमाते है भ्रमर नाशिका इन्द्रिय के वश हो कमल के भीतर दबकर मर जाते है, मछलिये रसना इन्द्रिय के वश हो जाल मे फँसकर तडप-तडप कर प्राण गमाती है, हस्ती स्पर्श इन्द्रिय के वश हो पकड लिये जाते है। मृग कर्ण इन्द्रिय के वश हो जाल मे घिर कर पराधीन हो जाते हे। इन इन्द्रियो की तृष्णा के वशीभूत होकर यह प्राणी बिलकुल अन्धा हो जाता हैं। अनन्त जन्म बीत गये है, इसने इसी अन्ध भाव मे जन्म गँमाया और अब गमा रहा हे।

इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही हैं, माना हुआ हैं। जो जिसमे सुख मान लेता हैं उसी मे उसको सुख भासता हैं। यह बिलकुल पराधीन हैं। बिना दूसरे पदार्थो के सयोग के इन्द्रिय सुख नही होना। उनका समागम होने के लिये बहुत सा उद्यम करके कष्ट सहन पडता हैं तो भी यदि पुण्य कम की अन्तरङ्ग मदद न हो तो उद्यम करने हुए इच्छित पदार्थ का लाभ नही होता है। जगत मे बहुत कम ऐसे पुण्यात्मा हे जिनको चाहे हुए पदार्थ मिले। बहुधा इसी दु खसे पीडित रहते है कि चाहते तो थे कि स्त्री आज्ञाकारिणी होगी परन्तु वह ऐसी नही निकली, चाहते तो थे कि पुत्र सुपुत्र आज्ञाकारी होगे परन्तु ये तो कुपुत्र निकल गए, चाहते तो थे कि यहाँ आने से दु ख घटेगा उलटा दु ख बढ गया है। चाहते तो थे कि मुनीम सच्चा मिलेगा परन्तु यह तो स्वार्थी व हानिकारक निकल गया। यदि इच्छानुसार पदार्थ मिल भी जाते है तो सदा बने नही रहते, उनका वियोग हो जाता हे तब फिर बडा कष्ट होता है। पाचो इन्द्रियो के भोगो की तृष्णा इतनी सताती है कि इच्छा होती है कि इन सबका सुख एक साथ

भोगूँ । परन्तु ऐसा कर नही सकता । एक इन्द्रियसे ही एक कालमे विषय भोग सकता है । तब यह एक को छोड दूसरे मे, दूसरे को छोड तीसरे मे इस तरह आकुलता से भोगताफिरता है परन्तु तृप्ति किसी भी तरह पाता नही । इन्द्रिय सुख की मग्नता से बहुधा प्राणी शक्ति से या मर्यादा से अधिक भोगकर लेते है तब शरीर बिगड जाता है, रोग पैदा हो जाता है । रोगी होने पर सब विषय भोग छूट जाते है । इन भोगो से वे चक्रवर्ती सम्राट् भी तृप्ति नही पाते जिनको अधिक पुण्यात्मा होने के कारण पाँचो इन्द्रियो के भोग की सामग्री मनवाछित प्राप्त हो जाती है । बडे-बडे देव बडे पुण्यात्मा होते है, इच्छित भोग प्राप्त करते है व दीर्घ काल तक भोग करते है तो भी तृप्ति नही पाते हैं, मरण समय उनके छूटने का घोर क्लेश भोगते हैं ।

इन्द्रियो के भोग जब अतृप्तिकारी हैं, तृष्णावर्धक हैं, व अथिर नाशवन्त हैं तब यह प्राणी क्यो उनकी इच्छा नही छोडता है ? इसका कारण यही है कि इसके पास दूसरा उपाय नही है जिससे यह इच्छा को तृप्त कर सके । यदि इसको सच्चा सुख मालूम होता व सच्चे सुख का पता मालूम होता तो यह अवश्य झूठे इन्द्रिय सुख की तृष्णा छोड देता । मिथ्यादर्शन के कारण इसकी अह बुद्धि अपने इस नाशवन्त शरीर मे ही हो रही है । इसको अपने आत्मा का पता नही है न इसको अपने आत्मा के स्वरूप का विश्वास है । सच्चा सुख आत्मा मे है । जिसको अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, वह सच्चे सुख को पहचान लेता है । सच्चा सुख क्या है वह आगे बताया जायगा ।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि जब इन्द्रियो से भोग करने से झूठा सुख होता है जो अधिक तृष्णारूपी रोग को बढाता है तो फिर इन इन्द्रियो से क्या काम लेना चाहिये । ज्ञानी को यह विश्वास पक्का कर लेना चाहिये कि इन्द्रिय सुख सच्चा सुख नही है, यह सुखाभास है, सुख सा झलकता है, अतएव सुख की प्राप्ति के लिये इन इन्द्रियो का भोग करना अज्ञान है, तब फिर इन्द्रियोसे काम किसलिये लेना चाहिये ? शरीर धर्मका साधन है, शरीर की रक्षा के लिये व शरीर की रक्षार्थ न्याय पूर्वक धन पुरुषार्थ के लिये तथा धर्म के साधनो को प्राप्त करने के लिये इन्द्रियो से काम लेना चाहिये ।

स्पर्शनेन्द्रिय से पदार्थों को स्पर्श कर उनके गुण दोष मालूम करने

चाहिये कि यह पदार्थ ठण्डा है या गर्म है, चिकना है या रूखा है, कोमल है या कठोर है, हलका है या भारी है। गृहस्थी को सन्तान की आवश्यकता होती है। इसलिये स्वस्त्री मे इसका उपयोग सन्तान के लाभ के लिये लेना योग्य है, कभी शरीर मे उष्णता बढ जाती है तब उसकी शान्ति के लिये भी स्वस्त्रीमे उसका उपयोग किया जासकता है। विषयभोग के हेतुमे यदि स्पर्शनेन्द्रियका भोग होगा तो तृष्णा बढ जायगी। स्वस्त्रीमे भी मर्यादा से अधिक प्रवर्तेगा तो आप भी रोगी व निर्बल होगा व स्त्री भी रोगी तथा निर्बल होगी तथा तृष्णाकी अधिकतासे स्वस्त्रीको रमने योग्य न पाकर पर स्त्री व वेश्यामे रमण करने लग जायगा। रसनाइन्द्रिय से उन्ही पदार्थोंको खाना पीना योग्य है जिनसे शरीरका स्वास्थ्य ठीक बना रहे, शरीर सबल रहकर कर्तव्य कर्म को पालन कर सके। यदि शरीर रक्षार्थ उपयोग होगा तब तो इस इन्द्रिय का सदुपयोग है। यदि भोगार्थ उपयोग होगा तो यह प्राणी लोलुप हो जायगा। शरीर को हानिकारक पदार्थ भी खाने पीने लग जायगा, भक्ष्य अभक्ष्य का विवेक छोड बैठेगा। जिसका कुफल यह होगा कि रस के स्वाद की गृद्धता बढ जायगी तथा रोगो मे गृसित हो जायगा। रसना इन्द्रिय वाले के ही वचन बोलने की शक्ति होती है। उन वचनो का सदुपयोग आत्म कल्याण व परोपकार मे व आवश्यक शरीर रक्षा व उसके साधनो के लिये करना योग्य है। वचनो का दुरुपयोग असत्य, गाली, असभ्य विकथाओ के कहने से होता है। यदि इनकी आदत हो जाती है तो इन ही कुत्सित बातो के कहने की तृष्णा बढ जाती है। घ्राण इन्द्रिय का उपयोग शरीर रक्षार्थ सुगंध व दुर्गंध को पहचानना है। हवा, पानी, भोजन, स्थान स्वास्थ्य को लाभकारी है या अलाभकारी है ऐसा जानना है। चक्षु इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके साधनो के लिये पदार्थों को देखना है। धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये शास्त्रो को व उत्तमोत्तम पुस्तको को पढना है अथवा ज्ञान की वृद्धि हेतु उपयोगी स्थानो व पदार्थों को देखना है। कर्ण इन्द्रिय का उपयोग शरीर व उसके रक्षार्थ साधनो के मिलाने के लिये वार्तालाप सुनना है तथा धार्मिक व लौकिक उन्नति के लिये उत्तम उपदेश को सुनना है।

इस तरह ये पाँचो इन्द्रियाँ बडी ही उपयोगी हैं, इनसे योग्य काम लिया जावे। विषयभोग की तृष्णावश उनका उपयोग न करके आवश्यक कामो के लिये इनका उपयोग करना योग्य है तब ये मानव की उन्नति मे सहायक हो जाती है। यदि भोगो की तृष्णावश इनका उपयोग होता है तो यह तृष्णा को बढाकर क्लेश को बढाकर रोग को पैदा कर प्राणी को

इस लोक मे भी आकुलित कर देती है व परलोक मे भी इनकी तृष्णा से बहुत कटुक फल भोगना पड़ता है। ज्ञानी बुद्धिमान वही है जो इन इन्द्रियो का सच्चा उपयोग करके इस जीवन मे भी लौकिक व पारलौकिक उन्नति करता है व भविष्य मे भी मिष्ठ फल भोगता है।

इन्द्रियो के भोग रोग के समान हैं, असार है। जैसे केले के खम्भे को छीला जावे तो कही भी गूदा या सार नही मिलेगा वैसे इन्द्रियो के भोगो से कभी भी कोई सार फल नही निकलता है। इन्द्रियो के भोगो की तृष्णा से कषाय की अधिकता होती है, लोलुपता बढती है, हिंसात्मक भाव हो जाते हैं, धर्मभाव से च्युति हो जाती है, अतएव पापकर्म का भी बन्ध होता है।

पाप के उदय का यह फल होता है कि चक्रवर्ती सातवे नर्क चला जाता है। एक धनिक मर कर सर्प हो जाता है, श्वान हो जाता है, एकेन्द्रिय वृक्ष हो जाता है,ऐसी नीच गतिमे पहुँच जाता है कि फिर उन्नति करके मानव होना बहुत ही कठिन हो जाता है। इसलिये इन्द्रियो के सुख को सुख मानना भ्रम है, मिथ्यात्व है, भूल है, अज्ञान है, धोखा है। बुद्धिमान को उचित है कि इन्द्रिय सुखो की श्रद्धा को छोडे, इनकी लोलुपता छोडे, इनमे अन्धपना छोडे, इन ही के जो दास हो जाते हैं वे अपनी सच्ची उन्नति नही कर सकते हैं। वे इन्द्रियो की इच्छानुसार वर्तते हुए कुमार्गगामी हो जाते है। हितकारी व उचित विषयभोग करना, (अहितकारी व अनुचित विषयभोग न करना) इस बात का विवेक भाव तन के भीतर से निकल जाता है।

वे इन्द्रियो के दासत्व मे ऐसे अन्धे हो जाते है कि धर्म, अर्थ, काम तीनो गृहस्थ के पुरुषार्थो के साधन मे कायर, असमर्थ व दीन होजाते है। चाह की दाह में जलते रहकर शरीर को रोगाक्रान्त, रुधिरक्षय, दुर्बल बनाकर शीघ्र ही इस को त्याग कर चले जाते है। जिस मानव जन्म से आत्मकल्याण करना या परोपकार करना था उसको उसी तरह वृथा गमा देते है जैसे कोई अमृत के घडे को पीने के काम मे न लेकर पग धोने मे बहादे, अगर चदन के वन को ईन्धन समझ कर जला डाले, आम के वृक्षो को उखाड कर बबूल बो देवे, हाथ का रत्न काक के उडाने के लिये फेक देवे, हाथी पाकर भी उस पर लकडी ढोवे, राजपुत्र होकर के भी एक मदिरा वाले की दूकान मे सेवकाई करे।

हर एक मानव को उचित है कि वह अपनी पाँच इंद्रियों को और मन को अपने आधीन उसी तरह रखे जैसे मालिक घोडों को अपने आधीन रखता है। वह जहाँ चाहे वहाँ उनको लेजाता है। उनकी लगाम उसके हाथ मे रहती है। यदि वह घोडो के आधीन हो जावे तो वह घोडो से अपना काम नही ले सकता। किन्तु उस को घोडो की मर्जी के अनुसार वर्त कर उन के साथ घास के खेतो मे ही कूदना व चरना पडेगा। जो इन्द्रियो को और मन को अपने आधीन रख सकते है, वे इनकी सहायता से चमत्कार युक्त उन्नति कर सकते है। जो इन के दास हो जाते है, वे भव भव मे दु खो को पाते हे। अतएव इन्द्रिय भोगो को असार जान कर सच्चे सुख का प्रेमी होना योग्य है।

इन भोगो के सम्बन्ध मे जैनाचार्य क्या कहते है सो नीचे लिखे वाक्यो से जानना योग्य है।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हे—

वरभवणजाणवाहणसयणासण देवमणुवरायाणं।
मादुपिदुसजणभिच्चसंबधिणो य पिदिवियाणिच्चा ॥३॥

भावार्थ—बडे बडे महल, सवारी, पालकी, शय्या, आसन जो इन्द्र व चक्रवर्तियो के होते है। तथा माता, पिता, चाचा, सज्जन, सेवक आदि के सब सबध अथिर है।

सामग्गिदियरूवं आरोग्गं जोवणं बलं तेजं।
सोहग्गं लावण्णं सुरधणुमिव सस्सयं ण हवे ॥४॥

भावार्थ—सर्वइन्द्रियो का रूप, आरोग्य, युवानी, वल, तेज, सौभाग्य, सुन्दरता ये सब इन्द्र धनुष के समान चचल हे।

जीवणिबद्धं देहं खीरोदयमिव विणस्सदे सिग्धं।
भोगोपभोगकारणदव्वं णिच्चं कहं होदि ॥६॥

भावार्थ—जिस शरीर के साथ जोव का सवध दूध जल के समान है वही जब शीघ्र नाश हो जाता है, तब भोग व उपभोग के साधन जो चेतन व अचेतन द्रव्य है वे थिर कैसे हो सकते है ?

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है—

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुआ इंदिएहि सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा, धरणेन्द्र व स्वर्ग के इन्द्र आदि अपने शरीर के साथ उत्पन्न हुई इन्द्रियो की पीडा से घवडाए हुए---उस इन्द्रिय भोग की चाह रूपी दु ख को सहन करने को असमर्थ होकर भ्रम से रमणीक इन्द्रियो के पदार्थोको भोगते है परन्तु तृप्ति नही पाते है ।

जेसिं विसयेसु रदी, तेसिं दुक्खं वियाण सब्भाव ।
जदि तं ण हि सब्भावं, वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

भावार्थ--जिन प्राणियो की इन्द्रियो के भोगो मे रति है उन को स्वभाव मे ही दु ख जानो क्योकि यदि स्वभाव से पीडा या आकुलता या चाह की दाह न हो तो कोई इन्द्रियो के भोगो मे नही प्रवर्ते । तृष्णा की वाधा से भ्रम मे भूल कर मेरी तृष्णा मिट जायगी, ऐसा समझ कर विषयो मे प्रवर्तता है परन्तु तृष्णा तो मिटती नही ।

सोक्खं सहावसिद्धं, णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७५॥

भावार्थ--देवो को भी आतमा के स्वभाव से उत्पन्न सहज आत्मीक सुख का लाभ नही होता इसीलिये सच्चे सुख को न पाकर शरीर की पीडा से घवडाए हुए कि हमारी वाधा मिट जायगी, रमणीक विषय मे रमते है परन्तु तृष्णा को शमन नही कर सकते ।

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति अणुहवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७९॥

भावार्थ---ससारी प्राणी तृष्णा के वशीभूत होकर तृष्णा की दाह से दु खी होते हुए इन्द्रियो के भोगो के सुख को वार वार चाहते है और भोगते है । मरण पर्यन्त ऐसा करते रहते है, तथापि दु ख से सतापित ही रहते है । इन्द्रियो के भोग से चाह की दाह मिटती नही,यहाँ तक कि मरण हो जाता है । जैसे जोक विकारी खून को तृष्णावश पीती ही रहती है, सतोष नही पाती है, यहाँ तक कि उस का मरण हो जाता है ।

सपर बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं ।
ज इंदिएहि लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा ॥८०॥

भावार्थ----जो पाचो इन्द्रियो के भोगो से सुख होता है वह सुख नही है किंतु दु ख ही है क्योकि एक तो वह पराधीन है, अपनी इन्द्रियो मे भोगने योग्य शक्ति हो व पुण्य के उदय से इच्छित पदार्थ मिले तव कही होता है, स्वाधीन नही है। दूसरे क्षुधा, तृषा आदि रोगादि की वाधा सहित है बीच मे विघ्न आ जाता है। तीसरे विनाशीक है, भोग्य पदार्थ बिजली के चमत्कारवत् नष्ट हो जाते है या आप जल बुद्‌बुद के समान शरीर छोड देता है। चौथे कर्म बन्ध के कारण है क्योकि राग भाव विना इन्द्रियो के भोग नही होते। जहाँ राग है वहाँ बन्ध है, पाँचवे विषम है— चचल है, एकसा सुख नही होता है तथा समताभाव को बिगाडने वाले ह।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते है----

ताव ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम।
विसए विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

भावार्थ—जब तक यह आतमा इन्द्रियो के विषय भोगो मे आसक्त होकर प्रवृत्ति करता है, तब तक आत्मा का ज्ञान नही हो सकता। जो योगी इन विषयभोगो से विरक्त है वही आत्मा को यथार्थ पहचान सकता है।

अप्पा णाऊण णरा केई सब्भावभावपब्भट्टा।
हिंडति चाउरगं विसयेसु विमोहिया मूढा ॥६७॥

भावार्थ—कोई मानव शास्त्र द्वारा अनुभवपूर्वक आत्मा को नही जान कर भी अपने स्वभाव की भावना से भ्रष्ट होते हुए, मूढबुद्धि रखते हुए, इन्द्रियो के विषय भोगो मे मोहित होते हुए चारो गतियो मे भ्रमण किया करते है।

चे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया।
छंडंति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण सन्देहो ॥६८॥

भावार्थ---परन्तु जो कोई इन्द्रियो के असार भोगो से विरक्त होकर आत्मा को जान कर उसकी भावना तप व मुनियो के मूलगुणादि के साथ करते है वे अवश्य चार गति रूपी ससार को छेद डालते है इसमे सन्देह नही।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य शीलपाहुड मे कहते है----

वारि एक्कम्मि यजम्मे मरिज्ज विसवेयणाहदो जीवो ।
विसयविसपरिहया णं भमंति संसारकांतारे ॥२२॥

भावार्थ—यदि कोई प्राणी विष खाले तो उसकी वेदना से वह एक ही जन्म मे कष्ट से मरेगा । परन्तु जिन प्राणियो ने इन्द्रियो के भोगरूपी विष को खाया है वे इस ससार वन मे बारबार भ्रमते फिरते है, बारबार मरते है ।

णरएसु वेयणाओ तिरिक्खए माणुएसु दुक्खाइं ।
देवेसु वि दोहग्गं लहन्ति विसयासत्ता जीवा ॥२३॥

भावार्थ—जो जीव विषयभोगो मे आसक्त है वे नरक मे घोर वेदनाओ को, पशु व मानव गति मे दु खो को व देव गति मे दुर्भाग्य को प्राप्त करते हैं ।

आदेहि कम्मगंठी जा बद्धा विसयरागरागेहिं ।
तं छिदंति कयत्था तवसंजमसीलयगुणेण ॥२७॥

भावार्थ—इस आत्माने जो कर्मोकी गाँठ इन्द्रियभोगो मे राग करने से बाँधी है, उसको कृतार्थ पुरुष तप, सयम, शीलादि गुणो से स्वय छेद डालते है ।

(५) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा में कहते हैं—

दुग्गमदुल्लहलाभा भयपउरा अप्पकालिया लहुया ।
कामा दुक्खविवागा असुहा सेविज्जमाणा वि ॥३२॥

भावार्थ—इद्रिय सम्बधी कामभोग बडी कठिनता से व परिश्रम से मिलते है । उनके छूटने का भय रहता है, बहुत थोडे काल टिकने वाले हैं, असार है तथा कर्मबन्ध कारक दु खरूपी फलको देनेवाले हैं । अतएव सेवन किये जाने पर भी अशुभ है, हानिकारक हैं ।

अणिहुदमणसा एदे इंदियविसया णिगेण्हिदुं दुक्खं ।
मतोसहिहीणेण व दुट्ठा आसीविसा सप्पा ॥४२॥

भावार्थ—जबतक मनको रोका न जावे, तबतक इन्द्रियो को रोकना

अति कठिन है। जैसे मत्र व औषधि के बिना दुष्ट आशीविष जातिके सर्प वश नही किये जा सकते।

धित्तेसिमिंदियाणं जेसिं वसदो दु पावमज्जणिय।
पावदि पावविवागं दुक्खमणतं भवगदिसु ॥४३॥

भावार्थ—इन इन्द्रियो को धिक्कार हो जिनके वश मे पड के प्राणी पापो को बाधकर उनके फलसे चारो गतियो मे अनन्त दु ख को पाते है।

(६) वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार अधिकार मे कहते है—

अत्थस्स जीवियस्स य जिब्भोवत्थाण कारणं जीवो।
मरदि य मारावेदि य अणंतसो सव्वकालं तु ॥९६॥

भावार्थ—यह प्राणी सदा काल अनन्तबार गृह, पशु, वस्त्रादि के निमित्त व जीने के निमित्त व जिह्वाइन्द्रिय और कामभोग के निमित्त आप मरता है व दूसरो को मारता है।

जिब्भोवत्थणिमित्तं जीवो दुक्खं अणादिससारे।
पत्तो अणंतसो तो जिब्भोवत्थे जयह दाणिं ॥९७॥

भावार्थ—इस रसना आर स्पर्शनेन्द्रिय के निमित्त इस जीव ने अनादि काल से इस ससार मे अनत वार दु ख पाया है इसलिये इस जीभ और उपस्थ इन्द्रिय को अव तो वश मे रखना योग्य है।

बीहेदव्वं णिच्चं कट्ठत्थस्स वि तहित्थिरूवस्स।
हवदि य चित्तक्खोभो पच्चयभावेण जीवस्स ॥९९॥

भावार्थ—काठ के बने हुए स्त्री के रूप को देखने से भी सदा भय रखना चाहिये। क्योकि निमित्त कारण से इस जीव का मन विकारी हो जाता है।

घिदभरिदघडसरित्थो पुरिसो इत्थी बलंतअग्गिसमा।
तो महिलेयं ढुक्का णट्ठा पुरिसा सिव मया इयरे ॥१००॥

भावार्थ—पुरुष घी से भरे हुए घट के समान है, स्त्री जलती हुई आग के समान है। इस कारण बहुत से पुरुष स्त्री के सयोग से नष्ट हो चुके। जो बचे रहे वे ही मोक्ष पहुँचे है।

मायाए वहिणीए धूआए मूइ वुड्ढ इत्थीए ।
बीहेदव्वं णिच्चं इत्थीरूवं णिरावेक्खं ॥१०१॥

भावार्थ—स्त्री के रूप को देखने से विना किसी अपेक्षा के सदा ही भयभीत रहना चाहिये । चाहे वह माता का रूप हो, चाहे वहन का हो, चाहे वह कन्या का हो, चाहे गूँगी का हो व चाहे वृद्ध स्त्री का हो ।

(७) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते हैं—

शतह्रदोन्मेषचलं हि सौख्यं तृष्णाभयाप्यायनमात्रहेतुः ।
तृष्णाभिवृद्धिश्च तपस्यजस्रं तापस्तदायासयतीत्यवादीः १३

भावार्थ—यह इन्द्रियभोग का सुख विजली के चमत्कार के समान चचल है । यह मात्र तृष्णारूपी रोग के बढाने का ही कारण है । तृष्णा की वृद्धि निरन्तर ताप पैदा करती हैं, वह ताप सदा प्राणी को दु खी रखता है । हे सभवनाथ स्वामी ! आपने ऐसा उपदेश दिया है—

स्वास्थ्यं यदात्यन्तिकमेष पुंसां स्वार्थो न भोगः परिभंगुरात्मा
तृषोऽनुषंगान्न च तापशान्तिरितीदमाख्यद्भगवान् सुपार्श्वः ३१

भावार्थ—जीवो का सच्चा स्वार्थ अपने स्वरूप मे ठहरना है, क्षण भगुर भोगो को भोगना नही है । इन भोगो के भोगने से तृष्णा बढ जाती है । दु ख की ज्वाला शान्त नही होती । हे सुपार्श्वनाथ ! आपने ऐसा उपदेश दिया है ।

तृष्णार्चिषः परिदहन्ति न शान्तिरासा-
मिष्टेन्द्रियार्थविभवैः परिवृद्धिरेव ।
स्थित्यैव कायपरितापहरं निमित्त-
नित्यात्मवान्विषयसौख्यपराङ्मुखोऽभूत् ॥८२॥

भावार्थ—तृष्णा की ज्वालाएँ जलती रहती है । इन्द्रियो की इच्छानुसार इष्ट पदार्थोंके भोगनेपर भी इनकी शाति नही होती है ।उल्टी तृष्णा की ज्वालाएँ बढ जाती हैं । उस समय यह इन्द्रिय भोग स्वभाव से शरीरके तापको हरता है परन्तु फिर अधिक बढा देता है, ऐसा जानकर हे आत्मज्ञानी कुन्थुनाथ ! आप विषयो के सुख से वैराग्यवान हो गए ।

(८) स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहते हैं—

कर्मपरवशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदये ।
पापबीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकांक्षणा स्मृता ।।१२।।

भावार्थ—यह इन्द्रिय सुख पुण्य कर्म के अधीन है, अन्त होने वाला है। दु खो के साथ इसका लाभ होता है व पाप बाँधने का कारण है, ऐसे सुख मे अनित्य रूप श्रद्धान रखना निष्काक्षित अग कहा गया है।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है—

भोगोपभोगसुक्खं ज जं दुक्खं च भोगणासम्मि ।
एदेसु भोगणासे जाद दुक्खं पडिविसिट्ठ ।।१२४९।।

भावार्थ—भोग उपभोग करने से जो जो सुख होता है जब उन भोग उपभोग का नाश होता है तब जो जो दु ख होता है वह सुख की अपेक्षा बहुत अधिक होता है—भोग के सयोग होने पर जो सुख मालूम हुआ था, भोग के वियोग होने पर बहुत अधिक दु ख होता है।

देहे छुधादिमहिदे चले य सत्तस्स होज्ज किह सुक्खं ।
दुक्खस्स य पडियारो रहस्सणं चेव सुक्खं खु ।।१२५०।।

भावार्थ—यह देह क्षुधा आदि से पीडित रहती है व विनाशीक है, इसमे रहते हुए जीवो को सुख कैसे हो सकता है। जो इन्द्रियो का सुख है वह दु ख का क्षणिक उपाय हे पीछे अधिक तृष्णा की बाधा बढ जाती हे । ये सुख सुखाभास है, मोही जीवो को सुख से दीखते है, पीडा मालूम हुए विना कोई इन्द्रिय सुख में नही पडता है।

जह कोढिल्लो अग्गि तप्पंतो णेव उवसमं लभदि ।
तह भोगे भुंजंतो खणं पि णो उवसमं लभदि ।।१२५१।।

भावार्थ—जैसे कोढी पुरुष आग से तापता हुआ भी शाति को नही पाता है वैसे ससारी जीव भोगो को भोगते हुए भी क्षणभर भी शाति को नही पाता है । जितना २ वह तापता है उतनी २ तापने की इच्छा बढती जाती हे वैसे जितना जितना इन्द्रिय भोग किया जाता है वैसे २ भोग की बाधा बढती जाती है।

सुट्ठु वि मग्गिज्जंतो कत्थ वि कयलीए णत्थि जह सारो।
तह णत्थि सुहं मग्गिज्जंतं भोगेसु अप्पं पि ।।१२५५।।

भावार्थ—जैसे बहुत अच्छी तरह ढ ढनेपर भी केलेके खम्भे मे कही भी सार या गूदा नही निकलेगा वैसे भोगो को भोगते हुए भी अल्प भी सुख नही है ।

ण लहदि जह लेहंतो, सुखल्लयमट्ठियं रसं सुणहो ।
सो सगतालुगरुहिरं लेहंतो मण्णए सुक्खं ॥१२५६॥
महिलादिभोगसेवी ण लहइ किंचि वि सुहं तहा पुरिसो ।
सो मण्णदे वराओ सगकायपरिस्समं सुक्खं ॥१२५७॥

भावार्थ—जैसे कुत्ता सूखे हाडो को चावता हुआ रसको नही पाता है, हाडो की नोक से उसका तालवा कट जाता है जिस से रुधिर निकलता है, उस खून को पीता उसे हाड से निकला मान सुख मान लेता है वैसे स्त्री आदि के भोगो को करता हुआ कामी पुरुष कुछ भी सुख को नही पाता है । काम की पीडा से दीन हुआ अपनी काय के परिश्रमको ही सुख मान लेता है ।

तह अप्पं भोगसुहं जह धावंतस्स अहिदवेगस्स ।
गिम्हे उण्हे तत्तस्स होज्ज छाया सुहं अप्पं ॥१२५८॥

भावार्थ—जैसे अति गर्मी के समय मे वहुत वेग से दौडते हुए पुरुष को किसी वृक्षकी छाया मे ठहरने से अल्पकाल सुख होता है वैसे ही तृष्णा से अति दु खी प्राणी को भोगो का अति अल्प क्षणिक सुख होता है ।

दीसइ जलं व मयतण्हिया दु जह वणमयस्स तिसिदस्स ।
भोगा सुहं व दीसंति तह य रागेण तिसिस्यस॥१२६०॥

भावार्थ—जैसे वन मे तृषा से पीडित वन के मृग को वनतृष्णा नाम की प्यास जल सी दीखती है, वह जल जान कर दौडता है, वहाँ जल नही, इस तरह कई तरफ भागते हुए भी जल नही पाता, वैसे तीव्र राग की तृष्णा से पीडित पुरुष के भोगो मे सुख दीखता है परन्तु सुख नही है ।

जहजह भुंजई भोगे तहतह भोगेसु बढ्ढदे तण्हा ।
अग्गी व इंधणाइं, तण्हं दीवंति से भोगा ॥ १२६३ ॥

भावार्थ—ससारी जीव जैसे जैसे भोगो को भोगता है वैसे वैसे भोगो मे तृष्णा बढती जाती है । जैसे आग मे लकडी डालने से आग बढती है वैसे भोग तृष्णा को बढाते हैं ।

जीवस्स णत्थि तित्तीए चिर पि भोर्गाहि भुंजमाणेहिं ।
तित्तीए विणा चित्त उव्वूरं उव्वुदं होई ।।१२६४।।

भावार्थ—चिरकाल तक भोगो को भोगते हुए भी इस जीव को तृप्ति नही होतीहै । तृप्तिविना चित्त घवडायाहुआ उडा-उडा फिरता है ।

जह इंधणेहि अग्गी, जह व समुद्दो णदीसहस्सेहि ।
तह जीवा ण हु सक्का, तिप्पेदुं कामभोगेहि ।।१२६५।।

भावार्थ—जैसे ईघन से आग तृप्त नही होती है व जैसे समुद्र हजारो नदियो से तृप्त नही होता है जैसे जीव काम भोगो से कभी तृप्त नही हो सकते ।

देविंदचक्कवट्टी, य वासुदेवा य भोगभूमीया ।
भोगेहि ण तिप्पति हु तिप्पदि भोगेसु किहअण्णो।।१२६६।।

भावार्थ—इन्द्र, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण, भोगभूमिया जब भोगो से तृप्त ही नही होसकते है तो और कौन भोगो को भोगकर तृप्ति पा सकेगा ।

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमण परायत्त ।
भोगरदीए चइदो, होदि ण अज्झप्परमणेण ।।१२७०।।

भावार्थ—अध्यात्म मे रति स्वाधीन है, भोगो मे रति पराधीन है, भोगो से तो छूटना ही पडता है, अध्यात्म रति मे स्थिर रह सकता है। भोगो के भोग मे अनेक विघ्न आते है, आत्मरति विघ्नरहित है ।

भोगरदीए णासो णियदो विग्धा य होंति अदिवहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए ण णासो ण विग्धो वा।।१२७१।।

भावार्थ—भोगो का सुख नाश सहित है व अनेक विघ्नो से भरा हुआ है, परन्तु भले प्रकार पाया हुआ आत्मसुख नाश और विघ्न से रहित है ।

एगम्मि चेव देहे, करिज्ज दुक्खं ण वा करिज्ज अरी ।
भोगा से पुण दुक्ख करति भवकोडिकोडीसु ।।१२७४।।

भावार्थ—वैरी है सो एक ही देह मे दुःख करता है परन्तु ये भोग इस जीव को करोडो जन्मो मे दुःखी करते है ।

णच्चा दुरन्तमध्दुवमत्ताणमतप्पयं अविस्सामं ।
भोगसुहं तो तह्मा विरदो मोक्खे मदि कुज्जा ।।१२८३।।

भावार्थ—इन इन्द्रियो के भोगो को दु ख रूपी फल देनेवाले, अथिर, अशरण तथा अतृप्ति के कर्ता व विश्राम रहित जानकर ज्ञानियो को इनसे विरक्त होकर मोक्ष के लिये बुद्धि करनी चहिये।

(१०) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते हैं—

वासनामात्रमेवैतत्सुखं दुःखं च देहिनां ।
तथा ह्युद्वेजयंत्येते भोगा रोगा इवापदि ।।६।।

भावार्थ—ससारी प्राणियोको इन्द्रियोके द्वारा होनेवाला सुखदु ख आदि कालकी वासनासे भासता है। भ्रमसे इन्द्रिय सुख,सुख दीखता है। ये ही इन्द्रियो को भोग व भोग्य पदार्थ आपत्ति के समय ऐसे भासते हैं, जैसे रोग जब कभी सकट आखड़े हो जाते है, तो स्त्री,पुत्रादि का सग भी बुरा मालूम पडता है। शोक के समय इष्ट भोग भी सुहाते नही।

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कामं कः सेवते सुधीः ।।१७।।

भावार्थ---ये इन्द्रियोके भोग प्रारम्भ मे बहुत सताप देने वाले हैं। उनकी प्राप्ति के लिये बहुत कष्ट उठाना पडता है। जब ये भोग मिल जाते हैं तब भोगते हुए तृप्ति नही होती है , तृष्णा वढ जाती है, उनसे वियोग होते हुए बडा भारी दु ख होता है। ऐसे भोगो को कौन बुद्धिमान आसक्त होकर सेवन करेगा ? कोई नही। सम्यग्दृष्टि गृहस्थ त्यागने योग्य समझकर सतोष से न्यायपूर्वक भोगते हुए भी उदास रहते हैं।

भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः ।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा ।।३०।।

भावार्थ----ज्ञानी विचारता है कि मैंने जग के सर्व ही पुद्गलो को बार बार मोह के वशीभूत हो भोगा है और त्यागा है। अब मैं समझ गया हूँ। मैं अब झूठन के समान भोगो मे क्यो इच्छा करु ?

(११) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते हैं---

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो विषयेष्वहं ।
तान्प्रपद्याहमिति मां पुरा वेद न तत्वतः ॥१६॥

भावार्थ----ज्ञानी विचारता है कि मैं अपने आत्मा से छूटकर पाँचो इन्द्रियो के द्वारा विषयो मे बार बार गिरा हूँ। उन मे लिप्त होने से मैंने निश्चय से अपने आत्मा के स्वरूप को नही पहचाना, अब इनका मोह छोडना ही उचित है।

न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत् क्षेमङ्करमात्मनः ।
तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञान भावनात् ॥५५॥

भावार्थ----इन इन्द्रियो के भोगो मे लिप्त हो जाने से कोई भी ऐसी बात नही हो सकती जिससे आत्मा का कल्याण हो। तौ भी अज्ञानी अज्ञान भाव से उन्ही मे रम जाया करता है।

(१२) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है---

आस्वाद्याद्य यदुज्झितं विषयिभिर्व्यावृत्तकौतूहलै-
स्तद्भूयोप्यविकुत्सयन्नभिलषस्य प्रातपूर्वं यथा ।
जन्तो किं तव शान्तिरस्ति न भवान्यावद्दुराशामिमा-
मंहःसंहतिवीरवैरिपृतना श्री बैजयन्तीं हरेत् ॥५०॥

भावार्थ—हे मूढ ! इस ससार मे विपयी जीवो ने कौतूहल करके भोगकर जिन पदार्थो को छोडा है, उन की तू फिर अभिलापा करता है। ऐसा रागी भया है मानो ये भोग पहिले कभी पाए ही न थे। इनको तो तूने अनन्त वार भोगा है और अनन्त जीवो ने भी अनन्त वार भोगा हैं। तिनकी तुझे ग्लानि नही आती हे ? ये तो झूठन के समान है, इन से तुझे कभी शाति नही मिल सकती हे। तुझे तव ही शाति मिलेगी जव तू इस प्रवल वैरी की ध्वजा के समान आशा को छोडेगा। विपयो की आशा कभी मिटती नही, यही वडी दु खदायिनी है।

भंक्त्वाभाविभवाश्च भोगिविषमान् भोगान् बुभुक्षुर्भृशं
मृत्वापि स्वयमस्तभीतिकरुणः सर्वाञ्जिघांसुर्मुधा ।
यद्यत्साधुविगर्हितं हतमिति तस्यैव धिक्कामुकः
कामक्रोधमहाग्रहाहितमनाः किं किं न कुर्याज्जनः ॥५१॥

भावार्थ—काले नाग के समान प्राणो के हर्ता ये भोग है। इन के भोगने की अति अभिलाषा करके तू ने कुगति का बध किया। परलोक का भय न किया, जीवो पर दया न करी, वृथा अपने सब सुख घाते। धिक्कार हो तेरी इस बुद्धि को। जिन पदार्थों की साधुओ ने निन्दा की है, उन ही का तू प्रेमी भया है, इन ही के कारण तू काम, क्रोध महा भयकर पिशाचो के वश मे हो कर क्या क्या हिंसादि पापरूपी अनर्थ न करेगा ?

उग्रग्रीष्मकठोरधर्मकिरणस्फूर्ज्जद्‌गभस्तिप्रभैः
संतप्तः सकलेन्द्रियैरयमहो संवृद्धतृष्णो जनः ।
अप्राप्याभिमतं विवेकविमुखः पापप्रयास कुल-
स्तोयोपांतदुरन्तकर्द्दमगतक्षीणोक्षवत् विलश्यते ॥५५॥

भावार्थ—गर्मी की ऋतु मे तीव्र सूर्य की किरणो के समान आताप देने वाले इन पाँचो इन्द्रियो से सतापित होकर इस मनुष्य ने अपनी तृष्णा बढाली है। जब इस विवेकहीनको मनवाछित विषयभोग न मिले,तब यह अनेक पापरूप उपायो को करता हुआ उसी तरह घबडाता है, जैसे नदी के तट कीचड मे फँसा दुर्बल बूढा बैल महा कष्ट भोगता है।

लब्धेन्धनोज्वलत्याग्निः प्रशाम्यति निरन्धनः ।
ज्वलत्युभयथाप्युच्चैरहो मोहाग्निरुत्कटः ॥५६॥

भावार्थ—अग्नि तो ईधन के पाने पर जलती है परन्तु ईधन के न पाने पर बुझ जाती है। परन्तु इन्द्रियो के भोगो की मोह रूपी अग्नि बडी भयानक है जो दोनो तरह जलती रहती है। यदि भोग्य पदार्थ मिलते हैं तौ भी जलती रहती है, यदि नही मिलते है तौ भी जलती रहती हैं। इसकी शाति होना बडा दुर्लभ है।

दृष्ट्वाजनं व्रजसि किं विषयाभिलाषं
स्वल्पोप्यसौ तव महज्जनयत्यनर्थम् ।
स्नेहाद्युपक्रमजुषो हि यथातुरस्य
दोषो निषिद्धचरणं न तथेतरस्य ॥१९१॥

भावार्थ—हे मूढ ! तू लोगो को देखकर उनकी देखा देखी क्यो विषय

भोगो की इच्छा करता है। यह विषय भोग थोडे से भी सेवन किये जावे तो भी महान अनर्थ को पैदा करते हैं। जैसे रोगी मनुष्य थोडा भी घी दूध आदि का सेवन करे तो उसको वे दोष उत्पन्न करते हैं, वैसा दोष दूसरे को नही उत्पन्न करते है। इसलिये विवेकी पुरुषो को विषयाभिलाषा करना उचित नही है।

(१३) श्री अमितगति आचार्य तत्व भावना मे कहते हैं—

बाह्यं सौख्यं विषयजनितं मुंचते यो दुरन्तं।
स्थेयं स्वस्थं निरुपममसौ सौख्यमाप्नोति पूतम्॥
योऽन्यैर्जन्यं श्रुतिविरतये कर्णयुग्मं विधत्ते।
तस्यच्छन्नो भवति नियतः कर्णमध्येऽपि घोषः॥३९॥

भावार्थ—जो कोई दु ख रूपी फल को देने वाले इस बाहरी इन्द्रिय विषयो के सुख को छोड देता है वही स्थिर, पवित्र, अनुपम आत्मीय सुख को पाता है। जो कोई दूसरो के शब्द कानो मे न पडे इसलिये अपने दोनो कानो को ढकता है, उसी के कान मे एक गुप्त शब्द निरन्तर होता रहता है।

व्यावृत्येन्द्रियगोचरोरुगहने लोलं चरिष्णु चिरं।
दुर्वारं हृदयोदरे स्थिरतरं कृत्वा मनोमर्कटम्॥
ध्यानं ध्यायति मुक्तये भवततेर्निर्मुक्तभोगस्पृहो।
नोपायेन विना कृता हि विधयः सिद्धि लभंते ध्रुवम्।५४।

भावार्थ—जो कोई कठिनता से वश करने योग्य इस मन रूपी बन्दर को जो इन्द्रियो के भयानक वन मे लोभी होकर चिरकाल से चर रहा था, हृदय मे स्थिर करके बाँध देते है और भोगो की बाछा छोडकर परिश्रम के साथ ध्यान करते हैं वे ही मुक्ति को पा सकते है। बिना उपाय के निश्चय से सिद्धि नही होती हे।

पापानोकहसंकुले भववने दुःखादिभिर्दुर्गमे।
यैरज्ञानवशः कषायविषयैस्त्वं पीडितोऽनेकधा॥
रे तान् ज्ञानमुपेत्य पूतमधुना विध्वंसयाशेषतो
विद्वांसो न परित्यजंति समये शत्रूनहत्वा स्फुटं॥६५॥

भावार्थ—इस ससार वन मे, जो पाप रूपी वृक्षो से पूर्ण है व दु खो से अति भयानक है, जिन कषायो से और इन्द्रियो के भोगो से तू अज्ञान से बार-बार दु खित किया गया है, उनको अब तू पवित्र ज्ञान को प्राप्त करके जडमूल से बिलकुल नाश कर डाल। विद्वान लोग समय पाकर शत्रुओ को बिना मारे नही छोडते है।

भीतं मुंचति नांतको गतघृणो भैषीर्वृथा मा ततः।
सौख्यं जातु न लभ्यतेऽभिलषितं त्वं माभिलाषीरिदं॥
प्रत्यागच्छति शोचितं न विगतं शोकं वृथा मा कृथाः।
प्रेक्षापूर्वविधायिनो विदधते कृत्यं निरर्थं कथम् ॥७३॥

भावार्थ—मरण जब आता है तब उससे भय करने पर भी वह छोडता नही। इसलिये तू उससे घृणा छोड दे और भय मत कर। जब तू इच्छित विषय भोगो को कदापि पा नही सकता तो तू उनकी वाछा मत कर। जिसका मरण हो गया वह शोक करने पर जब लौटके आता नही तब तू वृथा शोक मत कर, विचार पूर्वक काम करने वाले किसी भी काम को वृथा नही करते हैं।

यो निःश्रेयसशर्मदानकुशलं संत्यज्य रत्नत्रयम्।
भीमं दुर्गमवेदनोदयकरं भोगं मिथः सेवते॥
मन्ये प्राणविपर्ययादिजनकं हालाहलं वल्भते।
सद्यो जन्मजरांतकक्षयकरं पीयूषमत्यस्य सः ॥१०१॥

भावार्थ—जो कोई मूढ मोक्ष के सुख को देने वाले रत्नत्रय धर्म को छोडकर भयानक व तीव्र दु ख के फल को पैदा करने वाले भोगो को बार-बार सेवन करता है, मैं ऐसा मानताहूँ कि वह जन्म जरा मरण के नाशक अमृत को शीघ्र फेककर प्राणो को हरने वाले हलाहल विष को पीता है।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रं सताम्।
सूरीणां यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः संपदम्॥
तच्चित्रं परमं यदत्र विषयं गृह्णाति हित्वा तपो।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ॥९७॥

भावार्थ—यदि चक्रवर्ती तप के लिये चक्र को त्याग देता है तो इससे सज्जनो को कोई आश्चर्य नही भासता है। यदि तपस्वियो को यह तप अनुपम अविनाशी सम्पदा को देता है इसमे भी कोई आश्चर्य नही। वडा भारी आश्चर्य तो यह है कि जो तप को छोडकर विषयभोगो को ग्रहण करता है वह इस महान भयानक ससार-समुद्र मे अपने को अनेक दु खो के मध्य मे पटक देता है।

(१४) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं—

यदक्षविषयोद्भूतं दुःखमेव न तत्सुखम् ।
अनन्तजन्मसन्तानक्लेशसंपादकं यतः ॥५-२०॥

भावार्थ—इन्द्रियो के विषय सेवन से जो सुख होता है वह दु ख ही है, क्योकि यह विषय सुख अनन्त ससार की परिपाटी मे दु खो को ही पैदा करने वाला है।

दुःखमेवाक्षजं सौख्यमविद्याव्याललालितम् ।
मूर्खास्तत्रैव रज्यन्ते न विद्मः केन हेतुना ॥१०॥

भावार्थ—इस जगत मे इन्द्रियो का सुख दु ख ही है। यह अविद्या रूपी सर्प से पोषित है। मूर्ख न जाने किस हेतु से इस सुख मे रजायमान होते हैं।

अतृप्तिजनकं मोहदाववह्नेर्महेन्धनम् ।
असातसन्ततेर्बीजमक्षसौख्यं जगुर्जिनाः ॥१३॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रो ने कहा है कि यह इन्द्रिय जन्य सुख तृप्ति देने वाला नही है। मोह रूपी दावानल को वढाने को ईधन के समान है। आगामी काल मे दु खो की परिपाटी का वीज है।

नरकस्यैव सोपानं पाथेयं वा तदध्वनि ।
अपवर्गपुरद्वारकपाटयुगलं दृढम् ॥१४॥
विघ्नबीजं विपन्मूलमन्यापेक्षं भयास्पदम् ।
करणग्राह्यमेतद्धि यदक्षार्थोत्थितं सुखम् ॥१५॥

भावार्थ—यह इन्द्रियो से उत्पन्न हुआ सुख नरक के जाने के लिये

सीढी ह, या नरक के मार्ग मे जाते हुए मार्ग का खर्च है, मोक्ष नगर का द्वार वन्द करने को मजबूत किवाडो की जोडी है, विघ्नो का वीज है, विपत्तियो का मूल है, पराधीन हे, भय का स्थान है तथा इन्द्रियो से ही ग्रहण करने योग्य है।

वर्द्धते गृद्धिरश्रान्त सन्तोषश्चापसर्पति।
विवेको विलयं याति विषयैर्वञ्चितात्मनाम् ॥१८॥

भावार्थ—जिनका आत्मा इन्द्रियो के विषय मे ठगाया गया है, उनकी विषय--लोलुपता निरन्तर वढती जाती है, सन्तोष चला जाता है तथा विवेक भी भाग जाता हे।

विषस्य कालकूटस्य विषयाख्यस्य चान्तरं।
वदन्ति ज्ञाततत्त्वार्था मेरुसर्षपयोरिव ॥१९॥

भावार्थ—तत्वज्ञानियो ने कहा है कि कालकूट विष और विषय सुख मे मेरु पवत और सरसव के समान अन्तर है। कालकूट विष जब [illegible] के समान तुच्छ है तव विषय सुख मेरु पर्वत के समान महान [illegible] है।

आपातमात्ररम्याणि विषयोत्थानि देहिनां।
विषपाकानि पर्यन्ते विद्धि सौख्यानि सर्वथा ॥२५॥

भावार्थ—हे आत्मन्! ऐसा जान कि विषयो के सुख प्राणियो को [illegible] मन्दर भा सकते है परन्तु उनका जव फल होता है तव विष के [illegible] कटुक है।

उदधिरुदकपूरैरिन्धनश्चित्रभानु-
र्यदि कथमपि दैवात्तृप्तिमासादयेतां।
न पुनरिहशरीरी कामभोगैर्विसख्यै-
श्चिरतुरमपि भुक्तैस्तृप्तिमायाति कैश्चित् ।२८॥

भावार्थ—इस जगत मे समुद्र तो नदियो से कभी तृप्त नही होता, [illegible] अग्नि ईधन से कभी तृप्त नही होती सो कदाचित् दैवयोग से तृप्ति प्राप्त करले, परन्तु यह जीव चिरकाल पर्यन्त नाना प्रकार के काम भोगादिक भोगने पर भी कभो तृप्त नही होता।

अपि संकल्पिताः कामाः संभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणां तृष्णा विश्वं बिसर्प्पति ॥३०॥

भावार्थ—मानवो को जैसे-जैसे इच्छानुसार भोगो की प्राप्ति होती जाती है वैसे-वैसे ही उनकी तृष्णा बढती हुई सर्व लोक पर्यन्त फैल जाती है ।

मीना मृत्युं प्रयाता रसनवशमिता दन्तिनः स्पर्शरुद्धाः ।
बद्धास्ते वारिबंधे ज्वलनमुपगताः पत्रिणश्चाक्षिदोषात् ॥
भृंगा गंधोद्धताशाः प्रलयमुपगता गीतलोलाःकुरंगा ।
कालव्यालेन दष्टास्तदपि तनुभृतामिन्द्रियार्थेषु रागाः ॥३५॥

भावार्थ—रसना इन्द्रिय के वश होकर मछलिये मरण को प्राप्त होती है , हाथी स्पर्श इन्द्रिय के वश होकर गढे मे गिराये जाते है व बाँधे जाते है , पतगे नेत्र इन्द्रिय के वश होकर आग की ज्वाला मे जल कर मरते है, भ्रमर गन्ध के लोलुपी होकर कमल के भीतर मर जाते है, मृग गीत के लोभी होकर प्राण गमाते है । ऐसे एक-एक इन्द्रिय के वश प्राणी मरते है तो भी देहधारियो का राग इन्द्रियो के विपय मे बना ही रहता है ।

यथा यथा हृषीकाणि स्ववशं यांति देहिनाम् ।
तथा तथा स्फुरत्युच्चैर्हृदि विज्ञानभास्करः ॥११॥

भावार्थ—जैसे-जैसे प्राणियो के वश मे इन्द्रियाँ आती जाती हैं वैसे-वैसे आत्मज्ञान रूपी सूर्य हृदय मे ऊँचा-ऊँचा प्रकाश करता जाता है ।

(९) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्त्वज्ञानतरङ्गिणी मे कहते हैं—

कल्पेशनागेशनरेशसंभवं चित्ते सुखं मे सततं तृणायते ।
कुस्त्रीरमास्थानकदेहदेहजात्सदेति चित्रं मनुतेऽल्पधीःसुखं१०-९

भावार्थ—मैने शुद्ध चिद्रूप के सुख को जान लिया है इसलिये मेरे चित्त मे देवेन्द्र, नागेन्द्र और इन्द्रो के सुख जीर्ण तृण के समान दीखते है, परन्तु जो अज्ञानी है वह स्त्री, लक्ष्मी, घर, शरीर और पुत्रादि के द्वारा होने वाले क्षणिक सुख को, जो वास्तव मे दु ख रूप है, सुख मान लेता है

खसुखं न सुखं नृणां किन्त्वभिलाषाग्निवेदनाप्रतीकारः ।
सुखमेव स्थितिरात्मनि निराकुलत्वाद्विशुद्धपरिणामात्४-१७

भावार्थ—इन्द्रिय जन्य सुख सुख नही है, किन्तु जो तृष्णारूपी आग पैदा होती है उसकी वेदना का क्षणिक उपाय है। सुख तो आत्मा मे स्थित होने से होता है, जब परिणाम विशुद्ध हो व निराकुलता हो।

पुरे ग्रामेऽटव्यां नगशिरसि नदीशादिसुतटे
मठे दर्या चैत्योकसि सदसि रथादौ च भवने ।
महादुर्गे स्वर्गे पथनभसि लतावस्त्रभवने
स्थितो मोही न स्यात् परसमयरतः सौख्यलवभाक्।६-१७।

भावार्थ—जो मनुष्य मूढ और पर पदार्थो मे रत है वे चाहे नगर मे ही, ग्राम मे हों, वन मे हों, पर्वत के शिखर पर हों, समुद्र के तट पर हों, मठ, गुहा, चैत्यालय, सभा, रथ, महल, किले मे हों, स्वर्ग मे हो भूमि, मार्ग, आकाश मे हो, लतामण्डप व तम्बू, आदि किसी भी स्थान पर हो उन्हे निराकुल सुख रचमात्र भी प्राप्त नही हो सकता।

बहून् वारान् मया भुक्त सविकल्पं सुखं ततः ।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ।।१०-१७।।

भावार्थ—मैने इन्द्रिय जन्य सुख को वार-वार भोगा है, वह कोई अपूर्व नही है, वह तो आकुलता का कारण है। मैने निर्विकल्प आत्मीक सुख कभी नही पाया उसी के लिये मेरी इच्छा है।

विषयानुभवे दुःखं व्याकुलत्वात् सतां भवेत् ।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ।।१९-४।।

भावार्थ—इन्द्रियो के विषयो के भोगने मे प्राणियो को वास्तव मे आकुलता होने के कारण से दु ख ही होता है परन्तु शुद्ध आत्मा के अनुभव करने से निराकुलता होती है तब ही सच्चा सुख होता है।

(१६) प० बनारसीदास जी बनारसी विलास मे कहते है —

सवैया ३१

ये ही है कुगति की निदानी दु ख दोष दानी,
इन ही की सगति सो सग भार वहिये ।

इनकी मगनता सो विभो को विनाश होय,
इन ही की प्रीति सो अनीति पथ गहिये ॥
ये ही तप भाव को बिडारं दुराचार धारं,
इन ही की तपत विवेक भूमि दहिये ।
ये ही इन्द्री सुभट इनहि जीतै सोई साधु,
इनको मिलापी सो तो महापापी कहिये ॥७०॥
मौन के धरैया गृह त्याग के करैया विधि,
रीति के सधैया पर निन्दासो अपूठे है ।
विद्या के अभ्यासी गिरि कन्दरा के वासी शुचि,
अग के अचारी हितकारी वैन छूटे है ॥
आगम के पाठी मनलाए महाकाठी भारी,
कष्ट के सहनहार रामाहूँ सो रूठे है ।
इत्यादिक जीव सब कारज करत रीते,
इन्द्रियन के जीते विना सब अग भूठे है ॥७१॥
धर्म तरू भजन को महामत्त कुजर से,
आपदा भण्डार के भरन को करोरी है ।
सत्यशील रोकवे को पौढ परदार जैसे,
दुर्गति को मारग चलायवे को धोरी है ॥
कुमति के अधिकारी कुनय पथ के विहारी,
भद्र भाव इन्धन जरायवे को होरी है ।
मृषा के सहाई दुर्भावना के भाई ऐसे,
विषयाभिलाषी जीव अघ के अघोरी है ॥७२॥

(१७) प० द्यानतराय जी द्यानतविलास मे कहते है —

कवित्त

चेतन जी तुम जोडत हो धन, सो धन चलै नही तुम लार ।
जाको आप जानि पोपत हो, सो तन जरिके ह्वै है छार ॥
विषयभोग को सुख मानत हो, ताको फल है दुख अपार ।
यह ससार वृक्ष सेमर को, मानि कह्यो मै कहूँ पुकार ॥३२॥

सवैया ३१

सफरस फास चाहे रसना हू रस चाहे,
नासिका सुवास चाहे नेन चाहे रूप को ।
श्रवण शबद चाहे काया तो प्रमाद चाहे,
वचन कथन चाहै मन दौर धूप को ॥

क्रोध क्रोध कर्यो चाहे मान मान गह्यो चाहे,
माया तो कपट चाहे लोभ लोभ कूप को।
परिवार धन चाहे आशा विषय सुख चाहे,
एते वेरी चाहे नाही सुख जीव भूप को ॥४६॥
जीव जोपै स्याना होय पाँचो इन्द्री वसि करै,
फास रस गन्ध रूप सुर राग हरि के।
आसन बतावै काय वचको सिखावै मौन,
ध्यान माहि मन लावै चचलता गरि के ॥
क्षमा करे क्रोध मारे विनय धरि मान गारे,
सरल सो छल जारे लोभ दशा टरि के।
परिवार नेह त्यागे विषय सैन छाँडि जागे,
तब जीव सुखी होय वैरि वस करिके ॥४७॥
वसत अनन्त काल बीतत निगोद माँहि,
अक्षर अनन्त भाग ज्ञान अनुसरे है।
छासठि सहस तीन से छतीम वार जीव,
अन्तर मुहूरत मे जन्मे अर मरे है ॥
अगुल असख भाग तहा तन धारत है,
तहासेती क्यो ही क्यो ही क्यो ही कै निसरे है।
यहाँ आय भूल गयो लागि विषय भोग विषै,
ऐसी गति पाय कहा ऐसे काम करे है ॥४८॥
बार बार कहे पुनरुक्ती दोष लागत है,
जाग तन जीव तू तो सोयो मोह झग मे।
आतम सेती विमुष गहे राग दोष रूप्य पच,
इन्द्री विषय सुख लीन पग पग मे ॥
पावत अनेक कष्ट होत नाहि अष्ट नष्ट,
महापद भृष्ट भयो भमे सिष्ट जग मे।
जाग जगवासी उदासी ह्वै के विपयसो लाग,
शुद्ध अनुभव जो आवे नाहि जग मे ॥१८॥

(१८) भैया भगवतीदास ब्रह्म विलास मे कहते है —

सवैया २३

काहे को कूर तू भूरि सहे दुख पचन के परपच भषाए।
ये अपने रस को नित पोषत है तो ही तुम लोभ लगाए ॥

तू कछू भद न बूझत रचक तोहि दगा करि देत बधाए ।
है अबके यह दाव भलो तोहि जीति ले पच जिनन्द बताए ॥१४।

छप्पै

रसना के रस मीन प्रान पल माहि गवावै ।
अलि नाशा परसग रैनि वहु सकट पावै ॥
मृग करि श्रवन सनेह देह दुर्जन को दीनी ।
दीपक देखि पतग दिष्टि हित कैसी कीनी ॥
फरश इन्द्री वश गज पडो सुकौन कौन सकट सहै ।
एक एक विपवेल सम तू पचनि सेवत सुख चहै ॥ ४ ॥

सवैया ३१

सुनो राय चिदानन्द कहे जो सुबुद्धि रानी,
कहै कहा बेर बेर नेक तोहि लाज है ।
कैसी लाज कहो कहा हम कछु जानत न,
हमे यहा इन्द्रिन को विषय सुख राज है ॥
अरे मूढ विषय सुख सेयेते अनन्तवार,
अजहूँ अघाओ नाहि कामी सिरताज है ।
मानस जनम पाय आरज सु खेत आय,
जो न चेते हमराय तेरो ही अकाज है ॥१४॥

देखत हो कहाँ कहाँ केलि करे चिदानन्द,
आतम सुभाव भूलि और रस राच्यो हैं ।
इन्द्रिन के सुख मे मगन रहे आठो जाम,
इन्द्रिन के दुख देखि जाने दुख साचो है ॥
कहूँ क्रोध कहूँ मान कहूँ माया कहूँ लोभ,
अहभाव मानि मानि ठौर ठौर माच्यो है ।
देव तिरजच नर नारकी गतीन फिरे,
कौन कौन स्वाग धरे यह ब्रह्म नाच्यो है ॥३९॥
जौ लौ तुम और रूप ह्वै रहे हे चिदानन्द,
तौलो कहूँ सुख नाहि रावरे विचारिये ।
इन्द्रिन के सुख को जो मान रहे साचो सुख,
सो तो सब सूख ज्ञान दृष्टि सो निहारिये ॥

ए तो विनाशीक रूप छिन मे औरे सरूप,
तुम अविनाशी रूप कैसे एक धारिये।
ऐसो नर जन्म पाय नेक तो विवेक कीजे,
आप रूप गहि लीजे कर्म रोग टारिये ॥४२॥

जीवै जग जिते जन तिन्हे सदा रैन दिन,
सोचत ही छिन छिन काल छीजियतु है।
धनी होय धन होय पुत्र परिवार होय,
बडो विस्तार होय जस लीजियतु है॥
देह तो निरोग होय सुख को सजोग होय,
मनवछ भोग होय जो लो जीजियतु है ॥४४॥

नागरिन सग कई सागरनि केलि कीये,
रागरग नाटक सो तउ न अघाए हो।
नर देह पाय तुम्हे आयु पल्ल तीन भई,
तहाँ तो विषय कलोल नाना भाँति गाए हो॥
जहाँ गए तहाँ तुग विषय सो विनोद कीनो,
ताही ते नरक मे अनेक दुख पाये हो।
अज हूँ सम्भार विषय डारि क्यो न चिदानन्द,
जाके सग दुख होय ताही से लुभाए हो ॥ ८ ॥

नर देह पाए कहो कहा सिद्धि भई तोहि,
विषय सुख सेये सब सुकृत गवायो है।
पचइन्द्री दुष्ट तिन्हे पुष्ट करि पोष राखे,
आई गई जरा तब जोर विल्लायो है॥
क्रोध मान माया लोभ चारो चित्त रोक बैठे,
नरक निगोद को सन्देसो वेग आयो है।
खाय चलो गाँठ को कमाई कौडी एक नाहि,
तो सो मूढ दूसरो न ढूंढयो कोऊ पायो है ॥११॥

देखहु रे दक्ष एक वात परतक्ष नई,
अच्छन की सगति विचच्छन लुभानो है।
वस्तु जो अभक्ष्य ताहि भच्छत है रैन दिन,
पोषिवे को पक्ष करे मच्छ ज्यो लुभानो है॥
विनाशीक लक्ष ताहि चक्षु सो विलोके थिर,
वह जाय गच्छ तब फिरे जो दीवानो है।

स्वच्छ निज अक्ष को विजक्ष के न देखे पास,
मोह जक्ष लागे वच्छ ऐसे भरमानो है ।। ७ ।।
अरे मन बौरे तोहि बार बार समझाऊँ,
तजि विषयभोग मन सो अपनि तू ।
ये तो विष बेलि फल दीसत है परतच्छ,
कैसे तोहि नीके लागे भयो है मगन तू ।
ऐसे भ्रम जाल माँहि सोयो है अनादि काल,
निज सुधि भूलि ठग्यो करम ठगनि तू ।
तोरि महा मोह डोरि आतम सो लव जोरि,
जाग जाग जाग अब ज्ञान की जगन तू ।।११।।

— (०) —

सहज सुख

गत अध्याय मे यह भले प्र
ससारी अज्ञानी जीव बावले हो र
वह सच्चा सुख नही है। इन्द्रियो
का क्षणिक उपाय इतना असार है
का रोग अधिक अधिक बढता जा[illegible] से, भूल से, अज्ञान से जैसे रस्सी मे सर्प की बुद्धि हो, पानी मे चद्रकी परछाई को देखकर कोई बालक चद्रमा मान ले, सिंह कूए मे अपने प्रतिबिम्ब को देख सच्चा सिंह जान ले, पक्षी दर्पण मे अपने को ही देख दूसरा पक्षी मानले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जानले, मदिरासे उन्मत्त परकी स्त्रीको स्वस्त्री मानले, इसी तरह मोहाध प्राणी ने विषय सुख को सच्चा सुख मान लिया है।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कडवा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठडा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चाँदी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणि का स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खडी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चद्र का स्वभाव शीत

उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है, अमृतका स्वभाव मिष्ठ है वैसे अपना
ा अपने आत्मा का स्वभाव सुख है । जैसे लवण मे सर्वांग खारपना,
मिश्री मे सर्वांग मिष्ठपना है, जल मे सर्वांग द्रवपना है, अग्नि मे सर्वांग
उष्णपना है, चद्रमा मे सर्वांग शीतलता है, सूर्य मे ताप है, स्फटिक मे
सर्वांग निर्मलता है, गोरस मे सर्वांग चिक्कनता है, बालू मे सर्वांग कठोरता
, लोहे मे सर्वांग भारीपना है, रुई मे सर्वांग हलकापना है, अत्तर मे सर्वांग
सुगध है, गुलाब के फूल मे सर्वांग सुवास है, आकाश मे सर्वांग निर्मलता है
से आत्मा मे सर्वांग सुख है । सुख आत्मा का अविनाशी गुण है । आत्मा
ुण मे सर्वांग तादात्म्य रूप है ।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग मे लवणपने का स्वाद
ोध कराती है । मिश्रीकी कणिका उपयोग मे मिष्ठपने का स्वाद जनाती
है वैसे आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का
ान कराता है । परमात्मा सहज सुख की पूर्ण प्रगटता से ही परमानदमय
अनत सुखी है, अनते सिद्ध इसी सहज स्वाद मे ऐसे मगन हैं जैसे भ्रमर
कमल पुष्प की गध मे आसक्त हो जाता है । सर्व ही अरहत केवली इसी
सहज सुख का स्वाद लेते हुए पाच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी
उन की ओर नही झुकते है । इस आनन्द मई अमृत के रसपान को एक
क्षण को नही त्यागते हैं । सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहज
सुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्याग कर
प्राकृतिक एकात वन, उपवन, पर्वत, कदरा, नदी तट को सेवन करते हैं ।
जगत के प्रपच से आरम्भ परिग्रह से मुँह मोड, पाँच इन्द्रियो की चाहकी
दाह को शमन कर परम रुचि से आत्मीक स्वभाव मे प्रवेश कर के सहज
सुख का पान करते है, तथा इसी सुख मे मगन हो कर वीतरागता की
तीव्र ज्वाला से कर्मईधन को भस्म करते हे—अपने आत्मा को स्वच्छ
करने का सदा साधन करते है ।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पाच अणुव्रतो की सहायता से सतोषी रहते
हुए इसी सहज सुखके अमृत के पान के लिये प्रात मध्याह्न तथा सायकाल
यथासभव सब से नाता तोड जगत प्रपच से मुँह मोड, एकात मे बैठ
मोह की डोर को तोड, बडे भाव से आत्मा के उपवन मे प्रवेश करते हुए
सहज सुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते है । सर्व ही

चौथा अध्याय
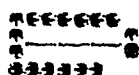
सहज सुख या अतीन्द्रिय सुख।

गत अध्याय मे यह भले प्रकार दिखा दिया है कि जिस सुखके पीछे ससारी अज्ञानी जीव वावले हो रहे है वह सुख सुखसा भासता है परन्तु वह सच्चा सुख नही है। इन्द्रियो के भोग द्वारा प्राप्त सुख तृष्णा के रोग का क्षणिक उपाय इतना असार है कि उस सुख के भोगते भोगते तृष्णा का रोग अधिक अधिक बढता जाता है। भ्रम से, भूल से, अज्ञान से जैसे रस्सी मे सर्प की बुद्धि हो, पानी मे चद्रकी परछाई को देखकर कोई बालक चद्रमा मान ले, सिंह कूए मे अपने प्रतिबिम्ब को देख सच्चा सिंह जान ले, पक्षी दर्पण मे अपने को ही देख दूसरा पक्षी मानले, पित्त ज्वरवाला मीठे को कटुक जानले, मदिरासे उन्मत्त परकी स्त्रीको स्वस्त्री मानले, इसी तरह मोहाध प्राणी ने विषय सुख को सच्चा सुख मान लिया है।

सच्चा सुख स्वाधीन है, सहज है, निराकुल है, समभाव मय है, अपना ही स्वभाव है। जैसे इक्षु का स्वभाव मीठा है, नीम का स्वभाव कडवा है, इमली का स्वभाव खट्टा है, जल का स्वभाव ठडा है, अग्नि का स्वभाव गर्म है, चाँदी का स्वभाव श्वेत है, सुवर्ण का स्वभाव पीला है, स्फटिक मणि का स्वभाव निर्मल है, कोयले का स्वभाव काला है, खडी का स्वभाव श्वेत है, सूर्य का स्वभाव तेजस्वी है, चद्र का स्वभाव शीत

उद्योत है, दर्पण का स्वभाव स्वच्छ है,अमृतका स्वभाव मिष्ठ है वैसे अपना या अपने आत्मा का स्वभाव सुख है । जैसे लवण मे सर्वांग खारपना, मिश्री मे सर्वांग मिष्ठपना है, जल मे सर्वांग द्रवपना है, अग्नि मे सर्वांग उष्णपना है, चद्रमा मे सर्वांग शीतलता है, सूर्य मे ताप है, स्फटिक मे सर्वांग निर्मलता है, गोरस मे सर्वांग चिक्कनता है, वालू मे सर्वांग कठोरता है, लोहे मे सर्वांग भारीपना है, रुई मे सर्वांग हलकापना है, अत्तर मे सर्वांग सुगध है, गुलाव के फूल मे सर्वांग सुवास है, आकाश मे सर्वांग निर्मलता हैं वैसे आत्मा मे सर्वांग सुख है । सुख आत्मा का अविनाशी गुण है। आत्मा गुण मे सर्वांग तादात्म्य रूप है ।

जैसे लवण की कणिका जिह्वा द्वारा उपयोग मे लवणपने का स्वाद बोध कराती है । मिश्रीकी कणिका उपयोग मे मिष्ठपने का स्वाद जनाती है वैसे आत्मा के स्वभाव का एक समय मात्र भी अनुभव सहज सुख का ज्ञान कराता है । परमात्मा सहज सुख की पूर्ण प्रगटता से ही परमानदमय अनत सुखी है, अनते सिद्ध इसी सहज स्वाद मे ऐसे मगन हैं जैसे भ्रमर कमल पुष्प की गध मे आसक्त हो जाता है । सर्व ही अरहत केवली इसी सहज सुख का स्वाद लेते हुए पाच इन्द्रिय और मन के रहते हुए भी उन की ओर नही झुकते हैं । इस आनन्द मई अमृत के रसपान को एक क्षण को नही त्यागते है । सर्व ही साधु इस ही रस के रसिक हो सहज सुख के स्वाद के लिये मन को स्थिर करने के हेतु परिग्रह का त्याग कर प्राकृतिक एकात वन, उपवन, पर्वत, कदरा, नदी तट को सेवन करते है । जगत के प्रपच से आरम्भ परिग्रह से मुँह मोड, पाँच इन्द्रियो की चाहकी दाह को शमन कर परम रुचि से आत्मीक स्वभाव मे प्रवेश कर के सहज सुख का पान करते है, तथा इसी सुख मे मगन हो कर वीतरागता की तीव्र ज्वाला से कर्मईधन को भस्म करते हैं—अपने आत्मा को स्वच्छ करने का सदा साधन करते है ।

सर्व ही देशव्रती श्रावक पाच अणुव्रतो की सहायता से सतोषी रहते हुए इसी सहज सुखके अमृत के पान के लिये प्रात मध्याह्न तथा सायकाल यथासभव सव से नाता तोड जगत प्रपच से मुँह मोड, एकात मे बैठ मोह की डोर को तौड, वडे भाव से आत्मा के उपवन मे प्रवेश करते हुए सहज सुख का भोग करते हुए अपने जन्म को कृतार्थ मानते हैं। सर्व हीं

सम्यग्दृष्टी अविरति भाव के धारी होते हुए भी सर्व जगप्रपच से उदासी रखते हैं। गृहस्थ मे रहते हुए भी इन्द्रिय सुख को निरस, असुख व रागवर्द्धक जानते हुए तथा अपने भेदविज्ञान से अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मामय यथार्थ पहचानते हुए, आत्मा मे पर के स्वभाव को लेशमात्र भी सयोग न करते हुए, अपने को शुद्ध सिद्धसम अनुभव करते हुए इसी सहज सुख का स्वाद लेते हुए अपने को कृतार्थ मानते हैं।

सहज सुख अपने आत्मा का अमिट अटूट अक्षय अनत भडार है। अनतकाल तक भी इस का भोग किया जावे तोभी यह परमाणु मात्र भी कम नही होता। यह जैसा का तैसा बना रहता है। कोई भी बलवती शक्ति ऐसी नही है जो इस सुख को हरण कर सके। आत्मा गुणी से इस गुण को पृथक कर सके, आत्मा को सहज सुख से रहित कर सके। हर एक आत्मा सहज सुख समुद्र है। ससारी मोही जीव की दृष्टि कभी अपने आत्मा पर रुकती नही। वह आत्मा को पहचानता नही। आप आत्मा होते हुए भी आत्मा के प्रकाश मे अपना जीवन रखते हुए भी आत्मा की महिमा से ही इन्द्रिय व मन से ज्ञान क्रिया करते हुए भी वह आत्मा को भूले हुए, आत्मा के प्रकाश से जो शरीर दिखता है उसी रूप अपने को मान लेता है।

आत्मा के प्रकाश से जो चेतन व अचेतन पदार्थ शरीर को उपकारी दीखते हैं उन को अपना सखा मान लेता है व जो शरीर अहितकारी दीखते हैं उन को अपना शत्रु जान लेता है। मैं स्वरूपवान, मैं बलवान, मैं धनी, मैं स्वामी, मैं सेवक, मैं कृषक, मैं रजक, मैं सुनार, मैं लुहार, मै थवई, मैं जमीदार ऐसा मानता हुआ शरीर के व इसके क्षणिक इन्द्रिय-सुख के मोह मे ऐसा पागल होजाता है कि यह कभी भी आत्मा मैं हूँ ऐसा विश्वास नही लाता। मैं शुद्ध वीतराग परमानदमय हूँ ऐसा ज्ञान नही पाता। मैं रागी द्वेषी नही, मैं बालक, वृद्ध, युवान नही, मैं शरीर मे रहते हुए शरीर से उसी तरह पृथक हूँ जैसे धान्य मे रहते हुए भी तुष से चावल पृथक है, तिल मे रहते हुए भी भूसी से तेल पृथक् है, जल मे रहते हुए भी जल से कमल पृथक् है। अपने मूल स्वभाव को न जानता हुआ, सहज सुख का सागर होते हुए भी उस सहज सुख का किंचित् भी स्वाद न पाता हुआ विषय सुख से तृष्णा की आताप को अधिक बढाता

हुआ रात दिन सन्तापित रहता है। सहज सुख को न पाकर तृषा को शमन नही कर पाता है।

जैसे कस्तूरी मृग की नाभि मे होती है वह उसकी सुगन्ध का अनुभव करता है परन्तु उस कस्तूरी को अपनी नाभि मे न देखकर बाहर बाहर ढूँढता है—जैसे हाथ मे मुद्रिका होते हुए भी कोई भूल जावे कि मुद्रिका मेरे पास नही है और उस मुद्रिका को बाहर बाहर ढूँढने लगे। जैसे मदिरा से उन्मत्त अपने घर मे बैठे हुए भी अपने घर को भूल जावे और बाहर ढूँढता फिरे व पूछता फिरे कि मेरा घर कहाँ है, उसी तरह यह अज्ञानी प्राणी सहज सुख को अपने पास रखते हुए भी व कभी उसका बिल्कुल मलीन अनुभव, कभी कम मलीन अनुभव, कभी कुछ स्वच्छ स्वाद पाते हुए भी उस सहज सुख को भूले हुए है और भ्रम से इन्द्रियो के विषयो मे ढूँढ़ता फिरता है कि यहाँ सुख होगा।

सुख आत्मा का गुण है। इसका परिणमन स्वभाव व विभाव रूप दो प्रकार का है जैसे—चारित्र आत्मा का गुण है उसका परिणमन स्वभाव तथा विभाव रूप दो प्रकार का है। वीतराग रूप होना स्वभाव परिणमन है, कषाय रूप होना विभाव परिणमन है। इस विभाव परिणमन के भी दो भेद है—एक शुभ भाव परिणमन, एक अशुभ भाव परिणमन। जब मन्द कषाय का रग होता है तब शुभ भाव कहलाता है, जब तीव्र कषाय का रग होता है। तब अशुभ भाव कहलाता है। यदि चारित्र गुण आत्मा मे नही होता तो शुभ भाव व अशुभ भाव भी नही हो सकते थे। इसी तरह सहज सुख का स्वभाव परिणमन तब है जब आत्मा की ओर उपयोगवान होता है, आत्मा मे तल्लीन होता है, इसका विभाव परिणमन सासारिक सुख या सासारिक दुःख का अनुभव है। जब सातावेदनीय का उदय, रति कषाय का उदय होता है तब सासारिक सख रूप परिणमन होता है। जब असातावेदनीयका उदय तथा अरति कषाय का उदय होता है तब सासारिक दुःख रूप परिणमन होता है। यदि आत्मा मे सुख गुण नही होता तो इन्द्रिय सुख व दुःख का भान भी नही होता क्योकि इसमे कषाय के उदय का मैल मिश्रित है। इसलिये सच्चे सुख का स्वाद न आकर कषाय का ही स्वाद आता है, कभी प्रीति रूप कभी अप्रीति रूप या द्वेष रूप स्वाद आता है।

जैसे लवण से मिले हुए जल को पीने से जल का स्वाद न आकर लवण का स्वाद आयगा, खटाई से मिले जल को पीने से जल का स्वाद न आकर खटाई का स्वाद आयगा, नीम की पत्ती से मिला जल पीने से नीम का कटुक स्वाद आयगा, जल का स्वाद न आयगा। शक्कर से मिला जल पीने से शक्कर का मीठा स्वाद आयगा, जल का शुद्ध स्वाद न आयगा। इलायची, बादाम, पिस्ता, किसमिस, शक्कर से मिला जल पीने से इनही का मिश्रित स्वाद आयगा, जल का अकेला निर्मल स्वाद न आयगा। इसी तरह राग द्वारा इन्द्रिय सुख व द्वेष द्वारा इन्द्रिय दुःख भोगते हुए राग द्वेष का स्वाद आता है, शुद्ध सुख का स्वाद नही आता है, इसी से तृप्ति नही होती है।

जैसे वीतराग भाव या शान्त भाव आत्मा के लिये हितकारी है वैसे शुद्ध सुख का अनुभव आत्मा के लिये हितकारी है। विभाव सुख की परिणति मे राग द्वेष का मिश्रण होने से कर्म का बंध होता है। यहाँ यह कहने का प्रयोजन है कि यदि चारित्र गुण न होता तो राग द्वेष या कषाय भाव क्रोधादि भाव न होता वैसे यदि सुख गुण न होता तो सासारिक सुख या दु खका अनुभव किसीको न होता। यह अज्ञानीजीव जैसे अपने चारित्र गुणको भूले हुए है वैसे यह अपने सुखगुणको भी भूले हुए है। इसे कषाय के उदयसे जैसे क्रोध, मान, माया, लोभ आदि विभाव की कलुषता का स्वाद आता है वैसे ही कषाय के उदय से इसे सासारिक सुख या दु ख का मलीन अतृप्तिकारी स्वाद आता है। जैसे किसी गँवार अज्ञानी पुरुष को मिट्टी से मिला हुआ पानी पीनेको दिया जावे तो वह उस मटीले पानी को ही पी लेगा। खेद है कि उसे पानी का स्वाद नही आएगा किन्तु जैसी मिट्टी होगी वैसी मिट्टी का ही स्वाद आयगा। यदि वही पानी किसी बुद्धिमान को पीने दिया जाय तो वह विवेकी जल के ही स्वाद लेने का इच्छुक उस मटीले पानी को नही पीवेगा किन्तु उस पानी मे कनकफल डालकर मिट्टी को नीचे बिठा देगा और वह पानी को साफ करके ही पीएगा और उस जल का असली स्वाद पाकर प्रसन्न होगा, उसी तरह जो अज्ञानी विषयो के झूठे सुख मे लुब्ध है, सच्चे सुख का स्वाद न पाते हुए कषाय का ही स्वाद पाकर मगन हैं वे इन्द्रिय सुख को ही सुख मानकर इसी की चाह की दाह मे जलते है व इसी को बार-बार भोगते हैं। सहज सुख के स्वाद को न पाकर कषाय के या राग भाव के स्वाद को पाते हैं,

परन्तु भ्रम से मानते हैं कि हमने सुख भोगा, यही अनादि काल का वडा अज्ञान है।

विवेकी सज्जन सन्त पुरुष सच्चे सुख के अर्थी होकर जैसे कतकफल को डालकर स्वच्छजल पीनेवालेने मिट्टीको अलगकर स्वच्छजल पीया वैसे भेद विज्ञान से शुद्ध निश्चय नयको डालकर राग के स्वाद को अलग करके निर्मल आत्मा का स्वाद लेते हुए सहज सुख का स्वाद पाकर परम तृप्त होते हैं। इन्द्रिय सुख का भोग मलीन कषाय की कलुषता का भोग है। सहज अतीन्द्रिय सुख का भोग स्वच्छ निर्मल आत्मा के सुख गुण का भोग है। इस सुख के भोग मे वीतरागता है, इससे कर्म का वन्ध नही है किन्तु कर्म की निर्जरा है।

इन्द्रिय सुख जब पराधीन है तव सहज सुख स्वाधीन है। इसके लिये न इन्द्रियो की जरूरत है न वाहरी पदार्थों की जरूरत है। इन्द्रिय सुख जब अपने आश्रयी भूत पदार्थों के विगडने से वाधित हो जाता है तव सहज सुख स्वाधीन व स्वावलम्बन पर निर्भर रहने से बाधा रहित है। इन्द्रिय सुख जब बिलकुल नाश हो जाता है, अपने शरीर छूटने पर या आश्रयी भूत विषय पदार्थ के वियोग होने पर नही रहता है तब यह सहज सुख अविनाशी आत्मा का स्वभाव होने से सदा ही वना रहता है। इन्द्रिय सुख राग भाव बिना भोगा नही जाता, इसलिए कर्म वन्ध का कारण है, तव सहज सुख वीतरागता से प्राप्त होता हे इससे वहाँ बन्ध नही किन्तु पूर्व वन्ध का नाश है। इन्द्रिय सुख जव आकुलतामय है, विषम है, समता रूप नही है तब अतीन्द्रिय सख निराकुल है तथा समतारूप है। इन्द्रिय सुख जव विष है तव सहजसुख अमृत है। इन्द्रिय सुख जव अधकार है तब सहज सुख प्रकाश है।

इन्द्रिय सुख जब रोग हैं तव सहज सुख निरोग हैं, इन्द्रिय सुख जब कृष्ण हैं तव सहज सुख श्वेत है, इन्द्रिय सुख जब कटुक है तव सहज सुख मिष्ठ हैं, इन्द्रिय सुख जब तापमय हैं तव सहज सुख शीतल है, इन्द्रिय सुख जब बेडी है तब सहज सुख आभूषण है, इन्द्रिय सुख जब मृत्यु है तव सहज सुख जीवन है, इन्द्रिय सुख जब इन्द्रायण फल है तव सहज सुख मिष्ठ आम्र फल है, इन्द्रिय सुख वासरहित पुष्प है तव सहज सुख परम

सुगंधित पुष्प है, इन्द्रिय सुख जब भयानक जगल है तब सहज सुख मनोहर उपवन है, इन्द्रिय सुख खारा पानी है तब सहज सुख मिष्ठ जल है, इन्द्रिय सुख गर्दभ स्वर है तब सहज सुख कोमल स्वर है, इन्द्रिय सुख काक है तब सहज सुख हस है, इन्द्रिय सुख काँच खण्ड है तब सहज सुख अमूल्य रत्न है, इन्द्रिय सुख आन्धी है तब सहज सुख मद सुगध पवन है।

इन्द्रिय सुख रात्रि है तब सहज सुख प्रभात है, इन्द्रिय सुख हर तरह से त्यागने योग्य है तब सहज सुख हरतरह से ग्रहण करने योग्य है। एक ससार का विकट मार्ग है तब दूसरा सहज सुख मोक्ष का सुहावना सरल राज मार्ग है। सहज सुख को हरएक आत्मज्ञानी, चाहे नारकी हो या पशु हो या देव हो, या दलिद्री मानव हो, या धनिक मानव हो, कुरूप हो या सुरूप हो, बलिष्ट हो या निर्बल हो, बहुत शास्त्रज्ञाता हो या अपढ़ हो, वन मे हो या महल मे हो, दिन मे हो या रात मे हो, सबेरे हो या साँझ हो, हर स्थान, हर समय, हरएक अवस्था मे प्राप्त कर सकता है। जबकि इन्द्रिय सुख को वही पा सकता है जिसको इच्छित विषय भोग मिले जिनका मिलना हरएक मानव को महा दुर्लभ है।

सहज सुख है इसका विश्वास साधारण मानवो को होने के लिये विशेष समझा कर कहा जाता है कि इस जगत मे इन्द्रिय सुख के सिवाय एक ऐसा सुख है जो मन्द कषाय होने पर शुभ कार्य करते हुए हरएक विचारशील मानव के भोगने मे आता है। परमात्मा के शुद्ध गुणो की भक्ति करते हुए, धर्मशास्त्र को एकचित्त हो पढते हुए, रोगी की टहल सेवा करते हुए, बुभुक्षित को दयार्द्र होकर भोजन देते हुए, दुखियो का दुख निवारणार्थ उद्यम करते हुए, समाज के उपकारार्थ उद्यम करते हुए, देश के गरीबो की सेवा करते हुए, परोपकारार्थ द्रव्य का दान करते हुए, नदी मे डूबते को बचाते हुए, स्वयसेवक बनकर एक मजूर की तरह बोझा ढोते हुए, पुलिस की तरह पहरा देते हुए, इत्यादि कोमल व दयाभाव से अर्थात् मन्द कषाय से बिना किसी स्वार्थ की पुष्टि के, बिना किसी लोभ या मान प्रतिष्ठा के हेतु के जितना भी मन, वचन, कायका वर्तन व अपनी शक्तियो की बलि परोपकारार्थ की जाती है उस समय जो सुख का स्वाद आता है वह सुख इन्द्रिय सुख नही है। यह तो स्वय सिद्ध है कि दानी, परोपकारी, स्वार्थ त्यागी जब निष्काम कर्म करते है, बिना बदले की इच्छा के पर की

सेवा करते है तव सुख अवश्य होता है। परोपकार करते हुए या भक्ति करते हुए व धर्म शास्त्र एक भाव से पढते हुए पाँचो इन्द्रियो के विषयो का भोग नही किया जाता है। न किसी स्त्री का भोग है, न मिष्ठान्न का सेवन है, न पुष्पो का सूँघना है, न सुन्दर रूप को देखना है, न कोई ताल सुर सहित गान का सुनना है।

जव यह इन्द्रिय सुख नही है परन्तु सुख तो अवश्य है तव यह क्या है? इसका समाधान यह है कि जैसे इन्द्रिय सुख का विभाव परिणमन है वैसे परोपकारादि शुभ कार्यो को मन्द कषाय से करते हुए जो सुख होता है वह एक देश मन्द कषाय मिश्रित स्वाभाविक सुख गुण का परिणमन है। इस सुख मे तीव्र राग भाव नही है इसलिये जो मलीनता इन्द्रिय सुख भोग मे होती है वह मलीनता इसमे नही है किन्तु भावो मे त्याग भाव है, विराग भाव है, परहितार्थ स्वधन का, स्वशक्ति का व्यय है, लोभ का कितने अश त्याग है, इसीलिये ऐसी दशा मे कुछ निर्मल सुख का भोग है। यहाँ विकारपना नही है। यह वात एक विवेकी को समझ मे आ सकती है कि जितना अधिक स्वार्थ त्याग किया जाता है, जितना अधिक मोह हटाया जाता है, जितना अधिक लोभ छोडा जाता है उतना ही अधिक सुख का अनुभव होता है, चाहे वह अनुभव करने वाला आत्मा को जानता हो या न जानता हो, चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक हो, चाहे वह नागरिक हो या ग्रामीण हो, चाहे वह भारतीय हो या विदेशी हो, चाहे वह गरीव या अमीर हो।

यह वस्तु का स्वभाव है कि जो कोई भी मिश्री खायगा उसे मिश्री का स्वाद आयगा। जो कोई भी लवण खायगा उसे लवण का स्वाद आयगा, चाहे वह व्यक्ति मिश्री को या लवण को नही भी पहचानता हो, उसी तरह चाहे कोई आत्मा को समझो या न समझो, जो कोई स्वार्थ त्यागी, निर्लोभी, परोपकारार्थ अपनी वलि करेगा या मन्द कषाय से अन्य शुभ कार्य करेगा उसको उस सुख का स्वाद आवेहीगा जो आत्मा का स्वभाव है। यह सुख इन्द्रिय सुख की अपेक्षा विशेष स्वच्छ है, इसमे कषाय की कालिमा का अश वहुत ही मन्द है। आत्मा का अनुभव करने से व आत्मा का ध्यान करने से जो वीतरागता के कारण सुख का स्वाद आता है उससे कुछ ही दरजे कम है।

यहाँ पाठको को यह बताना है कि यह सुख कुछ मोह या लोभ के त्याग से हुआ है। यदि कोई अपने आत्मा के सिवाय सर्व पदार्थो से बिल्कुल मोह छोड दे तो बहुत निर्मलता के साथ सहज सुख का अनुभव होगा। जिनको इन्द्रिय सुख का ही विश्वास है, और किसी तरह के सुख पर जिनकी श्रद्धा नही है उनके लिए यहाँ पर परोपकार से अनुभव मे आने वाले सुख को बताया गया है कि यह इन्द्रियसुख से अन्य तरह का है व जो बिना इन्द्रियो के भोग के भोगने मे आता है। यही सहज सुख का निश्चय कराता है। यदि आत्मा मे सहज स्वाभाविक अतीद्रिय व सच्चा सुख नही होता तो स्वार्थत्यागी परोपकारियो को कभी भी नही भोगने मे आता।

श्री गुरु परोपकारी जगत के प्राणियो को सहज सुख का पता बताते है कि यह सुख किसी जड पदार्थ मे नही हैं न यह दूसरे से किसी को मिल सकता है। यह सुख प्रत्येक की आत्मा मे है और आत्मा से ही प्रत्येक को बिना किसी वस्तु की सहायता के मिल सकता है। यह स्वाधीन है, हर एक की अपनी सम्पत्ति है। हर एक जीव इस सुख भण्डार को भूले हुए है, इसी से मृगतृष्णा की तरह दु खित है, सतापित है, सुख के लिए इन्द्रियो के विषयो मे भटकता है परन्तु सुख का पता नही पाकर सुखी नही हो सकता, सन्ताप नही मिटा सकता, ससार के दु खो का अन्त नही कर सकता जो इन्द्रियसुख की तृष्णावश प्राणियो को सहना पडता है। मोहवश भ्रमवश, अज्ञानवश प्राणी अपने पास अमृत होते हुए भी उसका पता न पाकर दु खी हो रहे हैं।

सहज सुख के भोग मे शरीर को भी हानि नही होती है--मुख प्रसन्न रहता है, शरीर हल्का रहता है, कितने रोग मिट जाते है, किन्तु इन्द्रिय सुख भोग मे बहुधा मात्रा का उल्लघन लोभवश कर दिया जाता है इससे अनेक रोग पैदा हो जाते हैं।

ससार,शरीर, भोग तीनो की क्या दशा है इस बात को भले प्रकार समझ कर जो कोई इस दु खमय ससार से पार होना चाहे, इस अपवित्र शरीर के कारावास से सदा के लिए छूटना चाहे, इन नीरस विषयभोगो के धोखे से बचना चाहे, और सदा सुखमय जीवन बिताना चाहे उसको

उचित है कि वह इस सहज सुख पर अपना विश्वास लावे। रत्न को पहचान कर जौहरी बने। इन्द्रिय सुख रूपी कॉच खड को रत्न समझ कर अपने को न ठगावे। सहजसुख अपने ही पास है, अपना ही स्वभाव है, अपना ही गुण है, ऐसा जानकर हरएक विचारशील को बडा ही आनन्दित होना चाहिए और भले प्रकार अपने आत्मा को समझना चाहिए तथा उस साधन को समझ लेना चाहिए जिससे सहज सुख अपने को मिल सके। इस पुस्तक मे आगे साधन का ही लक्ष्य रख के कथन किया जाएगा। अब देखना चाहिए कि जैनाचार्य इस सहज सुख के सम्बन्ध मे क्या वर्णन करते हैं।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य श्री प्रवचनसार मे कहते है—

सोक्ख वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगद।
जम्हा अदिंदियत्तं जाद तम्हा दु तं णेयं ।।२०।।

भावार्थ—केवली अरहन्त के इन्द्रियजनित ज्ञान तथा सुख नही है, किन्तु सहज अतीन्द्रिय ज्ञान हैं व सहज अतीन्द्रिय सुख हैं।

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कादव्व।
तध सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ।।६८।।

भावार्थ—जिसकी दृष्टि अँधेरे मे देख सकती हैं उसको दीपक की कोई जरूरत नही है। यदि सहज सुख स्वयं आत्मा रूप हैं तब फिर इन्द्रियो के विषयो की क्या आवश्यकता हैं।

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणंपि सिद्धमुवदेसे।
ते देहवेदणट्ठा रमंति विसयेसु रम्मेसु ।।७५।।

भावार्थ—सुख तो आत्मा का स्वभाव हैं, सो देवो को भी प्राप्त नही होता, तब वे देह की वेदना से पीडित होकर रमणीक विषयो मे रमते हैं।

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ।।८५।।

भावार्थ—जो मनुष्य साधुओ मे श्रेष्ठ, तीन लोक के गुरु, देवो के

देव, श्री अरहत भगवान को भाव सहित नमन करते है वे अविनाशी सहजसुख को पाते हैं ।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है—

एदह्मि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदह्मि ।
एदेण होदि तित्तो तो होहदि उत्तमं सोक्खं ।।२१९।।

भावार्थ—इसी आत्मस्वरूप मे नित्य रत हो, इसी मैं सन्तोष रख व इसी मे तृप्त रह, तो तुझे उत्तम सहज सुख प्राप्त होगा ।

जो समयपाहुडमिण पठिदूणय अच्छतच्चदो णादुं ।
अच्छे ठाहिदि चेदा सो पावदि उत्तमं सुक्खं ।।४३७।।

भावार्थ—जो इस समयसार ग्रन्थ को पढ करके और ग्रन्थ के अर्थ और भावो को जानकर शुद्ध आत्मीक पदार्थ मे ठहरेगा वह उत्तम सुख को पावेगा ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शनपाहुड मे कहते है—

लद्धूण य मणुयत्तं सहियं तह उत्तमेण गुत्तेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं अक्खयसुक्खं लहदि मोक्खं च ।।३४।।

भावार्थ—उत्तम गोत्र सहित मनुष्यपना पाकर के प्राणी सम्यग्दर्शन को पाकर अविनाशी सुख को तथा मोक्ष को पाते हैं ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड मे कहते है—

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी ।
पावइ अइरेण सुहं अणोवमं जाण णिच्छयदो ।।४३।।

भावार्थ— जो ज्ञानी आत्मा चारित्र को धारण कर अपने आत्मा मे परभाव या पदार्थ को नही जोडे –सब परसे राग, द्वेष छोडे सो ज्ञानी शीघ्र ही अनुपम सहज सुख पाता है ऐसा जानो ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है----

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव ।
लहु चउगइ चइऊणं जइ इच्छसि सासयं सुक्खं ।।६०।।

भावार्थ – जो चार गति रूप ससार से छूट कर शीघ्र ही अविनाशी सहज सुख को चाहते हो तो भावो को शुद्ध करके शुद्ध आत्मा की भावना करो ।

सिवमजरामरलिंगमणोवममुत्तम परमविमलमतुल ।
पत्ता वरसिद्धिसुहं जिणभावणभाविया जीवा ॥१६२॥

भावार्थ— जो जिन धर्म की भावना भाते है, वे जीव सहज मोक्ष के सुख को पाते है जो सुख कल्याण रूप है, अजर है, अमर है, अनुपम है, उत्तम है, श्रेष्ठ है, प्रशसनीय है, शुद्ध है, महान है ।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते है—

मयमायकोहरहिओ लोहेण विवज्जिओ य जो जीवो ।
णिम्मलसहावजुत्तो सो पावइ उत्तमं सोक्खं ॥४५॥

भावार्थ—जो जीव मद, माया, क्रोध, लोभ से रहित होकर निर्मल स्वभाव से युक्त होता है वही उत्तम सहज सुख को पाता है ।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो होदि ।
ससारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥

भावार्थ—जो साधु वैराग्यवान हो, परद्रव्य से पराङ्मुख हो व ससार के सुख से विरक्त हो वही अपने आत्मीक शुद्ध सहज सुख मे लीन होता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है—

उवसम दया य खंती वड्ढइ वेरग्गदा य जह जह से ।
तह तह य मोक्खसोक्खं अक्खीणं भावियं होइ ॥६२॥

भावार्थ—जैसे जैसे शात भाव, दया, क्षमा, वैराग्य बढते जाते हैं वैसे वैसे अविनाशी सहज मोक्ष सुख की भावना बढती जाती है— अधिक अधिक सुख अनुभव मे आता है ।

उवसमखयमिस्सं वा बोधिं लद्धूण भवियपुंडरिओ ।
तवसंजमसंजुत्तो अक्खयसोक्खं तदा लहदि ॥७०॥

भावार्थ—जो भव्य उपशम, क्षायिक या क्षयोपशम सम्यक्त को प्राप्त करके तप व सयम पालेगा वह तब अक्षय सहज सुख को पावेगा ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना मे कहते है—

एगंतं मग्गंता सुसमणा वरगंधहत्थिणो धीरा ।
सुक्कज्झाणरदीया मुत्तिसुहं उत्तमं पत्ता ॥२०॥

भावार्थ—जो साधु एकात के ढूढने वाले है व गधहस्ती के समान धीर हैं व शुक्ल ध्यान मे लवलीन है वे मुक्त सहज सुख को पाते है ।

(९) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है—

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगवलेन निर्दहन् ।

अभवभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये।११५।

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ स्वामी आपने अनुपम ध्यान के बल से आठ कर्म मल कलक को भस्म कर डाला और आप मोक्ष के सहज सुख को प्राप्त कर परम सुखी हो गए । आपके प्रसाद से मेरा ससार भी अन्त होवे ।

(१०) स्वामी समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहते हैं—

जन्मजरामयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम् ।

निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम् ॥१३१॥

भावार्थ—निर्वाण जन्म, जरा, रोग, मरण, शोक, दु ख, भय से रहित है । शुद्ध सहज सुख से पूर्ण है, परम कल्याण रूप है तथा नित्य है ।

(११) श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश मे कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः ।

अत्यन्तसौख्यवानात्मा लोकालोकविलोकनः ॥२१॥

भावार्थ—यह आत्मा आत्मानुभव से ही प्रगट होता हे । शरीर मात्र आकारवान है, अविनाशी हे, सहज सुख का धनी अत्यन्त सुखी है व लोक अलोक का देखने वाला है ।

आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिःस्थितेः ।

जायते परमानन्दः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

भावार्थ—जो योगी व्यवहार के प्रपच से वाहर ठहर कर आत्मा की भावना मे लीन होते हे । उनको योगाभ्यास के द्वारा कोई अपूर्व परमानन्दमई सहज सुख प्राप्त होता है ।

(१२) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते हैं—

प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितं ।

बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानंदनिर्वृतिम् ॥३२॥

भावार्थ—जब मै इन्द्रियो के विषयो से अलग होकर अपने द्वारा अपने को अपने मे स्थापित करता हूँ तब परमानन्दमई सहज सुख से पूर्ण ज्ञानमई भाव को प्राप्त करता हूँ।

सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथात्मनि ।
बहिरेवासुख सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ।।५२।।

भावार्थ जो ध्यान को प्रारम्भ करता है उस को आत्मा मे कष्ट व बाहर सुख मालूम पडता है परन्तु जिसकी भावना आत्मा मे दृढ होगई है उस को बाहर दुःख व आत्मा मे ही सहज सुख अनुभव मे आता है।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है—

स धर्मो यत्र नाधर्मस्तत्सुखम् यत्र नासुखम् ।
तज् ज्ञानं यत्र नाज्ञान सा गतिर्यत्र नागतिः ।।४६।।

भावार्थ—धर्म वह है जहाँ अधर्म नही हो, सुख वही है जहाँ कोई दुःख नही है, ज्ञान वही है जहा अज्ञान नही हो, वही गति है जहाँ से लौटना नही हो।

आराध्यो भगवान् जगत्त्रयगुरुर्वृत्तिः सतां सम्मता
क्लेशस्तच्चरणस्मृतिः क्षतिरपि प्रप्रक्षयः कर्मणां ।।
साध्यं सिद्धिसुख कियान् परिमितः कालो मनःसाधनम् ।
सम्यक् चेतसि चिंतयतु विधुरं किं वा समाधौ बुधाः ।।११२।।

भावार्थ—समाधि या ध्यान मे तीन जगत के गुरु भगवान की तो आराधना होती है। सतो से सराहनीय प्रवृत्ति होती है। भगवान के चरणो का स्मरण यही कष्ट हैं, कर्मो की बहुत निर्जरा यही खर्च है, थोडासा काल लगता है, मन का साधन किया जाता है, तथा इस से सहज अतीन्द्रिय सिद्धि सुख प्राप्त होता है। इस लिये भले प्रकार विचार करो, समाधि मे कोई कष्ट नही है, किंतु सहज सुख का परम लाभ है।

त्यजतु तपसे चक्रं चक्री यतस्तपसः फलं
सुखमनुपमं स्वोत्थं नित्य ततो न तदद्भुत ।
इदमिह महच्चित्रं यत्तद्विषं विषयात्मकं
पुनरपि सुधीस्त्यक्तं भोक्तुं जहाति महत्तपः ।।१६५।।

भावार्थ—चक्रवर्ती तप के लिये चक्ररत्न का त्याग कर देते है क्योकि तपका फल अनुपम आत्मा से उत्पन्न, सहज सुख का लाभ है। इस काम मे तो कोई आश्चय नही है परन्तु यह बडे आश्चर्य की बात है कि जो कोई सुबुद्धि छोड हुए विष के समान विषय सुख को फिर भोगने के लिये बडे तप को छोड देता है।

सुखी सुखमिहान्यत्र दुःखी दुःखं समश्नुते ।
सुखं सकलसंन्यासो दुःखं तस्य विपर्य्ययः ॥१८७॥

भावार्थ—इस लोक मे जो सहज सुख को पाता हुआ सुखी है, वही पर लोक मे भी सुखी रहता हैं। जो यहाँ तृष्णा से दुखी है, सो पर लोक मे भी दुखी रहता हे। वास्तव मे सर्व वस्तु से जहाँ मोह का त्याग है वही सुख है, जहाँ पर वस्तु का ग्रहण है, वही दुख हे।

आत्मन्नात्मविलोपनात्मचरितैरासीद्दुरात्मा चिरं
स्वात्मा स्याः सकलात्मनीनचरितैरात्मीकृतैरात्मनः ।
आत्मेत्या परमात्मतां प्रतिपतन्प्रत्यात्मविद्यात्मकः
स्वात्मोत्थात्मसुखो निषीदसि लसन्नध्यात्ममध्यात्मना१९३

भावार्थ—हे आत्मन्! तू आत्मज्ञान के लोपने वाले विषय कषायादि मे प्रवृत्त कर चिरकाल दुराचारी रहा। अब जो तू आत्माके सम्पूर्ण कल्याण करने वाले ज्ञान वैराग्यादिक अपने ही भावो को ग्रहण करे तो श्रेष्ठ परमात्मा की दशा को प्राप्त होवे और तू केवलज्ञानी हो जावे तथा अपने ही आत्मा से उत्पन्न जो आत्मीक सहज सुख है, उस मे शोभायमान होकर अपने शुद्धात्मीक भाव के साथ अपने अध्यात्मस्वरूप में ही स्थिर रहे।

स्वाधीन्याद्दुःखमप्यासीत्सुखं यदि तपस्विनाम् ।
स्वाधीनसुखसम्पन्ना न सिद्धाः सुखिनः कथम् ॥२६७॥

भावार्थ—जो तपस्वी स्वाधीन रहते हैं वे यदि काय क्लेश तप का दुख बाहर से भोगते दीखते हैं परन्तु अतरग मे सुखी हैं। तो फिर परम स्वाधीन सुख से पूर्ण सिद्ध भगवान सदा सुखी क्यो न होगे ? सिद्ध सहज सुख मे सदा मगन रहते हैं।

(१४) श्री अमृतचद्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे कहते है—

कृतकृत्य. परमपदे परमात्मा सकलविषयविषयात्मा ।
परमानन्दनिमग्नो ज्ञानमयो नंदति सदैव ।।२२४।।

भावार्थ--परमात्मा परम पद मे रहते हुए, सर्व पदार्थो को जानते हुए, कृतकृत्य, ज्ञानमई सदा ही अपने परमानन्द मे मगन रहते हैं।

(१५) श्री अमृतचन्द्र आचार्य तत्वार्थसार मे कहते हैं—

ससारविषयातीत सिद्धानामव्यय सुखम् ।
अव्याबाधमिति प्रोक्त परमं परमर्षिभि ।।४५-८।।

भावार्थ—सिद्धो को ससार के विषयो से अतीत बाधा रहित अविनाशी उत्कृष्ट, सहज सुख होता है ऐसा परम ऋषियो ने कहा है।

पुण्यकर्मविपाकाच्च सुखमिष्टेन्द्रियार्थजम् ।
कर्मक्लेश विमोहाच्च मोक्षे सुखमनुत्तमं ।।४६-८।।

भावार्थ—पुण्य कर्म के फल से इष्ट इन्द्रियो का सुख भासता है, परन्तु मोक्ष मे सर्व कर्म के क्लेश के मिट जाने से स्वाभाविक अनुपम उत्तम सुख है।

(१६) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते हैं—

चैद्रूप्यं जडरूपतां च दधतोः कृत्वा विभागं द्वयो-
रन्तर्दारुणदारणेन परितो ज्ञानस्य रागस्य च ।
भेदज्ञानमुदेति निर्म्मलमिदं मोदध्वमध्यासिताः
शुद्धज्ञानघनौघमेकमधुना सन्तो द्वितीयच्युताः ।।२-६।

भावार्थ—रागपना तो जड का धर्म है, आत्मा का धर्म चैतन्यपना है। इस तरह राग और ज्ञान गुण का भेद ज्ञान जब उदय होता हैं तब सन्त पुरुष राग से उदासीन होकर शुद्ध ज्ञानमई एक आत्मा ही अनुभव करते हुए सहज सुख का स्वाद लेते है।

एकमेव हि तत्स्वाद्यं विपदामपदं पदं
अपदान्येव भासन्ते पदान्यन्यानि यत्पुरः ।।७-७।।

भावार्थ—जिस पद मे आपत्तियाँ नही हैं उसी एक आत्मा के शुद्ध पद का स्वाद लेना चाहिये जिससे सहज सुख हो। इसके सामने और सब पद अयोग्य पद दीखते हैं।

य एव मुक्त्वानयपक्षपातं स्वरूपगुप्ता निवसन्ति नित्यं ।
विकल्पजालच्युतशांतचित्तास्त एव साक्षादमृत पिवंति२४-३।

भावार्थ—जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय का पक्षपात छोड कर अपने आत्मा के स्वरूप मे नित्य मगन हो जाते हैं वे सर्व विकल्प जालो मे छूटे हुए व शान्त चित्त होते हुए साक्षात् सहज सुख रूपी अमृत को पीते हैं ।

यः पूर्वभावकृतकर्म्मविषद्रुमाणां
भुंक्ते फलानि न खलु स्वत एव तृप्तः ।
आपातकालरमणीयमुदर्करम्यं
निःकर्मशर्ममयमेति दशांतरं सः ॥३९—१०॥

भावार्थ—जो कोई महात्मा पूर्व मे बांधे हुए कर्म रूपी विष वृक्षो के फलो के भोगने मे रजायमान नहीं होता है किन्तु आप मे ही तृप्त रहता है, वह कर्म रहित सहज सुख की ऐसी दशा को पहुँच जाता है, जिससे इस जन्म मे भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहेगा ।

अत्यन्त भावयित्वा विरतमविरतं कर्मणस्तत्फलाच्च
प्रस्पष्टं नाटयित्वा प्रलयनमखिलाज्ञानसंचेतनायाः ।
पूर्णं कृत्वा स्वभावं स्वरसपरिगतं ज्ञानसंचेतनां स्वां
सानंदं नाटयंतः प्रशमरसमितः सर्वकालं पिवंतु ॥४०-१०॥

भावार्थ—जो कोई कर्म से व कर्म के फल से अत्यन्त पने निरन्तर विरक्तपने की भावना करके तथा अज्ञान चेतना को पूर्णपने प्रलय करके तथा आत्मीकरण से पूर्ण अपनी ज्ञानचेतना से अपने स्वभाव को पूर्ण करके उसे अपने भीतर नचाता है वह शान्त रस से पूर्ण सहज सुख अमृत को सदा काल पीता है ।

(१७) श्री नागसेन मुनि तत्त्वानुशासन मे कहते हैं —

तदेवानुभवंश्चायमेकाग्र्यं परमृच्छति
तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचर ॥१७०॥

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को अनुभव करता हुआ परम एकाग्र भाव को प्राप्त कर लेता है वह वचन अगोचर स्वाधीन सहज आनन्द को पाता है।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानिध्यवस्यति ।
न रज्यते न च द्वेष्टि किन्तु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥२३७॥
त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं ।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥
अनंतज्ञानदृग्वीर्यवैतृष्ण्यमयमव्ययं ।
सुखं चानुभवत्येष तत्रातीन्द्रियमच्युतः ॥२३९॥
ननु चाक्षैस्तदर्थानामनुभोक्तुः सुखं भवेत् ।
अतींद्रियेषु मुक्तेषु मोक्षे तत्कीदृशं सुखं ॥२४०॥
इति चेन्मन्यसे मोहात्तन्न श्रेयो मत यतः ।
नाद्यापि वत्स त्वं वेत्सि स्वरूपं सुखदुःखयोः ॥२४१॥
आत्मायत्तं निराबाधमतींद्रियमनश्वरं ।
घातिकर्मक्षयोद्भूत यत्तन्मोक्षसुख विदुः ॥२४२॥
यत्तु संसारिकं सौख्य रागात्मकमशाश्वतं ।
स्वपरद्रव्यसंभूत तृष्णासंतापकारण ॥२४३॥
मोहद्रोहमदक्रोधमायालोभनिबन्धनं ।
दुःखकारणबन्धस्य हेतुत्वाद्दुःखमेव तत् ॥२४४॥

तन्मोहस्यैव माहात्म्यं विषयेभ्योऽपि यत् सुखं।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भितं॥२४५॥
यदत्र चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसां।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मनां॥२४६॥

भावार्थ—शुद्ध दशा में यह आत्मा न मोह करता है, न संशय करता है, न अपने जानने योग्य पदार्थ में भ्रम भाव रखता है, न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु प्रति समय अपने स्वरूप में लीन है। तीन काल सम्बन्धी सर्व जानने योग्य पदार्थ जैसे हैं उनको वैसे ही तथा अपने को भी जानते देखते हुए वह प्रभु तब वीतरागी बने रहते हैं। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य व तृष्णा का अभावमयी और अविनाशी, अतीन्द्रिय तथा अव्यय सहज सुख को वे अनुभव करते रहते हैं। इन्द्रियों से पदार्थों को भोगने पर तो सुख हो सकता है परन्तु मोक्ष में इन्द्रियों के अभाव में किस तरह सुख होता होगा। यदि तू ऐसी शका करे तो ठीक नही है।

हे वत्स! तू अभी भी सुख तथा दुःख का स्वरूप नही पहचानता है। मोक्ष का सहज सुख स्वाधीन है, बाधा रहित है, इन्द्रियों से अतीत है, अविनाशी है, चार घाति कर्म के क्षय से उत्पन्न है। जो ससार का सुख है वह राग रूप है, क्षणिक है, अपने व पर पदार्थ के होने पर होता है तथा तृष्णा के ताप को बढाने वाला है। मोह,द्वेष,मद,क्रोध,माया, लोभ का कारण है अतएव दुःख फलदायी कर्म बन्ध का कारण है इसलिए वह दुःख रूप ही है। विषयों से सुख की कल्पना होने में मोह की महिमा है। जैसे श्लेष्मा के रोगी को कडवे पटोल भी स्वादिष्ट भासते हैं। जो सुख चक्रवर्ती राजाओं को है व जो सुख स्वर्ग में देवों को है वह परमात्मा के सहज सुख की किंचित् भी तुलना नही कर सकता है।

(१८) श्री पात्रकेशरी मुनि पात्रकेशरी स्तोत्र में कहते हैं :—

परैः कृपणदेवकैः स्वयमसत्सुखैः प्रार्थ्यते।
सुखं युवतिसेवनादिपरसन्निधिप्रत्ययं॥
त्वया तु परमात्मना न परतो यतस्ते सुखं।
व्यपेतपरिणामकं निरुपमं ध्रुवं स्वात्मजं॥२८॥

भावार्थ—दूसरे जो यथार्थ देव नही हैं,जिनको सच्चासुख प्राप्त नही है वे पर पदार्थ से उत्पन्न स्त्री सेवनादि के सुख की कांक्षा रखते हैं किन्तु आप तो परमात्मा हैं, आपको पर पदार्थ से सुख नही है, आपका सहज सुख न बदलने वाला स्वाधीन अविनाशी व निरुपम है।

(१९) श्री देवसेनाचार्य तत्त्वसार मे कहते हैं —

जा किंचिवि चलइ मणो झाणे जोइस्स गहिय जोयस्स।

ताव ण परमाणंदो उप्पज्जइ परमसोक्खयरो॥६०॥

भावार्थ—ध्यानी योगी का मन ध्यान मे जब तक चचल है तब,तक वह परम सहज सुखकारी परमानन्द का लाभ नही कर सकता है।

(२०) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते हैं —

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसञ्जमुसञ्जुत्तु।

तउ लहु पावइ सिध्द सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु॥३०॥

भावार्थ—जो कोई व्रत व सयम सहित होकर निर्मल आत्मा को ध्याता है वह शीघ्र ही सहज सिद्ध सुख को पाता है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

अप्पया अप्पु मुणंतयहं किण्णेहा फलु होइ।

केवलणाणु विपरिणवइ सासय सुक्खु लहेइ॥६१॥

भावार्थ—आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का मनन करने से क्यो नही अपूर्व फल होता है—केवल ज्ञान पैदा हो जाता है तथा अविनाशी सहज सुख को प्राप्त कर लेता है।

सागारु वि णागारुहु वि जो अप्पाणि वसेई।

सो पावइ लहु सिध्दसुहु जिणवरु एम भणेइ॥६४॥

भावार्थ—गृहस्थ हो या साधु हो, जो कोई आत्मा मे रमण करेगा वह तुरत सहज सिद्ध सुख पावेगा ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है।

जो सम्मत्तपहाणु वुहु सो तयलोय पहाणु।

केवलणाण वि सह लहइ सासयसुक्खणिहाणु॥९०॥

भावार्थ—जो ज्ञानी सम्यग्दर्शन को प्रधानता से धरता है वह तीन लोक मे मुख्य है, वही अविनाशी सहज सुख के भण्डार केवल ज्ञान को पा सकेगा।

जो समसुक्खणिलीण बुहु पुण पुण अप्प मुणेइ ।
कम्मक्खउ करि सो वि फुडु लहु णिव्वाण लहेइ ॥९३॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान् सहज सम सुख मे लीन होकर बार बार आत्मा का ध्यान करता है वह शीघ्र निर्वाण को पाता है ।

जो अप्पा सुद्ध वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खलहीणु ॥९४॥

भावार्थ—जो इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है वही सर्व शास्त्रो को जानता है तथा वही अविनाशी सहज सुख में लीन है ।

वज्जिय सयलवियप्पयहं परमसमाहि लहंति ।
जं वेददि साणन्द फुडु सो सिवसुक्ख भणन्ति ॥९६॥

भावार्थ—जो सर्व संकल्प विकल्पो से रहित होकर परम समाधि को पाते हैं । वे जिस सहज सुख को पाते हैं वही मोक्षसुख कहा गया है ।

(२१) श्री अमितिगति आचार्य तत्वभावना मे कहते हैं—

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातङ्कशोकव्यतीतो ।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलःशश्वदात्मानपायः ॥
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः ।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः॥१२०॥

भावार्थ—जो कोई बाधारहित, आत्मीक, स्थिर, निर्मल सहज सुख को प्राप्त करना चाहते है, उन चतुर पुरुषो को उचित है कि जन्म मरण से भयभीत हो, ससार के भ्रमण से उदासीन हो, इन्द्रियो को सकोच कर उस परमात्मा का चिन्तवन करे जो सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी हैं, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोक से रहित हैं, अपने स्वभाव मे लीन है, सर्व मलरहित हैं व सदा अविनाशी है ।

असिमसिकृषिविद्याशिल्पवाणिज्ययोगैः ।
तनुधनसुतहेतोः कर्म यादृक्करोषि ॥

सकृदपि यदि तादृक् संयमार्थं विधत्से।
सुखममलमनन्तं किं तदा नाश्नुषेऽलम् ॥६६॥

भावार्थ—हे भव्य ! जैसा तू परिश्रम शरीर रक्षा धन प्राप्ति व पुत्र लाभ के लिए असि. मसि कृषि. विद्या शिल्प. वाणिज्य इन छः प्रकार की आजीविकाओं से करता है. यदि वैसा परिश्रम एक दफे भी संयम के लिए करे तो क्यों नहीं निर्मल अनन्त. सहज सुख को भोग सकेगा ? अर्थात् अवश्य परमानन्द को पावेगा।

(२२) श्री पद्मनन्दि मुनि धम्मरसायण में कहते है—

अव्वावाहमणंतं जह्मा सोक्खं करेइ जीवाणं।
तह्मा संकरणामो होइ जिणो णत्थि सन्देहो ॥१२५॥

भावार्थ—जिस जिनेन्द्र के स्वरूप के ध्यान से जीवों को बाधारहित व अनन्त सहज सुख प्राप्त होता है उस जिनेन्द्र को इसलिए शंकर के नाम से कहते हैं।

जइ इच्छय परमपयं अव्वावाहं अणोवमं सोक्खं।
तिहुवणवंदियचलणं णमह जिणंदं पयत्तेण ॥१३१॥

भावार्थ—यदि तू बाधारहित, अनुपम, सहज सुख से पूर्ण परमपद को चाहता है तो तीन लोक से वन्दनीक है चरण जिनके ऐसे जिनेन्द्र को भावसहित नमस्कार कर।

ण वि अत्थि माणुसाणं आदसमुत्थं चिय विषयातीदं।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं अणोवमं जं च सिद्धाणम् ॥१९०॥

भावार्थ—सिद्धों को जैसा आत्मा से उत्पन्न, विषयों से अतीत, अनुपम, अविनाशी सुख है वैसा सुख मनुष्यों को भी नहीं है।

(२३) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय में कहते है—

कामक्रोधस्तथा मोहस्त्रयोऽप्येते महाद्विषः।
एतेन निर्जिता यावत्तावत्सौख्यं कुतो नृणाम् ॥२६॥

भावार्थ—जब तक मनुष्य काम, क्रोध, मोह इन तीन शत्रु न जीते तब तक सहज सुख कैसे मिल सकता है ?

धर्म एव सदा कार्यो मुक्त्वा व्यापारमन्यतः ।
यः करोति परं सौख्यं यावन्निर्वाणसंगमः ।।५८।।

भावार्थ—पर पदार्थ से राग हटा कर तुझे धर्म का पालन सदा करना चाहिये, जो सहज व उत्तम सुख देता ही रहता है व अन्त में निर्वाण पहुँचा देता है।

धर्मामृतं सदा पेयं दुःखातङ्कविनाशनम् ।
यस्मिन् पीते परं सौख्य जीवानां जायते सदा ।।६३।।

भावार्थ—दुःखरूपी रोग को नाश करने वाले धर्म रूपी अमृत का पान सदा ही करना चाहिए जिसके पीने से सदा ही जीवो को सहज व उत्तम सुख होता रहता है।

धर्म एव सदा त्राता जीवानां दुःखसंकटात् ।
तस्मात्कुरूत भो यत्नं यत्रानन्तसुखप्रदे ।।७२।।
यत्त्वया न कृतो धर्मः सदा मोक्षसुखावहः ।
प्रसन्नमनसा येन तेन दुःखी भवानिह ।।७३।।

भावार्थ—जीवो को धर्म ही सदा दुःख सकटो से रक्षा करने वाला है। इसलिए इस अनन्त सुख के दाता धर्म मे प्रयत्न करना चाहिए। तूने प्रसन्न मन होकर अब तक मोक्ष सुख को देने वाले धर्म का साधन नही किया इसी से तू दुःखी रहा है।

इन्द्रियप्रसरं रुद्ध्वा स्वात्मानं वशमानयेत् ।
येन निर्वाणसौख्यस्य भाजनं त्वं प्रपत्स्यसे ।।१३४।।

भावार्थ—इन्द्रियो के फैलाव को रोक कर अपने आपको तू वश मे कर, तब तू अवश्य निर्वाण के सहज सुख को पा सकेगा।

रोषे रोषं परं कृत्वा माने मानं विधाय च ।
सगे संगं परित्यज्य स्वात्माधीनसुखं कुरु ।।१८१।।

भावार्थ—क्रोध से भले प्रकार क्रोध करके, मान मे मान को पटक कर, परिग्रह मे परिग्रह को छोडकर, स्वाधीन सहज सुख का लाभकर।

आर्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतं ।।२२६।।

भावार्थ—आर्त ध्यान व रौद्र ध्यान को त्यागने से व धर्म तथा शुक्ल ध्यान को करने से यह जीव निर्वाण का अनन्त व अविनाशी सहज सुख प्राप्त करता है।

निर्ममत्वे सदा सौख्यं संसारस्थितिच्छेदनम् ।
जायते परमोत्कृष्टमात्मनः संस्थिते सति ।।२३५।।

भावार्थ— सर्व पर पदार्थों से ममता त्याग देने पर व आत्मा में स्थिति प्राप्त करने पर सदा ही परम उत्कृष्ट सहज सुख प्राप्त होता है जो ससार की स्थिति छेद डालता है।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ।।२६७।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन पूर्वक भेद विज्ञान, सर्व से मैत्री भाव, समता व दया इनकी सदा सेवा करनी चाहिए। इन ही से निर्वाण का सहज सुख प्राप्त होता है।

आत्माधीनं तु यत्सौख्यं तत्सौख्यं वर्णितं बुधैः ।
पराधीनं तु यत्सौख्यं दुःखमेव न तत्सुखं ।।३०१।।

भावार्थ—जो आत्मा से उत्पन्न स्वाधीन सुख है उसी को विद्वानो ने सुख कहा है। जो पराधीन इन्द्रिय सुख है वह सुख नही है वह तो दुःख ही है।

पराधीनं सुखं कष्टं राज्ञामपि महौजसां ।
तस्मादेतत् समालोच्य आत्मायत्तं सुखं कुरु ।।३०२।।

भावार्थ—बडे तेजस्वी राजाओ को भी पराधीन सुख दुःखदाई होता है इसलिये ऐसा विचार कर आत्माधीन सहज सुख का लाभ कर

नो संगाज्जायते सौख्यं मोक्षसाधनमुत्तमम् ।
संगाच्च जायते दुःखं संसारस्य निबन्धनम् ।।३०४।।

भावार्थ—मोक्ष के कारणभूत उत्तम सहज सुख परिग्रह की ममता से पैदा नही होता है। परिग्रह से तो ससार का कारण दु ख ही होता है।

(२४) श्री पद्मनन्दी मुनि सिद्धस्तुति मे कहते हैं—

यः केनाप्यतिगाढगाढमभितो दुःखप्रदैः प्रग्रहैः।
बद्धोन्यैश्च नरो रुषा घनतरैरापादमामस्तकं ॥
एकस्मिन् शिथिलेऽपि तत्र मनुते सौख्यं स सिद्धाः पुनः।
किं न स्युः सुखिनः सदा विरहिता बाह्यान्तरैर्बन्धनैः॥८॥

भावार्थ—यदि किसी पुरुष को किसी ने बहुत दु खदाई बन्धनो से क्रोध में आकर सिर से पग तक बाँधा हो उसका यदि एक भी बन्धन शिथिल हो जावे तो वह सुख मान लेता है।

सिद्ध भगवान जब सर्व बाहरी भीतरी बन्धनो से सदा ही रहित हैं तब वे सहज सुख के भोक्ता क्यो न रहेगे ? अवश्य रहेगे।

येषां कर्मनिदानजन्यविविधक्षुतृण्मुखा व्याधय-
स्तेषामन्नजलादिकौषधिगणस्तच्छान्तये युज्यते।
सिद्धानान्तु न कर्म तत्कृतरुजो नातः किमन्नादिभिर्नि-
त्यात्मोत्थसुखामृताम्बुधिगतास्तृप्तास्त एव ध्रुवम् ॥११॥

भावार्थ—जिन ससारी जीवो के कर्मो के उदय से क्षुधा, तृषा आदि अनेक रोग होते हैं, उन ही की शान्ति के लिये वे अन्न, जल, औषधि आदि का सग्रह करते हैं। सिद्धो के न तो कर्म हैं न कर्मकृत रोग हैं। इसलिये अन्नादिको से कोई प्रयोजन नही। वे नित्य आत्माधीन सहज सुख रूपी समुद्र मे मगन रहते हुए सदा ही तृप्त रहते है।

(२५) श्री पद्मनन्दी मुनि धर्मोपदेशामृत मे कहते हैं—

ज्ञानज्योतिरुदेति मोहतमसो भेदः समुत्पद्यते।
सानंदा कृतकृत्यता च सहसा स्वांते समुन्मीलति॥
यस्यैकस्मृतिमात्रतोपि भगवानवत्रै देहांतरे।
देवः तिष्ठति मृग्यतां स रभसादन्यत्र किं धावति १४९॥

भावार्थ—जब मोह रूपी अन्धकार दूर हो जाता है, तब ज्ञान ज्योति का प्रकाश होता है, उसी समय अन्तरग मे सहज सुख का अनुभव होता है, तथा कृतकृत्यपना झलकता है। जिसके स्मरण मात्र से ही ऐसी ज्ञान ज्योति प्रगट होती है। उस भगवान आत्मा देव को तू शीघ्र ही इस देह के भीतर खोज। बाहर और कहाँ दौडता है ?

भिन्नोहं वपुषो बहिर्मलकृतान्नानाविकल्पौघतः ।
शद्वादेश्च चिदेकमूर्तिमरलः शांतः सदानंदभाक् ॥
इत्यास्था स्थिरचेतसो दृढतरं साम्यादनारंभिणः ।
संसाराद्भयमस्ति किं यदि तदप्यन्यत्र कः प्रत्ययः ॥१४८॥

भावार्थ—मै मल से रचे हुए इस बाहरी शरीर से भिन्न हूँ, तथा मन के विकल्पों से भी भिन्न हूँ, शब्दादि से भी भिन्न हूँ, मै एक चेतना मूर्ति हूँ, निर्मल हूँ, शान्त हूँ, सदा सहज सुख का धारी हूँ। जिसके चित्त मे ऐसी श्रद्धा हो व जो शान्त हो, आरम्भ रहित हो उसको ससार से क्या भय ? तब और भय का कोई कारण नही है।

सततान्भ्यस्तभोगानामप्यसत्सुखमात्मजम् ।
अप्यपूर्वं सदित्यास्था चित्ते यस्य स तत्ववित् ॥१५०॥

भावार्थ—वही तत्वज्ञानी है, जिसके चित्त मे यह श्रद्धा है कि निरतर अभ्यास मे आये हुए इन्द्रिय भोगो का सुख असत्य है, किन्तु आत्मा से उत्पन्न सहज सुख अपूर्व है।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्व सप्तति मे कहते है —

सम्यग्दृग्बोधचारित्रं त्रितयं मुक्तिकारणम् ।
मुक्तावेव सुखं तेन तत्र यत्नो विधीयताम् ॥१३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र इन तीनो की एकता ही मोक्ष का मार्ग है। मुक्ति मे ही सहज सुख अनन्त है इसलिये मुक्ति का यत्न करना चाहिये।

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितं ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ॥१८॥

स एवामृतमार्गस्थ स एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ॥१६॥

भावार्थ—जो कोई जन्म रहित, एक स्वरूप, उत्कृष्ट, शान्त, व सर्व रागादि की उपाधि रहित आत्मा को आत्मा के द्वारा जानकर आत्मा मे थिर हो जाता हैं वही सहजानन्दमई मोक्ष मार्ग मे चलने वाला है, वह सहजानन्दमई अमृत को पीता है, वही अर्हत् हैं, वही जगन्नाथ है, वही प्रभू है, वही ईश्वर है ।

केवलज्ञानदृक्सौख्यस्वभावं तत्परं महः ।
तत्र ज्ञानेन किं ज्ञातं दृष्टे दृष्टं श्रुते श्रुतम् ॥२०॥

भावार्थ—यह उत्कृष्ट आत्मा रूपी तेज है , वह केवल ज्ञान, केवल दर्शन, सहजानन्द स्वभाव का धारी है । जिसने उसको जान लिया उसने क्या नही जाना, जिसने उसको देख लिया उसने क्या नही देखा, जिसने उसको आश्रय किया उसने क्या नही आश्रय किया ?

अक्षयस्याक्षयानन्दमहाफलभरश्रियः ।
तदेवैकं परं बीजं निःश्रेयसलसत्तरोः ॥५०॥

भावार्थ—यह ज्ञानानन्द रूप आत्मा ही अविनाशी और अनन्त सहज सुख रूपी फल को देने वाले मोक्ष रूपी वृक्ष का वीज है ।

शुद्धं यदेव चैतन्यं तदेवाहं न संशयः ।
कल्पनयानयाप्येतद्धीनमानन्दमन्दिरम् ॥५२॥

भावार्थ—यह शुद्ध चैतन्य है सो ही मैं हूँ, कोई सशय की वात नही है । वह सर्व कल्पनामय नयो से रहित है व सहज आनन्द का मन्दिर है ।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शश्वदानन्दमन्दिरम् ।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वार मोक्षैकसद्मनः ॥६७॥

भावार्थ—समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचने वाला है । समता भाव ही सहजानन्द का अविनाशी मन्दिर है । समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है । यह मोक्ष महल का एक द्वार है ।

(२७) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं —

अत्यक्षं विषयातीतं निरौपम्यं स्वभावजम् ।
अविच्छिन्नं सुखं यत्र स मोक्षः परिपठ्यते ।।४-८।।

भावार्थ—जहाँ अतीन्द्रिय, इन्द्रियो के विपयो से रहित, अनुपम, स्वाभाविक, अविनाशी, सहज सुख है वही मोक्ष कहा गया है ।

नित्यानन्दमयं शुद्धं चित्स्वरूपं सनातनम् ।
पश्यत्यात्मनि परं ज्योतिरद्वितीयमनव्ययम् ।।३५-१८।।

भावार्थ—मै नित्य सहजानन्दमय हूँ, शुद्ध हूँ, चैतन्य स्वरूप हूँ, सनातन हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, अनुपम हूँ, अविनाशी हूँ, ऐसे ज्ञानी अपने भीतर अपने को देखता है ।

यत्सुखं वीतरागस्य मुनेः प्रशमपूर्वकम् ।
न तस्यानन्तभागोऽपि प्राप्यते त्रिदशेश्वरैः ।।३—२१।।

भावार्थ—वीतरागी मुनि के शान्त भाव पूर्वक जो सहज सुख प्राप्त होता है उसका अनन्तवा भाग भी सुख इन्द्रो को नही मिलता ।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते ।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ।।१८-२३।।

भावार्थ—वीतरागी महात्मा को ऐसा कोई परमानन्द उत्पन्न होता है जिसके सामने तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है ।

तस्यैवाविचलं सौख्यं तस्यैव पदमव्ययम् ।
तस्यैव बंधविश्लेषः समत्वं यस्य योगिनः ।।१८-२४।।

भावार्थ—जिस योगी के समभाव है उसीके ही निश्चल सहज सुख है, उसीके ही बध का नाश है, उसीको ही अविनाशी पद प्राप्त होता है ।

अनन्तवीर्यविज्ञानदृगानन्दात्मकोऽप्यहम् ।
किं न प्रोन्मूलयाम्यद्य प्रतिपक्षविषद्रुमम् ।।१३-३१।।

भावार्थ—मैं अनन्त वीर्य, अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख रूप ही हूँ, क्यो मै अपने प्रतिपक्षी कर्म रूप विष के वृक्ष को आज उखाड न डालूंगा ?

यदक्षविषयं रूपं मद्रूपात्तद्विलक्षणं ।
आनन्दनिर्भरं रूपमन्तर्ज्योतिर्मय मम ।।६४-३२।।

भावार्थ—जो जो पदार्थ इन्द्रियो का विपय है वह मेरे आत्मा के स्वभाव से विलक्षण है। मेरा स्वभाव तो सहजानन्द से पूर्ण अन्तरग मे ज्ञान ज्योतिमय है।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतं ।
चिदानदमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।६६-३२।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही मे आप ही से जान कि मैं अतीन्द्रिय हू, वचनो से कहने योग्य नही हूँ, अमूर्तीक हूँ, कल्पना रहित हूँ, व चिदानन्दमयी हूँ।

निष्कलः करणातीतो निर्विकल्पो निरञ्जनः ।
अनन्तवीर्यतापन्नो नित्यानन्दाभिनन्दितः ।।७३-४२।।

भावार्थ—सिद्धात्मा शरीर रहित है, इन्द्रियो से रहित है, विकल्प रहित है, कर्ममल रहित है, अनन्त वीर्य धारी है, नित्य सहजानन्द मे मग्न है।

(२८) श्री ज्ञानभूपण भट्टारक तत्वज्ञान-तरगिणी मे कहते है —

स कोपि परमानन्दश्चिद्रूपध्यानतो भवेत् ।
तदंशोपि न जायेत त्रिजगत्स्वामिनामपि ।।४-२।।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूप के ध्यान से कोई ऐसा ही सहज परमानन्द होता है उसका अश भी इन्द्रादि को प्राप्त नही होता।

ये याता यांति यास्यंति योगिनः शिवसंपदः ।
समासाध्यैव चिद्रूपं शुद्धमानंदमंदिरं ।।१६-२।।

भावार्थ—जो योगी मोक्ष सम्पदा को प्राप्त हो चुके होगे व हो रहे हैं उसमे शुद्ध चिद्रूप का ध्यान ही प्रधान कारण है, वही सहजानन्द का घर है।

चिद्रूपः केवलः शुद्ध आनन्दात्मेत्यहं स्मरे ।
मुक्त्यै सर्वज्ञोपदेशः श्लोकार्द्धेन निरूपितः ।।२२-३।।

भावार्थ—मैं चैतन्य रूप हूँ, असहाय हूँ, शुद्ध हूँ, सहजानन्दमय हूँ, ऐसा स्मरण कर मुक्ति के लिये सर्वज्ञ का क्या उपदेश है उसे आगे श्लोक मे कहा गया।

सर्वेषामपि कार्याणां शुद्धचिद्रूपचिंतनं।
सुखसाध्यं निजाधीनत्वादीहामुत्र सौख्यकृत् ॥१६-४॥

भावार्थ—सर्व ही कार्यो मे शुद्ध चिद्रूप का चिन्तवन सुख से साध्य है क्योकि यह अपने ही आधीन है तथा इस चिन्तवन से इस लोक मे भी सहज सुख होता है और परलोक मे भी होता है।

विषयानुभवे दुःख व्याकुलत्वात् सतां भवेत्।
निराकुलत्वतः शुद्धचिद्रूपानुभवे सुखं ॥१८-४॥

भावार्थ---विषयो के भोगने मे प्राणियो को दुःख ही होता है क्योकि वहाँ आकुलता है किन्तु शुद्ध चिद्रूप के अनुभव से सुख ही होता है क्योकि वहाँ निराकुलता है।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्त पश्यामि सुखी ततः।
भवक्षितिर्हित मुक्तिर्निर्यासोऽयं जिनागमे ॥११-६॥

भावार्थ—मै शुद्ध चैतन्यरूप हूँ, इसलिये मे उसीको देखता हूँ उसी से मुझे सहज सुख प्राप्त होता है। जिनागम का भी यही निचोड है कि शुद्ध चिद्रूप के ध्यान से ससार का नाश व हितकारी मुक्ति प्राप्त होती है।

चिद्रूपे केवले शुद्धे नित्यानंदमये यदा।
स्वे तिष्ठति तदा स्वस्थं कथ्यते परमार्थतः ॥१२-६॥

भावार्थ---केवल, शुद्ध, नित्य सहजानन्दमई शुद्ध चिद्रूप स्वरूप जो अपना स्वभाव उसमे जो सदा ठहरता है वही निश्चय से स्वस्थ कहा जाता है।

नात्मध्यानात्परं सौख्यं नात्मध्यानात् परं तपः।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५-८॥

भावार्थ---आत्म ध्यान के बिना और किसी उपाय से उत्तम सहज

सुख नही हो सकता है। आत्म ध्यान से बढकर और कोई तप नही है। आत्म ध्यान से बढकर कही व किसी काल मे कोई मोक्ष मार्ग नही है।

रंजने परिणामः स्याद् विभावो हि चिदात्मनि।
निराकुले स्वभावः स्यात् तं विना नास्ति सत्सुखं॥८-१५॥

भावार्थ—चिदातमा मे रजायमान होने वाले परिणाम को विभाव कहते हैं। परन्तु जो आकुलता रहित शुद्ध चिद्रूप मे भाव हो तो वह स्वभाव है इसा स्वभाव मे तन्मय हुए बिना सच्चा सहज सुख प्राप्त नही हो सकता है।

वाह्यसंगतिसंगस्य त्यागे चेन्मे परं सुखं।
अन्तःसंगतिसंगस्य भवेत् किं न ततोऽधिकं ॥११-१६॥

भावार्थ—वाहरी स्त्री पुत्रादिकी संगतिके त्यागने से ही जब सहज सुख होता है तो अतरङ्ग मे सर्व रागदि व विकल्पो के त्याग से और भी अधिक सहज सुख क्यो नही होगा ?

बहून् वारान् मया भुक्तं सविकल्पं सुखं ततः।
तन्नापूर्वं निर्विकल्पे सुखेऽस्तीहा ततो मम ॥१०-१७॥

भावार्थ—मैने बहुत वार विकल्पमय सासारिक सुख को भोगा है, वह कोई अपूर्व नही है। इसलिये उस सुख की तृष्णा छोड कर अब मेरी इच्छा निर्विकल्प सहज सुख पाने की है।

ज्ञेयज्ञानं सरागेण चेतसा दुःखमंगिनः।
निश्चयश्च विरागेण चेतसा सुखमेव तत् ॥११—१७॥

भावार्थ—रागभाव पूर्वक चित्त से जो पदार्थों को जाना जाता है, उस से प्राणियो को आकुलतारूप दु ख होता है, परन्तु वीतराग भाव से जो पदार्थों को जाना जावे तो सहज सुख ही है यह निश्चय है।

चिंता दुःखं सुखं शांतिस्तस्या एतत्प्रतीयते।
तच्छांतिर्जायते शुद्धचिद्रूपे लयतोऽचला ॥१३—१७॥

भावार्थ—चिंता दु खकारी है, शाति सुखकारी है, यह बात जिस शाति के अनुभव से मालूम होती है वह निश्चल शाति तव ही होगी जब शुद्ध चिद्रप मे लयता प्राप्त होगी।

यो रागादिविनिर्मुक्तः पदार्थानखिलानपि ।
जानन्निराकुलत्व यत्तात्त्विकं तस्य तत्सुखं।।१७—१७।।

भावार्थ—जो कोई रागद्वेषादि छोड कर सर्व पदार्थों को जानता है उसे निराकुलता रहती है, उसी के वह सच्चा तत्वरूप सहज सुख होता है ।

युगपज्जायते कर्ममोचनं तात्त्विकं सुखं ।
लयाच्च शुद्धचिद्रूपे निर्विकल्पस्य योगिनः ।।१५—१८।।

भावार्थ—जो योगी सकल्प विकल्प त्याग कर शुद्ध चिद्रूप मे लय होता है उसी को एक ही साथ सच्चा सहज सुख भी मिलता है व कर्म की निजरा भी होती है ।

(२६) श्री प० वनारसीदासजी वनारसी विलास मे कहते है—

सवैया ३१ ।

लव रूपातीत लागी पुण्य पाप भ्राति भागी,
सहज स्वभाव मोह सेनाबल भेद की ।
ज्ञान की लवधि पाई आनम लवधि आई,
तेज पुज काति जागी उमग अनन्द की ।।
राहु के विमान बढे कला प्रगटत पूर,
होत जगा जोत जैसे पूनम के चद की ।
वनारसीदास ऐसे आठ कर्म भ्रम भेद,
सकति सभाल देखी राजा चिदानद को ।।१४।।

(३०) प० वनारसीदासजी नाटक समयसार मे कहते है—

कवित्त ।

जव चेतन सभारि निज पौरुष, निरखे निज दृगसो निज मर्म ।
तव सुखरूप विमल अविनाशिक, जाने जगत शिरोमणि धर्म ।।
अनुभव करै शुद्ध चेतन को, रमे स्वभाव वमे सव कर्म ।
इहि विधि सधै मुकति को मारग, अरु समीप आवै शिवशर्म।।५।।

सवैया २३ ।

राग विरोध उदै जवलो तवलो, यह जीव मृषा मग धावे ।
ज्ञान जग्यो जव चेतन को तव, कर्म दशा पर रूप कहावे ।।

कर्म विलक्ष करे अनुभौ तहाँ, मोह मिथ्यात्व प्रवेश न पावे ।
मोह गये उपजे सुख केवल, सिद्ध भयो जगमांहि न आवे ।।५८।।

छप्पै ।

जीव कर्म सयोग, सहज मिथ्यात्वस्वरूप धर ।
राग द्वेष परणति प्रभाव, जाने न आप पर ।।
तम मिथ्यात्व मिटि गये, भये समकित उद्योत शशि ।
राग द्वेष कछु वस्तु नाहि, छिन मांहि गये नशि ।।
अनुभव अभ्यास सुख राशि रमि, भयो निपुण तारण तरण ।
पूरण प्रकाश निहचल निरखि, वनारसी वदत चरण ।।५६।।

छप्पै ।

प्रगट भेदविज्ञान, आपगुण परगुण जाने ।
पर परणति परित्याग, शुद्ध अनुभौ थिति ठाने ।।
करि अनुभौ अभ्यास सहज सवर परकासे ।
आश्रव द्वार निरोधि, कर्मधन तिमिर विनासे ।।
क्षय करि विभाव सम भाव भजि, निरविकल्प निज पर गहे ।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, परम अतीद्रिय सुख लहे।।११।।

सवैया २३

शुद्ध सुछद अभेद अवाधित, भेद विज्ञान सु तीछन आरा ।
अन्तर भेद स्वभाव विभाव, करे जड चेतनरूप दुफारा ।।
सो जिन्ह के उर मे उपज्यो, ना रुचे तिन्ह को परसग सहारा ।
आतम को अनुभौ करिते, हरखे परखे परमातम प्यारा ।।३।।

(३१) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते हैं—

छप्पै

जीव चेतनासहित, आपगुन परगुन जानै ।
पुग्गलद्रव्य अचेत, आप पर कछु न पिछानै ।।
जीव अमूरतिवन्त, मूरती पुग्गल कहियै ।
जीव ज्ञानमयभाव, भाव जड पुग्गल लहिये ।।
यह भेद ज्ञान परगट भयौ जो पर तजि अनुभौ करै ।
सो परम अतिन्द्री सख सधा भु जत भौसागर तिरै ।।८३।।
यह असुद्ध मैं सुद्ध, देह परमान अखडित ।
असख्यातपरदेस, नित्य निरभै मैं पडित ।।
एक अमूरति निर उपाधि मेरो छय नाही ।
गुनअनन्तज्ञानादि, सर्व ते है मुझ माही ।।

मैं अतुल अचल चेतन विमल, सुख अनन्त मो मे लसै।
जब इस प्रकार भावत निपुन, सिद्धक्षेत्र सहजै बसै ।।८७।।
सुनहु हंस यह सीख, सीख मानो सदगुरु की।
गुरु की आन न लोपि, लोपि मिथ्यामति उर की ।।
उर की समता गहो, गहौ आतम अनुभौ सुख।
सुख सरूप थिर रहै, रहै जग में उदास रुख ।।
रुख करौ नहीं तुम विषय पर, पर तजि परमातम मुनहु।
मुनहु न अजीव जड़ नाहिं निज, निज आतम वर्नन सुनहु ।।८८।।
भजत देव अरहन्त, हरत मिथ्यात मोहकर।
करत सुगुरु परनाम, नाम जिन जपत सुमन धर ।।
धरम दयाजुत लखत, लखत निज रूप अमलपद।
परम भाव गहि रहत, रहत हुव दुष्ट अष्ट मद ।।
मदन बल घटत समता प्रगट, प्रगट अभय ममता तजत।
तजत न सुभाव निज अपर तज, तज सु दुःख सिव सुख भजत।।८९।।
लहत भेद विज्ञान, ज्ञानमय जीव सु जानत।
जानत पुग्गल अन्य, अन्यसो नातो भानत ।।
भानत मिथ्या तिमिर, तिमिर जासम नाहिं कोई।
कोई विकलप नाहिं, नाहिं दुविधा जस होई ।।
होई अनन्त सुख प्रगट जब, जब प्रानी निजपद गहत।
गहत न ममत लखि गेय सब, सब जग तजि सिवपुर लहत ।।९०।

कुण्डलिया।

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव ।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौरस प्रानी।
आनंदकंद सुछंद, चंद पूरन सुखदानी ।।
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिन भंगुर सो सो।
सुख कहि सकै न कोइ, होइ जाको जानै जो ।।१०।।
द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल।
सुर्गइंद्र अहमिंद्र सब, अधिक अधिक सुख भाल ।।
अधिक अधिक सुख भाल, काल तिहुं नंत गुनाकर।
एकसमै सुख सिद्ध, रिद्ध परमानंद धर ।।
सो निहचै तू आप, पापबिन क्यों न पिछानत।
दरस ग्यान थिर थाप, आपमें आप सु द्यानत ।।११।

छप्पै

ग्यान कूप चिद्रूप, भूप सिवरूप अनूपम ।
रिद्ध सिद्ध निज बृद्ध, सहज ससमृद्ध सिद्ध सम ॥
अमल अचल अविकल्प,अजल्प, अनल्प सुखाकर ।
सुद्ध बुद्ध अविरुद्ध, सगन-गन-मनि-रतनाकर ॥
उतपात--नास--ध्रुव साध सत, सत्ता दरव सु एकही ॥
द्यानत आनन्द अनुभौ दसा, बात कहन की है नहीं ॥३॥

भोग रोग से देखि, जोग उपयोग वढायो ।
आन भाव दुख दान, ग्यान कौ ध्यान लगायौ ।
सकलप विकलप अलप, बहुत सब ही तजि दीनै ।
आनन्दकन्द सुभाव, परम समतारस भीनें ॥
द्यानत अनादि भ्रमवासना, नास कुविद्या मिट गई ।
अन्तर बाहर निरमल फटक, फटक दसा ऐसी भई ॥१०॥

सवैया २३

लोगनि सौ मिलनौं हमकौं दुख, साहनिसौं मिलनौ दुख भारी ।
भूपति सौ मिलनौ मरनै सम, एक दसा मोहि लागति प्यारी ॥
चाह की दाह जजै जिय मूरख, वेपरवाह महा सुखकारी ।
द्यानत याही तै ग्यानी अबछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ॥२७॥

(३२) भैया भगवतीदास ब्रह्म विलास मे कहते हैं —

सवैया ३१

भौथिति निकन्द होय कर्म बन्ध मन्द होय,
प्रगटे प्रकाश निज आनन्द के कन्द को ।
हित को दृढाव होय विनैको वढाव होय,
उपजे अकुर ज्ञान द्वितीया के चन्द को ।
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करै मोह फन्द को ।
सुख भरपूर होय दोष दुख दूर होय,
याते गुण वृन्द कहैं सम्यक् सुछन्द को ॥ ८ ॥

सवैया २३

चेतन ऐसे मे चेतत क्यों नहि, आय बनी सब ही विधि नीकी ।
है नर देह यो आरज खेत, जिनन्द की बानि सु बूँद अमी की ॥

तामे जु आप गहो थिरता तुम, तौ प्रगटे महिमा सब जी की।
जामे निवास महासुख वास सु, आय मिलै पतियाँ शिवतीकी ॥२३॥

द्रुमलता छन्द

इक बात कहूँ शिवनायक जी, तुम लायक ठौर कहाँ अटके।
यह कौन विचक्षन रीति गही, बिनु देखहि अक्षनसो भटके॥
अजहू गुण मानो तौ सीख कहूँ, तुम खोलत क्यो न पटै घटके।
चिनमूरति आपु विराजत है, तिन सूरति देखे सुधा गटके ॥१०॥

सवैया ३३

जाही दिन जाही छिन अन्तर सुबुद्धि लसी,
ताही पल ताही समैं जोतिसी जगति है।
होत है उद्योत तहाँ तिमिर विलाइ जातु,
आपापर भेद लखि ऊरधव गति है॥
निर्मल अतीन्द्री ज्ञान देखि राय चिदानन्द,
सुख को निधान याकै माया न जगति है।
जैसो शिव खेत तैसो देह मे विराजमान,
ऐसो लखि सुमति स्वभाव मे पगति है ॥३४॥

कवित्त

निश दिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवे नाहिं फेरिके।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिके॥
ब्रह्म को विलास करो, आतम निवास करो,
देव सब दास करो महामोह जेरिकै।
अनुभो अभ्यास करो थिरता मे वास करो,
मोक्ष सुख रास करो कहूँ तोहि टेरिकै ॥६४॥

× × ×

तेरो ही स्वभाव चिनमूरति विराजितु है,
तेरो ही स्वभाव सुख सागर मे लहिये।
तेरो ही स्वभाव ज्ञान दरसन हू राजतु है,
तेरो ही स्वभाव ध्रुव चारित मे कहिये॥
तेरो ही स्वभाव अविनाशी सदा दीसतु है,
तेरो ही स्वभाव परभाव मे न गहिये।

तेरो ही स्वभाव सब आन लसै ब्रह्ममाहिं,
यातै तोहि जगत को ईश सरदहिये ॥ १ ॥

सवैया ३१

नेकु राग द्वेष जीत भये वीतराग तुम,
तीन लोक पूज्यपद येहि त्याग पायो है।
यह तो अनूठी वात तुम ही वताय देहु,
जानी हम अव ही सुचित्त ललचायो है॥
तनिकहू कष्ट नाहिं पाइये अनन्त सुख,
अपने सहज माहिं आप ठहरायो है।
या मे कहा लागत है, परसग त्यागत ही,
जारि दीजे भ्रम शुद्ध आप ही कहायो है॥ ३॥
मोह के निवारे राग द्वेषहू निवारे जाहिं,
राग द्वेष टारे मोह नेक हू न पाइये।
कर्म की उपाधि के निवारिवेको पेच यहै,
जड के उखारे वृक्ष कैसे ठहराइयै॥
डार पात फल फूल सवै कुम्हलाय जाय,
कर्मन के वृक्षन को ऐसे के नसाइये।
तवै होय चिदानन्द प्रगट प्रकाश रूप,
विलसै अनन्त सुख सिद्ध मे कहाइये॥ ८॥

कवित्त

सिद्ध की समान है विराजमान चिदानन्द,
ताही को निहार निज रूप मान लीजिये।
कर्म को कलक अग पक ज्यो पखार हर्यो,
धार निज रूप परभाव त्याग दीजिये॥
थिरता के सुख को अभ्यास कीजे रैन दिना,
अनुभौके रस को सुधार भले पीजिये।
ज्ञान को प्रकाश भास मित्र की समान दीसै,
चित्र ज्यौं निहार चित ध्यान ऐसौ कीजिये॥ ३॥

छप्पै

अष्ट कर्मतै रहित, सहित निज ज्ञान प्राण धर।
चिदानन्द भगवान, वसत तिहूँ लोक शीस पर॥
विलसत सुखजु अनन्त, सन्त ताको नित ध्यावहि।
वेदहि ताहि समान, आयु घट माहिं लखावहि॥

हम ध्यान करहि निर्मल निरखी, गुण अनन्त प्रगटहि सरव।
तस पद त्रिकाल वन्दत भविक, शुद्ध सिद्ध आतम दरव ।। ७ ।।

राग दोष अरु मोहि, नाहि निजमाहि निरक्खत।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत ।।
पर द्रव्यन सो भिन्न, चिह्न चेतन पद मण्डित।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखण्डित ।।
सुख अनन्त जिहि पद वसत, सो निहचै सम्यक महत।
'भैया' सुविचक्षन भविक जन, श्रीजिनन्द इहि विधि कहत ।।१४।।

जैन धर्म परसाद, जीव मिथ्या मति खण्डै।
जैन धर्म परसाद, प्रकृति उर सात विहण्डै ।।
जैन धर्म परसाद, द्रव्य षट को पहिचानै।
जैन धर्म परसाद, आप परको ध्रुव ठानै ।।
जैन धर्म परसाद लहि, निज स्वरूप अनुभव करै।
'भैया' अनन्त सुख भोगवै, जैन धर्म जो मन धरै ।।२१।।

जैन धर्म परसाद, जीव सब कर्म खपावै।
जैन धर्म परसाद, जीव पचमि गति पावै ।।
जैन धर्म परसाद, बहुरि भव मे नहि आवै।
जैन धर्म परसाद, आप परब्रह्म कहावै ।।
श्री जैन धर्म परसादतै, सुख अनन्त विलसन्त ध्रुव।
सो जैन धर्म जयवन्त जग, भैया जिहँ घट प्रगट हुव ।।२२।।

सवैया ३१

सुबुधि प्रकाश मे सु आतम विलास मे सु,
थिरता अभ्यास मे सुज्ञान को निवास है।
ऊरध की रीति मे जिनेश की प्रतीति मे सु,
कर्मन की जीत मे अनेक सुख भास है ।।
चिदानन्द ध्यावत ही निज पद पावत ही,
द्रव्य के लखावत ही, देख्यो सब पास है।
वीतराग वानी कहै सदा ब्रह्म ऐसे भास,
सुख मे सदा निवास पूरन प्रकाश है ।।२४।।

—(०)—

अध्याय पांचवां
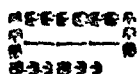
जीव का एकत्व ।

इस ससार मे इस जीव को अकेले ही भ्रमण करना पडता है। हर एक जीव अकेले ही जन्मता है, अकेले ही मरता है। अकेला ही जरा से पीड़ित होता है, अकेला ही रोगी होता है। अकेला ही शोकी होता है, अकेला ही दुखी होता है। अकेला ही सुखी होता है, अकेला ही पाप व पुण्य कर्म बाँधता है व अकेला ही उसका दुख व सुख भोगता है। हर एक जीव अपनी करनी का आप उत्तरदायी है। जो जीव जैसे भाव करता है वह जीव वैसे कर्म बाँधता है। दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य बन्ध नही कर सकता है, न दूसरा कोई किसी के पाप या पुण्य के बन्ध को हर सकता है, किसी के दुख को कोई ले नही सकता है, किसी के सुख को कोई छीन नही सकता है। दुख सुख अन्तरग भावो पर है, भावो का बदलना अपने ही आधीन है।

जिस कुटुम्ब मे या जिस सयोग मे कोई जन्मता है उसको यह अपना साथी मान लेता है परन्तु वे इस जीव के सच्चे साथी नही हो सकते है। माता पिता पास बैठे है यदि पुत्र रोगी है तो रोग का दुःख उसी को ही भोगना पडता है—माता पिता बँटा नही सकते हैं। यदि कोई भूखा है तो उसी को भोजन करने से उसकी भूख मिटेगी। दूसरे के भोजन से किसी की भूख मिट नही सकती है। कुटुम्ब मे प्राणियो का सम्बन्ध वृक्ष पर वसेरे के समान है। जैसे साँझ के समय भिन्न-भिन्न दिशाओ से आकर पक्षी एक वृक्ष पर विश्राम करते है, सवेरा होने तक ठहरते हैं, फिर हर एक पक्षी अपनी इच्छानुसार अपनी भिन्न-भिन्न दिशा को चला जाता है। उसी तरह एक कुटुम्ब मे कोई जीव नर्क से, कोई जीव स्वर्ग से, कोई जीव पशु गति से, कोई जीव मनुष्य गति से आकर जन्मता है। वे सब अपनी-अपनी आयु पर्यन्त रहते हैं, जिसकी आयु पूरी हो जाती है वह सब को छोडकर चला जाता है, कोई किसी के पीछे मरता नही।

जो पाप व पुण्य व जैसा आयुकर्म जो जीव बाँधता है उसके अनुसार वह जीव चारो गतियो मे से किसी गति मे चला जाता है। चार सगे भाई हैं। एक विशेष धर्मात्मा है वह मर कर देव हो जाता है। एक सामान्य धर्मात्मा है वह मर कर मनुष्य हो जाता है। एक कम पापी है वह मर कर पशु जन्म पाता हैं। एक अधिक पापी है वह मर कर नारकी पैदा हो जाता है, फिर कोई किसी को याद भी नही करता है। साधारण नियम यही है कि हर एक अपने-अपने सुख व दुःख मे रम जाता है।

यदि कोई गृहस्थी अपने कुटुम्ब के मोहवश स्त्री व पुत्रादि के मोहवश अन्याय व पाप कर के धनादि सग्रह करता है और कुटुम्ब की उस पाप मे अनुमोदना नही है तो उस पाप का बध अकेले गृहस्थी को ही होगा। दूसरे यद्यपि साथ है, उस धन को भोगते है परन्तु उन का भाव पापमय न होने से वे उस पापके फलको न पावेगे। एक कुटुम्ब मे दशजीव हैं। एक आदमी चोरी करके सौ रुपये लाता हैं। पाँच तो उसे सराहते है, ५ उसकी निन्दा करते हैं तब पहले पाँच तो पापकर्म बाँधेगे और दूसरे ५ पुण्य कर्म बाँधेगे। एक घर मे दो भाई हैं—दोनो भोग्य पदार्थो के स्वामी हैं, स्त्री पुत्रादि सहित है। एक सम्यग्दृष्टि ज्ञानी है, वह उन के बीच मे रहता हुआ भी जल मे कमल के समान अलिप्त है, भोगो को रोग के

समान जान कर वर्तमान इच्छा को रोकने को असमर्थ हो कर कटवी दवा लेने के समान भोग भोगता है। अंतरंग में यह भावना है कि कब वह समय आवे जब यह विषयवासना मिटे और मैं इन भोगों को न भोग कर केवल आत्मरस का ही पान करूँ।

ऐसा ज्ञानी जीव भोगों को भोगते हुए आसक्त भाव के न होने से बहुत अल्प कर्मबन्ध करेगा। परन्तु दूसरा भाई जो मिथ्यादृष्टी अज्ञानी है जिसका उद्देश्य ही संसार का विषयभोग है, जो सहज सुख को पहचानता ही नही, इन्द्रिय सुख के सिवाय किसी सुख को जानता ही नहीं, वह गृहस्थ के भोगो को बहुत बड़ी आसक्ति के भोगेगा व यही चाहेगा कि ये भोग सदा बने रहे व इस से बढ कर भोग जीवन भर मिले व परलोक मे भी मिले, वह अज्ञानी तीव्र कर्म बांधेगा। एक भाई दूसरे के पाप को बँटा नहीं सकता है। मरने के बाद सम्यग्दृष्टी स्वर्ग मे देव होगा, मिथ्यादृष्टी पशुगति मे तिर्यंच होगा या नरक मे नारकी होगा। कुटुम्ब मे सर्व ही प्राणी अपने स्वार्थ के साथी हैं। अपना स्वार्थ जब तक सधता जानते हैं तब तक स्नेह करते है, जब स्वार्थ सधता नही जानते हैं तब स्नेह छोड बैठते है। यदि स्वार्थ मे बाधा होती है तो वे ही जो बन्धु थे शत्रु हो जाते हैं। पुत्र पिता की सेवा अपने शारीरिक सुख के लिये करता है। पिता पुत्र की पालना इस आशा से करता है कि मेरे वृद्ध होने पर यह मेरी रक्षा करेगा।

स्त्री पति का स्नेह अपने शरीर पालन व अपने कामतृप्ति का साधन जान के करती है। पति स्त्री के साथ स्नेह गृहकार्य, सन्तानप्राप्ति व कामतृष्णा के शमन हेतु करता हैं। यदि स्त्री पति को रसोई न खिलावे, घर का काम न करे, कामतृप्ति मे सहाई न हो तो उसी क्षण पति का स्नेह मिट जाता है। पति यदि स्त्री को भोजन, वस्त्र, आभूषण न दे, उसकी रक्षा न करे, उस की कामतृप्ति मे सहाई न हो तो स्त्री का स्नेह पति से उड जाता है। वृद्ध पिता घर का कामकाज नही कर सकता व धन भी पास नही रखता उस से कुटुम्बियो का स्नेह छूट जाता है। भीतर परिणाम यही रहते हैं कि यह बेकार है, इस का जीवन न रहे तब ही ठीक है। स्वामी सेवक से स्नेह प्रयोजनवश करता है, सेवक स्वामी से स्नेह

मतलब के हेतु से करता है। सारा जगत का व्यवहार स्वार्थ व परस्पर काम के ऊपर ही निर्भर है। किसान खेती कर के राजा को कर देता है तव राजा किसानो की रक्षा करता है। मुनीम सेठ का काम करता है तव सेठ मुनीम को नौकरी देता है। यदि काम न निकले तो एक दिन सेठ मुनीम को रखना नही चाहता और यदि सेठ नौकरी न दे तो मुनीम सेठ का काम छोड देता है। वही भाई जो एक ही माता के गर्भ से निकले हैं दूसरे भाई की सम्पत्ति हडप जाने के लिये शत्रु बन जाता है।

सारे जगत के प्राणी इन्द्रियो के सुखों के दास हो रहे हैं। जिनसे इन्द्रिय-सुखकी सहायक सामग्री प्राप्त करने मे काम निकलता है उनसे तो स्नेह हो जाता है और जिन से विषयभोगो मे अन्तराय पडता है उनमे द्वेष पैदा हो जाता है। इन्द्रिय विषय के मोह वश ही जगत मे मित्र व शत्रु बनते है। रागद्वेष का सारा प्रसार विषय चाह के आधीन है। मेरा शरीर है यह मानना भी भ्रम है, मिथ्या है क्योकि यह शरीर एक धर्मशाला है, कही से आके जीव वसा है व आयुकर्म समाप्त होने ही इसे छोडना पडेगा। शरीर पुद्गलमय जड है,आप चेतन है। शरीर अपना कैसे हो सकता है। यह परिवार मेरा है, यह भी मिथ्या है। यह सब परिवार शरीर से सम्बन्ध रखता है। आत्मा का कोई परिवार नही है। आत्मा का कोई माता पिता नही, कोई भाई नही, कोई पति नही, कोई इस की भार्या नही, पुत्री नही, भगिनी नही, कोई इस का पुत्र नही, भाई नही, चाचा नही, भतीजा नही, सब सम्बन्ध शरीर से है जव शरीर ही अपना नही तब यह परिवार अपना कैसे हो सकता है? यह धन मेरा है, यह ग्राम मेरा है, यह घर मेरा है, यह उपवन मेरा है, यह वस्त्र मेरा है, यह आभूषण मेरा है, यह वाहन मेरा है, यह सब भी मानना मिथ्या है। इन सब का सम्बन्ध शरीर के साथ है। शरीर के छूटते ही उनका सम्बन्ध छूट जाता है। एक धनी जीव मर कर एक चाण्डाल के यहाँ जन्म प्राप्त कर लेता है तथा एक चाण्डाल का जीव मर कर धनी के यहाँ पैदा हो जाता है। देव मर कर कुत्ता हो जाता है, कुत्ता मर कर देव हो जाता है। सारा शरीर का सम्बन्ध भोग विलास, कुटुम्ब परिवार, मकान, वाग कूप, तडाग सब शरीर के साथ ही रह जाता है। यह जीव अपने पाप तथा पुण्य कर्म को लिये हुए अकेला ही जाता है। और कही जन्म धार लेता है।

शरीर को व शरीर के सम्बन्ध मे आए हुए सर्व चेतन व अचेतन पदार्थों को अपने मानना मिथ्या है, भ्रम है, अज्ञान है। इस जीव का सच पूछो तो ससार मे कोई साथी नही है। यदि कोई परम प्यारी स्त्री भी हो तौ भी अपने पति के मरने पर ऐसा नही कर सकती कि उसके साथ ही कही पर जन्म लेकर फिर स्त्री होजावे। स्त्री मर के पुत्री हो जाती है, भगिनी हो जाती है या स्त्री अपने पाप कर्म के अनुसार तिर्यंचनी हो जाती है, और पति अपने पुण्य कर्म के अनुसार राजपुत्र हो जाता है। कोई बडा भारी मित्र हे तौ भी मित्र के मरने पर उसके साथ न तो मर सकता है और यदि मरे भी तो एक साथ एक ही गति मे जन्म पाने का कोई नियम नही है। एक मानव रोग से तडफडा रहा है। सैकडो कुटुम्बी मित्र, पुत्र, मित्रादि वैठे देख रहे है, सहानुभूति वता रहे हैं परन्तु यह किसी मे शक्ति नही है कि उसके रोग को आप ले ले व उसकी रोग पीडा को आप ओढ ले। उसी अकेले को रोग का कष्ट भोगना पडता है। जगत मे यह नियम है कि यह जीव अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है, अकेला ही दु ख सुख भोगता है। इसलिये इस जीव को उचित है कि स्वार्थी जगत के प्राणियों के मोह मे पड कर अपना बुरा न करे। अपने आत्महित को कुटुम्वियो के पीछे छोड न वैठे।

ससार असार है बता चुके, शरीर अपवित्र अथिर है समझा चुके, भोग चचल अतृप्तिकारी व दु खदायी हैं यह कथन कर चुके, तथा सहज सुख ही सच्चा सुख है जो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा ही से मिल सकता है। इन्द्रिय सुख झूठा है, कल्पित है, विनाशीक है, आत्मिक सुख स्वाधीन है, अविनाशो है, अपने ही पास है, यह सव दिखा चुके। अब उचित है कि हर एक चेतन प्राणी इस मानव जन्म को सफल करे, सच्चे सुख को पाने का यत्न करे, वह सच्चा सुख भी कोई किसी को दे नही सकता, कोई किसी से ले नही सकता, किसी से माँगने से मिल नही सकता, खुशामद से प्राप्त नही हो सकता, धन खरचने से नही आ सकता है, कही रक्खा नही है जो उठाया जा सके। वह सुख हर एक का हर एक के पास है। हर एक आप ही अपने मे ही अपने मे अपने ही पुरुषार्थ के द्वारा प्राप्त

कर सकता है। जो साधन करेगा वह पा सकेगा, जो आलसी रहेगा वह नही पा सकेगा ।

यह शरीर मेरा नही है यह बात प्रगट ही है, परन्तु आत्मा के एकत्व को या उस के एक स्वभाव को ध्यान मे लेते हुए हमे यह भी देखना होगा कि ससारी प्राणियो मे क्रोध कम या अधिक है, मान कम व अधिक है, माया कम व अधिक है, लोभ कम या अधिक है, हास्यभाव कम या अधिक है, रतिभाव कम या अधिक है, अरतिभाव कम या अधिक है, शोकभाव कम या अधिक है, भय भाव कम या अधिक है, जुगुप्सा या घृणाभाव कम या अधिक है, कामभाव कम या अधिक है, ये सब भाव क्या जीव के स्वभाव है या नही, इनका विचार भले प्रकार कर लेना उचित है। यदि पक्षपात छोड कर विचारा जायगा तो इन क्रोध, मान, माया, लोभादि भावो को कोई भी पसद नही करता हैं। सब ही इन को औपाधिक भाव, अशुद्धभाव, या दोष मानते है ।

एक अनपढ ग्रामीण मे भी पूछा जावे तो वह यही कहेगा कि क्रोधी आदमी अच्छा नही, मानी आदमी अच्छा नही, मायाचारी अच्छा नही, लोभी अच्छा नही, शोकी आदमी अच्छा नही, भयभीत मानव अच्छा नही, कामी मानव अच्छा नही, इसके विरुद्ध जगत भर को क्षमावान, विनयवान, सरल व्यवहारी, सतोषी, ब्रह्मचारी, शीलवान, निर्भय, शोक-रहित, प्रेमालु, घृणारहित मानव अच्छा लगता है। जैसे रूई के कपडे सफेद होते हैं। किसी स्थान पर पचास आदमी एकत्र है, वे सब रूई के कपडे पहने हैं परन्तु गर्मी के ऋतु के कारण सब के कपडे मलीन हैं। तब दर्शकगण उन को देख कर यही समझते है कि इन के कपडे स्वच्छ नही है, इन मे मैल चढ गया है। और यदि कही किसी सभा मे पचास आदमी जमा हो जो सब नए सफेद कपडे पहन कर आए हो तो दर्शको को वे सब बडे सुहावने लगते हैं क्योकि उन कपडो पर मैल नही है।

इसी तरह जब क्रोध, मान, माया, लोभादि से रगे हुए जीव होते हैं तब सब को बुरे लगते हैं और जब उन के विरुद्ध क्षमा, विनय, ऋजुता, सतोष आदि से सम्पन्न जीव होते है तब सब को अचछे लगते हैं। इस का

कारण यही है कि क्षमा, विनय, ऋजुता, सतोष आदि तो जीव के स्वभाव हैं जबकि क्रोध,मान,माया,लोभादि जीवके स्वभाव नही हैं दोष हैं,मल हैं।

क्रोधी मानव स्वय भी यदि अपने को देखे तो क्रोध के समय वह अपने आपे से बाहर हो जाता है। उसको बडी आकुलता पैदा हो जाती है। बडा दु खित भाव हो जाता है, ज्ञान मैला हो जाता है, विवेक जाता रहता है, कुछ का कुछ सत्य असत्य विचारने लगता है, बकने लगता है, चाहे किसी को मारने पीटने लगता है। उस का स्वभाव बिगड जाता है। यदि क्रोधी को कुछ नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे ग्रहण नही कर सकता। उस का परिणाम बडा ही क्षोभित व मैला हो जाता है, और जब उसी का क्रोध चला जाता है, शान्ति आ जाती है तब वही अपने को निराकुल मालूम करता है, सुखी मालूम करता है। उस समय विवेकी रहता है, मन मे भी ठीक ठीक विचारता है, वचन भी ठीक-ठीक बोलता है, काय से भी ठीक ठीक क्रिया करता है, नवीन ज्ञान की शिक्षा को भी ग्रहण करता है भले प्रकार समझता है क्योकि यह क्रोध रूपी पिशाच के वश नही है या क्रोधरूपी मदिरा के नशे मे नही है, वह अपने आपे मे है।

इसी तरह यदि किसी को अभिमान हो उच्च जाति का, धनवान होने का, रूपवान होने का, बलवान होने का, अधिकारी होने का, विद्वान होने का, तपस्वी होने का, तो उसका भाव मैला रहता है। वह दूसरो को घृणा की दृष्टि से देखता है। मान के वशीभूत हो मन से ठीक विचार नही करता है, वचन भी मानयुक्त बोलता है, शरीर से भी विनययुक्त क्रिया नही होती है, मान के आवेश में उसका वर्ताव जगत को पसंद नहीं आता है, वह भी आकुलित रहता है कि कहीं कोई अपमान न कर दे और यदि कोई अपमान कर देता है तो वह शीघ्र ही क्रोधी हो कर और भी दु खी हो जाता है। मानी को नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावें तो उस को वह ग्रहण नही करता है। यदि कोई मानरहित है, मार्दव धर्म का धारी है, कोमल चित है तो उसके भावो मे शाति है, वह विवेक से विचार करता है, उसका मन कारण कार्य का ठीक विचार कर सकता

है, उस के वचन हितमित प्रिय निकलते हैं, उस की क्रिया प्रेम, दया व विवेकपूर्ण होती है, उसे नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो वह उसे बडे आदर से ग्रहण करता है, धारण करता है। उसका मन क्षोभित न हो कर सुखी रहता है। इसका कारण यही है कि मानरूपी मदिरा ने उसे बावला व अन्धा नही किया है।

मायाचार के आवेश मे यह प्राणी बडा ही गन्दा हो जाता है, इस के भावो मे कुटिलता बस जाती है, मन मे स्वार्थ साधन के हेतु पर को बचना करने वाले कुत्सित विचार होते है, वचन यद्यपि मीठे निकलते हैं परन्तु वह विष से पूर्ण भोजन के समान ठगने वाले होते है,शरीर की चेष्टा सर्व ही धोखे मे डालने वाली कुटिल होती हैं। उस का भाव कुटिलता से व भय से आकुलित रहता है, शाति नही रहती है, नवीन ज्ञान की शिक्षा भी उस के मलीन भाव मे नही जमती है, परन्तु यदि सरलता हो, ऋजुता हो, आर्जव धर्म हो तो मन निर्मल रहता है, पर हितकारी बातो को ही विचारता है, वचनो से हितकारी बाते कहता है, काय से सरल व योग्य वचनारहित वर्तात्र करता है, परिणामो मे शाति रहती है। ऐसे को यदि नवीन ज्ञान की शिक्षा दी जावे तो बडी भक्ति से ग्रहण करता है, जैसे सफेद कपडे पर लाल रग खूब चढता हैं। वह अपने भीतर सुख शाति का अनुभव करता है, इसका कारण यही है कि उसके भीतर माया पिशाचिनी का आक्रमण नही है, वह मलीन नहीं है, दोषी नही है।

लोभ के वशीभूत हो कर यह प्राणी बडा ही अपवित्र हो जाता है। स्वार्थी हो कर लोभ के साधने वाले विचारो को मन से करता है। मन मे तृष्णा के साधन के ही विचार करता हुआ दया व न्याय के विचारो को छिपा देता हैं। वचनो से लोभयुक्त, तृष्णायुक्त वाणी कहता है। काय से ऐसी क्रिया करता है जिस से तृष्णा का साधन हो। उसे न्याय, अन्याय, धर्म अधर्म, कर्तव्य अकर्तव्य का ध्यान नही रहता हैं। लोभ मे अधा हो अबला विधवा का भी धन हर लेता है। गरीब आदमी को भी ठगते हुए उसे दया नही आती है। अपने परममित्र को भी ठग लेता है। लोभ से आकुलित के परिणामो मे शाति नही रहती है, वह सुखी नही होता है। अति धनिक होने पर भी दु खी रहता हैं। ऐसे लोभी को कोई नवीन ज्ञान

की शिक्षा नही सुहाती है। जैसे जल मिट्टी से मैला हो जाता है वैसे जीव का परिणाम लोभ से मलीन हो जाता है।

यदि किसी के भावो मे लोभ न हो सतोष हो तो उसका मन स्वच्छ रहता है, वह उचित न्याययुक्त व्यवहार का ही विचार करता है, सतोष-पूर्वक न्याययुक्त वचन बोलता है व न्याययुक्त हो वह काय से क्रिया करता है। उस का परिणाम आकुलित नही रहता है। वह निर्लोभता के कारण सुख शाति का अनुभव करता है, वह जगत को प्रिय होता है। कारण यही है कि लोभरूपी भूत ने उस को वश नही किया है, वह अपने आपे मे है, लोभ की मूर्छा से मूर्छित नही है। काम के वशीभूत हो कर प्राणी ऐसा अधा हो जाता है कि उस का शील स्वभाव बिगड जाता है, मन मे बडा ही आकुलित होता हुआ काम भाव सम्बन्धी ही विचार करता हैं। काम वर्द्धन कारक हास्य युक्त भण्डवचन, प्रलाप व गानादि करता हैं। काय से न्याय अन्याय का विवेक छोड कर चाहे जिस तरह काम चेष्टा करने लग जाता है। कामी को बडी अशाति रहती है, सुखशाति उस से कोसो दूर रहती है। उसे कोई ज्ञान की नवीन शिक्षा दी जावे तो वह ग्रहण नही कर सकता । इसके विरुद्ध जो काम के अध-कार से बाहर हैं, शीलवान हैं, शुद्ध ब्रह्मचर्य के धारी हैं, उन का मन शुद्ध होता है, वह शुद्ध विचार करते हैं,वे शीलपोषक ब्रह्मचर्यप्रेरक वचन बोलते हैं व काय से ब्रह्मचर्य की रक्षा करते हुए चेष्टा करते हैं। उन का परि-णाम सुख शाति का व साम्यभाव का अनुभव करता हैं। इस का कारण यही है कि काम भाव का अधकार उन के ज्ञान के ऊपर नही आया है।

इस तरह यह विदित होगा कि क्रोधादि सर्व ही विभाव दोष हैं, उपाधि हैं, अपने को भी सक्लेशकारी, हानिकारक, सुखशातिनाशक व ज्ञान के विरोधक भासते हैं व दूसरो को भी सर्व जगत को भी ये क्रोधादि दोष व मल ही दीखते हैं। वास्तव मे यही यथार्थ बात है। जैसे मलीन-पना कपडे का स्वभाव नही है वैसे ही क्रोधादि मद हो व तीव्र हो ये जीव के स्वभाव नही हैं। मोहनीय कर्म के सयोग से इसी तरह जीव मे होते हैं जैसे रग के सयोग से पानी रगीन होता है, अग्नि के सयोग से पानी गर्म होता है, मैल के सयोग से कपड़ा मैला होता है, धुएँ के सयोग से भीत

काली होती है, काले, पीले, हरे, लाल डाक के सयोग से फटिक मणि का पाषाण काला, पीला, हरा, व लाल हो जाता है। यदि पर का सयोग न हो तो पानी निर्मल रहे, शीतल रहे, कपडा उजला रहे, भीत सफेद रहे, स्फटिक मणि स्वच्छ चमकदार रहे।

इसी तरह मोहनीय कर्म के अनेक भेद है--तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मद, मदतर, मदतम उनके विपाक या फल के सयोग से जैसे नाना प्रकार के मोहनीय कर्म का फल होता है वैसा ही कम व अधिक मैला व उपाधि या दोष जीव मे दिखता है। यदि मोहनीय कर्म का सयोग न हो तो जीव अपने वीतराग निराकुल उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य व उत्तम ब्रह्मचर्यमय स्वभाव मे ही प्रकाशित रहे अर्थात परम शात रहे। इस जीव का स्वभाव जैसा शात है वैसी शाति न चन्दन मे है, न मोती की माला मे है, न अगर कपूर मे है, न चन्द्रमा की चाँदनी मे है, न बर्फ मे है, न शीतल जल मे है, न गगा के पानी मे है, न क्षीर समुद्र के जल मे है, न केवडे के वन मे है, न कमल के बागीचे मे है, न नन्दन वन की वाटिका मे है न किसी सूर्य आताप से अस्पर्शित पृथ्वीतल मे है।

इस तरह हमे यह निश्चय करना चाहिये कि जितने ये भाव तीव्र क्रोधादिरूप व मद क्रोधादिरूप है वे कोई भी इस जीव के स्वभाव नही है, वे सब मोहनीय कर्म के सयोग से दीखनेवाले मैल है, आत्मा से बिलकुल विरुद्ध है। इस मोहनीय कर्म के विपाक से ससारी जीवो के दो प्रकार के भाव होते हैं एक अशुभ भाव Bad thought activity दूसरे शुभ भाव Good thought activity अशुभ भावो के दृष्टान्त है—(१) हिंसा, (२) असत्य, (३) चोरी, (४) कुशील, (५) परिग्रह की मूर्छा, (६) जूआ खेलना, (७) मास खाना, (८) मदिरापान, (९) शिकार खेलना, (१०) वेश्या प्रसग, (११) परस्त्री प्रसग, (१२) तीव्र शोक, (१३) तीव्र दु ख, (१४) पर का अपकार, (१५) तीव्र क्रोध, (१६) तीव्र मान, (१७) तीव्र माया, (१८) तीव्र लोभ। जिन जिन कार्यो के करने के लिये मर्यादा, न्याय व धर्म का उल्लघन हो वर्ताव करना पडे, वे सब काम अशुभ भावो के द्वारा होते हैं। जिन कामो

मे मन्दकषाय करनी पडती हैं—राग तो होता है परन्तु अपने स्वार्थ का त्याग होता है, इन्द्रियो के विषयो की लम्पटता नही होती है, वे सब कार्य शुभ भावो से किये जाते हैं जैसे—(१) दया, (२) आहार, औषधि, अभय व ज्ञानदान, (३) सत्य भाषण, (४) न्याय से वर्तन, (५) ब्रह्मचर्य पालन, (६) सतोष, (७) परोपकार, (८) सेवा टहल, (६) यथायोग्य विनय, (१०) हितकारी वर्तन, (११) परमात्मा की भक्ति, (१२) धर्मशास्त्र पठन, (१३) गुरुसेवा, (१४) सयम पालन इत्यादि कार्य शुभ भावो से होते हैं।

यहाँ राग या लोभ मन्द होता है। दोनो ही शुभ भाव या अशुभ भाव इस जीव के स्वभाव से दूर है। इस जीव का स्वभाव तो वीतराग, वीतद्वेष, वीतमोह व परम शान्त उदासीन है, जहाँ न शुभ भाव से न अशुभ भाव से किसी व्यवहार करने का राग या द्वेष या मोह है इसलिये आत्मा का स्वाभाविक भाव, शुद्ध भाव या शुद्धोपयोग है। जैसे पानी के चौदह बर्तन हैं, पहले मे लाल रग सबसे अधिक मिला हो, फिर कमती-कमती दस बर्तनो तक मिला हो, ग्यारहवें से तेरहवे तक मे पवन के द्वारा चचलता हो। चौदहवे मे चचलता भी न हो परन्तु कुछ मिट्टी हलकी सी मिली हो। पन्द्रहवे बर्तन मे ऐसा शुद्ध पानी हो, न जिसमे कोई रग हो, न चचलता हो, न मिट्टी मिली हो, तब विचारा जाय तो उन चौदह बर्तनों मे भी जो पानी है, वह पन्द्रहवे बर्तन के पानी बराबर ही है। अन्तर डालने का कारण परवस्तु का सयोग है। रग, हवा व मिट्टी का सयोग है। उस ही तरह सर्व ही जीव स्वभाव से शुद्ध वीतराग परमात्मा सिद्ध भगवान के समान हैं—सिद्ध पूर्ण शुद्ध आत्मा हैं। शेष ससारी आत्माएँ कम या अधिक कर्म रूपी रज से मिली हैं, इसीलिये नाना प्रकार रज मिश्रित जल के समान दीखती हैं, परन्तु स्वभाव सबका एक है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि यह जीव न क्रोधी है, न मानी है, न मायावी है, न लोभी है, न कामी है, न भयभीत है, न शोकी है, न रागी है, न द्वेषी है, न मोही है, न दया दान का कर्त्ता है, न पूजापाठ का कर्त्ता है, न स्वाध्याय का कर्त्ता है, न गुरु सेवा का कर्त्ता है। यह तो सर्व प्रपच जाल, सर्व प्रकार विकार व चिन्ता व सकल्प विकल्प से रहित पूर्ण वीतराग सिद्ध के समान है।

तथा यह जीव ज्ञानी है, ज्ञान इसका स्वभाव है, हर एक जीव मे ज्ञान की पूर्ण शक्ति विद्यमान है। जैसे परमात्मा सिद्ध भगवान सर्वज्ञ है वैसा हर एक जीव स्वभाव से सर्वज्ञ स्वरूप है, परन्तु जो ज्ञान की कमी ससारी जीवो मे देखने मे आती है वह ज्ञान को आवरण करने वाले कर्म के सयोग से है। जैसे सूर्य का स्वभाव पूर्ण स्वपर प्रकाशक है, यदि मेघो का अधिक आवरण आता है तो कम प्रकाश झलकता है, कम आवरण होता है तो अधिक प्रकाश प्रगट होता है, यदि और भी कम आवरण होता है तो और भी अधिक प्रकाश झलकता है। मेघो के अधिक व कम आवरण की अपेक्षा प्रकाश के अनेक भेद हो जाते है, यद्यपि सूर्य का प्रकाश एक रूप है। इसी तरह ज्ञान का प्रकाश एक रूप है। उसके ऊपर ज्ञानावरण कर्म के पटल अनेक प्रकार के होने से किसी जीव मे कम, किसी मे अधिक ज्ञान का प्रकाश है। अथवा जैसे शुद्ध जल मे ऐसी निर्मलता होती है कि अपना मुख दिख जावे परन्तु जल मे मिट्टी अधिक मिली होने से कम निर्मलता होगी। कम मिट्टी मिली होने से अधिक निर्मलता झलकेगी। इसी तरह निर्मल आत्मा मे सर्व जानने योग्य विश्व के पदार्थ प्रकट होते हैं परन्तु जिसमे जितना कम या अधिक ज्ञान है उसमे उतना ही अधिक या कम कर्म का आवरण है।

स्वभाव हर एक जीव का ज्ञानमयी है। ज्ञान जितना भी कही बढता है विद्या पढने से या पर के उपदेश से वह भीतर से ही अज्ञान मिट कर बढता है। कही बाहर से ज्ञान दिया जाता नही, बाहर से लिया जाता नही। यदि ज्ञान मे लेन देन हो तो ज्ञानदातारो का ज्ञान घटे तब ज्ञान लेने वालो का ज्ञान बढे जैसे धन के लेन देन मे होता है। यदि कोई किसी को अपनी एक हजार की थैली मे से सौ रुपये देता है तो उसकी थैली मे नौ सौ रह जायँगे तब दूसरे को सौ रुपये मिलेगे। ऐसा ज्ञान मे नही होता। एक विद्वान सौ छात्रो को पढाता है, सर्व छात्रो का ज्ञान उनके आवरण के हटने के अनुसार कम या अधिक बढता है परन्तु उस विद्वान का ज्ञान कुछ भी कम नही होता। यदि विचारा जावे तो जितना अधिक उसको पढाने का अनुभव होगा उतना ही अधिक उस विद्वान का ज्ञान बढ जायगा।

इसलिये यही बात ठीक है कि हर एक जीव मे उतना ही ज्ञान है जितना सिद्ध भगवान मे है। जीवका स्वभाव निर्मल जलके समान स्वच्छ है, सर्व ही जानने योग्यको झलकाना व प्रकाश करना है। यह जीव आनन्दमय है। सहजसुख-अतीन्द्रिय सुख इसका स्वभाव है। यह पहले बताया जा चुका है। मोहके मैल से यह सुख अनुभव मे नही आता है। जितना-जितना मोह हटता है यह सुख प्रगट होता है। परमात्मा जैसे आनन्दमय है वैसा हर एक जीव आनन्दमय है। परमात्मा अमूर्तीक है। परमात्मा मे कोई वर्ण नही है, गन्ध नही है, रस नही है, स्पर्श नही है वैसे ही हर एक आत्मा मे कोई वर्ण गन्ध रस स्पर्श नही है।

हर एक आत्मा अपना कोई चैतन्यमई आकार रखता है, क्योंकि जिसका कोई आकार नही होता है वह शून्य अभावमय पदार्थ होता है। जीव ऐसा नही है, वह तो अनेक गुणो का धारी द्रव्य है, इसलिये जीव का आकार अवश्य है। जिस शरीर मे रहता है उस शरीर प्रमाण उसका आकार हो जाता है। जैसे दीपक का प्रकाश कमरे मे कमरे भर फैलता है, छोटे कमरे मे छोटे कमरे भर, घडे मे घडे भर, एक लोटे के भीतर लोटे भर फैलता है वैसे इस जीव का आकार हाथी में हाथी के बराबर, ऊँट मे ऊँट के बराबर, घोडे मे घोडे के बरावर, बैल मे बैल के बराबर, बकरे मे बकरे के बराबर, कुत्ते मे कुत्ते के बराबर, चूहे मे चूहे के बराबर, सर्प मे सर्प के बरावर, नकुल मे नकुल के बराबर, कबूतर मे कबूतर के बराबर, भ्रमर मे भ्रमर के बरावर, चीटी मे चीटी के बराबर, लट में लट के बराबर, वृक्ष मे वृक्ष के बरावर, इत्यादि जैसा शरीर होता है वैसा यह जीव सकोच कर या फैलकर छोटे या बडे आकार का हो जाता है, तो भी इसमे शक्ति सर्व विश्व मे फैलने की है। स्वभाव की अपेक्षा लोक-व्यापी है परन्तु शरीर के सम्बन्ध मे शरीर प्रमाण रहता है। नाम कर्म के कारण सकोच या विस्तार को प्राप्त होता है।

ऐसा अमूर्तिक, ज्ञानाकार, ज्ञान स्वरूप, वीतराग, आनन्दमय जीव द्रव्य अपनी २ एकता को, अपनी २ सत्ता को भिन्न-भिन्न ही रखता है। एक जीवका दूसरे जीवके साथ कोई सम्बन्ध नही है। जैसे गेहूँके दसकरोड दाने

एक स्थल पर रखे हैं हरएक दाना गेहूँ का अलग२ है। यद्यपि गेहूँके गुणो की अपेक्षा सब गेहूँ के दाने समान हैं, परन्तु सत्ता सबकी अलग २ है। गेहूँ का व्यापारी दस करोड गेहूँ के दानो मे से किसी को ५००, किसी को १०००, किसी को १००००, किसी को १००००० दाने बेच देता है। लेने वाले कोई थोडा आटा बनाते हैं,कोई ज्यादा बनाते हैं,आटेकी रोटी,पूरी बनाते हैं,खाते हैं, उन खाए हुए गेहूँ का रस रुधिर मल अदि बनता है। जब कि बहुत से गेहूँ आटे के रूप मे मटके मे भरे रहते हैं, कितने ही गेहूँ के रूप मे ही रहते हैं। यदि दस करोड गेहूँ की एक ही सत्ता हो तो जहाँ एक गेहूँ जावे वहाँ दूसरा भी जावे, एक पीसा जावे तो दूसरा भी पीसा जावे। एक चबाया जावे तो दूसरा भी चबाया जावे सो ऐसा नही है। गेहूँ के स्वभाव की अपेक्षा दस करोड गेहूँ समान है तौ भी हर एक दाना गेहूँ का अपनी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखता है, इसी तरह सर्व जीव अपनी अपनी भिन्न भिन्न सत्ता रखते हैं तब ही एक ही समय मे कोई शरीर मे आता हैं, कोई शरीर को छोडता है, कोई दुखी होता है, कोई सुखी होता है, कोई क्रोधी है तो कोई शान्त है, कोई विशेष ज्ञानी है, कोई कम ज्ञानी है, कोई सोता है, कोई जागता है, कोई पढाता है, कोई पढता है, कोई लडता है, कोई प्यार करता है, कोई खाता है, कोई मलमूत्र करता है, कोई रोता है, कोई हँसता है, कोई न्याय करता है, कोई दण्ड पाता है, कोई लिखता है,कोई रँगता है,कोईपीसता है,कोई हल जोतता हैं,कोई सीता है, कोई धोता हैं, कोई नहाता हैं, कोई कपडे पहनता हैं, कोई कपडे उतारता है, कोई ध्यान करता है, कोई गाता हैं, कोई वजाता हैं—सर्व जीव भिन्न-भिन्न हैं तब ही सर्व की क्रियाएँ प्रगट है। एक ही जीव की सत्ता बन नही सकती। एक ही समय मे एक चोरी करता है, एक रक्षा करता है, एक हिसा करता है, एक बचाता है, एक शील खण्डन करता है, एक शील की रक्षा करता है, एक ठगा जाता है, एक दान करता है, एक दान पाता है। जितने प्रकार के शरीर विश्व मे हो सकते हैं उतने प्रकार के लगभग शरीर को एक जीव पुन पुन जन्म लेकर व मरकर धारण कर लेवे परन्तु एक जीव दूसरे जीव के साथ कभी मिलकर एक नही हो सकता,न एक जीव के खण्ड होकर दो जीव या अनेक जीव बन सकते है। जीव अमूर्तीक पदार्थ है। जितने अमूर्तीक पदार्थ होते है वे न कभी परस्पर

बंधते हैं न कभी उनके खण्ड होते हैं। मिलना विछुडना परमाणुओ मे होता है जो मूर्तीक हैं। परमाणु परस्पर मिलकर स्कन्ध बन जाते हैं, स्कन्ध के खण्ड होकर परमाणु हो जाते हैं। इस तरह जीवो के मिलकर जीव स्कन्ध नही होते न उनके खण्ड होते हैं।

हर एक जीव अकेला है, निराला हैं, स्वतन्त्र है, स्वाधीन है। जब जीव के पर के सयोग रहित एकत्व को विचार करते है तब तो यही झलकता है कि हर एक जीव विल्कुल अकेला हैं, स्वभाव से एक जीव में न दूसरे जीव हैं न कोई परमाणु या स्कन्ध हैं, न कोई कर्म है, न कोई पुण्य है, न पाप है, न राग हैं, न द्वेष है, न मोह है, न सासारिक सुख है, न दु ख हैं, न शुभ भाव हैं, न अशुभ भाव हैं, न वह एकेन्द्रिय हैं, न द्वेन्द्रिय हैं, न तेन्द्रिय हैं, न चौन्द्रिय हैं, न पचेन्द्रिय पशु हैं, न नारकी हैं, न देव हैं, न मानव हैं, न स्त्री हैं, न पुरुष हैं, न नपुंसक है, न बालक हैं, न युवा हैं, न वृद्ध हैं, न ब्राह्मण हैं, न क्षत्री है, न वैश्य हैं, न शूद्र है, न म्लेच्छ है, न आर्य है, न लघु हैं, न दीर्घ है, न साधु है, न गृहस्थ है, न बंधा है, न खुला है। हर एक जीव सबसे निराला शुद्ध ज्ञाताहष्टा वीतराग आनन्दमई सिद्ध परमात्मा के समान हैं। सिद्ध परमात्मा अनेक हैं, वे सर्व ही अपनी-अपनी सत्ता भिन्न-भिन्न रखते हुए अपने-अपने ज्ञानानन्द का भिन्न-भिन्न अनुभव करते हैं। वे समान होने पर भी सत्ता से समान नही हैं। जीव का एकत्व उसका शुद्ध निज स्वभाव है, यह हमे निश्चय करना चाहिये। परमाणु मात्र भी कोई अन्य द्रव्य या कोई अन्य जीव या कोई अन्य औपाधिक भाव इस जीव का नही है। यह जीव रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म व शरीरादि नोकर्म से भिन्न है। यह विल्कुल निराला स्वतन्त्र है।

Every soul is quite distinct and independent being.

अशुद्ध अवस्था में भी हर एक को अकेले ही जगत मे व्यवहार करना पडता है। हर एक अपनी हानि व लाभ का स्वय उत्तरदायित्व रखता है, हर एक अपने सुख को व दु ख को आप अकेले भोगता है, हर एक अपनी उन्नति व अवनति स्वय करता हैं। "हम न किसी के, कोई न हमारा, झूठा है जग का व्यवहारा" यह लोकोक्ति बिल्कुल सत्य है। यह

जीव व्यवहार मे भी अकेला है, अशरण है, निश्चय से भी अकेला व अशरण है। जैन शास्त्रो मे आचार्यो ने जो वाक्य जीव के एकत्व के सम्बन्ध मे कहे हैं उनका दिग्दर्शन नीचे प्रमाण हैं —

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हैं —

एक्को करेदि कम्मं एक्को हिंडदि य दीहसंसारे।
एक्को जायदि मरदि य तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१४॥

भावार्थ—यह ससारी प्राणी अकेला ही कर्मों को बाँधता है, अकेला ही इस अपार ससार मे भ्रमण करता है, अकेला ही यह जन्मता है, अकेला ही मरता है, अपने कर्मो का फल भी अकेला ही भोगता है।

एक्का करेदि पावं विषयणिमित्तेण तिव्वलोहेण।
णिरयतिरियेसु जीवो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१५॥

भावार्थ—यह प्राणी विषयो के लिये तीव्र लोभी होकर अकेला ही पाप बांधता है, वही जीव नारकी व तिर्यंच होकर अकेला ही उस पाप कर्म का फल भोगता है।

एक्को करेदि पुण्णं धम्मणिमित्तेण पत्तदाणेण।
मणुवदेवेसु जीघो तस्स फलं भुंजदे एक्को ॥१६॥

भावार्थ—यह अकेला ही धर्म के निमित्त पात्रो को दान देकर पुण्य को बाँधता है तथा उस पुण्य का फल अकेला ही देव तथा मनुष्य भव मे भोगता है।

एक्कोहं णिम्ममो सुद्धो णाणदंसणलक्खणो।
सुद्धेयत्तमुपादेयमेवं चिंतेइ सव्वदा ॥२०॥

भावार्थ—मैं निश्चय से एक अकेला हूँ, मेरा कोई भी अन्य नही है, मैं शुद्ध हूँ, ज्ञान दर्शन लक्षण वाला हूँ तथा शुद्ध भाव की एकता से ही अनुभव करने योग्य हूँ, ऐसा ज्ञानी सदा चिन्तवन करता है।

मणिमंतोसहरक्खा हयगयरहओ य सयलविज्जाओ।
जीवाण ण हि सरणं तिसु लोए मरणसमयम्हि ॥८॥

भावार्थ—जब प्राणी के मरण का समय आता है तब मणि, मन्त्र,

औषधि, शस्त्र, घोडे, हाथी, रथ व सर्व विद्याएँ कोई भी प्राणी को मरण से बचा नही सकती है।

जाइजरामरणरोगभयदो रक्खेदि अप्पणो अप्पा।
तम्हा आदा सरणं बंधोदयसत्तकम्मवदिरित्तो ॥११॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग व भय से आत्मा ही अपनी रक्षा आप कर सकता है, इसलिये बन्ध, उदय, सत्वरूप कर्मो से मुक्त शुद्ध आत्मा ही अपना रक्षक है।

अरुहा सिद्धा आइरिया उवज्ञाया साहु पंचपरमेट्ठी।
ते वि हु चेट्ठदि जम्हा तम्हा आदा हु मे सरणं ॥१२॥

भावार्थ—अरहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय तथा साधु ये पाँचो परमेष्ठी आत्मा का ही अनुभव करते हैं। इसलिये मेरे को भी एक अपना आत्मा ही शरण है।

सम्मत्त सण्णाणं सच्चारित्तं च सत्तवो चेव।
चउरो चेट्ठदि आदे तम्हा आदा हु मे सरणम् ॥१३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक् तप ये चारो ही आत्मा के ध्यान से सिद्ध होते हैं इसलिये मेरे को एक अपना आत्मा ही शरण है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है :—

अहमिक्को खलु सुद्धो, दंसणणाणमइओ सयारूवी।
णवि अत्थि मज्झ किंचिव अण्ण परमाणुमित्तं वि ॥४३॥

भावार्थ—मैं एक अकेला हूँ, निश्चय से शुद्ध हूँ, दर्शन ज्ञानमई हूँ, सदा अरूपी हूँ। अन्य एक परमाणु मात्र भी मेरा नही है।

जीवस्स णत्थि वण्णो णवि गन्धो णवि रसो णवि य फासो।
णवि रूवं ण सरीरं णवि संठाणं ण संघदणं ॥५५॥

भावार्थ—जीवके निश्चयसे न कोई वर्ण है न कोई रस है न कोई गन्ध है न कोई स्पर्श है न कोई रूप है न कोई सहनन (हड्डी का प्रकार) है।

जीवस्स णत्थि रागो णवि दोसो णेव विज्जदे मोहो।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥५६॥

भावार्थ—जीव के न तो राग है, न कोई द्वेष है, न कोई मोह है, न कर्म आने के भाव आस्रव है, न कर्म हैं, न शरीरादि नो कर्म हैं।

जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभायठाणा वा ॥५७॥

भावार्थ—जीव के न कोई वर्ग है (फलदान शक्ति का अश है) न कोई वर्गणा (कर्म स्कन्ध) है, न स्पर्द्धक (वर्गणा समूह) है, न रागादि अध्यवसाय स्थान हैं न फलदान शक्ति रूप अनुभाग स्थान हैं।

जीवस्स णत्थि केई जोगट्ठाणा ण बंधठाणा वा।
णो व य उदयट्ठाणा णो मग्गणट्ठाणया केई ॥५८॥

भावार्थ जीवके न कोई योग स्थान (मन, वचन, काय के व्यापार) हैं, न बन्ध स्थान हैं, न कर्म के उदय स्थान हैं, न गति इन्द्रिय आदि मार्गणा के स्थान है।

णो ठिदि बन्धट्ठाणा जीवस्स ण सकिलेसठाणा वा।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥५९॥

भावार्थ—इस जीव के न कोई स्थिति बध स्थान है, न कोई सक्लेश भाव के स्थान हैं, न विशुद्धि के स्थान हैं, न सयम लब्धि के स्थान है।

णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स।
जेण दु एदे सव्वे पुग्गलदव्वस्स परिणामा ॥६०॥

भावार्थ—जीव के न कोई जीव समास अर्थात् जीवो के भेद हैं न गुणस्थान अर्थात् उन्नति की श्रेणियाँ है क्योकि ऊपर लिखित ये सब पुद्गल द्रव्य के सयोग से होने वाली अवस्थाएँ है। जीव का निज स्वभाव नही है।

अहमिक्को खलु सुद्धो यणिम्ममो णाणदंसणसमग्गो।
तह्मि ठिदो तच्चित्तो सव्वो एदे खयं णेमि ॥७८॥

भावार्थ—मै निश्चय से एक हूँ, शुद्ध हूँ, ममत्व रहित हूँ, ज्ञान दर्शन से पूर्ण हूँ, मैं अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप मे स्थित होता हुआ व उसी मे तन्मय होता हुआ इन सर्व ही क्रोधादि भावो को नाश करता हूँ।

परमट्ठो खलु समओ सुद्धो जो केवली मुणी णाणी।
तह्मिट्ठिदा सभावे मुणिणो पावांति णिव्वाणं ॥१५८॥

भावार्थ—आत्मा निश्चय से परम पदार्थ है, शुद्ध है, मुनि है, ज्ञानी है, केवली है। उसीके स्वभाव मे जो लय होते हैं वे मुनि निर्वाण पाते हैं।

उवओगे उवओगो कोहादिसु णत्थि कोवि उवओगो।
कोहे कोहो चेव हि उवओगे णत्थि खलु कोहो॥१७१॥

भावार्थ—ज्ञानोपयोगी आत्मा मे ज्ञानोपयोग धारी आत्मा है, क्रोधादि मे कोई भी ज्ञानोपयोग नही है। क्रोध मे क्रोध है, उपयोग मे कोई क्रोध नही नही है। भावार्थ क्रोध भिन्न है, आत्मा भिन्न है।

अट्ठवियप्पे कम्मे णोकम्मे चावि णत्थि उवओगे।
उवओगह्मिय कम्मे णोकम्मे चावि णो अत्थि ॥१७२॥

भावार्थ—आठ प्रकार कर्म मे व शरीरादि नोकर्म मे भी ज्ञानोपयोगी आत्मा नही है, न ज्ञानोपयोगी आत्मा मे कर्म व नोकर्म हैं।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते हैं---

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं।
कत्ता ण ण कारयिदा अणुमंत्ता णेव कत्तीणं ॥७१॥

भावार्थ—निश्चय से मैं आत्मा अकेला हूँ, न मै देह हूँ, न मैं वचन हूँ, न मैं मन हूँ, न मैं मन, वचन, काय का कारण हूँ, न इनका कर्त्ता हूँ, न कराने वाला हूँ, न करने वालो की अनुमोदना करने वाला हूँ।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१०३॥

भावार्थ—ज्ञानी जानता है कि निश्चय से न मैं शरीरादि का हूँ न शरीरादि मेरे है। मै तो एक ज्ञान स्वरूप शुद्ध हूँ, ऐसा जो ध्यान मे ध्याता है वही आत्म ध्यानी होता है।

एवं णाणप्पाण दंसणभूदं अदिदियमहत्थ।
धुवमचलमणालब मण्णेहं अप्पगं सुद्ध ॥१०४॥

भावार्थ—मै अपने आत्मा को ऐसा मानता हूँ कि यह आत्मा परभावो से रहित निर्मल है, निश्चल एक रूप है, ज्ञानस्वरूप है, दर्शनमयी है, अतीन्द्रिय है, महान पदार्थ है, निश्चल है, तथा परद्रव्य के आलम्बन से रहित स्वाधीन है।

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ।।१०५।।

भावार्थ—औदारिक आदि पाँच शरीर अथवा धन धान्यादिक अथवा इष्ट अनिष्ट पचेन्द्रियो के सुख तथा दुःख अथवा शत्रु, मित्र आदि लोक कोई भी इस जीव के नही है, ये सब नाशवन्त है, जबकि जीव ज्ञान दर्शन स्वरूप अविनाशी द्रव्य है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड मे कहते है —

एगो मे सस्सदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ।।५९।।

भावार्थ—मेरा आत्मा एक अकेला है, अविनाशी है, ज्ञान व दर्शन लक्षणधारी है, रागादि सर्व भाव मेरे नही है वे सब कर्म के सयोग से उत्पन्न हुए हैं ।

कत्ता भोइ अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइनिहणो य ।
दसणणाणुवओगो णिद्दिट्ठो जिणवरिंदेहि ।।१४८।।

भावार्थ—यह जीव निश्चय से अपने ही शुद्ध भावो का कर्त्ता है व शुद्ध भावो का भोक्ता है, अमूर्तीक है, शरीर प्रमाण आकार धारी है, ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड मे कहते है —

दुट्ठट्ठकम्मरहियं अणोवमं णाणविग्गहं णिच्चं ।
सुद्धं जिणेहिं कहियं अप्पाणं हवइ सद्दव्वं ।।१८।।

भावार्थ—यह आत्मा एक सत् द्रव्य है, दुष्ट आठ कर्मो से रहित है, अनुपम है, ज्ञानाकार है, अविनाशी है, व शुद्ध है, ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ।।३५।।

भावार्थ—आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्व लोक दर्शी है, यही केवल ज्ञानमय है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

णीया अत्था देहादिया य सगा ण कस्स इह होत्ति ।
परलोगं मुण्णता, जदि वि दइत्तति ते सुट्ठु ।।१७५०।।

भावार्थ—पर लोक को जाते हुए जीव के साथ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देहादिक परिग्रह कोई नही जाते हैं, यद्यपि इसने उस के साथ वहुत प्रीति करी हे तौ भी वे निरर्थक है, साथ नही रहते ।

होऊण अरी वि पुणो, मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी,जायदि अवयारकरणेण ।।१७६१।।
तम्हा ण कोइ कस्सइ,सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे,णीया व अरी व जीवाण।।१७६२।।

भावार्थ—वैरी भी हो परन्तु यदि उमका उपकार करो तो मित्र हो जाता है, तथा अपना पुत्र भी अपकार किये जाने पर क्षण मे अपना शत्रु हो जाता है, इम लिये इम जगत मे कोई किसी का मित्र व शत्रु नही है, स्वारथ के वश ही जगत मे मित्र शत्रु होते है ।

जो जस्स वट्टदि हिदे, पुरिसो सो तस्स वधवो होदि ।
जो जस्सकुणदिअहिद,सो तस्सरिवुत्ति णायव्वो।।१७६३।।

भावार्थ—जिस का जो हित करता है वह उस का वाधव हो जाता है, व जो जिस का अहित करता है वह शत्रु हो जाता है ।

(७) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते हैं—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ।।८।।

भावार्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, शत्रु आदि सर्व का स्वभाव अपने से जुदा हैं, तौभी मूढ पुरुष उन को अपना मान लेता है ।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ।।९।।

भावार्थ—पक्षीगण भिन्न भिन्न देशो से आकर सध्या के समय वृक्ष पर बैठ जाते हैं, सवेरा हाले होते अपनेअपने कार्यवश भिन्न भिन्न दिशाओ मे उड जाते है, इसो तरह कुटुम्ब के लोग हे, किसी का किसी से सम्बन्ध नही है ।

(६) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है—

णिरुवक्कमस्स कम्मस्स, फले समुवट्ठिदंमि दुक्खंमि ।
जादिजरामरणरुजा, चिंताभयवेदणादीए ।।१७३४।।
जीवाण णत्थि कोई, ताणं सरणं च जो हविज्ज इदं ।
पायालमदिगदो वि य, ण मुच्चइ सुकम्मउदयम्मि१७३५

भावार्थ—उदय आने पर ना इलाज ऐसा कर्म का फल जब होता है तब जन्म, जरा, मरण, रोग, चिंता, भय, वेदना दु ख जीवो के ऊपर यकायक आजाता है,उस समय कोई रक्षा करनेवाला नही होता है। जिस जीव पर इन का आक्रमण होता है, उस अकेले को ही भोगना पडता है। यदि जीव पाताल मे भी चला जावे तौ भी उदय मे प्राप्त कर्म फल दिये विना नही रहता है ।

दंसणणाणचरित्त, तवो य ताण च होई सरणं च ।
जीवस्स कम्मणासण, हेदुं कम्मे उदिण्णम्मि ।।१७४६।।

भावार्थ—जोव के कर्म की उदीरणा या तीव्र उदय होते हुए कर्म के नाश करने को सम्यग्दशन ज्ञान चारित्र तप ही परम शरण हैं। कोई अन्य रक्षक नही है ।

पावं करेदि जीवो, बंधवहेदु सरीरहेदुं च ।
णिरयादिसु तस्स फलं, एक्को सो चेव वेदेद ।।१७४७।।

भावार्थ—यह जीव अपने बान्धवोके निमित्त व अपने शरीर के लिये पाप कर्म करता है बहुत आरम्भ व परिग्रह मे लीन हो कर ऐसा पाप बध करता है जिस का फल नरकादि कुगति मे अकेला ही इस को भोगना पडता है ।

रोगादिवेदणाओ, वेदयमाणस्स णिययकम्मफलं ।
पेच्छंता वि समक्खं,किंचिवि ण करंति से णियया।।१७४८।।

भावार्थ—अपने कर्म का फल रोगादि वेदना है उसको भोगते हुए जीव को कोई दु ख दूर नही कर सकता । कुटुम्ब परिवार के लोग सामने बैठे देखते रहते हैं तौ भी वे कुछ नही कर सकते हैं तव और कौन दु ख दूर करेगा ?

णीया अत्था देहादिया य संगा ण कस्स इह होति ।
परलोगं मुण्णता, जदि वि दइत्तति ते सुट्ठु ।।१७५०।।

भावार्थ—पर लोक को जाते हुए जीव के साथ स्त्री, पुत्र, मित्र, धन, देहादिक परिग्रह कोई नही जाते है, यद्यपि इसने उस के साथ बहुत प्रीति करी है तौ भी वे निरर्थक है, साथ नही रहते ।

होऊण अरी वि पुणो, मित्तं उवकारकारणा होइ ।
पुत्तो वि खणेण अरी, जायदि अवयारकरणेण ।।१७६१।।
तम्हा ण कोइ कस्सइ, सयणो व जणो व अत्थि संसारे ।
कज्जं पडि हुंति जगे, णीया व अरी व जीवाणं।।१७६२।।

भावार्थ—वैरी भी हो परन्तु यदि उसका उपकार करो तो मित्र हो जाता है, तथा अपना पुत्र भी अपकार किये जाने पर क्षण मे अपना शत्रु हो जाता है, इस लिये इस जगत मे कोई किसी का मित्र व शत्रु नही है, स्वारथ के वश ही जगत मे मित्र शत्रु होते है ।

जो जस्स वट्टदि हिदे, पुरिसो सो तस्स बधवो होदि ।
जो जस्स कुणदि अहिद, सो तस्स रिवुत्ति णायव्वो।।१७६३।।

भावार्थ—जिस का जो हित करता है वह उस का बाधव हो जाता है, व जो जिस का अहित करता है वह शत्रु हो जाता है ।

(७) श्री पूज्यपादस्वामी इष्टोपदेश मे कहते है—

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः ।
सर्वथान्यस्वभावानि मूढः स्वानि प्रपद्यते ।।८।।

भावार्थ—शरीर, घर, धन, स्त्री, पुत्र, शत्रु आदि सर्व का स्वभाव अपने से जुदा हैं, तौभी मूढ पुरुप उन को अपना मान लेता है ।

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य संवसंति नगे नगे ।
स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ।।९।।

भावार्थ—पक्षीगण भिन्न भिन्न देशो से आकर सध्या के समय वृक्ष पर बैठ जाते हैं, सवेरा हाले होते अपनेअपने कार्यवश भिन्न भिन्न दिशाओ मे उड जाते है, इसी तरह कुटुम्ब के लोग है, किसी का किसी से सम्बन्ध नही है ।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः ।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

भावार्थ—मै एक अकेला हूँ, मेरा कोई नही है, मैं निश्चय से शु
हूँ, ज्ञानी हूँ, योगियो के ध्यानगम्य हूँ, जितने कर्म के सयोग से होनेवा
भाव है वे सब बिलकुल मेरे से भिन्न हैं।

न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा ।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥२९॥

भावार्थ—मैं आत्मा हूँ, मेरा मरण नही, मुझे मरने से क्या भय ?
मेरे मे रोग है, मुझे रोग का क्या कष्ट, न मैं बालक हूँ, न मैं युवान हूं
न मैं वृद्ध हूँ ये सब शरीरमई पुद्गल की अवस्थाएँ है, मैं इनसे भिन्न हूँ।

स्वस्मिन्सदभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः ।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥३४॥

भावार्थ—आत्मा का सच्चा गुरु अपना आत्मा ही है, अपने ही मे
अपना भला करने की इच्छा होती है। आप ही अपने हित को जानता है
व आप ही अपने को हित साधन मे प्रेरणा करता है।

(८) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते हैं—

देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।
सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं जगत् ॥१४॥

भावार्थ—शरीर को अपना मानने से ही पुत्र, स्त्री आदि की
मान्यताएँ हो जाती हैं इस लिये अज्ञानी उन्ही स्त्री पुत्रादि को अपना
मानता हुआ नष्ट हो रहा है।

यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नापि मुञ्चति ।
जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२०॥

भावार्थ—जो आत्मा से भिन्न है, वह ग्रहण करने योग्य नही है
उसे यह कभी ग्रहण नही करता है। जो इस का स्वभाव है, जिसे यह
ग्रहण किये हुए है उसे यह कभी छोडता नही है। जो सर्व को सर्वथा
जानता है और स्वानुभवगम्य है वही मै हूँ।

येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनात्मनि ।
सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥२३॥

भावार्थ—जिस स्वरूप से मै अपने मे अपने द्वारा अपने को अपने समान ही अनुभव करता हूँ वही मैं हूँ। न मैं पुरुष हूँ, न स्त्री हूँ, न नपुंसक हूँ, न मैं एक हूँ, न दो हूँ, न मै वहुवचन हूँ।

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः ।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

भावार्थ—जिस स्वरूप के न जानने से मै सोया हुआ था व जिस स्वरूप के जानने से मै जाग उठा यह मेरा स्वरूप इन्द्रियगोचर नही है, कथन योग्य नही है। मात्र मै अपने से ही अनुभवगोचर हूँ।

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥

भावार्थ—जब मै निश्चय से अपने ज्ञान स्वरूप को अनुभव करता हूँ तब मेरे रागादि भाव सब नाश हो जाते है इसलिये इस जगत मे न कोई मेरा शत्रु है न कोई मेरा मित्र है।

मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ।
मा प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥

भावार्थ—यह जगत् मेरे सच्चे शुद्ध स्वरूप को देखता ही नही है, इसलिये न मेरा शत्रु हो सकता है न मित्र। तथा जो ज्ञानी मेरे शुद्ध स्वरूप को देखता है वह भी मेरा शत्रु या मित्र नही हो सकता है।

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥

भावार्थ—जो कोई परमात्मा है वह मै ही हूँ तथा जो मै हूँ वही परमात्मा का स्वरूप है। इसलिये मै ही अपनी आराधना करता हूँ। और किसकी सेवा करू यही सत्य बात है।

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।
अन्त. पश्यामि सानंदं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥

भावार्थ—जो कुछ मै इन्द्रियो से देखता हूँ वह मेरा नही है। जब मै इन्द्रियो को रोक कर अपने भीतर देखता हूँ तो वहाँ परमानन्दमई उत्तम ज्ञानज्योति को पाता हूँ, वही मै हूँ।

नयत्यात्मानमात्मैव जन्मनिर्वाणमेव च।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥

भावार्थ—यह आत्मा आप ही अपने को ससार मे भ्रमण कराता है व आप ही अपने को निर्वाण मे लेजाता है। इस लिये परमार्थ से आत्मा का गुरु आत्मा ही है, और कोई गुरु या रक्षक नही है।

(९) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते है—

शरणमशरणं वो बन्धवो बन्धमूलं
चिरपरिचितदारा द्वारमापद्गृहाणाम्।
विपरिमृशत पुत्राः शत्रवः सर्वमेतत्
त्यजत भजत धर्म्मं निर्म्मलं शर्म्मकामाः ॥६०॥

भावार्थ—यह तेरा घर तुझे मरणादि आपत्तियो से बचा नही सकता, ये तेरे बाधव तेरे स्नेह पाश मे बॉधनेवाले हैं, दीर्घकाल की परिचित स्त्री आपदाओ के घर का द्वार है, ये तेरे पुत्र है, वे भी तेरी आत्मा के शत्रु है। इन सर्व से मोह छोड। यदि तू सहज सुख को चाहता है तो निर्मल धर्म का सेवन कर।

तत्कृत्यं किमिहेन्धनैरिव धनैराशाग्निसंधुक्षणैः।
सम्बन्धेन किमंग शश्वदशुभैः सम्बन्धिभिर्बन्धुभिः॥
किं मोहाहिमहाबिलेन सदृशा देहेन गेहेन वा।
देहिन् याहि सुखाय ते सममुं मा गाः प्रमादं मुधा ॥६१॥

भावार्थ—हे प्राणी! तेरे पास जो यह धन है सो आशारूपी अग्नि को बढाने के लिये ईंधन के समान है, तथा हे भव्य! तेरे सम्बन्धी बधुओ से तुझे क्या लाभ जिन के निमित्त से सदा तू अशुभ मे प्रवृत्ति करता है, तथा यह देहरूपी घर, मोहरूपी सर्प का बिल है, इस से भी क्या! तू इन सब से स्नेह छोड और एक समताभाव को भज उसी से तुझे सुख होगा, प्रमाद मत कर।

अकिञ्चनोऽहमित्यास्स्व त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः।
योगिगम्य तव प्रोक्त रहस्य परमात्मनः ॥११०॥

भावार्थ—मेरा कोई नही है। मै अकेला हूँ ऐसी भावना कर, इसी से तू तीन लोक का स्वामी हो जायगा। यह योगियो के जानने लायक भेद तुझे कहा गया है। इसी से परमात्मा का स्वरूप प्रगट होता है।

ममेदमहमस्येति प्रीतिरीतिरिवोत्थिता।
क्षेत्रे क्षेत्रीयते यावत्तावत् का सा तपःफले ॥२४२॥

भावार्थ—यह शरीर मेरा और मै इसका, यह प्रीति ईति या अकस्मात् टीडीदल, मूपक दल आदि के समान उपद्रव की करने वाली है। जब तक शरीर मे आत्मा मोहित है तब तक तप के फल की आशा क्या। अर्थात् तब तक तप से मोक्ष पाने की आशा करनी वृथा है।

मामन्यमन्यं मा, मत्वा भ्रान्तो भ्रान्तौ भवार्णवे।
नान्योऽहमहमेवाहमन्योऽन्योऽन्योऽहमस्ति न ॥२४३॥

भावार्थ—भरम बुद्धि के होने पर तूने अपने को शरीररूप जाना और कायादिक को अपना स्वभाव जाना। इस विपरीत ज्ञान से तू ससाररूपी समुद्र मे भ्रमण करता रहा। अब तू यह जान कि मै पर पदार्थ नही हूँ, मै मै ही हूँ पर पर ही हैं, उन मे मै नही, सो मै नही हूँ, मै आत्मा हूँ, और सब मुझ से भिन्न है।

क्षीरनीरवदभेदरूपतस्तिष्ठतोरपि च देहदेहिनोः।
भेद एव यदि भेदवत्स्वलं बाह्यवस्तुषु वदात्र का कथा।२५३।

भावार्थ—जिस देह के साथ इस जीव का दूध पानी के समान सम्बन्ध चला आरहा है वह देह ही जब जीव से भिन्न है तब और बाहरी चेतन व अचेतन पदार्थो की क्या कथा ? वे तो अपने से भिन्न ही है। तैजस व कार्मण शरीर भी जीव का नही है।

तप्तोऽहं देहसंयोगाज्जलं वाऽनलसंगमात्।
इह देहं परित्यज्य शीतीभूताः शिवैषिणः ॥२५४॥

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि मै इस देह के सयोग से उसी तरह

दु खी रहा जैसे अग्नि के सयोग से पानी सतापित होता है। इसीलिये कल्याण के अर्थी साधुओ ने देह का ममत्व छोड कर शान्ति लाभ की।

अजातोऽनश्वरोऽमूर्त्तः कर्ता भोक्ता सुखी बुधः।
देहमात्रो मलैर्मुक्तो गत्वोर्द्ध्वमचलः प्रभुः ॥२६६॥

भावार्थ—यह आत्मा कभी पैदा हुआ नही इससे अजन्मा है, कभी नाश नही होगा इससे अविनाशी है, अमूर्तीक है, अपने स्वभावो का कर्ता व अपने सहज सुख का भोक्ता है, परम सुखी है, ज्ञानी है, शरीर मात्र आकारधारी है, कर्ममलो मे रहित लोकाग्र जाकर ठहरता है, निश्चल है तथा यही प्रभु है, परमात्मा है।

(१०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन मे कहते हैं—

तथा हि चेतनोऽसंख्यप्रदेशो मूर्तिवर्जितः।
शुद्धात्मा सिद्धरूपोऽस्मि ज्ञानदर्शनलक्षणः ॥१४७॥

भावार्थ—मैं चैतन्य हूँ, लोकप्रमाण असख्यात प्रदेशी हूँ, अमूर्तीक हूँ, शुद्धात्मा हूँ, सिद्ध समान हूं व ज्ञानदर्शन लक्षणधारी हूँ।

नान्योऽस्मि नाहमस्त्यन्यो नान्यस्याहं न मे परः।
अन्यस्त्वन्योऽहमेवाहमन्योन्यस्याहमेव मे ॥१४८॥

भावार्थ—अन्य मै नही हूँ, मै अन्य नही हूँ, न मै अन्य का हूँ, न अन्य मेरा है। अन्य हैं सो अन्य है, मै मै हूँ अन्य अन्य का है, मै ही मेरा हूँ।

भावार्थ—आत्मा सब से भिन्न है।

अन्यच्छरीरमन्योऽहं चिदहं तदचेतनं।
अनेकमेतदेकोऽहं क्षयीदमहमक्षयः ॥१४९॥

भावार्थ—शरीर जुदा है मै जुदा हूँ, मै चेतन हूँ शरीर अचेतन जड है। शरीर अनेक परमाणुओं से रचा गया है,मै एक अखड हूँ। शरीर नाशवत है, मै अविनाशी हू।

सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता द्रष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्ततः पृथग्गगनवदमूर्त्तः ॥१५३॥

भावार्थ—मै सत् द्रव्य हूँ चेतन स्वरूप हूँ ज्ञाता द्रष्टा हूँ, सदा ही

उदासीन हूँ। अपने प्रति देह के आकार हूँ, तो भी आकाश के समान देह से जुदा हूँ।

(११) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे कहते है—

अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगंधरसवर्णैः ।

गुणपर्ययसमवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ॥९॥

भावार्थ—यह आतमा चैतन्य स्वरूप है, स्पर्श, रस, गध वर्ण से रहित ज्ञानादि गुण व उनकी शुद्ध पर्यायो को रखने वाला है। स्वभाव से ध्रुव है परिणमन की अपेक्षा उत्पाद व्यय स्वरूप है।

(१२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार मे कहते हैं —

कस्याऽपत्यं पिता कस्य कस्याम्बा कस्य गेहिनी ।

एक एव भवाम्भोधौ जीवो भ्रमति दुस्तरे ॥३४-६॥

भावार्थ—किसका पुत्र, किसका पिता, किसकी माता, किसकी स्त्री ? यह जीव इस दुस्तर ससार समुद्र मे अकेला ही भ्रमता रहता है।

अन्यः सचेतनो जीवो वपुरन्यदचेतनम् ।

हा तथापि न मन्यन्ते नानात्वमनयोर्जनाः ॥३५-६॥

भावार्थ—यह जीव सचेतन है, शरीर से जुदा है, शरीर अचेतन हैं, जीव से जुदा है। खेद है कि तो भी मानव इन दोनो के भेद को नही समझते हैं।

(१३) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते है—

आत्मस्वभावं परभावभिन्न-

मापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं ।

विलीनसङ्कल्पविकल्पजालं

प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति ॥१०—१॥

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनय से वास्तव मे इस आतमा का स्वभाव रागादि परभावो से भिन्न है—अपने ज्ञानादि गुणो से पूर्ण है, अनादि अनन्त है, इसमे सकल्प विकल्प के जाल नही है, यह सदा प्रकाशमान हैं।

चिच्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयं ।

अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३-२॥

भावार्थ—यह जीव चैतन्य शक्ति से सम्पूर्ण भरा हुआ है। इसके सिवाय जितने रागादि भाव हैं वे सब पुद्गल जड के रचे हुए हैं।

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा–
भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी
नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३-२॥

भावार्थ—वर्ण, गन्ध, रसादि व राग मोहादि भाव ये सब इस आत्मा से भिन्न हैं। जब निश्चय से भीतर देखा जाता है तो ये सब नही दीखते हैं, एक उत्कृष्ट आत्मा ही दीखता है।

अनाद्यनन्तमचलं स्वसंवेद्यामबाधितम्।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥६—२॥

भावार्थ—यह जीव अनादि अनन्त हैं, स्वभाव से निश्चल है, स्वानुभवगम्य है, प्रगट है, चैतन्य रूप है, अपने ही पूर्ण उद्योत रूप है।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्व समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगत चकास्ति किमपि द्रव्यान्तरं जातुचित्।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किंद्रव्यांतरचुंबनाकुलधियस्तत्त्वाच्च्यवते जनाः ॥२२-१०॥

भावार्थ—शुद्ध द्रव्य की दृष्टि से देखा जावे तो तत्व वा यह स्वरूप है कि एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कदापि भी नही झलकता है। ज्ञान जो पदार्थों को जानता है वह ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का प्रकाश है, फिर क्यो मूढ जन पर द्रव्य के साथ राग-भाव करते हुए आकुल-व्याकुल होकर अपने स्वरूप से भ्रष्ट होते है?

अन्येभ्यो व्यतिरिक्तमात्मनियतं बिभ्रत् पृथक् वस्तुता—
मादानोज्झनशून्यमेतदमल ज्ञानं तथावस्थितम्।
मध्याद्यन्तविभागमुक्तसहजस्फारप्रभाभासुरः
शुद्धज्ञानघनो यथास्य महिमा नित्योदितस्तिष्ठति॥४२-१०॥

भावार्थ—आत्मा वा स्वभाव जो ज्ञान है वह अन्य द्रव्यो मे नही

है। आत्मा रूपी द्रव्य मे निश्चल ठहरा है, सर्व अन्य पदार्थों से पृथक् है। इसमे न किसी का ग्रहण है, न किसी का त्याग है। यह शुद्ध वीतराग है, जैसा है वैसा ही स्थित है, अनादि व अनन्त है। प्रकाशमान शुद्ध ज्ञान का समूह यह आत्मा अपनी महिमा को लिये हुए नित्य उदय रहता है।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार मे कहते हैं —

दंसणणाणपहाणो असंखदेसो हु मुत्तिपरिहीणो।
सगहियदेहपमाणो णायव्वो एरिसो अप्पा ॥१७॥

भावार्थ—जो दर्शन व ज्ञानमयी है, असख्यातप्रदेशी है, अमूर्तीक है, अपनी देह प्रमाण आकारधारी है उसे ही आत्मा जानो।

जस्स ण कोहो माणो माया लोहो य सल्ल लेसाओ।
जाइजरामरण विय णिरजणो सो अह भणिओ ॥१९॥

भावार्थ—जिसके न क्रोध है, न मान है, न माया है, न लोभ है, न शल्य है, न लेश्याएँ है, न जन्म है, न जरा है, न मरण है वही जो निरजन है सो मै हूँ ऐसा कहा गया है।

फासरसरूवगंधा सद्दादीया य जस्स णत्थि पुणो
सुद्धो चेयणभावो णिरंजणो सो अहं भणिओ ॥२१॥

भावार्थ—जिसके स्पर्श, रस, वर्ण, गन्ध, शब्दादि नही हैं, जो शुद्ध चैतन्यमय पदार्थ हैं वही निरजन है ऐसा ही मै हूँ यह कहा गया है।

मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बभो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ—जो मलरहित है, ज्ञानमयी है, चरम ब्रह्मस्वरूप है व सिद्ध गति मे विराजमान है वैसा ही आत्मा इस देह मे है ऐसा जानना चाहिए।

णोकम्मकम्मरहिओ केवलणाणाइगुणसमिद्धो जो।
सोह सिद्धो सुद्धो णिच्चो एक्को णिरालबो ॥२७॥
सिध्दोह सुध्दोह अणतणाणाइगुणसमिध्दोह।
देहपमाणो णिच्चो असखदेसो अमुत्तो य ॥२८॥

भावार्थ—यह आत्मा निश्चय से नोकर्म तथा कर्म रहित है, केवल ज्ञानादि गुणो से पूर्ण है, शुद्ध है, सिद्ध है, अविनाशी है, एक अकेला है परालम्बरहित है, वैसा ही मै हूँ--मै सिद्ध हूँ, शुद्ध हूँ, अनन्त ज्ञानादि गुणों से पूर्ण हूँ, शरीर प्रमाण आकारधारी हूँ, अविनाशी हूँ, असख्यात प्रदेशी हूं, तथा अमूर्तीक हूँ।

(१५) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते है —

जो परमप्पा सो जि हउं जो हउं सो परमप्पु ।
इउ जाणेविणु जोइआ अण्ण म करहु वियप्पु ।।२२।।

भावार्थ—जो परमात्मा है वही मै हूँ, जो मै हूँ, वही परमात्मा है। अर्थात् मेरा स्वभाव परमात्मा रूप है। हे योगी! ऐसा जानकर और विकल्प न कर।

सुद्धपएसह पूरियउ लोयायासपमाणु ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु पावहु लहु णिव्वाणु ।।२३।।

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध प्रदेशों से पूर्ण है, लोकाकाश प्रमाण है, इसी आत्मा का रात दिन मनन करो, शीघ्र निर्वाण का लाभ होगा।

सुद्धु सचेयण बुद्ध जिणु केवलणाणसहाउ ।
सो अप्पा अणुदिण मुणहु जइ चाहउ सिवलाहु ।।२६।।

भावार्थ—आत्मा शुद्ध है, चैतन्य रूप है, बुद्ध है, जिन है, केवल ज्ञान स्वभाव है, उसी का रात दिन मनन करो जो मोक्ष का लाभ लेना चाहते हो।

अप्पा दंसणु णाण मुणी अप्पा चरणु वियाणि ।
अप्पा संजम सील तउ अप्पा पच्चक्खाणि ।।८०।।

भावार्थ—आत्मा ही सम्यग्दर्शन है, आत्मा ही ज्ञान है, आत्मा को ही चारित्र जानो, आत्मा सयम है, शील है, तप है, आत्मा ही त्याग है।

जो अप्पा सुध्द वि मुणई असुइसरीरविभिण्णु ।
सो जाणइ सच्छइ सयलु सासयसुक्खहलीणु ।।९४।।

भावार्थ—जो अपने आत्मा को इस अशुचि शरीर से भिन्न शुद्ध व अविनाशी सुख मे लीन अनुभव करता है वह सर्व शास्त्रो को जानता है।

(१६) श्री अमितिगति आचार्य सामायिक पाठ में कहते हैं —

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै ।।२४।।

भावार्थ—कोई भी मेरे आत्मा से बाहर के पदार्थ मेरे नही हैं, न मैं उनका कदापि होता हू, ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थों से ममता त्याग कर हे भद्र ! सदा तू अपने स्वरूप मे स्थिर हो जिससे कि मुक्ति का लाभ हो।

एकः सदा शाश्वतिको ममात्मा,
विनिर्मलः साधिगमस्वभावः ।
बहिर्भवाः सन्त्यपरे समस्ता,
न शाश्वताः कर्मभवाः स्वकीयाः ।।२६।।

भावार्थ -मेरा आत्मा सदा ही एक अविनाशी निर्मल ज्ञान स्वभावी हैं, अन्य रागादि भाव सब मेरे स्वभाव से बाहर हैं, क्षणिक हैं व अपने-अपने कर्मों के उदय से हुए है।

यस्यास्ति नैक्यं वपुषापि सार्द्धं,
तस्यास्ति किं पुत्रकलत्रमित्रैः ।
पृथक्कृते चर्मणि रोमकूपाः,
कुतो हि तिष्ठंति शरीरमध्ये ।।२७।।

भावार्थ— जिस आत्मा की एकता इस शरीर के साथ ही नही है तो फिर पुत्र, स्त्री, मित्र आदि के साथ कैसे होगी, जिनका सम्बन्ध शरीर से है। ऊपर का चमड़ा अलग कर देने पर रोमो के छिद्र शरीर मे कैसे पाये जा सकते हैं ? रोम छिद्र चमड़े के आश्रय है।

संयोगतो दुःखमनेकभेदं,
यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी ।
ततस्त्रिधासौ परिवर्जनीयो,
यियासुना निर्वृतिमात्मनीनाम् ॥२८॥

भावार्थ—इस शरीर के सयोग से ही यह शरीर धारी, ससार रूपी वन मे अनेक दु खो को भोगता है इसलिये जो अपने आत्मा की मुक्ति चाहता है उसको उचित है कि वह मन, वचन, काय से इस शरीर का ममत्व त्याग करे।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं,
संसारकांतारनिपातहेतुं ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो,
निलीयसे त्वं परमात्मतत्त्वे ॥२६॥

भावार्थ—सर्व ही मन के विकल्पो को दूर करके जो ससार रूपी वन मे भ्रमण कराने के कारण है, सबसे भिन्न अपने आत्मा को निश्चय करके तू अपने ही परमात्मा स्वरूप मे लय हो।

(१७) श्री अमितिगति आचार्य तत्व भावना मे कहते हैं —

नाहं कस्यचिदस्मि कश्चन न मे भावः परो विद्यते ।
मुक्त्वात्मानमपास्तकर्मसमितिं ज्ञानेक्षणालङ्कृतिं ॥
यस्यैषा मतिरस्ति चेतसि सदा ज्ञातात्मतत्वस्थितेः ।
बंधस्तस्य न यंत्रितं त्रिभुवनं सांसारिकैर्बन्धनैः ॥११॥

भावार्थ—सर्व भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नोकर्म रहित व ज्ञान दर्शन गुणो से विभूषित आत्मा को छोडकर न मैं किसी का हूँ, न कोई परभाव मेरा है। जिस तत्व ज्ञानी के चित्त मे ऐसी बुद्धि है उसका बन्ध सासारिक बधनो से तीन भुवन मे कही नही होता है।

चित्रोपायविवर्धितोपि न निजो देहोपि यत्रात्मनो ।
भावाः पुत्रकलत्रमित्रतनयाजामातृतातादयः ॥

तत्र स्वं निजकर्मपूर्ववशगाः केषां भवन्ति स्फुटं ।
विज्ञायेति मनीषिणा निजमतिः कार्या सदात्मस्थिता।।१२।।

भावार्थ—अनेक प्रकार के उपायो से बढाने पर भी यह देह भी जहाँ इस आत्मा की नही हो सकती तो पुत्र, स्त्री, मित्र, पुत्र, जमाई, बन्धु आदि जो अपने अपने पूर्व कर्म के वश आए है व जॉयगे, अपने कैसे हो सकते हैं ? ऐसा जान कर बुद्धिमान को अपनी बुद्धि सदा ही आत्मा के हित मे करनी योग्य है ।

माता मे मम गेहिनी मम गृहं मे बांधवा मेऽगजाः ।
तातो मे मम संपदो मम सुखं मे सज्जना मे जनाः ।।
इत्थं घोरममत्वतामसवशव्यस्तावबोधस्थितिः ।
शर्माधानविधानतः स्वहिततः प्राणी सनीस्रस्यते ।।२५।।

भावार्थ—मेरी माता है, मेरी स्त्री है, मेरा घर है, मेरे बन्धु हैं, मेरा पुत्र है, मेरा भाई है, मेरी सम्पदा है, मेरा सुख है, मेरे सज्जन हैं, मेरे नौकर है, इस तरह घोर ममता के वश से तत्व ज्ञान मे ठहरने को असमर्थ हो कर परम सुख देने वाले आत्महित से यह प्राणी दूर होता चला जाता है ।

न वैद्या न पुत्रा न विप्रा न शक्रा,
न कांता न माता न भृत्या न भूपाः ।
यमालिंगितुं रक्षितुं संति शक्ता,
विचिंत्येति कार्यं निजं कार्यमार्यैः ।।३३।।

भावार्थ—जिस शरीर को आत्मा से जुदा होते हुए न तो वैद्य बचा सकते है, न पुत्र, न ब्राह्मण, न इन्द्र, न स्त्री, न माता, न नौकर, न राजागण । ऐसा जान कर आर्य पुरुषो को आत्मा के हित को करना चाहिये, शरीर के मोह मे आत्महित को न भूलना चाहिये ।

विचित्रैरुपायैः सदा पाल्यमानः,
स्वकीयो न देहः समं यत्र याति ।
कथं बाह्यभूतानि वित्तानि तत्र,
प्रबुद्ध्येति कृत्यो न कुत्रापि मोहः ।।३४।।

भावार्थ--नाना उपायो से सदा पालते रहते भी जहाँ यह अपना देह साथ नही जासकता तब बाहरी पदार्थ किस तरह हमारे हो सकते हैं ? ऐसा जान कर किसी भी पर पदार्थ मे मोह करना उचित नही है।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं ।
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः ।।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम् ।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यता: ।।६२।।

भावार्थ---मै शूर हू, बुद्धिवान हूँ, चतुर हूँ, सब से अधिक धनवान हूँ, मै मान्य हूँ, मैं गुणवान हूँ, मैं समर्थ हूँ, मै सब से बडा मुखिया हूँ। हे आत्मन् ! तू इस पापकारी कल्पना को छोड कर सदा ही अपने निर्मल आत्म तत्व का ध्यान कर जिससे मोक्ष लक्ष्मी का लाभ हो।

गौरो रूपधरो दृढः परिवृढः स्थूलः कृशः कर्कशः ।
गीर्वाणो मनुजः पशुर्नरकभूः षंढः पुमानंगना ।।
मिथ्या त्वं विदधासि कल्पनमिदं मूढो विबुध्यात्मनो ।
नित्यं ज्ञानमयस्वभावममलं सर्वव्यपायच्युतम् ।।७०।।

भावार्थ--मै गोरा हू ,रूपवान हूँ,दृढ हूँ,बलवान हू ,मोटा हू ,दुबला हूँ, कठोर हू, देव हूँ, मनुष्य हू ,पशु हू,नारकी हू ,पुरुष हू, स्त्री हू , नपुंसक हू । हे मूढ ! तू इस झूठी कल्पनाओ को करके अपने आत्मा को नही समझता हैं, जो नित्य ज्ञान स्वभावधारी हैं, सर्व मल रहित है व सर्व आपत्तियो से बाहर है ।

सचिवमंत्रिपदातिपुरोहितास्त्रिदशखेचरदैत्यपुरंदराः ।
यमभटेन पुरस्कृतमातुरं भवभृतं प्रभवंति न रक्षितुम्।।११२।।

भावार्थ----जब मरण किसी ससारी आतुर प्राणी पर आता है तब मन्त्री, पैदल सिपाही, पुरोहित, देव, विद्याधर, असुर, इन्द्र आदि कोई भी रक्षा नही कर सकते हैं।

विविधसंग्रहकल्मषमंगिनो विदधतेऽगकुटुम्बकहेतवे ।
अनुभवंत्यसुखं पुनरेकका नरकवासमुपेत्य सुदुस्सहम्।११४।

भावार्थ----प्राणी, शरीर व कुटुम्ब के लिये नाना प्रकार के पापो को बाँधता है परन्तु उनका फल उस अकेले को ही नरक मे जाकर असहनीय दुःख भोगना पड़ता है ।

(१८) श्री चन्द्रजी वैराग्यमणिमाला मे कहते है—

एको नरके याति वराकः स्वर्गं गच्छति शुभसविवेकः ।
राजाप्येकः स्याच्च धनेशः एकः स्यादविवेको दासः ।।६।।
एको रोगी शोकी एको दुःखविहीनो दुःखी एकः ।
व्यवहारी च दरिद्री एक एकाकी भ्रमतीह वराकः।।१०।।

भावार्थ----यह जीव अकेला ही विचारा नर्क मे जाता है, कभी पुण्य बाँध के अकेला ही स्वर्ग मे जाता है, अकेला ही कभी राजा, कभी धनिक, कभी अज्ञान दास हो जाता है, अकेला ही रोगी, शोकी होता है, अकेला ही सुखी व दुःखी होता है अकेला ही व्यवहारी व दलिद्र होता है । इस तरह से विचारा अकेला ही भ्रमण करता रहता है ।

(१९) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय मे कहते हैं—

ज्ञानदर्शनसम्पन्न आत्मा चैको ध्रुवो मम ।
शेषा भावाश्च मे बाह्या सर्वे संयोगलक्षणाः ।।२४९।।
सयोगेमूलजीवेन प्राप्ता दुःखपरम्परा ।
तस्मात्संयोगसम्बन्धं त्रिविधेन परित्यजेत् ।।२५०।।

भावार्थ—मेरा आतमा ज्ञानदर्शन स्वभाव से पूर्ण है, एक है, अविनाशी है । और सर्व रागादि भाव मेरे स्वभाव से बाहर कर्म के सयोग से हुए हैं । शरीर और कर्म के सयोग से जीव बराबर दुःख उठा रहे हैं, इसलिए इस सयोग सम्बन्ध को मन, वचन, काय से मै त्यागता हूँ ।

(२०) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्वसप्तति मे कहते हैं—

अजमेकं परं शान्तं सर्वोपाधिविवर्जितम् ।
आत्मानमात्मना ज्ञात्वा तिष्ठेदात्मनि यः स्थिरः ।।१८।।
स एवामृतमार्गस्थ सः एवामृतमश्नुते ।
स एवार्हन् जगन्नाथः स एव प्रभुरीश्वरः ।।१९।।

भावार्थ—जो कोई अपने आत्मा को अजन्मा, एक अकेला, परम पदार्थ, शान्त स्वरूप, सर्व रागादि उपाधि से रहित, आत्मा ही के द्वारा जान कर आत्मा मे स्थिर तिष्ठता है वही मोक्ष मार्ग मे चलने वाला है, वही आनन्द रूपी अमृत को भोगता है, वही पूज्यनीय, वही जगत का स्वामी, वही प्रभु, वही ईश्वर है।

विकल्पोर्मिभरत्यक्तः शान्तः कैवल्यमाश्रितः।
कर्माभावे भवेदात्मा वाताभावे समुद्रवत् ॥२६॥

भावार्थ—यह आत्मा कर्मो के छूट जाने पर सर्व विकल्प रूपी तरगो से रहित, शान्त व अपने केवल ज्ञानादि स्वभाव मे स्थिर ऐसा हो जाता है जैसा पवन के सचार विना समुद्र स्थिर रहता है।

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकल परम्।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः ॥२७॥

भावार्थ—जो जो वस्तु या अवस्था पर के सयोग से आई है वह सब मुझ से भिन्न है उस सब को त्याग देने मे मैं मुक्त ही हूँ, ऐसी मेरी बुद्धि है, ऐसा ज्ञानी विचारता है।

क्रोधादिकर्मयोगेऽपि निर्विकार पर महः।
विकारकारिभिर्मेघैर्न विकारि नभोभवेत् ॥३५॥

भावार्थ—क्रोधादि कर्मो के सयोग होने पर भी वह उत्कृष्ट आत्म ज्योति विकारी नही होती है, जैसे विकार करने वाले मेघो से आकाश विकारी नही होता है, ऐसा निश्चय आत्मा का स्वरूप है।

तदेकं परमं ज्ञानं तदेकं शुचि दर्शनम्।
चारित्रं च तदेकं स्यात् तदेकं निर्मलं तपः ॥३६॥

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा है, सो ही उत्कृष्ट ज्ञान है, सो ही पवित्रसम्यग्दर्शन है, सो ही एक निर्मल चारित्र है, वही एक निर्मल तप है।

नमस्यञ्च तदेवैकं तदेवैकञ्च मंगलम्।
उत्तमञ्च तदेवैकं तदेव शरणं सताम् ॥४०॥

भावार्थ—वही चैतन्य स्वरूप आत्मा नमस्कार करने योग्य है, वही एक मगल है, वही एक उत्तम पदार्थ है, सज्जनो के लिये वही एक शरण का स्थान है।

तदेवैकं परं तत्वं तदेवैक परं पदम् ।
भव्याराध्यं तदेवैक तदेवैकं पर महः ॥४४॥

भावार्थ—चिदानन्द स्वरूप आत्मा है सो ही एक उत्कृष्ट तत्व है, सो ही एक परम पद है, सो ही भव्य जीवो के द्वारा आराधने योग्य है, सो ही एक परम ज्योति है।

संसारघोरघर्मेण सदा तप्तस्य देहिनः ।
यन्त्रधारागृहं शान्तं तदेव हिमशीतल ॥४७॥

भावार्थ—ससार रूपी आताप से सदा तप्तायमान प्राणी के लिये वह चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही हिमालय के समान शीतल यन्त्र-धारा गृह है अर्थात् फवारो का घर है।

तदेव महती विद्या स्फुरन्मन्त्रस्तदेव हि ।
औषधं तदपि श्रेष्ठं जन्मव्याधिविनाशन ॥४८॥

भावार्थ—चिदानन्द स्वरूप आत्मा है, सो ही महान् विद्या है, सो ही प्रकाशमान मन्त्र है। तथा वही ससार रूपी रोग को नाश करने वाली औषधि है।

अहं चैतन्यमेवैकं नान्यत्किमपि जातुचित् ।
सबन्धोऽपि न केनापि दृढपक्षो ममेदृशः ॥५४॥

भावार्थ—ज्ञानी विचारता है कि मै एक चैतन्य स्वरूप हूँ, और कोई कदापि नही हूँ मेरे किसी के साथ कोई सम्बन्ध नही है, मेरा ऐसा दृढ निश्चय है।

शरीरादिवहिश्चिन्ताचक्रसम्पर्कवर्जितं ।
विशुद्धात्मस्थितं चित्तं कुर्वन्नास्ते निरन्तर ॥५५॥

भावार्थ—ज्ञानी शरीरादि बाहरी पदार्थो की चिन्ता के सम्बन्ध से रहित होकर शुद्धात्मा मे चित्त को स्थिर करता हुआ निरन्तर विराजता है।

(२१) श्री पद्मनंदि मुनि उपासक-संस्कार में कहते हैं—

स्वजनो वा परो वापि नो कश्चित्परमार्थत. ।
केवलं स्वार्जित कर्म जीवेनैकेन भुज्यते ॥४८॥

भावार्थ—इस जीव का साथी न तो कोई स्वजन है, न परजन है। अपने बांधे हुए कर्म के फल को यह जीव अकेला ही भोगता है।

क्षीरनीरवदेकत्व स्थितयोर्देहदेहिनोः ।
भेदो यदि ततोन्येषु कलत्रादिषु का कथा ॥४९॥

भावार्थ—दूध और पानी के समान एक साथ मिले हुए शरीर और आत्मा मे ही जब भेद है तब अन्य स्त्री आदि की तो बात ही क्या है, वे तो जुदे हैं ही।

कर्मभ्यः कर्मकार्येभ्यः प्रथग्भूतं चिदात्मकम् ।
आत्मानं भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम् ॥६१॥

भावार्थ—ज्ञानी को उचित है कि वह आत्मा के स्वरूप की ऐसी भावना करे कि वह आठ कर्मों से व आठ कम के कार्यो से जुदा है, चैतन्यमयी है, नित्य है, व नित्य आनन्दमयी पद को देने वाला है।

(२२) श्री पद्मनंदि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय मे कहते हैं—

कर्मबन्धकलितोप्यबन्धनो द्वेषरागमलिनोऽपि निर्मलः ।
देहवानपि च देहवर्जितश्चित्रमेतदखिलं चिदात्मनः ॥१३॥

भावार्थ—यह आत्मा कर्मवन्ध सहित होने पर भी कर्मवन्ध से [illegible] है, राग-द्वेष से मलीन होने पर भी निर्मल है, देहवान होने पर भी [illegible] रहित है, आत्मा का सर्व महात्म्य आश्चर्यकारी है।

व्याधिनांगमभिभूयते परं तद्गतोऽपि न पुनश्चिदात्मकः।
उच्छितेन गृहमेव दह्यते वह्निना न गगनं तदाश्रितम्॥२४॥

भावार्थ—रोगों से शरीर को पीडा होती है परन्तु उस शरीर मे प्रविष्ट चैतन्य प्रभु को पीडा नही होती है। जैसे अग्नि की ज्वाला से घर जलता है परन्तु घर के भीतर का आकाश नही जलता है। आत्मा आकाश के समान निर्लेप तथा अमूर्तीक है, जल नही सकता।

बोधरूपमखिलरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।
नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः।२५॥

भावार्थ---सर्व रागादि उपाधियों से रहित जो कोई एक ज्ञान स्वरूप है सो ही हमारा है और कुछ भी परमाणु मात्र भी हमारा नही है। मोक्ष का कारण यही एक तत्व है यही योगियों का निश्चय मत है।

आत्मबोधशुचितीर्थमद्भुतं स्नानमत्रकुरुतोत्तमं बुधाः ।
यन्न यात्यपरतीर्थकोटिभिः क्षालयत्यपि मलंतदन्तरम्।२८॥

भावार्थ---आत्म ज्ञान ही एक पवित्र अद्भुत तीर्थ है, इसी तीर्थ रूपी नदीमे पण्डितजन उत्तम स्नान करो। जो अन्तरगका कर्ममल करोडो नदियो के स्नान से नही नाश होता है उसे यह तीर्थ धो देता है।

(२३) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चयपचाशत् मे कहते हैं---

व्याधिस्तुदति शरीर न माममूर्तं विशुद्धबोधमयम् ।
अग्निर्दहति कुटीरं न कुटीरासक्तमाकाशम् ॥२३॥

भावार्थ---रोग शरीर को पीडा करता है, उससे अमूर्तीक व शुद्ध ज्ञानमयी आत्मा रूप जो मैं हू सो मुझ पीडा नही होती है। आग कुटी को जलाती है, परन्तु कुटी के भीतर के आकाश को नही जला सकती हैं। आत्मा आकाश के समान अमूर्तीक व निर्मल है।

नैवात्मनो विकारः क्रोधादिः किंतु कर्मसंबन्धात् ।
स्फटिकमणेरिव रक्तत्वमाश्रितात्पुष्पतो रक्तात् ॥२५॥

भावार्थ—निश्चय से क्रोध आदि आत्मा के स्वाभाविक विकार नही हैं परन्तु कर्म के उदय से सम्बन्ध से विकार हैं जैसे—स्फटिक मणि के नीचे लाल पुष्प है इससे वह लाल दीखती है। आत्मा तो स्फटिक मणि के समान स्वच्छ ही है।

कुर्यात् कर्म विकल्पं किं मम तेनातिशुद्धरूपस्य ।
मुखसंयोगजविकृतेर्न विकारी दर्पणो भवति ॥२६॥

भावार्थ—कर्मों के उदय से अनेक रागादि विकल्प होते है, परन्तु निश्चय से मै तो परम शुद्ध हू, मैं विकारी नही होता हू जैसे—विकारी मुख का दृश्य दर्पण मे दिखने पर भी दर्पण स्वय विकारी नही होता है।

आस्तां बहिरुपाधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरं ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ---कर्म के उदय मे उत्पन्न बाहरी उपाधि की बात तो दूर ही रहे। शरीर, वचन और मन के विकल्पो का समूह भी मुझसे भिन्न है। क्योकि मैं तो शुद्ध हू, मेरा शरीरादि कैसे हो सकता है।

कर्म पर तत्कार्यं सुखमसुख वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्य. ॥२८॥

भावार्थ—कर्म भिन्न है तथा कर्म के कार्य सुख तथा दु ख भी भिन्न है, इनके होने पर मोही हर्ष तथा विषाद करता है, अन्य कोई नही करता है।

नयनिक्षेपप्रमितिप्रभृतिविकल्पोज्झित पर शान्त ।
शुद्धानुभूतिगोचरमहमेक धाम चिद्रूप ॥५४॥

भावार्थ—मै नय, निक्षेप इत्यादि विकल्पो से रहित परम शान्त हूं, मै चैतन्य रूप एक तेज हू, सो शुद्धात्मा अनुभव से ही अनुभव करने योग्य हूं।

(२४) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं —

महाव्यसनसंकीर्णे दुःखज्वलनदीपिते ।
एकाक्येव भ्रमत्यात्मा दुर्गे भवमरुस्थले ॥१—४॥

भावार्थ—महा आपदाओं मे भरे हुए, दु ख रूपी अग्नि से प्रज्वलित और भयानक ऐसे ससार रूपी मरुस्थल (रेती के जगल) मे यह जीव अकेला ही भ्रमण करता रहता है।

स्वयं स्वकर्मनिर्वृत्तं फलं भोक्तुं शुभाशुभं ।
शरीरान्तरमादत्ते एकः सर्वत्र सर्वथा ॥२–४॥

भावार्थ—इस ससार मे यह आत्मा अकेला ही तो अपने कर्मों के अनुसार सुख दु ख रूप फल को भोगता है, और अकेला ही सर्व गतियों मे एक शरीर से दूसरे शरीर को धारण करता है।

संयोगे विप्रयोगे च संभवे मरणेऽथवा ।
सुखदुःखविधौ वास्य न सखान्योऽस्ति देहिनः ॥४—४॥

भावार्थ—इस प्राणी के सयोग मे, वियोग मे जन्म मे वा मरण मे, सुख तथा दु ख भोगने मे कोई भी मित्र साथी नही है अकेला ही भोगना पडता है।

अज्ञातस्वस्वरूपोऽय लुप्तबोधादिलोचनः।
भ्रमत्यविरत जीव एकाकी विधिवञ्चितः ।।८—४।।

भावार्थ—यह जीव अपने स्वरूप को न जानता हुआ व ज्ञानादि लोचन को बन्द किये हुए अपने अज्ञान से कर्मो मे ठगाया हुआ एकाकी दीर्घकाल से भ्रमण कर रहा है।

एकः स्वर्गी भवति विबुधः स्त्रीमुखाम्भोजभृङ्गः
एकः श्वाभ्रं पिबति कलिलं छिद्यमानः कृपाणैः।
एकः क्रोधाद्यनलकलितः कर्म बध्नाति विद्वान्
एकः सर्वावरणविगमे ज्ञानराज्यं भुनक्ति ।।११—४।।

भावार्थ—यह जीव अकेला ही स्वर्ग मे जाकर देव होता है, और स्त्री के मुख कमल मे भ्रमरवत् आसक्त हो जाता है, व अकेला ही नर्क मे जाकर तलवारो से छिन्न भिन्न किया हुआ नरक के खारे जल को पीता है, व अकेला ही क्रोधादि की अग्नि से जलता हुआ कर्मो को बाँधता है, तथा अकेला ही आप विवेकी होकर जब सर्व कर्मो के आवरण को दूर कर देता है, तब मोक्ष होकर ज्ञान राज्य को भोगता है।

अचिच्चिद्रूपयोरैक्यं बन्ध प्रति न वस्तुतः।
अनादिश्चानयोः श्लेषः स्वर्णकालिकयोरिव ।।२—५।।

भावार्थ—चैतन्य स्वरूप आप व शरीरादि जड की एकता बन्ध की अपेक्षा से है। निश्चय से देखा जावे तो चेतन अलग है, जड अलग है। इन दोनो का अनादि काल से सम्बन्ध चला आ रहा है, जैसे—खान मे सुवर्ण और कालिमा का एकपना है, वस्तुत कालिमा अलग है सुवर्ण अलग है।

ये ये सम्बन्धमायाताः पदार्थाश्चेतनेतराः।
ते ते सर्वेऽपि सर्वत्र स्वस्वरूपाद्विलक्षणाः ।।८—५।।

भावार्थ—इस जगत मे जिन चेतन व अचेतन पदार्थों का सम्बन्ध जीव के साथ हुआ है, वे सब ही सर्वत्र अपने-अपने स्वरूप से भिन्न-भिन्न हैं, आत्मा उन सबसे जुदा है।

मिथ्यात्वप्रतिबद्धदुर्णयपथभ्रान्तेन बाह्यानलं
भावान्स्वान्प्रतिपद्य जन्मगहने खिन्नं त्वया प्राक् चिरं ।
संप्रत्यस्तसमस्तविभ्रमभवश्चिद्रूपमेकं परम्
स्वस्थं स्वं प्रविगाह्य सिद्धिवनितावक्त्रंसमालोकय।।१२-५।।

भावार्थ—हे आत्मन ! तू इस ससार रूपी गहन वन मे मिथ्या दर्शन के सम्बन्ध से उत्पन्न हुई सर्वथा एकान्त रूप खोटी दृष्टि के मार्ग मे भ्रम रूप होता हुआ बाहरी पदार्थों को अपने मान करके सदा दु खी ही रहा है, परन्तु अब तू सर्व भ्रम को दूर कर दे और अपने ही मे ठहर कर उत्कृष्ट चैतन्य रूपी तेज मे प्रवेश कर और मुक्ति रूपी स्त्री के मुख को देख।

अहं न नारको नाम न तिर्यग्नापि मानुषः ।
न देवः किन्तु सिद्धात्मा सर्वोऽयं कर्मविक्रमः ।।१२-३१।।

भावार्थ—निश्चय नय से न मै नारकी हूं, न तिर्यंच हूँ, न मानव हूँ, न देव हूं, किन्तु सिद्ध स्वरूप हूँ। ये सब नारकी आदि अवस्थाएँ कर्मों के उदय से होती है।

साकारं निर्गताकारं निष्क्रियं परमाक्षरम् ।
निर्विकल्पं च निष्कम्पं नित्यमानन्दमन्दिरम् ।।२२-३१।।
विश्वरूपमविज्ञातस्वरूपं सर्वदोदितम् ।
कृतकृत्यं शिवं शान्तं निष्कलं करणच्युतम् ।।२३-३१।।
निःशेषभवसम्भूतक्लेशद्रुमहुताशनम् ।
शुद्धामत्यन्तनिर्लेपं ज्ञानराज्यप्रतिष्ठितम् ।।२४-३१।।
विशुद्धादर्शसङ्क्रान्तप्रतिबिम्बसमप्रभं ।
ज्योतिर्मयं महावीर्यं परिपूर्णं पुरातनम् ।।२५—३१।।

विशुद्धाष्टगुणोपेतं निर्द्वन्द्वं निर्गतामयम् ।
अप्रमेयं परिच्छिन्नं विश्वतत्त्वव्यवस्थितम् ।।२६— ३१।।
यदग्राह्यं बहिर्भावैर्ग्राह्यं चान्तर्मुखैः क्षणात् ।
तत्स्वभावात्मकं साक्षात्स्वरूपं परमात्मनः ।।२७— ३१।।

भावार्थ—आत्मा का निश्चय नय से स्वरूप परमात्मा के समान है। यह ज्ञानाकार है तथा अमूर्तिक है, हलन चलन क्रिया रहित है, परम अविनाशी है, निर्विकल्प है, निष्कम्प है, नित्य है, आनन्द का मन्दिर है, ज्ञानापेक्षा सर्वव्यापी है, अज्ञानी जिसके स्वरूप को नही जान सकते है, सदा उदय रूप है, कृतकृत्य है, कल्याण रूप है, शान्त है, शरीर रहित है, इन्द्रियो से अतीत हैं, समस्त ससार के क्लेश रूपी वृक्षो को जलाने के लिये अग्नि के समान है, शुद्ध है, कर्मलेप से रहित है, ज्ञान रूपी राज्य मे स्थित है, निर्मल दर्पण मे प्राप्त प्रतिबिम्ब की तरह प्रभावान है, ज्ञान-ज्योतिमय है, महा वीर्यवान है, पूर्ण है, पुरातन है सम्यक्तादि आठ गुण (सम्यक्त, ज्ञान, दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघुत्व, अव्याबाधत्व, अवगाहनत्व) सहित है, उपाधि रहित है, रोगादि रहित है, प्रमाण अगोचर है, ज्ञानियो के द्वारा जानने योग्य है, सर्व तत्वो का निश्चय करने वाला है, जो बाहरी इन्द्रियादि से ग्रहण करने योग्य नही है, अन्तरग भावो से क्षण मात्र मे ग्रहण योग्य है, ऐसा स्वभाव इस परमात्म स्वरूप आत्मा का है।

अवाग्गोचरमव्यक्तमनन्तं शब्दवर्जितं ।
अजं जन्मभ्रमातीतं निर्विकल्पं विचिन्तयेत् ।।३३-३१।।

भावार्थ—आत्मा का स्वरूप वचनगोचर नही है, इन्द्रियो से व मन से प्रगट नही है, अनन्त है, शब्द रहित है, जन्म रहित है, भव भ्रमण से रहित है, निर्विकल्प है ऐसा विचारे।

यः स्वमेव समादत्ते नादत्ते यः स्वतोऽपर ।
निर्विकल्प. स विज्ञानी स्वसंवेद्योऽस्मि केवल ।।२७-३२।।

भावार्थ—ज्ञानी ऐसा ध्याता है कि जो अपने को ही ग्रहण करता है तथा जो अपने से पर है उसको नही ग्रहण करता है ऐसा मै आत्मा हूँ, उसमे कोई विकल्प नही है ज्ञानमय है तथा केवल एक अकेला है, और वह अपने से ही अनुभवगम्य है।

यो विशुद्धः प्रसिद्धात्मा परं ज्योतिः सनातनः ।
सोऽहं तस्मात्प्रपश्यामि स्वस्मिन्नात्मानमच्युतम् ।।३५-३२।।

भावार्थ—जो विशुद्ध है, प्रसिद्ध आत्मा है, परम ज्ञानमय ज्योति स्वरूप है, सनातन है सो ही मैं हूँ इसलिये इस अविनाशी आत्मा को मैं अपने मे ही देखता हूँ ।

जीर्णे रक्ते घने ध्वस्ते नात्मा जीर्णादिक पटे ।
एव वपुषि जीर्णादौ नात्मा जीर्णादिकस्तथा ।।७२-३२।।

भावार्थ—कपडे को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होते हुए कोई अपने को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट हुआ नही मानता है, वैसे ही शरीर को जीर्ण, लाल, मोटा व नष्ट होता हुआ जानकर आत्मा जीर्ण, लाल, मोटा तथा नष्ट नही होता है ।

अन्तर्दृष्ट्वाऽऽत्मनस्तत्त्वं बहिर्दृष्ट्वा ततस्तनुम् ।
उभयोर्भेदनिष्णातो न स्खलत्यात्मनिश्चये ।।८३-३२।।

भावार्थ—ज्ञानी आत्मा के तत्व को भीतर देखकर व शरीर को बाहर देखकर दोनो के भेद मे चतुर होकर आत्मा के स्वरूप के निश्चय मे कभी शिथिल नही होता है ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानन्दमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ।।९९-३२।।

भावार्थ---हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही मे आत्मा ही के द्वारा जान कि यह अतीन्द्रिय है, वचनो से कथन योग्य नही है, अमूर्तीक है, कल्पना से रहित है चिदानन्दमयी है ।

निखिलभुवनतत्त्वोद्भासनैकप्रदीप
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम् ।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूतं
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ।।१०३-३२।।

भावार्थ---हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा को अपने आत्मा से ही इस

प्रकार शुद्ध अनुभव कर कि यह आत्मा सर्व लोक के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने वाला अद्वितीय प्रदीप है तथा अतिशय सहजानन्द की सीमा को उपाधि रहित प्राप्त हुआ है तथा परम मुनि की बुद्धि से प्रगट उत्कृष्टता पर्यन्त जिसका स्वरूप है।

सोऽहं सकलवित्सार्व. सिद्धः साध्यो भवच्युतः।
परमात्मा परंज्योतिर्विश्वदर्शी निरञ्जनः ॥२८-४०॥
तदासौ निश्चलोऽमूर्त्तो निष्कलको जगद्गुरुः।
चिन्मात्रो विस्फुरत्युच्चैर्ध्यानध्यातृविवर्जितः ॥२९-४०॥

भावार्थ---इस प्रकार अपने को ध्यावे कि मैं ही परमात्मा हूँ, मे ही सर्वज्ञ हूँ, मैं सर्व व्यापक हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं ही साध्य हूँ, ससार से रहित हूँ, श्रेष्ठ आत्मा हूँ, परम ज्योति स्वरूप हूँ, विश्वदर्शी हूँ, निरजन हूँ, तब अपना स्वरूप ऐसा झलकता है कि यह अमूर्तीक है, निष्कलक है, जगत मे श्रेष्ठ है, चैतन्य मात्र है व अतिशय कर के ध्यान ध्याता के विकल्प से रहित है।

(२५) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते है—

नाह किंचिन्न मे किंचिद् शुद्धचिद्रूपक विना।
तस्मादन्यत्र मे चिता वृथा तत्र लय भजे ॥१०-४॥

भावार्थ----इस जगत मे शुद्ध चैतन्यरूप के सिवाय न तो मैं कुछ हूँ, और न अन्य ही कोई पदार्थ मेरा हैं, इस लिये शुद्ध चैतन्य रूप को छोड कर और कुछ चिता करना वृथा है, इस लिये मै उसी मे लय होता हूँ।

न देहोऽहं न कर्माणि न मनुष्यो द्विजोऽद्विजः।
नैव स्थूलो कृशो नाह किंतु चिद्रूपलक्षणः ॥५-१०॥

भावार्थ----न मै देह हूं, न आठ कर्म हूं, व मनुष्य हूँ, न ब्राह्मण हूँ, न अब्राह्मण हूं, न मोटा हूँ, न दुवला हू, किंतु मै तो एक चैतन्य स्वरूप लक्षणधारी हूँ।

(२६) प० बनारसीदासजी नाटकसमयसार मे कहते है---

सवैया ३१

जहा शुद्ध ज्ञान की कला उद्योत दीसे तहा,
शुद्धता प्रमाण शुद्ध चारित्र को अश है।
ता-कारण ज्ञानी सब जाने ज्ञेय वस्तु मर्म,
वैराग्य विलास धर्म वाको सरवस है॥
राग द्वेष मोह की दशासो भिन्न रहे याते,
सर्वथा त्रिकाल कर्म जाल सो विध्वस है।
निरुपाधि ,आतम समाधि मे विराजे ताते,
कहिये प्रगट पूरण परम हस है॥ ८१॥

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवन्त कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप है।
काल सो अतीत कर्म चाल सो अभीत जोग,
जाल सों अजीत जाकी महिमा अनूप है॥
मोह को विलास यह जगत को वास मै तो,
जगत सो शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप है।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कोन,
क्रिया को विचार सुपने की दोर धूप है॥९१॥

निरभय निराकुल निगम वेद निरभेद,
जाके परकाश मे जगत माइयतु है।
रूप रस गध फास पुदगल को विलास,
तासो उदवस जाको जस गाइयतु है॥
विग्रहसो विरत परिग्रह सो न्यारो सदा,
जा मे जोग निग्रह को चिन्ह पाइयतु है।
सो है ज्ञान परमाण चेतन निधान ताहि,
अविनाशी ईश मानी शीश नाइयतु है॥ १०६॥

जैसे निरभेदरूप निहचै अतीत हुतो,
तैसे निरभेद अब भेद कौन कहेगो।
दीसे कर्म रहित सहित सुख समाधान,
पायो निज थान फिर बाहिर न बहेगो॥
कबहूँ कदाचि अपनो स्वभाव त्यागि करि,
राग रस राचि के न पर वस्तु गहेगो।

अमलान ज्ञान विद्यमान परगट भयो,
याही भांति आगामी अनतकाल रहेगो ॥ १०७ ॥
जबही ते चेतन विभाव सो उलटि आप,
समै पाय अपनो स्वभाव गहि लीनो है।
तबहीते जो जो लेने योग्य सो सो सब लीनो,
जो जो त्यागि योग्य सो सो सब छाडि दीनो है ॥
लेवे को न रही ठोर त्यागवे को नाहि और,
बाकी कहा उबरयोजु कारज नवीनो है।
सग त्यागि अग त्यागि, वचन तरग त्यागि,
मन त्यागि बुद्धि त्यागि आपा शुद्ध कीनो है ॥१०८॥
करम के चक्र मे फिरत जगवासी जीव,
ह्वै रह्यो बहिर मुख व्यापत विषमता।
अन्तर सुमति आई विमल बडाई पाई,
पुद्गल सो प्रीति टूटी छूटी माया ममता ॥
शुद्ध नै निवास कीनो अनुभौ अभ्यास लीनो,
भ्रमभाव छाडि दीनो भीनोचित्त समता।
अनादि अनत अविकलप अचल ऐसो,
पद अवलम्बि अवलोके राम रमता ॥ १४ ॥
रूप रसवत मूरतीक एक पुदगल,
रूप बिन और यो अजीव द्रव्य द्विधा है।
च्यार हैं अमूरतीक जीव भी अमूरतीक,
याही तै अमूरतीक वस्तु ध्यान मुधा है ॥
और सों न कबहू प्रगट आपा आपही सो,
ऐसो थिर चेतन स्वभाव शुद्ध सुधा है।
चेतन को अनुभौ आराधे जग तेई जीव,
जिन्ह के अखण्ड रस चाखवे की क्षुधा है ॥ ११ ॥
निह्चे निहारत स्वभाव जाहि आतमा को,
आतमीक धरम परम परकासना।
अतीत अनागत वरतमान काल जाको,
केवल स्वरूप गुण लोकालोक भासना ॥
सोई जीव ससार अवस्था माहि करम को,
करतासो दीसे लिये भरम उपासना।

यहै महा मोह को पसार यहै मिथ्याचार,
यहै भौ विकार यह व्यवहार वासना ।। ४ ।।
एह छह । द्रव्य इन ही को हैं जगत जाल,
ता मे पांच जड एक चेतन सुजान है।
काहूकी अनत सत्ता काहू सो न मिले कोई
एक एक सत्ता मे अनत गुण गान है ।।
एक एक सत्ता मे अनत परजाय फिर
एक मे अनेक इहि भाति परमाण है।
यहै स्यादवाद यह सतन की मरयाद
यहै सुख पोप यह मोक्ष को निदान है ।। २२ ।।

सवैया २३

चेतन मडित अग अखडित, शुद्ध पवित्र पदारथ मेरो।
राग विरोध विमोह दशा, समझे भ्रम नाटक पुद्गल केरो ।।
भोग सयोग वियोग व्यथा, अवलोकि कहे यह कर्मजु घेरो।
हैं जिन्हको अनुभौ इह भाति, सदा तिनको परमारथ नेरो ।।१७।।
ज्यो कलधौत सुनारकी सगति, भूषण नाम कहे सब कोई।
कचनता न मिटी तिही हेतु, कहे फिरि औटि के कचन होई ।।
त्यो यह जीव अजीव सयोग, भयो बहुरूप हुवो नहि दोई।
चौतन्ता न गई कबहुं तिहि, कारण ब्रह्म कहावत सोई ।।१२।।
ज्यो नट एक धरै बहु भेष, कला प्रगटै जग कौतुक देखै।
आप लखै अपनी करतूति, वहै नट भिन्न विलोकत पेखै ।।
त्यो घटमे नट चेतन राव, विभाव दशा धरि रूप विसेखै।
खोलि सुदृष्टि लखै अपनो पद, दुन्द विचार दशा नहि लेखै ।।१४।।

सवैया ३१

प्रथम सुदृष्टि सो शरीर रूप कीजे भिन्न,
तामे और सूक्षम शरीर भिन्न मानिये।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि सोई कीजे भिन्न,
ताहू मे सुबुद्धि को विलास भिन्न जानिये ।।
तामे प्रभु चेतन विराजत अखण्ड रूप,
वहे श्रुत ज्ञान के प्रमाण ठीक आनिये।
वाहि को बिचार करि वाही मे मगन हूजे,
वाको पद साधिवे को ऐसी विधि ठानिये ।।१५।।

अलख अमूरति अरूपी अविनाशी अज,
निराधार निगम निरंजन निरन्ध है।
नाना रूप भेष धरे भेष को न लेश धरे,
चेतन प्रदेश धरे चैतन्य का खन्ध है॥
मोह धरे मोही सो विराजे तामे तोही सो न,
मोही सो न तोहीसो न रागी निरबन्ध है।
ऐसो चिदानन्द याहि घट मे निकट तेरे,
ताहि तू विचार मन और सब धन्ध है॥५४॥

शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञानघन सो है व्यवहार माहि,
नव तत्व रूपी पच द्रव्य मे रहत है॥
पच द्रव्य नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखै,
सम्यक दरश यह और न गहत है।
सम्यक दरश जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है॥७॥

(२७) प० द्यानतराय द्यानतविलास मे कहते हैं—

सवैया ३१

चेतना सरूप जीव ज्ञान दृष्टि मे सदीव,
कुम्भ आन आन घीव त्यौ सरीरसौ जुदा।
तीन लोक माहि सार सास्वतो अखण्डधार,
मूरतीक कौ निहार नीर कौ बुदैबुदा।
सुद्ध रूप बुद्ध रूप एक रूप आप रूप,
आतमा यही अनूप पर्म जोति कौ उदा।
स्वच्छ आपने प्रमानि राग दोष मोह मानि,
भव्य जीव ताहि जानि छाडि शोक औ मुदा॥८१॥

चेतना सहित जीव तिहुँ काल राजत है,
ग्यान दरसन भाव सदा जास लहिए।
रूप रस गन्ध फास पुदगल कौ विलास,
मूरतीक रूपी विनासीक जड कहिये॥
याही अनुसार परदर्वको ममत्त डारि,
अपनौ सुभाव धारि आप माहि रहिए।

करिए यही इलाज जातैं होत आप काज,
राग दोष मोह भाव को समाज दहिए ।।६३।।

सिंहावलोकन

ग्यानी जानी ग्यान मे, नमै वचन मन काय।
कायम परमारथविषैं, विषैं-रीति बिसराय।।
विषैं रीति बिसराय, राय चेतना विचारै।
चारै क्रोध बिसार, सार समता विसतारै।।
तारै औरनि आप, आपकी कौन कहानी।
हानी ममता-बुद्धि, बुद्धि अनुभौ तैं ग्यानी ।।६।।

सोहं सोहं होत नित, सास उसास मझार।
ताको अरथ विचारियै, तीन लोक मे सार।।
तीन लोक मैं सार, धार सिवखेत निवासी।
अष्ट कर्म सौं रहित, सहितगुण अष्टविलासी।।
जैसो तैसो आप, थाप निहचै तजि सोहं।
अजपा-जाप सभार, सार सुख सोहं सोहं ।।७।।

दरव करम नोकरमतैं, भावकरमतैं भिन्न।
विकलप नही सुबुद्धकै, सुद्ध चेतनाचिन्न।।
सुद्ध चेतनाचिन्न, भिन्न नहिं उदै भोग मैं।
सुख दुख देहमिलाप, आप सुद्धोपयोग मैं।।
हीरा पानी माहिं, नाहिं पानी गुण ह्वै कब।
आग लगै घर जलै, जलै नहिं एक नभ दरव ।।८।।

जो जानै सो जीव है, जो मानै सो जीव।
जो देखै सो जीव है, जीवै जीव सदीव।।
जीवै जीव सदीव, पीव अनुभौ रस प्रानी।
आनन्दकन्द सुबन्द, चन्द पूरन सुखदानी।।
जो जो दीसै दर्व, सर्व छिनभगुर सो सो।
सुख कहि सकै न कोइ, होइ जाको जानै जो ।।९।।

सब घट मैं परमातमा, सूनी ठौर न कोइ।
बलिहारी वा घट्ट की, जा घट परगट होइ।।
जा घट परगट होइ, धोइ मिथ्यात महामल।
पच महाव्रत धार, सार तप तपै ग्यानबल।।

केवल जोत उदोत, होत सरवग्य दसा तव।
देही देवल देव, सेव ठानै सुर नर सब ॥१०॥
द्यानत चक्री जुगलिये, भवनपती पाताल।
सुर्गइन्द्र अहमिन्द्र सव, अधिकअधिक सुख भाल ॥
अधिकअधिक सुख भाल, काल तिहुँ नन्त गुनाकर।
एक समै सुख सिद्ध, रिद्ध परमातम पद धर ॥
सो निहचै तू आप, पापबिन क्यों न पिछानत।
दरस ग्यान थिर थाप, आपमैं आप सु द्यानत ॥११॥

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्मविलास मे कहते हैं —

कवित्त

ज्ञान मे है ध्यान मे है वचन प्रमाण मे है,
अपने सुथान मे है ताहि पहचानिरे।
उपजे न उपजत मूए न मरत जोई,
उपजन मरन व्यौहार ताहि मानिरे ॥
राव सो न रक सो है पानी सो न पक सो है,
अति ही अटक सो है ताहि नीके जानिरे।
आपनो प्रकाश करै अष्ट कर्म नाश करै,
ऐसी जाकी रीति 'भैया' ताहि उर आनिरे ॥१३॥

सवैया ३१

जैसो वीतराग देव कह्यो है स्वरूप सिद्ध,
तैसो ही स्वरूप मेरो या मे फेर नाही है।
अष्ट कर्म भाव की उपाधि मोमे कहूँ नाहि,
अष्ट गुण मेरे सो तौ सदा मोहि पाहि हैं ॥
ज्ञायक स्वभाव मेरो तिहू काल मेरे पास,
गुण जे अनन्त तेऊ सदा मोहि माही हैं।
ऐसो है स्वरूप मेरो तिहूँ काल सुद्ध रूप,
ज्ञान दृष्टि देखते न दूजी परछाही हैं ॥ ६ ॥

सवैया २३

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानन्द शुद्ध विराजै।
अन्तर दृष्टि खुलै जब ही तब, आपुही मे अपनो पद छाजै ॥
सेवक साहिब कोउ नहीं जग, काहे को खेद करै किहँ काजै।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै ॥३६॥

ए मन मूढ कहा तुम भूले हो, हस विसार लगे परछाया।
या मे स्वरूप नही कछु तेरो जु, व्याधि की पोट बनाई है काया ॥
सम्यक रूप सदा गुण तेरो सु, और वनी सब ही भ्रम माया।
देखत रूप अनूप विराजत, सिद्ध समान जिनन्द बताया ॥४७॥
चेतन जीव निहारहु अन्तर, ए सब हैं परकी जड काया।
इन्द्र कमान ज्यो मेघ घटामहिं, शोभत है पै रहै नहि छाया ॥
रैन समै सुपनो जिम देखतु, प्रात वहै सब झूठ बताया।
त्यो नदिनाव सयोग मिल्यो तुम, चेतहु चित्त मे चेतन राया ॥४८॥
सिद्ध समान चिदानन्द जानिके, थापत है घटके उर बीच।
बाके गुण सब वाहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच ॥
ज्ञान अनन्त विचारत अन्तर, राखत है जिय के उर सीच।
ऐसे समकित शुद्ध करतु है, तिनते होवत मोक्ष नगीच ॥६३॥

सवैया ३१

जबै चिदानन्द निज रूप को सम्भार देखे,
कौन हम कौन कर्म कहाँ को मिलाप है।
राग द्वेष भ्रम ने अनादि के भ्रमाये हमे,
ताते हम भूल परे लाग्यो पुण्य पाप है॥
राग द्वेष भ्रम ये सुभाव तो हमारे नाहिं,
हम तो अनन्त ज्ञान, भान सो प्रताप है।
जैसो शिव खेत वसै तैसो ब्रह्म यहाँ लसै,
तिहूँ काल शुद्ध रूप 'भैया' निज आप है॥ ६॥
जीव तो अकेलो है त्रिकाल तीनो लोक मध्य,
ज्ञान पुज प्राण जाके चेतना सुभाव हैं।
असख्यात परदेश पूरित प्रमान बन्यो,
अपने सहज माहि आप ठहराव है॥
राग द्वेष मोह तो सुभाव मे न याके कहूँ,
यह तो विभाव पर सगति मिलाप है।
आतम सुभाव सौं विभाव सौ अतीत सदा,
चिदानन्द चेतवे को ऐसे मे उपाव है॥१०॥

छप्पै

ऊरध मध अध लोक, तासु मे एक तिहूँ पन।
किसिहि न कोउ सहाय, याहि पुनि नाहि दुतिय जन॥

जो पूरव कृत कर्म भाव, निज आप वन्ध किय ।
सो दुख सुख द्वय रूप, आय इहि थान उदय दिय ।।
तिहिमध्य न कोऊ रख सकति, यथा कर्म विलसततिम ।
सब जगत जीव जगमे फिरत, ज्ञानवन्त भाषन्त इम ।।१३।।

सवैया ३१

आतम अनोपम है दीसै राग द्वेष विना,
देखो भव्य जीव ! तुम आप मे निहारकै ।
कर्म को न अश कोऊ भर्म को न वश कोऊ,
जाकी सुद्धताई मैं न और आप टारकै ।।
जैसो शिव खेत वसै तैसो ब्रह्म इहाँ लसै,
इहाँ उहाँ फेर नाहि देखिये विचारकै ।
जेई गुण सिद्ध माहि तेई गुण ब्रह्म पाहि,
सिद्ध ब्रह्म फेर नाहि निश्चय निरधारकै ।। ७ ।।

छप्प

त्रिविधि कर्म ते भिन्न, भिन्न पर रूप परसतै ।
विविधि जगत के चिह्न, लखै निज ज्ञान दरसतै ।।
वसै आप थल माहि, सिद्ध सम सिद्ध विराजहि ।
प्रगटहि परम स्वरूप, ताहि उपमा सब छाजहि ।।
इह विधि अनेक गुण ब्रह्ममहि, चेतनना निमल लसै ।
तस पद त्रिकाल वन्दत भविक, शुद्ध स्वभावहि नित वसै ।।६।।
ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषाये ।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखाये ।।
देत परिग्रह त्याग, हेत निहचै निज मानत ।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ।।
सो अविनाशी अविचल दरब, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम ।
निर्मल विशुद्ध शास्वत सुथिर, चिदानन्द चेतन वरम ।। ८ ।।

सवैया ३१

वर्णमे न ज्ञान नहि ज्ञान रस पचन मे,
फर्स मे न ज्ञान नही ज्ञान कहूँ गन्ध मे ।
रूप मे न ज्ञान नही ज्ञान कहूँ ग्रन्थन मे,
शब्द मे न ज्ञान नही ज्ञान कर्म वन्घ मे ।।
इनते अतीत कोऊ आतम स्वभाव लसै,
तहां वसै ज्ञान शुद्ध चेतना के खन्ध मे ।

छठा अध्याय

सहज सुख साधन ।

यह बताया जा चुका है कि ससार असार दु खमय है, शरीर अशुचि व अथिर है, इन्द्रियो के भोगो का सुख अतृप्तिकारी व तृष्णा वर्द्धक है तथा सहज सुख अपने ही आत्मा का स्वभाव है। और यह आत्मा अपनी सत्ता को भिन्न रखता है। आप अकेला ही कर्म के सयोगवश दु ख सुख उठाता हुआ भव-भव मे जन्म मरण करता हुआ भ्रमण करता है। यह अपनी करनी का आप ही उत्तरदायित्व रखता है। कोई इसके दु खो को बँटा नही सकता, हर नही सकता। तथा इस आतमा का स्वभाव बिलकुल शुद्ध ज्ञाता दृष्टा आनन्दमयी तथा परम शान्त और निर्विकार है। सिद्ध भगवान के समान ही हर एक आतमा का स्वभाव है। अब यह बताना है कि सहज सुख जो अपने ही पास है, अपना गुण है वह अपने को कैसे मिले ? सहज सुख का स्वाद आना ही हमारी विषय सुख की तृष्णा के रोग को शमन करने का एक मात्र उपाय है।

किसी वस्तु का स्वाद लेने के लिये यह आवश्यक है कि स्वाद को लेने वाला ज्ञानोपयोग उस वस्तु की ओर एकाग्र हो जावे और उस समय दूसरी चिन्ताओ से रहित हो जावे। उस वस्तु की ओर ज्ञान की थिरता ही उस वस्तु का स्वाद अनुभव कराने मे कारण है। जैसे मिष्ट जल सरोवर मे है ऐसा जानते हुए भी मिष्ट जल का स्वाद तब ही आवेगा जब जल को लेकर जिह्वा इन्द्रिय के द्वारा स्पर्श कराया जायगा और मति ज्ञानोपयोग थिर होकर उधर एकाग्र होगा। यदि किसी और काम की तरफ उपयोग आकुलित होगा तो जल को पीते हुए जल का स्वाद नही भासेगा। यदि हमारा ध्यान किसी और कार्य मे है ओर कोई खटमल काट रहा है तो हमको वेदना नही होगी। जब उपयोग स्पर्श इन्द्रिय के द्वारा उस काटे हुए स्थल पर जाकर रुकेगा तब ही उस वेदना का ज्ञान होगा। उदास चित्त होने पर बढिया वस्त्र व रत्नमय आभूषण पहनने पर भी सुख की वेदना नही होती, क्योकि उपयोग उनकी सुन्दरता की ओर उपयुक्त नही है। जब उपयोग उन वस्त्र व आभूषणो की तरफ राग सहित लवलीन होगा तब उनके स्पर्श का स्वाद आयगा।

एक शोकाकुल मानव तीव्र धनकी हानिसे पीडित है, उसकी प्रियतमा स्त्री उसको प्रेमपूर्वक आलिंगन करती है तो भी शोकातुर का उपयोग स्त्री के स्पर्श मे लवलीन न होने से उसको स्त्रीके स्पर्श का स्वाद नही आयेगा। कचहरी जाने की शीघ्रता मे बहुत ही सुन्दर व रसीली रसोई भी खाई हुई अपने स्वाद के रस को भान नही कराती है क्योकि उपयोग रसोई के खाने मे लवलीन नही है किन्तु व्यग्र है। एक वैरागी साधु के गले मे बहुत ही सुगन्धित पुष्पो की माला डाल दी जाती है, उस साधु का उपयोग राग सहित उस माला की सुगन्ध लेने मे उपयुक्त नही होता है इसलिये उस साधु को उस सुगन्धि का सुख वेदित नही होता।

एक बडी सुन्दर स्त्री का चित्र किसी रोग की पीडा से पीडित मानव के आखो के सामने लाया जाता है, वह पीड़ा के अनुभव मे लीन है। उस के भीतर रागसहित उस चित्र के देखने का भाव नही होता है। अतएव उस सुन्दर चित्र देखने का स्वाद उस व्यग्रचित्त रोगी को नही आयगा। एक पतिव्रता स्त्री पति के वियोग से आतुर चिन्तातुर बैठी है, उस के सामने नाना प्रकार के सुरीले गान किये जाते है परन्तु उस का ज्ञानोपयोग रागसहित उनको नही सुनता है, उन पर उपयोग नही लगता है इस लिये गान सुनने का सुख उस दुखित अबला के अनुभव मे नही

आता। इस से सिद्ध है कि इन्द्रिय सुख व दुःख का भान तब ही होता है जब ज्ञानोपयोग की स्थिरता होती है।

एक मजदूर नंगे पैर जेष्ठ की धूप मे भार लिये कोसो चला जाता है उस को पग के जलने का दुःख नही होता क्योकि उस का उपयोग पैसा लाभ करने मे उलझा है, वह उस पग की पीडा सराग भाव से अनुभव नही करता है। उसी जेठ मास की धूप मे यदि किसी धनिक को जो बिना जूता पहने व छतरी लगाए कभी नही चलता है, दस कदम भी नंगे पैर चलने को बाधित किया जावे तो वह उपयोग को उधर ही लगाता हुआ बहुत दुःख अनुभव करेगा। एक साधु आत्मध्यान मे तल्लीन है, शरीर पर डास, मच्छर काटते है, साधु को किंचित् भी कष्ट नही होता है क्योकि उपयोग उस तरफ नही आया है। ध्यान हटते ही जैसे ही उपयोग उधर आता है वह काटने की वेदना को अनुभव करता है।

इसी तरह जब सहज सुख आत्मा मे है, आत्मा का स्वभाव है तब उस के लाभ का यही साधन है कि हम अपना उपयोग सर्व ओर से खीच कर एक अपने आत्मा ही पर लगावे। आत्मा के स्वभाव के ज्ञान मे थिरता से जमे। जिस समय उपयोग सर्व अपने आत्मा से भिन्न द्रव्य तथा भावो से हट कर अपने आत्मा के ही शुद्ध गुणो मे रमण करेगा तब ही सहज सुख का स्वाद आएगा।

इस लिये आवश्यक है कि सहज सुख जिसमे है उस आत्मा को भले प्रकार पहचाना जावे। यह विश्वास लाया जावे कि आत्मा है और उस का स्वभाव इस तरह का है और उसी विश्वासयुक्त आत्मा के ज्ञान मे उपयोग को स्थिर किया जावे। इसी को रत्नत्रय मार्ग कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र की एकता को रत्नत्रय मार्ग कहते हैं। यही सहज सुख का साधन है।

आत्मा का स्वभाव शुद्ध सिद्ध समान ज्ञानानन्द वीतरागमय है। यहदृढ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। इसी दृढ श्रद्धासहित आत्मा के स्वभाव का ज्ञान सम्यग्ज्ञान है तथा इसी श्रद्धा सहित ज्ञान मे थिर होना सम्यक्चारित्र है। ये तीनो भी आत्मा से भिन्न नही है, आत्मा ही है। जैसे श्री महावीरस्वामी का श्रद्धान व महावीरस्वामी का ज्ञान व महावीरस्वामी

का ध्यान महावीरस्वामीसे भिन्न नही है,तीनोका लक्ष्यबिन्दु एक महावीर स्वामी है। सुवर्ण का श्रद्धान, सुवर्ण का ज्ञान व सुवर्ण का ध्यान सुवर्ण से भिन्न नही है, सुवर्ण ही है। अतएव आत्मा ही स्वय अपने लिये आप ही सहज सुख का साधन है। अर्थात आत्मा आप ही अपने ध्यान से सहज सुख को पा लेता है। इसलिये आत्मा का ध्यान या आत्मा का अनुभव ही सहज सुख का साधन है।

यह ज्ञानोपयोग पाँच इन्द्रियो के विषयो मे या मन के विचारो मे उलझा रहता है। इसी को इन से हटा कर जब आत्मस्थ किया जाता है तब ही आत्मा का ध्यान हो जाता है। जैसे एक मानव किसी ऐसे घर मे बैठा है जिस के छ दिशाओ मे छ खिडकियाँ है। वह इन खिडकियो के द्वारा सदा ही बाहर देखा करता है। एक खिडकी को छोड कर दूसरी मे, उस को छोड कर तीसरी मे, उस को छोड कर चौथी मे, उस को छोड कर पाँचवी मे, उस को छोड कर छठी मे, फिर किसी मे फिर किसी मे, इस तरह इन खिडकियो के द्वारा बाहर ही देखा करता है, कभी भी खिड कियो से देखना बन्द कर के अपने घर को नही देखता है। यदि वह खिड-कियो से देखना बन्द करदे, भीतर देखे तो उसे अपने घर का दर्शन हो जावे। पाच इन्द्रिय और मन ये छ खिडकिया है, इन से हम बाहर २ देखा करते है। रातदिन इन ही के विषयो मे उपयोग को रमाते है। इसी से हमे अपने आत्मा का दर्शन नही होता है। यदि एक क्षणभर के लिये भी इन से उपयोग हटाले और भीतर देखे तो हमे अपने आत्मा का दर्शन हो सकता है।

जिस का हम को ध्यान करना है वह आप ही है, कोई दूसरी वस्तु नही है। उपयोग जब आत्मा के सिवाय जो जो अन्य पदार्थ हैं, भाव हैं या पर्याये है उन से हटेगा तब ही आत्मा का अनुभव हो जायगा। सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य ही आत्मध्यान का साधक हैं।

सच्चा ज्ञान तो यह है कि यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, विभाव से अशुद्ध है। सच्चा वैराग्य यह है कि मेरे आत्मा का हितकारी आत्मा के सिवाय कोई और पदार्थ नही है। आत्माही मे आत्मा की अटूट अमिट ध्रुव सम्पत्ति है। इसे किसी और वस्तु से राग करने की जरूरत नही है। हमें अपने आत्मा का ज्ञान दो अपेक्षाओ से करना चाहिये-एक

निश्चयनय, दूसरा व्यवहारनय। जिस दृष्टि से पदार्थ का मूल शुद्ध स्वभाव देखने मे आता है। उस दृष्टि, अपेक्षा, नय(point of view) को निश्चयनय कहते हैं। जिस दृष्टि से पदार्थ का भेदरूप स्वरूप व अशुद्ध स्वभाव देखने मे आता है उस दृष्टि, अपेक्षा, नय को व्यवहार नय कहते हैं। अशुद्ध वस्तु को शुद्ध करने का उपाय यही है, जब उसको निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनो से जाना जावे।

हमारे सामने एक मैला कपडा है। जब तक इसको निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनो से न जाना जायगा तब तक इसको साफ करने का उपाय नही बन सकेगा। निश्चय नय से कपडा स्वभाव से सफेद रुई का बना हुआ है इसलिये सफेद स्वच्छ है। अर्थात् निश्चय नय से देखते हुए वही मैला कपडा सफेद स्वच्छ दिखता है क्योकि कपडा तो उजला ही है, मैल तो ऊपर से चढा हुआ धूआ है, या चढी हुई रज है, या चढा हुआ पसीना है, कपडे का स्वभाव अलग है, मैल का स्वभाव अलग है, मैल है सो कपडा नही, कपडा है सो मैल नही इसलिये असल मे मूल मे स्वभाव मे कपडा सफेद स्वच्छ हैं ऐसा ही कपडे को देखना निश्चय नय का काम हैं। व्यवहार नय से कपडा मैला है क्योकि मैल ने स्वच्छता को ढक दिया है। कपडा मैला दिखता है। मैल के सयोग से मलीनता कपडे मे हो रही है। कपडे की वर्तमान अवस्था विभाव रूप है, अशुद्ध हैं। दोनों ही दृष्टियो से दो भिन्न बातों को देखना ठीक है, निश्चय नय से कपडा स्वच्छ है, यह स्वभाव की दृष्टि भी ठीक है। व्यवहार नय से कपडा मलीन है, यह विभाव की दृष्टि भी ठीक है। यदि कोई एक ही दृष्टि को माने दूसरी दृष्टि को सर्वथा न माने तो ज्ञान उस मैले कपडे का ठीक न होगा। और कभी भी कपडा साफ नही किया जा सकेगा।

यदि कोई निश्चय नय का पक्ष पकड कर यह ही माने कि यह कपडा स्वच्छ ही है, उजला ही है, यह मैला है ही नही तो ऐसा मानने वाला कभी कपडे को साफ करने का उद्यम न करेगा। इसी तरह यदि कोई व्यवहारनय का पक्ष पकड कर यह ही माने कि यह कपडा मैला ही है, मैला ही रहना इसका स्वभाव है, तो ऐसा मानने वाला भी कभी कपडे को स्वच्छ न करेगा। दोनो मे से एक दृष्टि से देखने वाला कभी भी कपडे को साफ नही कर सकता। जो कोई दोनो दृष्टियो से कपडे को

देखेगा कि यह कपडा स्वभाव से तो स्वच्छ है परन्तु वर्तमान मे इसकी स्वच्छता को मैल ने ढक दिया है, मैल कपडा नही, कपडा मैल नही, दोनो अलग-अलग स्वभाव वाले है तब अवश्य मैल को किसी मसाले से धोया जा सकता है, ऐसा यथार्थ ज्ञान एक बुद्धिमान को होगा और वह कपडे को अवश्य स्वच्छ कर डालेगा। इसी तरह यह आत्मा दोनो नयो से जानने योग्य है। निश्चय नय से यह बिल्कुल निराला, अकेला, सिद्ध समान शुद्ध है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, निर्विकार है, वीतराग है, अमूर्तीक है, परमानन्दमय हैं, इसमे कोई मलीनता व अशुद्धता नही है। न इसके आठो कर्मो का बन्धन है, न रागद्वेष, क्रोधादि भाव कर्म हैं, न शरीरादि नोकर्म हैं। न इसके पास मन है, न वचन हैं, न काय है। यह एकाकी स्वतन्त्र परम शुद्ध स्फटिक मणि के समान हैं। यही इस आत्म-द्रव्य का निज स्वभाव है, मूल स्वभाव है, निजतत्व है।

व्यवहारनय से यह अपना आत्मा कर्मबन्ध सहित है, पाप पुण्य को रखता है, सुख दुख को भोगता है। क्रोधादि भावो मे परिणमता है, इन्द्रियो से व मन से बहुत थोडा जानता हैं। यह बहुत सी बातो का अज्ञानी है। वर्तमान मे पुद्गल के सयोग से जो इसकी अशुद्ध सासारिक अवस्था हो रही है इस बात का ज्ञान व्यवहार नय या पर्याय दृष्टि द्वारा देखने से होता है। दोनो ही बाते अपनी-अपनी अपेक्षा से सत्यार्थ है।

स्वभाव आत्मा का शुद्ध है, विभाव अशुद्ध हैं। यदि निश्चय नय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा को शुद्ध मान ले तो कभी आत्मा को शुद्ध करने का यत्न नही हो सकेगा और जो व्यवहार नय का पक्ष ही ग्रहण करके सर्वथा ही आत्मा अशुद्ध ही मान ले तो भी शुद्ध करने का यत्न नही हो सकेगा। यत्न तब ही हो सकेगा जब निश्चय नय से स्वभाव मे शुद्ध होने पर भी व्यवहार नय से विभाव मे हो रहा है इस लिये अशुद्ध है। यह अशुद्धता पुद्गल के सयोग से है। इसलिये इस सयोग को हटाया जा सकता है, ऐसा भाव जब होगा तब ही आत्मा के शुद्ध करने का प्रयत्न हो सकेगा। यही आत्मा का सच्चा ज्ञान हैं। सच्चा वैराग्य यह हैं कि आत्मा का स्वभाव मे रहना ही आत्मा की सुन्दरता है। यदि यह स्वभाव मे हो, इसे किसी बात के जानने देखने की चिन्ता न हो, कोई क्रोध, मान, माया, लोभ का क्लेश न हो, कोई तृष्णा न हो,

कोई दुख न हो, कोई विकार न हो, कोई जन्म मरण न हो, सदा ही अपने स्वाभाविक सहज सुख का अनुभव हो। कर्म का सयोग तथा शरीर का सम्बन्ध इसके गुणो का घातक है, इसकी सुन्दरता को बिगाडने वाला है, इसे आकुलित, खेदित, शोकित रखने वाला है।

अतएव मुझे किसी भी परमाणु मात्र पुद्गल से प्रयोजन नही है, न पुण्य से न पापसे, न सासारिक क्षणिक सुख से, न दुखसे, न इन्द्र अहमिंद्र पद से, न चक्रवर्ती विद्याधर नरेन्द्र पद से। कोई भी ससार की अवस्था मेरे लिये हितकारी नही है। ऐसा सच्चा वैराग्य हो कि ससार मात्र विरस दीखे। सर्व ही कर्म का सयोग त्यागने योग्य पर दीखे, सिवाय निज स्वभाव के और सब को अकार्यकारी स्वभाव विकारक जान कर सबसे मोह रागद्वेष छोड देना यही सच्चा वैराग्य है। सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ आत्म ध्यान करना ही रत्नत्रय धर्म है या सहज सुख का साधन है।

जैसे मलीन कपडे को स्वच्छ करने के लिये कपडा स्वच्छ है, मैल के सयोग से मैला है इस सच्चे ज्ञान को तथा कपडे के स्वभाव को ढकने वाले मैल की कोई जरूरत नही है, यह कपडे के लिए अहितकारी है, ऐसे सच्चे वैराग्य की जरूरत है, और साथ-साथ इस सच्चे ज्ञान व वैराग्य को लिए हुए कपडे पर ध्यान लगाने की जरूरत है, तब कपडा स्वच्छ होगा वैसे ही ज्ञान वैराग्य के साथ आत्मा के ध्यान से आत्मा शुद्ध होगा।

यदि कोई कपडे को स्वच्छ करने की इच्छा रखता हुआ कपडे पर मसाला रखके इधर उधर ध्यान रक्खे, कपडे पर ध्यान न रक्खे व एकचित्त हो कपडे पर बलपूर्वक रगड न लगावे तो कभी भी कपडे का मैल न कटेगा और वह कपडा कभी भी स्वच्छ न होगा। इसी तरह कोई सच्चे ज्ञान वैराग्य सहित होकर व्यवहार चारित्र का मसाला लेकर यदि आत्मा को शुद्ध करना चाहे, जप तप करे, सयम पाले परन्तु उपयोग को एकाग्र न करे, आत्मा मे यान न लगावे, आत्मानुभव न करे तो कदापि आत्मा शुद्ध न होगा।

आत्मा के शुद्ध करने का व सहज सुख के पाने का एक मात्र उपाय आत्मध्यान है। जो उपाय सहज सुख पाने का है वही उपाय आत्मा के

मैल काटने का है। आत्मा के कर्म मैल का सयोग रागद्वेष मोह भावो से होता है। तब कर्म मैल का कटना-दूर होना वीतराग भावों से होता है। जब आत्मध्यान किया जाता है, सच्चे ज्ञान व सच्चे वैराग्य के साथ शुद्ध आत्मा के स्वभाव मे एक तान हुआ जाता हैं तब वीतरागता का अश बढता जाता है। यही ध्यान की अग्नि है जो कर्म ईधन को जलाती है।

जिस आत्मध्यान से सहज सुख का स्वाद आता है उसी आत्म ध्यान से आत्मा का कर्म मैल कटता है। तथा इसी आत्मध्यान से आत्मा का बल अधिक अधिक प्रगट होता है। अतराय कर्म का मैल जितना-जितना कटता है उतना२ आत्मबल (soul force) बढता जाता है। आत्मध्यान के भीतर एक गुण और प्रगट हो जाता है, वह है धैर्य (firmness)। धैर्य इतना अधिक बढ जाता है कि अचानक सकटो के व आपत्तियो के आने पर वह आकुलित नही होता है, कर्मो का उदय मानकर सतोषी रहता है, तथा आत्मा को अविनाशी व अजर अमर मानता हुआ वह सासारिक आपत्तियो से आत्मा का कुछ भी बिगाड नही समझता है। बडे बडे उपसर्ग आने पर भी वह मेरु पर्वत के समान अचल रहता है।

जैसे मिश्री का कण एक क्षण मात्र जिह्वा पर रहे तौभी वह उतनी देर ही मिष्ट स्वाद देता है, वैसे आत्मा का ध्यान यदि बहुत ही अल्प समय तक रहे तौ भी वह सहज सुख का स्वाद देता है। एक मिनट के साठ सेकण्ड होते है, एक सेकण्ड के भी सौ भाग करो। इस सौवे भाग भी यदि उपयोग आत्मस्थ हो जावे तौ भी सहज सुख अनुभव मे आएगा। अतएव आत्मध्यान के अभ्यासी को समता भाव के साथ जितनी देर तक लगातार ध्यान लग सके, आकुलता न हो, उतनी देर ही आत्म ध्यान करके सतोष मानना चाहिये। अधिक समय तक आत्म स्थिरता करने की चिन्ता व घबडाहट नही लानी चाहिये। बडे बडे शक्तिशाली व बडे बडे वीर वैराग्यवान पुरुष भी आत्मा का ध्यान लगातार दो घडी के भीतर ही भीतर कर सकते हैं। दो घडी अडतालीस (४८) मिनट की होती हैं।

एक बात और याद रखनी चाहिये कि आत्म ध्यान पैदा करने की माता आत्मा के शुद्ध [illegible]

जा सकती है। भावना करते करते यकायक ध्यान पैदा होता है जो कम या अधिक देरतक बिलकुल एकाग्र रहता हैं। ध्यान के समय मन, वचन, काय तीनो के व्यापार बन्द हो जाते हैं, चिन्तवन नहीं होता है। आत्मा के स्वरूप मे उसी तरह रमणभाव हो जाता है जैसे किसी सुन्दर रूप के देखने मे उपयोग एकाग्र हो जाता हैं। उस समय ध्याता को यह विचार भी नही होता है कि मैं ध्यान करता हूँ या आत्मा को ध्याता हूँ। वह दशा एक ऐसी है जिस का वर्णन नही हो सकता हैं। उस दशा को अद्वैत भाव कहते हैं। वहाँ एक आत्मा का ही स्वाद विकल्प व विचार रहित होता है। इस स्वानुभवरूप आत्म-ध्यान को पैदा करने वाली आत्मा की भावना है। जैसे दूध को विलोते २ मक्खन निकलता हैं वैसे आत्मा की भावना करते-करते आत्म-ध्यान या आत्मानुभव हो जाता है।

सच्चे ज्ञान के लिये यह कहा जा चुका है कि हमे आत्मा को निश्चय नय तथा व्यवहार नय दोनो से जानना चाहिये। इन दोनो दृष्टियो मे से आत्मा की भावना करने के लिये निश्चय दृष्टि को ग्रहण कर लेना चाहिये, व्यवहार दृष्टि के विषय को धारणा मे रखना चाहिये, भावना के सामने न लाना चाहिए। जिस स्थान पर पहुँचना है उस स्थान पर ले जाने वाले मार्ग पर चलने से ही हम उस स्थान पर पहुँच सकते हैं। हमे शुद्धात्मा का अनुभव प्राप्त करना है, अतएव शुद्धात्मा के स्वरूप की ही भावना करनी चाहिये।

निश्चयनय ही आत्मा को शुद्ध बताती है, दिखाती है। इसलिये मैं शुद्ध हूँ, निर्विकार हूँ, ज्ञायक हूँ, परमानन्दमय हूँ, परमात्मा रूप हूँ, यही भावना बार बार करना ही आत्मानुभव को जागृत करने वाली है। जब आत्मानुभव हो जाता है तब भावना बन्द हो जाती है। तब अद्वैतभाव, निर्विकल्प भाव, स्वात्मरमण भाव, एकाग्र भाव ही रहता है। जब तक स्वात्मानुभव रहता हैं, तब तक न निश्चय नय का पक्ष या विचार है, न व्यवहार नय का पक्ष या विचार है। आत्मानुभव नयो से बाहर, विकल्पो से बाहर, अनिर्वचनीय, अचिंतनीय एक परमानन्दमयी अमृत का समुद्र हैं। इसी समुद्र मे स्नान करते हुए डुबकी लगाना आत्म ध्यान है।

आत्मानुभव या आत्म-ध्यान ही निश्चय रत्नत्रय है या निश्चय मोक्ष मार्ग है। इसके बाहरी साधनो मे व्यवहार रत्नत्रय या व्यवहार मोक्ष मार्ग उपयोगी है जिसका वर्णन आगे किया जायगा। यहाँ पर आत्म ध्यान करने के कुछ जरूरी निमित्त कारणो को वता देना उचित होगा। (ध्यान करने वाले मे दृढ व पक्का श्रद्धान आत्मा का निश्चय नय तथा व्यवहार नय से होना चाहिये तथा उसके मन मे सच्चा ज्ञान व सच्चा वैराग्य होना चाहिये, ऐसा ध्याता आत्म रसिक होता है, आनन्दामृत पीने का प्रेमी होता है। जैसे कोई के घर मे वडा ही मिष्ट रस हो वह पुन पुन उसे पीकर स्वाद को लेकर सुख भोगता है वैसे ही आत्मरसिक बार बार जितना ही अधिक हो सके आत्म-ध्यान करके आत्मा के आनन्दामृत का स्वाद लेता है।

इस घोर आपत्तिमय ससार के भीतर रहता हुआ वह एक आत्मानद का ही प्रेमी हो जाता है। अतएव जिन निमित्तो से ध्यान हो सकता है उन निमित्तो को अवश्य मिलाता है। ध्यान करने वाले को समय, स्थान, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आसन वैठने का व आसन लगाने का योग्य उपाय करना चाहिए तथा उस विधि का सेवन करना चाहिये जिससे ध्यान हो सके।

(१) **ध्यान**—करने का समय अत्यन्त प्रात काल सूर्योदय के पहले से लेकर सूर्योदय के पश्चात् तक छ घडी, चार घडी, या दो घडी है। यह उत्तम, मध्यम, जघन्य है। अभ्यास करने वाला जितना भी समय दे सके उतना ही ठीक है। यदि दो घडी करना हो तो १ घडी सूर्योदय के पहले से लेकर एक घडी पीछे तक करे इसी तरह मध्यम व उत्तम मे करे। दोपहर को व साँझ को भी इसी तरह तीन काल है। मध्य रात्रि को भी ध्यान इसी तरह किया जा सकता है। इसके सिवाय जिस समय मन लगे उसी समय ध्यान किया जा सकता है। सब से श्रेष्ठ समय प्रात काल का है। तब समय बिलकुल शान्त रहता है, वातावरण शीतल व सुहावना होता है।

(२) **स्थान**—ध्यान के लिये स्थान पवित्र व शान्त व क्षोभ रहित होना चाहिये, जहाँ पर स्त्रियो का व बच्चो का शब्द न आवे, पुरुषों की

वाते भी न सुनाई दे। हवा अनुकूल हो। न वहुत शीत हो न वहुत उष्णता हो। जितना एकान्त होगा उतना ध्यान अधिक अच्छा हो सकेगा। पर्वत का शिखर, पर्वत की गुफा, वन, उपवन, नदी व समुद्र तट, नगर बाहर उद्यान या नशिया, श्री जिन मन्दिर का एकान्त स्थान, धर्मशाला का या उपाश्रय का एकान्त स्थान, व अपने घर का ही एकान्त स्थान जहा निराकुलता रहे ऐसा स्थान ध्यान के लिये खोज लेना चाहिये।

(३) **मन की शुद्धि**—जितनी देर ध्यान करना हो उतनी देर और सर्व कामो से निश्चिन्त हो जावे। यदि कोई काम दूसरो की देखभाल, रक्षा या प्रवन्ध का हो तो दूसरे के सुपुर्द करदे, अपने ऊपर कोई चिन्ता न रहे। निश्चिन्त हुए विना ध्यान मे मन न लगेगा। जहाँ भय का कारण हो वहा न वैठे अथवा भय का कारण सम्भावित हो तो किसी भी अन्य मानव को अपने साथ मे रखे जिससे वह रक्षा रखे। ध्याता के मन मे आकुलता न होनी चाहिये। मन से शोक, विषाद आदि दूर कर उतनी देर के लिये मन का ममत्व सबसे छोडकर ध्यान करने वैठे।

(४) **वचन शुद्धि**—ध्यान मे जितनी देर लगानी हो उतनी देर मौन रहे व ध्यान के सहकारी मन्त्रो को पढे या पाठ पढे परन्तु और किसी से वातचीत न करे।

(५) **काय शुद्धि**—शरीर मे बहुत भूख न हो, बहुत भरा न हो, दर्द न हो, मलमूत्र की बाधा न हो। शरीर भीतर से स्वस्थ हो, वाहर से भी पवित्र हो। शरीर पर जितना कम वस्त्र हो उतना ठीक है। वस्त्र रहित भी ध्यान किया जा सकता है। जिस तरह डास मच्छरादि की वाधा को होते हुए थिरता रहे वैसे उपाय करना चाहिये। सरदी की वाधा नही सह सके तो अधिक वस्त्र ओढ ले। शरीर भीतर व वाहर से निराकुल हो। शरीर के कारण से कोई बाधा मन मे न आवे ऐसा शरीर को रक्खे।

(६) **आसन बैठने का**—ध्यान के लिये कोई घास का आसन या चटाई या पाटा या शिला नियत करले। यदि कुछ न मिल सके तो पवित्र भूमि पर भी ध्यान किया जा सकता है।

(७) **आसन लगाना**—ध्यान करते हुए पद्मासन, अर्द्ध पद्मासन या

कायोत्सर्ग ये तीन आसन सुगम है तथा बडे उपयोगी हैं। आसन लगाने से शरीर थिर रहता है। शरीर की थिरता से श्वासोछ्वास सम तरह से चलता है व मन निश्चल रह सकता है। दोनो पग जाघो पर रक्खे, दोनो हथेली एक को दूसरे पर रक्खे, सीधा मस्तक सीधी छाती करके इस तरह बैठे कि दृष्टि नाक पर मालूम होती हो। यह पद्मासन है। एक जाँघ के नीचे एक पग ऊपर रखके पद्मासन की तरह बैठने को अर्ध पद्मासन कहते हैं। सीधे खडे हो दोनो पग आगे की तरफ चार अगुल की दूरी पर रखकर दोनो हाथ लटका कर ध्यानमग्न रहना कायोत्सर्ग है। जिस आसन से ध्यान जमे उसी आसन से बैठा जा सकता है। ध्यान के वीरासन, मयूरासन आदि बहुत से आसन हैं।

(८) **ध्यान की विधि**—बहुत सीधी विधि यह है कि अपने शरीर के भीतर व्याप्त आत्मा को शुद्ध जल की तरह निर्मल भरा हुआ विचार करे और मन को उसी जल समान आत्मा मे डुबाये रक्खे, जब हटे तब अर्हं, सोहं, सिद्ध, अरहन्त सिद्ध, ॐ आदि मन्त्र पढने लगे फिर उसी मे डुबोये। इसी तरह बार-बार करे। कभी-कभी आत्मा का स्वभाव विचार ले कि यह आत्मा परम शुद्ध ज्ञानानन्दमयी है।

(२) दूसरी विधि यह है कि अपने आत्मा को शरीर प्रमाण आकार धारी स्फटिक मणि की मूर्ति समान विचार करके उसी के दर्शन मे लय हो जावे। जब मन हटे तब मन्त्र पढता रहे, कभी-कभी आत्मा का स्वभाव विचारता रहे,

(३) तीसरा विधि यह है कि **पिण्डस्थ ध्यान** करे। इसकी पाँच धारणाओ का क्रमश अभ्यास करके आत्मा के ध्यान पर पहुँच जावे। पाँच धारणाओ का स्वरूप यह है —

(क) **पार्थिवी धारणा**—इस मध्यलोक को सफेद निर्मल क्षीर समुद्र मय चिन्तवन करे। उसके मध्यमे ताए हुए सुवर्णके रग का १०००पत्रों का कमल एक लाख योजन का चौडा जम्बू द्वीप के समान विचारे। इसके मध्य मे कर्णिका को सुमेरु पर्वत के समान पीत वर्ण का सोचे। इस पर्वत के ऊपर सफेद रग का ऊँचा सिहासन विचारे। फिर ध्यान करे कि मैं इस सिहासन पर पद्मासन बैठा हूँ। प्रयोजन यह है कि मैं सर्व कर्म मल

को जलाकर आत्मा को शुद्ध करूँ। इतना चिन्तवन पार्थिवी धारणा है।

(ख) **आग्नेयी धारणा**—उसी सिंहासन पर बैठा हुआ यह सोचे कि नाभि मण्डल के भीतर एक सोलह पत्रो का निर्मल सफेद खिला हुआ कमल ऊपर की ओर मुख किये हुए है। उसके सोलह पत्रों पर सोलह अक्षर पीत रग के लिखे विचारे।

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः। उस कमलके नीचे कर्णिका मे चमकता हुआ हँ अक्षर विचारे। फिर इस नाभि कमल के ऊपर हृदय मे एक अधोमुख औधा आठ पत्रो का कमल विचारे जिसके पत्रो पर ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों को स्थापित करे। फिर यह सोचे कि नाभि कमल के मध्य मे जो हँ मन्त्र है उसकी रेफ से धुआ निकला, फिर अग्नि का फुलिगा उठा, फिर लौ उठी और बढकर हृदय के कमल को जलाने लगी। वही अग्नि की शिखा मस्तक पर आ गई और चारो तरफ शरीर के उसकी रेखा फैलकर त्रिकोणमे बन गई। तीनो रेखाओ को र र अग्निमय अक्षरो से व्याप्त देखे तथा तीनो कोनों के बाहर हरएक मे एक एक साथिया अग्निमय विचारे। भीतर तीनो कोनो पर ॐ र्ं अग्निमय विचारे। तब यह ध्याता रहे कि बाहर का अग्निमडल धूम रहित शरीर को जला रहा है व भीतर की अग्नि शिखा आठ कर्मो को जला रही है। जलाते जलाते सर्व राख हो गई तब अग्नि शात हो गई। इतना ध्यान करना सो आग्नेयी धारणा है।

(ग) **मारुती धारणा**--वही ध्याता वही बैठा हुआ सोचे कि तीव्र पवन चल रही है जो मेघो को उडा रही है, समुद्र को क्षोभित कर रही है, दशो दिशाओं मे फैल रही है, यही पवन मेरे आत्मा के ऊपर पडी हुई शरीर व कर्म के रज को उडा रही है। ऐसा ध्यान करना पवन धारणा है।

(घ) **वारुणी धारणा**--वही ध्याता सोचे कि बडी काली काली मेघो की घटाएँ आ गई। उन से मोती के समान जल गिरने लगा तथा अर्धचन्द्राकार जल का मडल आकाश मे बन गया, उससे अपने आत्मा पर जल पडता हुआ विचारे कि यह जल बची हुई रज को धो रहा है। ऐसा सोचना जल धारणा है।

(ङ) तत्वरूपवती धारणा--फिर वही ध्यानी सोचे कि मेरा आत्मा सर्व कर्मो से रहित व शरीर रहित पुरुषाकार सिद्ध भगवान के समान शुद्ध है। ऐसे शुद्ध आत्मा मे तन्मय हो जावे । यह तत्वरूपवती धारणा है ।

(४) चौथी विधि यह है कि पदो के द्वारा पदस्थ ध्यान किया जावे। उस के अनेक उपाय है। कुछ यहा दिये जाते हैं कि र्हं मन्त्रराज को चमकता हुआ नासाग्र पर या भौहो के मध्य पर स्थापित करके चित्त को रोके। कभी मन हटे तो मत्र कहे व अर्हंत सिद्ध का स्वरूप विचार जावे।

(ख) ॐ प्रणव मत्र को हृदयकमल के मध्य मे चमकता हुआ विचारे चारो तरफ १६ सोलह स्वर व कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, व य र ल व श ष स ह इन सब व्यजनो से वेष्ठित विचारे। कर्णिका मे १६ स्वर विचार ले व आठ पत्तो पर शेष अक्षरो को बाट ले और ध्यान करे। कभी कभी ॐ को उच्चारण करे, कभी पाँच परमेष्ठो के गुण विचारे।

(ग) नाभिस्थान मे या हृदय स्थान मे सफेद रग का चमकता हुआ आठ पत्रो का कमल विचारे मध्य कर्णिका मे सात अक्षर का "णमो अरहताण" लिखा विचारे--चार दिशाओ के चार पत्रो पर क्रम से "णमो सिद्धाण, णमो आइरियाण, णमो उवज्झायाण, णमो लोए सव्वसाहूण" इन चार मत्र पदो को लिखे, चार विदिशाओ के चार पत्रो पर 'सम्यग्दर्शनाय नमः, सम्यग्ज्ञानाय नम , सम्यक् चारित्राय नम , सम्यक् तपसे नम ' इन चार मत्रो को स्थापित करे, फिर क्रमसे एक एक पद पर मन को रोक कर कभी कभी पद बोल कर कभी अरहत आदि का स्वरूप विचार कर ध्यान करे ।

(घ) मुख मे सफेद रग का एक कमल आठ पत्रो का सोचे। उन आठो पत्रो पर क्रम से आठ अक्षरो को स्थापित करे "ॐ णमो अरहताण" एक एक अक्षर पर चित्त रोके। कभी मत्र पढे कभी स्वरूप विचारे।

(ङ) इसी कमल के बीच मे कर्णिका मे सोलह स्वरो को विचारे, उन के बीच मे ह्री मत्र को विराजित ध्यावे।

(५) **रूपस्थ ध्यान की** विधि यह है कि समोसरण मे विराजित तीर्थंकर भगवान को ध्यान मय सिंहासन पर शोभित बारह सभाओ से

वेष्ठित इन्द्रादिको से पूजित ध्यावे । उन के ध्यानमय स्वरूप पर दृष्टि लगावे ।

(६) छठी विधि रुपातीत ध्यान की है—इसमे एक दम से सिद्ध भगवान को शरीर रहित पुरुषाकार शुद्ध स्वरूप विचार करके अपने आप को उन के स्वरूप मे लीन करे ।

ध्यान का स्वरूप श्री ज्ञानार्णव ग्रन्थ अध्याय ३७, ३८, ३९, ४० मे है वहा से विशेष जानना योग्य हैं ।

जब ध्यान करने मे मन न लगे व ध्यान के समय के सिवाय भी आत्ममनन करना हो तो नीचे लिखे काम किये जा सकते है। इन कामो के करने मे भी मध्य मध्य मे कुछ कुछ देर वृत्ति में आत्मा का विचार आता रहेगा धर्मध्यान होता रहेगा ।

(१) आध्यात्मीक वैराग्यमय ग्रन्थो को ध्यान से पढे तथा सुने ।

(२) आध्यात्मीक भजनो को गावे,बाजे के साथ भी गा सकता है ।

(३) जिनेन्द्र की वैराग्यमय स्तुति पढे, स्तोत्र पढे ।

(४) जिनेन्द्रकी ध्यानमय प्रतिमा के सामने खडा हो ध्यान करे या उन के स्वरूप को देखता हुआ पूजा करे, भक्ति करे । जल, चदन, अक्षत, पुष्प, नैवेद्य, दीप, धूप, फल इन आठ प्रकार शुद्ध द्रव्यो को लेकर इन के द्वारा भक्ति करके आत्मा की भावना करे । इन आठ द्रव्यो की भावना क्रम से नीचे प्रकार है—

(१) **जल**--मै जल चढाता हूँ,मेरा जन्म,जरा,मरण, रोग नष्ट हो ।

(२) **चदन**--मैं चदन चढाता हूँ, मेरा भव का आताप शात हो ।

(३) **अक्षत**--मैं अक्षत चढाता हूँ, मुझे अक्षय गुणो की प्राप्ति हो ।

(४) **पुष्प**—मैं पुष्प चढाता हूँ, मेरा काम विकार शात हो ।

(५) **नैवेद्य**—मैं नैवेद्य (चरु) चढाता हूँ, मेरा क्षुधा रोग शात हो, (मिठाई व गोले के खड चढाना) ।

(६) **दीपक**—मैं दीपक चढाता हू, मेरा मोह अधकार नष्ट हो ।

(७) **धूप**—मैं अग्नि मे धूप खेता हूँ, मेरे आठ कर्म दग्ध हो ।

(८) **फल**—मैं फल चढाता हूँ, मुझे मोक्ष फल प्राप्त हो ।

फिर श्री जिनेन्द्र की जयमाल स्तुति पढे। इस पूजा से भी आत्म ध्यान जग जाता है।

जैसे मिठाई की चर्चा करने से, मिठाई को देखने से, मिठाई के स्मरण करने से सराग भाव के कारण मिठाई के स्वाद लेने के समान स्वाद सा आजाता है वैसे आत्मा की चर्चा करने से, आत्मध्यान को देखने से, आत्मा के स्मरण करने से सहज सुख का स्वाद सा आ जाता है। सहज सुख के अभिलाषी को वे सब प्रयत्न कर्तव्य हैं, वह सब सगति कर्तव्य है जिस से आत्मा के मनन व ध्यान मे उपयोग रम सके व आत्मा के सिवाय सम्पूर्ण जगत के प्रपच जाल से उपयोग विरक्त हो सके।

वास्तव में अद्वैत आत्मानुभव ही मुख्यता से सहज सुख का साधन है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिये जो जो यत्न किया जावे वह भी परम्परा से सहज सुख का साधन है। जीवन को सफल करने के लिये, कटकमय ससार के भीतर गुलाब के सुख समान चमकता हुआ जीवन बिताने के लिये सहज सुख का साधन अवश्य कर्तव्य है। रत्नत्रय मार्ग ही सहज सुख का साधन है। अब देखिये, जैनाचार्य इस सम्बन्ध मे क्या क्या अमृतवाणी की वर्षा करते हैं।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमय जाणे।
पुग्गल कम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥२॥

भावार्थ—जब यह जीव अपने ही आत्मा के शुद्ध स्वभाव के श्रद्धान, ज्ञान व चारित्र की एकता रूप होता है अर्थात् स्वानुभवरूप होता है, तब इसको स्वसमय अर्थात् आत्मस्थ जानो और जब यह पुद्गल कर्म के उदय से होने वाली रागादि या नर नारकादि पर्यायो मे लीन होता है, तब इस को पर समय या आत्मा से बाहर पर मे रत जानो।

एयत्तणिच्छय गदो समओ, सव्वत्थ सुन्दरो लोगे।
बंधकहा एयत्ते, तेण विसंवादिणी होदि ॥३॥

भावार्थ—इस लोक मे यह आत्मा अपने एक शुद्ध स्वभाव मे तिष्ठा हुआ सर्वत्र सुन्दर भासता है क्योकि वह अपने स्वभाव मे है ऐसा सिद्ध

समान शुद्ध स्वभाव होते हुए भी इस के साथ कर्म का बंध है, यह बात भी कहना आत्मा के स्वरूप की निन्दा है।

णाणह्मि भावणा खलु, कादव्वा दसणे चरित्ते य ।
ते पुणु तिण्णिवि आदा, तम्हा कुण भावणं आदे ।।११।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन मे, सम्यग्ज्ञान मे व सम्यक्‌चारित्र मे भावना करनी चाहिये परन्तु ये तीनो ही रत्नत्रय आत्मा का ही स्वभाव है इस लिये एक आत्मा की ही भावना करो।

दंसणणाणचरित्ताणि, सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णिवि अप्पाण चेव णिच्छयदो।।१६।

भावार्थ—साधन करने वाले को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्‌चारित्र की सदा सेवा करनी चाहिये, परन्तु निश्चय से ये तीनो ही आत्मा ही है, आत्मा से भिन्न नही है। इस लिये आत्मा की ही आराधना करनी चाहिये।

रत्तो बधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो ।
एसो जिणोवदेसो तह्मा कम्मेसु मारज्ज ।।१५७।।

भावार्थ—ससार मे जो जोव रागी है, आसक्त है वह कर्मो को बाधता है, परन्तु जो ससार से वैरागी है वह कर्मो से मुक्त होता है, यह जिनेन्द्र का उपदेश हैं। इसलिये पुण्य या पाप कर्मो मे रजायमान मत हो, आसक्त मत हो।

वदणियमाणि धरंता सीलाणि तहा तवं च कुव्वंता ।
परमट्ठवाहिरा जेण तेण ते होंति अण्णाणी ।।१६०।।

भावार्थ—व्रत व नियमो को पालते हुए तथा शील और तप को करते हुए भी यदि कोई परमार्थ जो आत्मानुभव है उससे रहित है, केवल व्यवहार चारित्र मे लीन है, निश्चय चारित्र से शून्य है वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि हैं।

अप्पाणमप्पणोरुभिदूण दोसु पुण्णपावजोगेसु ।
दसणणाणम्हिठिदो इच्छाविरदो य अण्णह्मि ।।१८७।।

जो सव्वसगमुक्को झायदि अप्पाणमप्पणो अप्पा ।
णवि कम्मं णोकम्म चेदा चितेदि एयत्तं ॥१७८॥

भावार्थ—जो कोई आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा के द्वारा पुण्य तथा पापरूप मन वचन काय के योगो से रोक कर सर्व आत्मा के सिवाय पर पदार्थो मे इच्छा को दूर करता हुआ आत्मा के दर्शन और ज्ञान स्वभाव मे स्थिर होता है तथा सर्व परिग्रह से मुक्त हो कर सर्व ममता को छोड कर अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा को ही ध्याता है, द्रव्य कर्म व शरीर को नही ध्याता है वह ज्ञानी एक शुद्ध आत्म स्वभाव का अनुभव करके उसी का आनद लेता है।

णाणगुणेहिं विहीणा एद तु पद वहूवि ण लहंति ।
त गिण्ह सुपदमेद जदि इच्छसि कम्मपरिमोक्ख ॥२२१॥

भावार्थ—वहुत भी जीव आत्मज्ञान तथा आत्मानुभव से रहित होते हुए जिस निज स्वाभाविक पद को नही पा सकते है, तू उसी एक अपने निज स्वभाव को ग्रहण कर, यदि तू कर्मो से छूटना चाहता है।

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा ।
जह पण्णाए विभत्तो तह पण्णा एव घित्तव्वो ॥३१८॥
पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो ।
अवसेसा जे भावा ते मज्झपरित्त णादव्वा ॥३१९॥

भावार्थ—शिष्य प्रश्न करता है कि आत्मा को कैसे ग्रहण करके अनुभव किया जावे। आचार्य कहते है—प्रज्ञा या भेद विज्ञान या विवेक भाव से ही आत्मा को ग्रहण करना चाहिए। जैसे प्रज्ञा के द्वारा इस आत्मा को सर्व रागादि भाव कर्म, ज्ञानावरणादि द्रव्य कर्म, शरीरादि नोकर्म तथा सर्व अन्य जीव व पुद्गलादि द्रव्यो से भिन्न जाना गया है उसी प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिये। जैसे जिस वुद्धि से चावल व तुष को अलग अलग जाना जाता है उसी बुद्धि से चावल को प्रयोजनभूत जान के ग्रहण किया जाता है, उसी तरह जिस विवेक से आत्मा को पर से भिन्न जाना गया उसी विवेक से उसे ग्रहण करना चाहिये। तथा जिसको प्रज्ञा से ग्रहण करना है वह ज्ञाता आत्मा मैं ही तो निश्चय से हूँ इससे मैं आप मे

ही स्थिर होता हूँ, और अपने से भिन्न जो सर्व भाव है उन सबको पर ह ऐसा जानता हूँ। व ऐसा ही जानना उचित है।

णवि एस मोक्खमग्गो पाखंडी गिहमयाणि लिंगाणि ।
दंसणणाणचरित्ताणि मोक्खमग्गं जिणा विंति ॥४३२॥
जह्मा जहित्तु लिंगे सागारणगारि एहिं वा गहिदे ।
दंसणणाणचरित्ते अप्पाणं जुंज मोक्खपहे ॥४३३॥
मुक्खपहे अप्पाण ठवेहि वेदयहि झायहि तं चेव ।
तत्थेव विहर णिच्चं माविहरसु अण्णदव्वेसु ॥४३४॥

भावार्थ—निश्चय से साधु के व श्रावको के बाहरी भेष मोक्ष मार्ग नही हैं, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्र को जिनेन्द्रो ने मोक्ष मार्ग कहा है। इसलिये गृहस्थ व साधु के ग्रहण किये हुए भेषो मे ममता छोड करके अपने आतमा को सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता रूप मोक्ष मार्ग मे स्थापन कर। इसी स्वानुभव रूप मोक्ष मार्ग मे अपने को रख, इसी का मनन कर व इसी का ध्यान कर व इसी मे रमण कर। अपने आतमा को छोड कर दूसरे द्रव्य के चितवन मे मत जा।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते है—

सम्मत्तणाणजुत्तं चारित्तं रागदोसपरिहीण ।
मोक्खस्स हवदि मग्गो भव्वाणं लद्धबुद्धीण ॥१०६॥

भावार्थ—आतम ज्ञानी भव्य जीवो के लिये राग द्वेष से रहित सम्यग्दर्शन व ज्ञान से युक्त चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

भावार्थ - जिसके भावो मे राग, द्वेष, मोह नही है, न मन, वचन, कायो की क्रिया है, उसी के भाव मे शुभ तथा अशुभ भावो को दग्ध करने वाली स्वात्मानुभव रूपी ध्यानमयी अग्नि पैदा हो जाती है।

दंसणणाणसमग्गं झाणं णो अण्णदव्वसजुत्त ।
जायदि णिज्जरहेदू सभावसहिदस्स साधुस्स ॥१५२॥

भावार्थ—जो साधु अपने आत्मा के स्वभाव को जानता है उसके लिये सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान सहित आत्मरमणता रूप ध्यान जिसमे आत्मा के सिवाय अन्य द्रव्य का सयोग नही है, उत्पन्न होता है। इसी ध्यान से कर्मो का क्षय होता है।

जो सव्वसंगमुक्को णण्णमणो अप्पणं सहावेण।

जाणदि पस्सदि णियदं सो सगचरियं चरदि जीवो ॥१५८॥

भावार्थ—जो कोई सर्व परिग्रह त्याग कर एकाग्र मन होकर अपने आत्मा को स्वभाव के द्वारा निरन्तर जानता देखता रहता है वही जीव स्वचारित्र मे या आत्मानुभव मे या आत्मा के ध्यान मे वर्त रहा है।

णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।

ण कुणदि किंचिवि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति।१६१॥

भावार्थ—निश्चयनय से यह कहा गया है कि जो आत्मा रत्नत्रय सहित होकर किसी भी अन्य द्रव्य पर लक्ष्य नही देता है और न अपने स्वभाव को त्यागता है। आप आप मे मगन होता है वही मोक्ष मार्ग है।

जस्स हिदयेणुमत्त वा परदव्वम्हि विज्जदे रागो।

सो ण विजाणदि समयं सगस्स सव्वागमधरोवि ॥१६७॥

भावार्थ—जिसके मन मे परमाणु मात्र भी जरा-सा भी राग पर द्रव्य मे है वह सर्व आगम को जानता हुआ भी अपने आत्मा को नही जानता है। आत्मा तो सब से भिन्न एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव है, उसमे राग द्वेष मोह का रञ्च मात्र भी लेश नही है।

तह्मा णिव्वुदिकामो णिस्संगो णिम्ममो य हविय पुणो।

सिद्धेसु कुणदि भत्ति णिव्वाण तेण पप्पोदि ॥१६९॥

भावार्थ—इसलिये सर्व इच्छाओ को छोड कर किसी भी पदार्थ मे कही भी राग मत कर, इसी तरह जो भव्य जीव वीतराग होता है वही भवसागर को तर के पार हो जाता है। स्वात्मरमण रूप वीतराग भाव ही मोक्ष माग है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते हैं—

संपज्जदि णिव्वाणं, देवासुरमणुयरायविहवेहि ।
जीवस्स चरित्तादो, दंसणणाणप्पहाणादो ।।६।।
चारित्तं खलु धम्मो, धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो, परिणामो अप्पणो हि समो ।।७।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित चारित्र से ही जीव को निर्वाण प्राप्त होता है और जब तक निर्वाण न हो वह इन्द्र चक्रवर्ती आदि की विभूति प्राप्त करता है। यह चारित्र ही धर्म है। धर्म एक समभाव कहा गया है। राग द्वेष मोह से रहित जो आत्मा का स्वभाव है सो वही समभाव है। यही मोक्ष मार्ग है, यही स्वात्मानुभव है।

जीवो ववगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाण लहदि सुद्धं ।।८७।।

भावार्थ—मोह रहित जीव अपने आत्मा के स्वभाव को भले प्रकार जानकर जब राग द्वेष त्यागता है तब वह शुद्ध आत्मा को पा लेता है अर्थात् शुद्ध आत्मा मे ही रमण करता है।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोण्हमुवदेस ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।८५।।

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र के उपदेश को समझकर जो राग द्वेष मोह त्याग देता है वही अति शीघ्र सर्व दुखों से मुक्त हो जाता है।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सन्ति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा।।१०३-२।।

भावार्थ—न मैं किन्ही पर पदार्थों का हूँ न पर पदार्थ मेरे हे। मैं एक अकेला ज्ञानमय हूँ। इस तरह जो ध्याता ध्यान मे ध्याता है वही आत्मा का ध्यानी है।

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ।।१०४-२।।

भावार्थ—ध्याता ऐसा जानता है कि मैं इस तरह अपने आत्मा को ध्याता हूँ कि यह परभावो से रहित शुद्ध है, निश्चल एक रूप हे, ज्ञान स्वरूप है, दर्शनमयी है, अपने अतीन्द्रिय स्वभाव से एक महान पदार्थ है,

अपने स्वरूप में निश्चल है तथा पर के आलम्बन से रहित स्वाधीन है। यही भावना आत्मानुभव को जागृत करती है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१०८-२॥

भावार्थ—जो मोह के मैल को नाश कर इन्द्रियों के विषयों से विरक्त होकर तथा मन को रोक कर अपने स्वभाव में भले प्रकार स्थित हो जाता है वही आत्मध्यानी है।

परमाणुपमाण वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो।
विज्जदि जदि सो सिद्धि ण लहदि सव्वागमधरोवि ॥५९-३॥

भावार्थ —जिनको मूर्छा देह आदि पर पदार्थों में परमाणु मात्र भी है वह सर्व आगम का जानता हुआ भी सिद्धि को नहीं पा सकता है।

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसएसु णावसत्ता जे ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा ॥९५-३॥

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सोच्चिय सिद्धो णमो तस्स॥९६-३॥

भावार्थ—जो जीव यथार्थ रूप से जीवादि पदार्थों को जानते हैं तथा बाहरी व भीतरी परिग्रह को छोड़कर पाँचों इन्द्रियों के विषयों में आसक्त नहीं होते हैं, उन्हीं को शुद्ध मोक्ष मार्गी कहा गया है। जो परम वीतराग भाव को प्राप्त हुआ मोक्ष का साधक परमयोगीश्वर है उसी के सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप साक्षात् मोक्ष मार्ग रूप श्रमण पद कहा गया है। उसी शुद्धोपयोगी के अनन्त दर्शन व अनन्त ज्ञान प्रगट होता है, उसीको ही निर्वाण होता है, वही सिद्ध है, उनको बार-बार नमस्कार हो।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्र पाहुड में कहते हैं —

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स मोहरहियस्स।
णियगुणमाराहंतो अचिरेण वि कम्म परिहरइ ॥१९॥

भावार्थ—जो मोह रहित जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्

चारित्रमयी गुणो को धारते हुए अपने आत्मीक-शुद्ध गुणो की आराधना करता है वह शीघ्र ही कर्मों से छूट जाता है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवम जाण णिच्छयदो ॥४३॥

भावार्थ---जो आत्मज्ञानी स्वरूपाचरण चारित्र को धारता हुआ अपने आत्मा मे पर द्रव्य को नही चाहता है अर्थात् केवल आत्मरमी हो जाता है, परद्रव्य से रागद्वेष मोह नही करता है सो शीघ्र ही उपमारहित सहज सुख को पाता है ऐसा निश्चय से जानो।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भाव पाहुड मे कहते हैं ---

अप्पा अप्पम्मि रओ रायादिसु सयलदोसपरिचत्तो।
संसारतरणहेदू धम्मोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं ॥८५॥

भावार्थ---जो आत्मा रागद्वेषादि सर्व दोषो को छोडकर अपने आत्मा के स्वभाव मे लवलीन होता है वही ससार सागर से तिरने का उपाय धर्म जिनेन्द्रो ने कहा है।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड मे कहते है ---

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो।
आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाण ॥१२॥

भावार्थ---जो योगी शरीर के सुख से उदासीन है, रागद्वेष के द्वन्द से रहित है, पर पदार्थ मे जिसने ममता छोड दी है, जो आरम्भ रहित है और आत्मा के स्वभाव मे लीन है वही निर्वाण को पाता है।

सव्वे कसाय मुत्तं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोयववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो ॥२७॥

भावार्थ---ध्याता सर्व कषायो को छोड कर अहकार, मद, रागद्वेष, मोह व लौकिक व्यवहार से विरक्त होकर ध्यान मे लीन होकर अपने ही आत्मा को ध्याता है।

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणो कज्जे ॥३१॥

सहज सुख साधन

भावार्थ—जो योगी जगत के व्यवहार मे सोता है वही अपने आत्मा के कार्य मे जागता है तथा जो लोक व्यवहार मे जागता है वह अपने आत्मा के कार्य मे सोता है।

जो रयणत्तयजुत्तो कुणइ तवं संजदो ससत्तीए।
सो पावइ परमपयं झायंतो अप्पयं सुद्धं ॥४३॥

भावार्थ—जो संयमी सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्ररूप रत्नत्रय को धारता हुआ अपनी शक्ति के अनुसार तप करता हुआ अपने शुद्ध आत्मा को ध्याता है वही परमपद को पाता है।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ।
झायंतो अप्पाणं परमपयं पावए जोई ॥४६॥

भावार्थ—जो योगी दृढ सम्यक्त की भावना करता हुआ दृढ चारित्र को रखता है और अपने शुद्ध आत्मा को ध्याता है वही परमपद को पाता है।

चरणं हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

भावार्थ—चारित्र आत्मा का धर्म है। धर्म है वही आत्मा का स्वभाव है या स्वभाव है वही रागद्वेष रहित आत्मा का ही अपना भाव है।

अप्पा झायंताणं दंसणसुद्धीण दिढचरित्ताणं।
होदि धुवं णिव्वाणं विसएसु विरत्तचित्ताण ॥७०॥

भावार्थ—जो विषयों से विरक्त चित्त हैं और जिनका सम्यक्त शुद्ध है और चारित्र दृढ है और वे आत्मा को ध्याते हैं उनको निश्चय से निर्वाण का लाभ होता है।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ॥८३॥

भावार्थ—निश्चय नय का यह अभिप्राय है कि जो आत्मा आत्मा ही मे आत्मा ही के लिए भले प्रकार लीन होता है वही स्वरूपाचरण रूपी [illegible] पालता हुआ निर्वाण को पाता है।

वेरग्गपरो साहू परदव्वपरम्मुहो य जो हादि ।
संसारसुहविरत्तो सगसुद्धसुहेसु अणुरत्तो ॥१०१॥
गुणगणविहूसियगो हेयोपादेयणिच्छिओ साहू ।
झाणज्झयणे सुरदो सो पावइ उत्तम ठाणं ॥१०२॥

भावार्थ--जो साधु वैराग्यवान् है, परद्रव्यो से परामुख है, ससार के क्षणिक सुख से विरक्त हे, आत्मा के सहज शुद्ध सुख मे अनुरक्त है, गुणो के समूह से विभूषित है, ग्रहण करने योग्य व त्याग करने योग्य का निश्चयज्ञान रखने वाला है, ध्यान मे तथा आगम के अध्ययन मे लगा रहता हे वही उत्तम स्थान मोक्ष को पाता है ।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते है—

जह धादू धम्मंतो सुज्झदि सो अग्गिणा दु संतत्तो ।
तवसा तहा विसुज्झदि जीवो कम्मेहि कणयं व ॥५६॥

भावार्थ—जैसे सुवर्ण धातु अग्नि से धौके जाने पर मल रहित सुवर्ण मे परिणत हो जाती है वैसे ही यह जीव आत्मा मे तपतरूप तप के द्वारा कर्म मल से छूट कर शुद्ध हो जाता है ।

णाणवरमारुदजुदो सीलवरसमाधिसंजमुज्जलिदो ।
दहइ तवो भवबीय तणकट्ठादी जहा अग्गी ॥५७॥

भावार्थ—जैसे अग्नि तृण व काष्ठ को जला देतो है ऐसे ही आत्म ध्यानरूपी तपकी अग्नि उत्तम आत्मज्ञानरूपी पवन के द्वारा बढती हुई तथा शील समाधि और सयम के द्वारा जलती हुई ससार के बीजभूत कर्मों को जला देतो है ।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगारभावना मे कहते हैं—

दंतेंदिया महरिसी रागं दोसं च ते खवेदूणं ।
झाणोवजोगजुत्ता खवेंति कम्मं खविदमोहा ॥११५॥

भावार्थ —जो महामुनि इन्द्रियो को दमन करने वाले हैं वे ध्यान मे उपयोग लगाते हुए रागद्वेष को क्षय करके सर्व मोह को दूर करते हुए कर्मो का क्षय करते हैं ।

अट्ठविहकम्ममूलं खविद कसाया खमादिजुत्तेहिं ।
उद्धदमूलो व दुमो ण जाइदव्वं पुणो अत्थि ॥११६॥

भावार्थ—आठ प्रकार कर्मों के मूल कारण कपाय हैं उनको जव क्षमादि भावों से क्षय कर दिया जाता है फिर कर्म नही वँधते जैसे जिस वृक्ष की जड काट दी जाय फिर वह नही उग सकता है ।

जह ण चलइ गिरिराजो अवरुत्तरपुव्वदक्खिणेवाए ।
एवमचलिदो जोगी अभिक्खणं झायदे झाणं ॥११८॥

भावार्थ—जैसे सुमेरुपर्वत पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर की पवनो से चलायमान नही होता है वैसे योगी निश्चल हो कर निरन्तर ध्यान करता है ।

(६) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकार मे कहते हैं—

धीरो वइरग्गपरो थोव हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु ।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं॥३॥

भावार्थ—जो साधु धीर है, वैराग्यवान है सो थोडा भी शास्त्र जाने तौ भी सिद्धि को प्राप्त करलेता हे परन्तु जो सर्व शास्त्रो को पढकर भी वैराग्य रहित है वह कभी सिद्ध न होगा ।

भिक्खं चर वस रण्णे थोव जेमेहि मा बहू जंप ।
दुःखं सह जिण णिद्दा मेत्तिं भावेहि सुट्ठु वेरग्गं ॥४॥

भावार्थ—ध्यानी साधु को उपदेश करते हैं कि भिक्षा से भोजन कर, एकांत वन मे रह, थोडा जीम, वहुत वात मत कर, दु खो को सहन कर, निद्रा को जीत, मैत्री भावना व वैराग्य का भले प्रकार चिन्तवन कर ।

अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भवे णिरारंभो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयतचेट्ठो असंगो य ॥५॥

भावार्थ—ध्यानी साधुको लोकव्यवहारसे दूर रहना चाहिये,एकाकी रह कर ध्यान मे एकाग्र मन रखना चाहिये, आरम्भ नही करना चाहिये,कषाय व परिग्रह का त्यागी होना चाहिये, ध्यान मे उद्योगी रहना चाहिये व असग भाव ममता रहित भाव रखना चाहिये ।

णाणविण्णाणसपण्णो झाणज्झणतवेजुदो ।
कसायगारवुम्मक्को संसारं तरदे लहुं ॥७७॥

भावार्थ—जो ज्ञान और भेदविज्ञान से सयुक्त है, ध्यान, स्वाध्याय व तप मे लीन हैं, कषाय व अहकार से रहित हे सो शीघ्र ससार को तरता है।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार वृहत् प्रत्याख्यान मे कहते हैं—

ध्यानी ध्यान के पहले ऐसी भावना भावे —

सम्म मे सव्वभूदेसु वेर मज्झं ण केणवि ।
आसा वोसरित्ताणं समाहि पडिवज्जए ॥४२॥

भावार्थ—मै सर्व प्राणियो पर समभाव रखता हूँ, मेरा किसी से वैर भाव नही है, मै सव आशाओ को त्यागकर आत्मा की समाधि को धारण करता हूँ।

खमामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैर मज्झं ण केणवि ॥४३॥

भावार्थ—मै सर्व जीवों पर क्षमा भाव लाता हूँ। सर्व प्राणी भी मुझ पर क्षमा करो मेरी मैत्री सर्व जीव मात्र से हो, मेरा वैर भाव किसी से न रहो ।

रायबध पदोस च हरिस दीणभावय ।
उस्सुगत्त भय सोगं रदिमरदिं च वोसरे ॥४४॥

भावार्थ—मै रागभाव को, द्वेषभाव को, ईर्ष्याभाव को, दीनभाव को, उत्सुक भाव को (राग सहित भाव से करना कुछ विचारना कुछ), भय को, शोक का, रति को व अरति को त्यागता हूँ ।

ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो ।
आलंवणं च मे आदा अवसेसाइं वोसरे ॥४५॥

भावार्थ—में ममता को त्यागता हूँ, निर्ममत्व भाव से तिष्ठता हूँ, मैं मात्र एक आत्मा का ही सहारा लेता हूँ और सव आलम्वनो को त्यागता हूँ।

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयणं जे करंति भावेण ।
असबल असकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ।।७२।।

भावार्थ—जो जिनवाणी मे लीन रहते हैं, गुरु की आज्ञा को भाव से पालते हैं, मिथ्यात्व रहित व सक्लेश भाव रहित होते हैं वे ससार से पार होते है ।

(११) श्री समन्तभद्र आचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते है—

सुखाभिलाषानलदाहमूर्च्छितं,
मनो निजं ज्ञानमयामृताम्बुभिः ।
विविध्यपस्त्वं विषदाहमोहितं,
यथा भिषग्मन्त्रगुणैः स्वावग्रहं ।।४७।।

भावार्थ—हे शीतलनाथ भगवान् ! सुख की इच्छारूपी अग्नि की दाह से मूर्छित मन को आपने आत्मज्ञान रूपी अमृत के जल से सिंचित कर के बुझा डाला, जिस तरह वैद्य विष की दाह से तप्त अपने शरीर को मत्र के प्रभाव से विष को उतार कर शात कर देता है ।

कषायनाम्नां द्विषतां,
प्रमाथिनामशेषयन्नाम भवानशेषवित् ।
विशोषणं मन्मथदुर्मदामयं,
समाधिभैषज्यगुणैर्व्यलीनयन् ।।६७।।

भावार्थ—हे अनतनाथ स्वामी आपने आत्मा को मथन करनेवाले, घात करनेवाले, कषाय नाम के वैरी को मूल से नाश करके केवलज्ञान प्राप्त किया तथा आत्म को सुखाने वाले कामदेव के खोटे मद के रोग को आत्मा की समाधिरूपी औषधि के गुणो से दूर कर डाला । वास्तव मे आत्मध्यान ही शाति का उपाय है ।

हुत्वा स्वकर्मकटुकप्रकृतीश्चतस्रो रत्नत्रयातिशयतेजसि जातवीर्यः ।
बिभ्राजिषे सकलवेदविधेर्विनेता व्यभ्रे यथा वियति दीप्तरुचर्विवस्वान् ।।

।।८४।।

भावार्थ—हे कुंथनाथ भगवान ! आपने रत्नत्रयरूपी तेजसे आत्मबल को प्रगट कर के आत्मध्यान के द्वारा चार घातीय कर्मोंकी कटुक प्रकृतियो को जला डाला। तब आप अरहंत हो गए। आपने सम्यग्ज्ञान का प्रकाश किया। जैसे आकाश मे से मेघो के चले जाने से सूर्य प्रकाश हो जाता है ऐसे आप ज्ञानावरणादि कर्मों के दूर होने से सूर्य सम सर्वज्ञ स्वरूप मे प्रगट हो गए।

मोहरूपो रिपुः पापः कषायभटसाधनः ।

दृष्टिसम्पदुपेक्षास्त्रैस्त्वया धीर पराजितः ॥९०॥

भावार्थ—हे अरहनाथ भगवान् परमवीर ! आपने क्रोधादि कषाय-रूपी योद्धाओ को रखने वाले और महा पापी मोह रूपी शत्रु को सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्र की एकतारूप आत्मानुभव रूपी शस्त्र से जीत लिया। तात्पर्य यह है कि शुद्धात्मानुभव ही मोह को जीतने का उपाय है।

आयत्यां च तदात्वे च दुःखयोनिर्निरुत्तरा ।

तृष्णा नदी त्वयोत्तीर्णा विद्यानावा विविक्तया ॥९२॥

भावार्थ—हे अरहनाथ भगवान् ! आपने इस लोक और पर लोक दोनो लोक मे दु खो को देने वाली व जिसका पार होना बडा कठिन है ऐसी तृष्णारूपी नदी को वीतरागता सहित आत्मानुभवरूपी नौका मे चढकर पार कर डाला। अर्थात रागद्वेष रहित आत्मानुभव ही मोक्षमार्ग है।

दुरितमलकलङ्कमष्टक निरुपमयोगबलेन निर्दहन् ।

अभवदभवसौख्यवान् भवान् भवतु ममापि भवोपशांतये ११५

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने आठ कर्म रूपी मलीन कलक को अनुपम आत्मध्यान की अग्नि को जला कर भस्म कर डाला और आप अतीन्द्रिय सिद्ध के सहज सुख के भोक्ता हो गए। आप के प्रताप से मैं भी इसी तरह आत्मध्यान करके अपने ससार को शान्त कर डालूँ। सहज सुख का साधन एक आत्मा का ध्यान ही है

भगवानृषिः परमयोगदहनहुतकल्मषेन्धनम् ।

ज्ञानविपुलकिरणैः सकलं प्रतिबुध्य बुद्धः कमलायतेक्षणः ॥१२१

हरिवंशकेतुरनवद्य-
विनयदमतीर्थनायकः ।
शीतलजलधिरभवो विभवस्त्वमरिष्टनेमिजिन-
कुञ्जरोऽजरः ॥१२२॥

भावार्थ—हे अरिष्टनेमि जिन तीर्थकर ! आपने उत्तम आत्मध्यान की अग्नि से कर्म रूपी ईंधन को दग्ध कर डाला, आप ही परम ऐश्वर्य-वान् सच्चे ऋषि हो। आपने केवलज्ञान की विशाल किरणो से सर्व विश्वको जान लिया। आप प्रफुल्लित कमल समान नेत्र के धारी है, हरि-वंश की ध्वजा है, निर्दोष चारित्र व सयममई धर्मतीर्थ के उपदेष्टा हैं, शील के समुद्र है, भवरहित है, अजर व अविनाशी है। यहा भी आत्मानुभव की ही महिमा है ।

स्वयोगनिस्त्रिंशनिशातधारया,
निशात्य यो दुर्जयमोहविद्वषम् ।
अवापदार्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं,
त्रिलोकपूजातिशयास्पदं पदम् ॥१३३॥

भावार्थ—हे पार्श्वनाथ स्वामी ! आपने आत्मध्यानरूपी खड्ग की तेज धारसे कठिनता से जीते जाने योग्य मोहरूपी शत्रु को क्षय कर डाला और अचित्य अद्भुत व तीन लोक के प्राणियो से पूजने योग्य ऐसे अरहन्त पद को प्राप्त कर लिया। यहा भी आत्मानुभव की ही महिमा है।

(१२) श्री शिवकोटि आचाय भगवती आराधना मे कहते हैं—

दंसणणाणचरित्तं, तवं च विरिय समाधिजोग च ।
तिविहेणुवसंपज्जि य, सव्वुवरिल्लं कमं कुणइ ॥१७९७॥

भावार्थ—जो साधु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, सम्यक् तप, सम्यक् वीर्य व आत्मध्यान मई समाधि योग, इन को मन, वचन, काय तीनो योगो को थिर करके ध्याता है वही सर्वोत्कृष्ट क्रिया करता है।

जिदरागो जिददोसो, जिदिंदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदिअरदिमोहमहणो, झाणोवगओ सदा होइ ॥१७९८॥

भावार्थ—जो साधु रागद्वेष को जीतने वाला है, इन्द्रियो को वश करनेवाला है, भयरहित है, कषायो को जीतने वाला है, रति अरति व मोह का मन्थन करने वाला है वही सदा ध्यान मे उपयुक्त हो सकता है।

जह जह णिव्वेदुवसमवेरग्गदयादमा पवड्ढति ।
तह तह अब्भासयर, णिव्वाणं होइ पुरिसस्स ॥१८६२॥

भावार्थ—जैसे जैसे साधु मे धर्मानुराग, शाति, वैराग्य, दया, इन्द्रिय सयम बढते जाते है वैसे २ निर्वाण अति निकट आता जाता है।

वयरं रदणेसु जहा, गोसीसं चंदणं व गंधेसु ।
वेरुलियं व मणीणं, तह ज्ञाणं होइ खवयस्स ॥१८९४॥

भावार्थ—जैसे रत्नो मे हीरा प्रधान है, सुगन्ध द्रव्यो मे गोसीर चन्दन प्रधान है, मणियो मे वैडूर्यमणि प्रधान है तैसे साधु के सर्व व्रत व तपो मे आत्मध्यान प्रधान है।

ज्ञाणं कसायवादे, गब्भधरं मारुए व गब्भहरं ।
ज्ञाणं कसायउण्हे, छाही छाही व उण्हम्मि ॥१८९६॥

भावार्थ—जैसे प्रवल पवन की वाधा मेटने को अनेक घरो के मध्य मे गर्भग्रह समर्थ है वैसे कषायरूपी प्रवल पवन की वाधा मेटने को ध्यान रूपी गर्भग्रह समर्थ है। जैसे गर्मी की आताप मे छाया शातिकारी है वैसे ही कषाय की आताप को मेटने के लिये आत्मध्यान की छाया हितकारी है।

ज्ञाणं कसायडाहे, होदि वरदहो व दाहम्मि ।
ज्ञाणं कसायसीदे, अग्गी अग्गी व सीदम्मि ॥१८९७॥

भावार्थ—कषाय रूपी दाह के हरने को आत्मा का ध्यान उत्तम सरोवर है तथा कषाय रूपी शीत के दूर करने को आत्मा का ध्यान अग्नि के समान उपकारी है।

ज्ञाणं कसायपरचक्कभए वलवाहणड्ढओ राया ।
परचक्कभए वलवाहणड्ढओ होइ जह राया ॥१८९८॥

भावार्थ---जैसे पर चक्र के भय से बलवान वाहन पर चढा हुआ राजा प्रजा की रक्षा करता है वैसे कषाय रूपी परचक्र के भय से समता भाव रूपी वाहन पर चढा आत्म ध्यान रूपी राजा रक्षा करता है।

झाणं कसायरोगेसु होइ विज्जो तिगिछवो कुसलो।
रोगेसु जहा विज्जो पुरिसस्स तिगिंछओ कुसलो॥१८९९॥

भावार्थ---जैसे रोग होने पर प्रवीण वैद्य रोगी पुरुष का इलाज करके रोग को दूर करता है, वैसे कषाय रूपी रोग के दूर करने को आत्म ध्यान प्रवीण वैद्य के समान है।

झाणं विसयछुहाए, य होइ अछुहाइ अण्णं वा।
झाणं विसयतिसाए, उदयं उदयं व तण्हाए॥१९००॥

भावार्थ---जैसे क्षुधा की वेदना को अन्न दूर करता है, तैसे विषयो की चाह रूपी क्षुधा को आत्म ध्यान मेटता है जैसे प्यास को शीतल मिष्ट जल दूर करता है, वैसे विषयो की तृष्णा को मेटने के लिये आत्म ध्यान समर्थ है।

(१३) श्री पूज्यपाद आचार्य इष्टोपदेश मे कहते हैं —

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतस ।
आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थित ॥२२॥

भावार्थ---आत्म ज्ञानी ध्याता को उचित है कि इन्द्रियो के ग्राम को सयम मे लाकर और मन को एकाग्र करके आत्मा ही के द्वारा आत्मा मे स्थित अपने आत्मा को ध्यावे।

अभवच्चित्तविक्षेप एकांते तत्त्वसंस्थितिः ।
अभ्यस्येदभियोगेन योगी तत्त्व निजात्मनः ॥३६॥

भावार्थ---जहाँ मन मे आकुलता न आवे ऐसे एकान्त मे बैठकर आत्मा के तत्व को भले प्रकार निश्चय करने वाला योगी योग बल से अपने ही आत्मा के स्वरूप के ध्यान का अभ्यास करे।

यथा यथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ।
तथा तथा न रोचंते विषयाः सुलभा अपि ॥३७॥

भावार्थ---जैसे-जैसे स्वात्मानुभव मे उत्तम आत्मा का तत्व भले प्रकार आता जाता है वैसे-वैसे सुलभ भी इन्द्रियो के विषय नही रुचते हैं।

निशामयति निःशेषमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
स्पृहयत्यात्मलाभाय गत्वान्यत्रानुतप्यते ।।३९ ।

भावार्थ—ध्यान करने वाला सर्व जगत को इन्द्रजाल के तमाशे के समान देखता है,आत्मा के अनुभवकी ही कामना रखता है । यदि आत्मानुभव से उपयोग दूसरे विषय पर जाता है तो पश्चाताप करता है ।

ब्रुवन्नपि हि न ब्रूते गच्छन्नपि न गच्छति ।
स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु पश्यन्नपि न पश्यति ।।४१।।

भावार्थ—जिसने आत्मध्यान मे स्थिरता प्राप्त करली है व आत्मा के मनन का भले प्रकार अभ्यास कर लिया है वह इतना स्वभाव मे मगन रहता है कि कुछ कहते हुए भी मानो नही कहता है, चलते हुए भी नहीं चलता है, देखते हुए भी नही देखता है । अर्थात् वह आत्मानन्द का ही प्रेमी रहता है, और कार्य मे दिल नही लगाता है ।

आनन्दो निर्दहत्युद्धं कर्मेन्धनमनारतं ।
न चासौ खिद्यते योगीर्बहिर्दु:खेष्वचेतनः ।।४८।।

भावार्थ - योगी आत्मध्यान करता हुआ ऐसा एकाग्र हो जाता है कि बाहर शरीर पर कुछ दु ख पडे तो उनको नही गिनता हुआ कुछ भी खेदित नही होता है तथा परमानन्द का अनुभव करता है । यही आनन्द ही वह ध्यान की अग्नि है जो निरन्तर जलती हुई बहुत कर्मों के ईधन को जला देती है ।

(१४) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधिशतक मे कहते हैं —

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः ।
भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् ।।२७।।

भावार्थ --बहिरात्मा बुद्धि को छोडकर, आत्मा का निश्चय करने वाला अन्तरात्मा होकर, सर्व सकल्प से रहित परमात्मा स्वरूप अपने आत्मा की भावना करनी चाहिये ।

सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन्भावनया पुनः ।
तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि स्थितिम् ।।२८।।

भावार्थ—सोहं इस पद के द्वारा मैं परमात्मा रूप हूँ ऐसा बार-बार संस्कार होने से व उसी आत्मा मे बार-बार भावना करने से तथा इस भावना का बहुत दृढ अभ्यास होने से योगी आत्मा मे तन्मयता को प्राप्त करता है।

यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।
लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥

भावार्थ—जो कोई शरीरादि पर पदार्थों से भिन्न इस अविनाशी आत्मा का अनुभव नही करता है वह उत्कृष्ट तप तपते हुए भी निर्वाण को नही पा सकता है।

आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताह्लादनिर्वृतः ।
तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥

भावार्थ—जब योगी को आत्मा और देहादि पर पदार्थों के भेद विज्ञान से व आत्मा के अनुभव से आनन्द का स्वाद आता है तब कठिन घोर तप करते हुए भी कोई खेद विदित नही होता है।

रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्व नेतरो जनः ॥३५॥

भावार्थ—जिस योगी का मन रूपी जल राग द्वेषादि की तरगो से चचल नही है वही आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभव कर सकता है, और कोई आत्मा का अनुभव नही कर सकता है।

व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥

भावार्थ—जो योगी लोक व्यवहार मे सोता है वही आत्मा के अनुभव मे जागता है परन्तु जो इस लोक व्यवहार मे जागता है वह आत्मा के मनन मे सोता रहता है।

आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।
तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥

भावार्थ—शरीरादि को बाहरी पदार्थ देखकर जो भीतर मे अपने आत्मा को देखता है और उसके स्वरूप को भले प्रकार समझकर आत्मा के अनुभव का अभ्यास करता है वही निर्वाण को पाता है।

यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ।।९५।।

भावार्थ—जो पदार्थ को बुद्धि से निश्चय कर लिया जाता है उसी पदार्थ मे प्राणी की श्रद्धा हो जाती है। तथा जिस किसी मे श्रद्धा हो जाती है उसी मे ही यह चित्त लय हो जाता है। श्रद्धा ही ध्यान का बीज है।

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।
वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ।।९७।।

भावार्थ—यदि आत्मा अपने से भिन्न सिद्ध परमात्मा को लक्ष्य मे लेकर ध्यान करे तो भी वह दृढ अभ्यास से आत्मानुभव प्राप्त करके परमात्मा के समान परमात्मा हो जायगा। जैसे वत्ती अपने से भिन्न दीपक की सेवा करके स्वय दीपक हो जाती है।

उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।
मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथातरुः ।।९८।।

भावार्थ—अथवा यह आत्मा अपने ही आत्मा की आराधना करके भी परमात्मा हो जाता है। जैसे वृक्ष स्वय लडकर आप ही अग्नि रूप हो जाते हैं। आत्मा का अनुभव सिद्ध भगवान के ध्यान द्वारा व अपने आत्मा के ध्यान द्वारा दोनो से प्राप्त हो सकता है।

(१५) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते हैं —

एकाकित्वप्रतिज्ञाः सकलमपि समुत्सृज्य सर्वं सहत्वात्
भ्रांत्याऽचिंत्याःसहायं तनुमिव सहसालोच्य किंचित्सलज्जाः।
सज्जीभूताः स्वकार्य्ये तदपगमविधिं बद्धपल्यङ्कबन्धाः
ध्यायन्ति ध्वस्तमोहा गिरिगहनगुहा गुह्यगेहे नृसिहाः।२५८।

भावार्थ—मानवो मे सिंह के समान साधु, जिनकी प्रतिज्ञा एकाकी रहने की है, जिन्होने सर्व परिग्रह त्याग दिया है व जो परीषहो को सहने वाले है, जिनकी महिमा चिन्तवन मे नही आसकती, जो शरीर की सहायता लेते हुए लज्जा को प्राप्त हैं, जिसको अब तक भ्रान्ति से सहाई जाना था परन्तु जो आत्मा के स्वभाव से विपरीत हैं, जो अपने आत्मा के कार्य मे आप उद्यमवन्त हैं, जो पलयकासन से तिष्ठे है, तथा जिनके यह भावना है कि पुन शरीर प्राप्त न हो, जिन्होंने मोह को दूर कर दिया हैं तथा जो पर्वत की भयानक गुफा आदि गुप्त स्थान मे तिष्ठते हैं, ऐसे साधु आत्मा के स्वभाव का ध्यान करते हैं।

अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्यं,
निवृत्तिवृत्त्योः परमार्थकोट्याम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्ध्या,
निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकांक्षी ॥२३५॥

भावार्थ—यह सर्व जगत मोक्ष मार्ग की अपेक्षा भोगने योग्य नही है, ससार की प्रवृत्ति की अपेक्षा भोग्य है, परमार्थ की अपेक्षा इस जगत को अभोग्य और भोग्य जानकर भी संसार के त्याग का अभ्यास करो, तब इस जगत को अभोग्य ही जानो क्योकि इस ससार के भोगो मे लिप्त होने से ससार होगा व वैराग्य भाव से मोक्ष होगा।

तावद्दुःखाग्नितप्तात्माऽयःपिण्ड इव सीदसि ।
निर्वासिनिर्वृताम्भोधौ यावत्त्वं न निमज्जसि ॥२३३॥

भावार्थ—हे भव्य ! तू लोहे के गर्म पिण्ड की तरह ससार के दु खो की अग्नि से सन्तापित होकर उसी समय तक कष्ट पा रहा है जब तक तू निर्वाण के आनन्द रूपी समुद्र मे अपने को नही डुबाता है। तात्पर्य यह हैं कि आत्मध्यान से सर्व सन्ताप मिट जाता है।

यमनियमनितान्तः शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
विहितहितमिताशी क्लेशजालं समूलं
दहति निहतनिद्रो निश्चिताध्यात्मसारः ॥२२५॥

भावार्थ—जो साधु यम नियम मे तत्पर है, जिनका अन्तरग व बहिरग शान्त है, पर से ममता रहित है, समाधिभाव को प्राप्त हुये हैं, सब जीवो मे जो दयालु हैं, शास्त्रोक्त अल्प मर्यादित आहार के जो करने वाले है, निन्द्रा को जिन्होने जीता है, आत्म स्वभाव का सार जिन्होने निश्चय कर लिया है वे ही ध्यान के बल मे सर्व दु खो के जाल को जला देते है।

समधिगतसमस्ताः सर्वसावद्यदूराः

स्वहितनिहितचित्ताः शान्तसर्वप्रचाराः ।

स्वपरसफलजल्पाः सर्वसंकल्पमुक्ताः

कथमिह न विमुक्तेर्भाजनं ते विमुक्ताः ।।२२६।।

भावार्थ—जिन्होने सर्व शास्त्रो का रहस्य जाना है, जो सर्व पापो से दूर हैं, जिन्होने आत्म कल्याण मे अपना मन लगाया ह, व जिन्होंने सर्व इन्द्रियो के विषयो को शमन कर दिया हें, जिनकी वाणी स्वपर कल्याणकारिणी है, जो सर्व सकल्प से रहित है, ऐसे विरक्त साधु सिद्ध सुख के पात्र क्यो न होगे अवश्य होगे ।

हृदयसरसि यावन्निर्मलेप्यत्यगाधे

वसति खलु कषायग्राहचक्रं समन्तात् ।

श्रयति गुणगणोऽयं तन्न तावद्विशङ्कं

समदमयमशेषैस्तान् विजेतुं यतस्व ।।२१३।।

भावार्थ—हे भव्य ! जब तक तेरे निर्मल व अगाध हृदयरूपी सरोवर मे कषाय रूपी जलचरो का समूह बसता है तब तक गुणो का समूह निश्शक होकर तेरे भीतर प्रवेश नही कर सकता हे, इसलिये तू समता भाव, इन्द्रिय सयम व अहिसादि महाव्रतो के द्वारा उन कषायो के जीतने का यत्न कर ।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।

प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।१७७।।

भावार्थ—आत्मज्ञानी मुनि बार-बार आत्म-ज्ञान की भावना

हुआ तथा जगत के पदार्थों को जैसे हैं वैसे जानता हुआ उन सबसे राग द्वेष छोड के आत्मा का ध्यान करता है।

ज्ञानस्वभावः स्यादात्मा स्वभावावाप्तिरच्युतिः।

तस्मादच्युतिमाकांक्षन् भावयेज् ज्ञानभावनाम् ॥१७४॥

भावार्थ—आत्मा ज्ञान स्वभावी है। उसी ज्ञान स्वभाव की प्राप्ति सोही अविनाशी मुक्ति है, इसलिए जो निर्वाण को चाहता है उसे आत्म ज्ञान की भावना करनी चाहिए।

ज्ञान यत्र पुरःसरं सहचरी लज्जा तपः संबलम्

चारित्र शिबिका निवेशनभुवः स्वर्गा गुणा रक्षकाः।

पंथाश्च प्रगुण शमाम्बुबहुलः छाया दया भावना

यानं तन्मुनिमापयेदभिमतं स्थानं विना विप्लवैः॥१२५॥

भावार्थ- जिसके सम्यग्ज्ञान तो आगे-आगे चलने वाला है, लज्जा साथ चलने वाली सखी है, सम्यक् चारित्र पालकी है, बीच मे ठहरने के स्थान स्वर्ग हैं, आत्मीक गुण रक्षक हैं, शान्तिमयी जल से पूर्ण मार्ग है, दया की जहाँ छाया है, आत्म भावना यही गमन है, ऐसा समाज जहा प्राप्त हो वह समाज विना किसी उपद्रव के मुनि को अपने अभीष्ट स्थान मोक्ष को ले जाता है।

दयादमत्यागसमाधिसन्ततेः

पथि प्रयाहि प्रगुणं प्रयत्नवान्।

नयत्यवश्यं वचसामगोचरं

विकल्पदूरं परमं किमप्यसौ ॥१०७॥

भावार्थ—हे साधु! तू दया, सयम, त्याग व आत्म ध्यान सहित मोक्ष मार्ग मे सीधा कष्ट रहित प्रयत्नशील होकर गमन कर, यह मार्ग तुझे अवश्य वचन अगोचर, विकल्पो से अतीत उत्कृष्ट मोक्षपद मे ले जायगा।

(१६) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार मे कहते हैं—

जं अवियप्प तच्चं त सार मोक्खकारणं तं च।

तं णाऊण विसुद्ध झायह होऊण णिग्गंथो ॥८॥

भावार्थ—जो निर्विकल्प आत्म तत्व है वही सार है, वही मोक्ष का

कारण है उमी को जानकर और निर्ग्रन्थ होकर उसी निर्मल तत्व का ध्यान कर।

रायादिया विभावा बहिरंतरउहवियप्प मुत्तूणं।
एयग्गमणो झायहि णिरजणं णिययअप्पाणं ॥१८॥

भावार्थ—रागादि विभावो को तथा बाहरी व भीतरी सर्व मन, वचन, काय के विकल्पो को छोड कर और एकाग्र मन होकर तू अपने निरजन शुद्ध आत्मा का ध्यान कर।

जह कुणइ कोवि भेयं पाणियदुद्धाण तक्कजोएण।
णाणी व तहा भेयं करेइ वरझाणजोएण ॥२४॥
झाणेण कुणउ भेयं पुग्गलजीवाण तह य कम्माणं।
घेत्तव्वो णियअप्पा सिद्धसरूवो परो बम्भो ॥२५॥
मलरहिओ णाणमओ णिवसइ सिद्धीए जारिसो सिद्धो।
तारिसओ देहत्थो परमो बम्भो मुणेयव्वो ॥२६॥

भावार्थ----जैसे कोई अपनी तर्क बुद्धिसे पानी और दूधके मिले होने पर भी पानी और दूधको अलग २ जानता है वैसे ही ज्ञानी उत्तम व सूक्ष्म भेदविज्ञान के बल से आत्मा को शरीरादि से भिन्न जानता है। ध्यान के बल से जीव से पुद्गल और कर्मो का भेद करके अपने आत्मा को ग्रहण करना चाहिये जो निश्चय से सिद्ध स्वरूप परम ब्रह्म हे। जैसे कर्म मल रहित, ज्ञानमई सिद्ध भगवान सिद्ध गति मे है वैसा ही परम ब्रह्म इस शरीर मे विराजित है ऐसा अनुभव करना चाहिये।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥४०॥
सरसलिले थिरभूए दीसइ णिरु णिवडियंपि जह रयणं।
मणसलिले थिरभूए दीसइ अप्पा तहा विमले ॥४१॥

भावार्थ--जिसके मनरूपी जलको रागादि विभाव चचल नही करते हैं वही अपने आत्माके तत्वका अनुभव करसकता हैं उससे विपरीत हो तो कोई स्वात्मानुभव नही कर सक्ता है। जव सरोवर का पानी थिर होता है तव उसके भीतर पडा हुआ रतन जैसे साफ साफ दिख जाता है वैसे निर्मल मनरूपी जल के थिर होने पर आत्मा का दर्शन हो जाता है।

दंसणणाणचरित्तं जोई तस्सेह णिच्छयं भणियं।
जो वेइय अप्पाण सचेयणं सुद्धभावट्ठं ॥४५॥

भावार्थ---जो कोई शुद्ध भाव मे स्थिर, चेतन स्वरूप अपने आतमा का अनुभव करता है उसी योगी के निश्चय सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र कहे गए है ।

सयलवियप्पे थक्के उप्पज्जइ कोवि सासओ भावो।
जो अप्पणो सहावो मोक्खस्स य कारणं सो हुं ॥६१॥

भावार्थ--सर्व सकल्प विकल्पो के रुक जाने पर योगी के भीतर एक ऐसा शाश्वत शुद्ध भाव प्रगट हो जाता है जो आतमा का स्वभाव है तथा वही मोक्षका मार्ग है ।

(१७) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते है-

जिण सुमिरहु जिण चिंतवहु जिण झायहु सुमणेण।
सो झाहंतह परमपउ लब्भइ इक्कखणण ॥१९॥

भावार्थ--श्री जिन परमातमा का स्मरण करो, उन का ही चिन्तवन करो, उनही का शुद्ध मन हो कर ध्यान करो, उसी के ध्यान करने से एक क्षण मे परम पद जो मोक्ष है उसका लाभ होगा ।

जो णिम्मल अप्पा मुणइ वयसंजमुसजुत्तु ।
तउ लहु पावइ सिद्ध सुहु इउ जिणणाहह वुत्तु ॥३०॥

भावार्थ--जो कोई व्रत व सयम के साथ निर्मल आतमा की भावना करता हैं वह शीघ्र ही सिद्ध सुख को पाता हे ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा हैं।

जे परभाव चएवि मुणी अप्पा अप्पु मुणंति ।
केवलणाणसरूव लियइ ते संसारु मुच्चंति ॥६२॥

भावार्थ--जो मुनि रागादि पर भावो को छोड कर आतमा के द्वारा आतमा का अनुभव करते है वे केवल ज्ञान स्वरूप को पाकर ससार से मुक्त हो जाते है ।

जह सलिलेण ण लिप्पियइ कमलणिपत्त कया वि ।
तह कम्मेण ण लिप्पियइ जइ रइ अप्पसहावि ॥९१॥

भावार्थ--जैसे कमलिनी का पत्ता कभी भी पानी मे नही डूबता है

वैसे जो कोई आत्मा के स्वभाव मे रमण करता है वह कर्मो मे नही बँधता है ।

(१८) श्री नागसेनाचार्य तत्वानुशासन मे कहते है—

निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः ।
नोपादत्ते किंचिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ।।३१।।
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा ।
दृगवगमचरणरूपस्स निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः।३२।

भावार्थ--निश्चय नय से जो भिक्षु सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इस रत्नत्रय सहित हो कर न कुछ ग्रहण करता है न कुछ त्यागता है, आप आप मे एकाग्र हो जाता है यही मोक्षमार्ग है । जो कोई वीतरागी आत्मा आत्मा को आत्मा के द्वारा आत्मा मे देखता है जानता है वही सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप होता हुआ निश्चय मोक्ष मार्ग है ऐसा जिनेन्द्र का वचन है, क्योकि व्यवहार और निश्चय दोनो ही प्रकार का मोक्षमाग ध्यान मे प्राप्त होता है । इसलिये बुद्धिमान लोग आलस्य को त्याग कर सदा ही आत्मध्यान का अभ्यास करो ।

स्वात्मानं स्वात्मनि स्वेन ध्यायेत्स्वस्मै स्वतो यतः ।
षट्कारकमयस्तस्माद्ध्यानमात्मैव निश्चयात् ।।७४।।

भावार्थ—क्योकि ध्याता आत्मा अपने आत्मा को अपने आत्मा मे अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा के लिये अपने आत्मा मे से ध्याता है । अतएव निश्चय से छ कारकमई यह आत्मा ही ध्यान है ।

संगत्यागः कषायाणा निग्रहो व्रतधारणं ।
मनोऽक्षाणां जयश्चेति सामग्री ध्यानजन्मने ।।७५।।

भावार्थ—असगपना, कषायो का निरोध, व्रत धारना तथा मन और इन्द्रियो की विजय, ये चार वाते ध्यान की उत्पत्ति मे सामग्री हैं ।

संचिंतयन्ननुप्रेक्षाः स्वाध्याये नित्यमुद्यतः ।
जयत्येव मनः साधुरिन्द्रियार्थपराङ्मुखः ।।७६।।

भावार्थ—जो साधु इन्द्रियो के पदार्थों की ओर से ध्यान हटा कर भावनाओं को चितवन करता हुआ नित्य स्वाध्याय मे लगा रहता है वही मन को जीत लेता है ।

स्वाध्यायः परमस्तावज्जपः पचनमस्कृते. ।
पठनं वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥८०॥

भावार्थ—उत्तम स्वाध्याय पाच परमेष्ठी के नमस्कार मन्त्र का जप है अथवा एकाग्र मन से जिनेन्द्र रचित शास्त्रो का पढना है।

स्वाध्यायाद्ध्यानमध्यास्तां ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥८१॥

भावार्थ—स्वाध्याय करते-करते ध्यान मे आना चाहिए। ध्यान मे मन न लगे तब स्वाध्याय करना चाहिये। ध्यान और स्वाध्याय की प्राप्ति से ही परमात्मा का स्वभाव प्रकाशमान होता है।

दिधासुः स्व परं ज्ञात्वा श्रद्धाय च यथास्थिति ।
विहायान्यदनर्थित्वात् स्वमेवावैतु पश्यतु ॥१४३॥

भावार्थ—ध्याता आत्मा और पर का यथार्थ स्वरूप जान करके श्रद्धान मे लावे फिर पर को अकार्यकारी समझ कर छोड दे, अपने को एक ही देखे वा जाने।

यथा निर्वातदेशस्थः प्रदीपो न प्रकपते ।
तथा स्वरूपनिष्ठोऽय योगी नैकाग्र्यमुज्झति ॥१७१॥

भावार्थ—जैसे पवन रहित स्थान मे रखा हुआ दीपक निश्चल रहता है तैसे अपने आत्मा के स्वरूप मे लीन योगी एकाग्रता को नही त्यागता है।

पश्यन्नात्मानमैकाग्र्यात्क्षपयत्यार्जितानमलान् ।
निरस्ताहंममीभावः संवृणोत्यप्यनागतान् ॥१७८॥

भावार्थ—जो अहकार व ममकार भाव को त्याग कर एकाग्र मन से आत्मा का अनुभव करता है, आगामी कर्मो का सवर करता है और पूर्व सचित कर्म मल का क्षय करता है।

येन भावेन यद्रूपं ध्यायत्यात्मानमात्मवित् ।
तेन तन्मयतां याति सोपाधिः स्फटिको यथा ॥१९१॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी जिस भाव से जिस स्वरूप का ध्यान करता

है उसी भाव से उसी तरह तन्मय हो जाता है। जैसे स्फटिक मणि के साथ जिस प्रकार के रग की उपाधि होती है उसी से वह तन्मय हो जाती है।

(१९) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय मे कहते है—

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम् ।
वत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थसिद्ध्युपायोऽयम् ।।१५।।

भावार्थ—राग-द्वेष, मोह-रूप विपरीत अभिप्राय को दूर कर तथा भले प्रकार अपने आत्मीक तत्व का निश्चय करके जो अपने आत्मा मे स्थिर होकर उससे चलायमान न होना सो ही मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि का उपाय है।

दर्शनमात्मविनिश्चितरात्मपरिज्ञानमिष्यते बोधः ।
स्थितिरात्मनि चारित्र कुत एतेभ्यो भवति बन्ध।।२१६।।

भावार्थ—अपने आत्मा का दृढ निश्चय सम्यग्दर्शन है, आत्मा का ज्ञान सो सम्यग्ज्ञान हे, अपने आत्मा मे स्थिति सो चारित्र है, इनसे बध कैसे हो सकता है।

(२०) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्त्वार्थ सार मे कहते है—

पश्यति स्वस्वरूपं यो जानाति च चरत्यपि ।
दर्शनज्ञानचारित्रत्रयमात्मैव स स्मृतः ।।८।।

भावार्थ—जो अपने आत्मा के स्वभाव को श्रद्धान करता है, जानता है व अनुभव करता है वही दर्शन ज्ञान चारित्ररूप आत्मा ही कहा गया है।

(२१) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते हैं—

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रं ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ।।९—१।।

भावार्थ—जब सर्व तेजो को मन्द करने वाले आत्मा की ज्योति

का अनुभव जागृत होता है तब नयो की या अपेक्षावादो की लक्ष्मी उदय नही होती हैं। प्रमाण के विकल्प भी अस्त हो जाते हैं। अधिक क्या कहे, सिवाय आत्मानन्द के कुछ और दूसरा झलकता ही नही।

भूतं भान्तमभूतमेव रभसा निर्भिद्य बन्धं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलङ्कपङ्कविकलो देवः स्वयं शाश्वतः ।।१२-१।।

भावार्थ—जब कोई भेद ज्ञानी महात्मा अपने आत्मा से भूत, भावी व वर्तमान कर्मबन्ध व रागादि भावबन्ध को भिन्न करके व बलपूर्वक मोह को दूर करके भीतर देखता है तब उसको साक्षात् अपना आत्मादेव अनुभव मे आ जाता है जो प्रगट है, निश्चित है, नित्य ही कर्म कलक से शून्य है, अविनाशी है तथा जिसकी महिमा आत्मानुभव के द्वारा ही विदित होती है।

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनन्तचैतन्यचिह्नम्
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ।।२०-१।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीन रत्नो की अपेक्षा तीनपना होने पर भी जो आत्म ज्योति अपने एक स्वभाव से निश्चल है, शुद्ध रूप प्रकाशमान है, अनन्त चैतन्य के चिह्न को रखती है उसे हम निरन्तर अनुभव करते हैं क्योकि शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति जो हमारा स्वभाव है वह इस स्वानुभव के बिना हो नही सकती है।

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीढं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्माऽनात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तादात्म्यवृत्तिम् ।।२२-१।।

भावार्थ—हे जगत के प्राणियो ! अनादि काल से साथ आये हुए इस मोह शत्रु को अब तो छोड और आत्मा के रसिक महात्माओ को

जो रसीला हैं, ऐसे प्रकाशित आत्मा के शुद्ध ज्ञान का स्वाद लो क्योकि यह आत्मा कभी भी कही भी अनात्मा के साथ एक भाव को नही प्राप्त हो सकता है ।

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली स-
न्ननुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्त्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहं ।।२३-१।।

भावार्थ—अरे भाई ! किसी तरह हो मर करके भी आत्मीकतत्व का प्रेमी हो और दो घडी के लिये शरीरादि सर्व मूर्तीक पदार्थो का तू निकटवर्ती पडोसी बन जाय उनको अपने से भिन्न जान और आत्मा का अनुभव कर । तो तू अपने को प्रकाशमान देखता हुआ मूर्तीक पदार्थ के साथ एकता के मोह को शीघ्र ही त्याग देगा ।

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन पश्य षण्मासमेकं ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किं चोपलब्धिः ।।२-२।।

भावार्थ—अरे भाई ! वृथा अन्य कोलाहल से विरक्त हो और स्वय ही निश्चिन्त होकर छ मास तक तो एक आत्म तत्त्व को मनन कर तो तेरे हृदय रूपी सरोवर मे पुद्गल से भिन्न तेजधारी आत्माराम की क्या प्राप्ति न होगी ? अवश्य होगी ।

निजमहिमरताना भेदविज्ञानशक्त्या
भवति नियतमेषा शुद्धतत्त्वोपलम्भः ।
अचलितमखिलान्यद्रव्यदूरेस्थितानां
भवति सति च तस्मिन्नक्षयः कर्ममोक्षः ।।४-६।।

भावार्थ—जो भेद-विज्ञान की शक्ति से अपने आत्मा की महिमा मे रत हो जाते है उनको शुद्ध आत्म तत्त्व का लाभ अवश्य होता है। सर्व अन्य पदार्थों से सदा दूरवर्ती रहने वाले महात्माओं को ही ‹ होने पर सर्व कर्मो से मुक्ति प्राप्त होती है जिसका कभी क्षय नही

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमन्धाः ।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्रचैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति ॥६—७॥

भावार्थ---हे अन्ध पुरुषो ! अनादि ससार से लेकर हरेक शरीर मे ये रागी प्राणी उन्मत्त होते हुए जिस पद मे सो रहे है वह तेरा पद नही है ऐसा भले प्रकार समझ ले । इधर आ, इधर आ, तेरा पद यह है जहा चैतन्य धातुमय आत्मा द्रव्य कर्म व भाव कम दोनो से शुद्ध अपने आत्मीक रस से पूर्ण सदा ही विराजमान रहता है ।

सिध्दान्तोऽयमुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यता
शुध्दं चिन्मयमेकमेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम् ।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथलक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्य समग्रा अपि॥६-८॥

भावार्थ—दृढ चित्त से चारित्र को पालने वाले मोक्षार्थी महात्माओ को इसी सिद्धान्त का सेवन करना चाहिए कि मैं सदा ही एक शुद्ध चैतन्य मात्र ज्योति हू और जितने नाना प्रकार के रागादि भाव झलकते है, उन रूप मै नही हूँ क्योकि वे सर्व ही परद्रव्य हैं ।

समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिकं शुध्दनयालम्बी ।
विलीनमोहोरहित विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथाऽवलंबे३६-१०

भावार्थ—मै शुद्ध निश्चयनय के द्वारा तीन ,काल सम्बन्धी सर्व ही कर्मो को दूर करके मोह रहित होता हुआ निर्विकार चैतन्य मात्र आत्मा का ही आलम्बन लेता हूँ ।

एको मोक्षपथो य एष नियतो दृग्ज्ञप्तिवृत्यात्मक-
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिश ध्यायेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरंतर विहरति द्रव्यांतराण्यस्पृशन् सोऽवश्यं
समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विंदति ॥४७–१०॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप एक यही मोक्ष का मार्ग है । जो कोई रात्रि दिन उसी मे ठहरता है, उसी का मनन करता है, उसी

का अनुभव करता है, उसी मे ही निरन्तर विहार करता है, अन्य द्रव्यो को स्पर्श भी नही करता है, वही नित्य उदय रूप शुद्ध आत्मा को शीघ्र ही अवश्य प्राप्त कर लेता है।

ये ज्ञानमात्रनिजभावमयीमकम्पा
भूमि श्रयन्ति कथमप्यपनीतमोहाः ।
ते साधकत्वमधिगम्य भवन्ति सिध्दाः
मूढास्त्वमूमनुपलभ्य परिभ्रमन्ति ।।२०—११।।

भावार्थ—जो महात्मा किसी भी तरह मोह को दूर करके इस निश्चल ज्ञान मात्र आत्मीक भाव की भूमि का आश्रय लेते हैं वे मोक्ष के साधन को पाकर सिद्ध हो जाते है। अज्ञानी इस आत्म भूमि को न पाकर ससार मे भ्रमण करते रहते हे।

(२२) श्री अमितिगति आचार्य सामायिक पाठ मे कहते हैं —

न सन्ति बाह्या मम केचनार्था,
भवामि तेषां न कदाचनाहम् ।
इत्थं विनिश्चित्य विमुच्य बाह्यं,
स्वस्थः सदा त्वं भव भद्र मुक्त्यै।।२४।।

भावार्थ—मेरे आत्मा से बाहर जितने पदार्थ हैं वे मेरे कोई नही है और न मैं कभी उनका हूँ, ऐसा निश्चय करके सर्व बाहरी पदार्थो से मोह छोडकर हे भव्य! तू सदा अपने ही आत्मा मे लीन हो, इसी से मुक्ति का लाभ होगा।

आत्मानमात्मान्यवलोक्यमानस्त्वं,
दर्शनज्ञानमयो विशुध्दः ।
एकाग्रचित्तः खलु यत्र तत्र,
स्थितोपि साधुर्लभते समाधिम् ।।२५।।

भावार्थ—हे भद्र! तू अपने आत्मा मे ही आत्मा को देखता हुआ दर्शन ज्ञानमयी विशुद्ध एकाग्र चित्त होजा, क्योकि जो साधु निज आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे स्थित होता है वही आत्म समाधि को पाता है।

सर्वं निराकृत्य विकल्पजालं ससारकान्तारनिपातहेतुम् ।
विविक्तमात्मानमवेक्ष्यमाणो निलीयसे त्वं परमात्मतत्वे।२६।

भावार्थ—ससार वन मे भटकाने वाले सर्व ही रागादि विकल्प जालो को दूर करके यदि तू सर्व से भिन्न ऐसे शुद्ध आत्मा का अनुभव करे तो तू अवश्य परमात्मतत्व मे लीनता को प्राप्त कर लेगा।

(२३) श्री अमितिगति आचार्य तत्व भावना मे कहते है —

येषां काननमालायं शशधरो दीपस्तमश्छेदकः।
भैक्ष्यं भोजनमुत्तम वसुमती शय्या दिशस्त्वम्बरम् ॥
संतोषामृतपानपुष्टवपुषो निर्धूय कर्माणि ते।
धन्या यांति निवासमस्तविपदं दीनैर्दुरापं परंः ॥२४॥

भावार्थ—जिन महात्माओ का घर वन है, अन्धकार नाशक दीपक चन्द्रमा है, उत्तम भोजन भिक्षा है, शय्या पृथ्वी है, दश दिशाएँ वस्त्र हैं, सन्तोष रूपी अमृत के पान से जिनका शरीर पुष्ट है वे ही धन्य पुरुष कर्मों का क्षय करके दु ख रहित मोक्ष के स्थान को पाते हैं, जो और दीनो से प्राप्त नही किया जा सकता।

अभ्यस्ताक्षकषायवैरिविजया विध्वस्तलोकक्रियाः।
वाह्याभ्यंतरसंगमांशविमुखाः कृत्वात्मवश्य मनः ॥
ये श्रेष्ठं भवभोगदेहविषयं वैराग्यमध्यामते।
ते गच्छन्ति शिवालयं विकलिला बुद्ध्वा समाधिं बुधाः ३६।

भावार्थ—जिन महात्माओ ने इन्द्रिय विषय और कषाय रूपी वैरियो के विजय का अभ्यास किया है, जो लौकिक व्यवहार से अलग हैं, जिन्होने बाहरी भीतरी परिग्रह को त्याग दिया है वे ही ज्ञानी अपने मन को वश करके ससार शरीर भोगो से उत्तम वैराग्य को रखते हुए आत्म समाधि को प्राप्त करके शरीर रहित हो मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

शूरोऽहं शुभधीरहं पटुरहं सर्वाधिकश्रीरहं
मान्योहं गुणवानहं विभुरहं पुंसामहं चाग्रणीः।
इत्यात्मन्नपहाय दुष्कृतकरीं त्वं सर्वथा कल्पनाम्।
शश्वद्ध्याय तदात्मतत्वममलं नैश्रेयसी श्रीर्यतः ॥६२॥

भावार्थ—हे आत्मन्! मैं शूर हूँ, मै बुद्धिमान हूँ, मै चतुर हूँ, मैं सबसे अधिक धनवान हूँ, मैं प्रतिष्ठित हूँ, मैं गुणवान हूँ, मै समर्थ हूँ, मैं

सब मानवो मे मुख्य हूँ । इस तरह की पाप बन्धकारी कल्पना को सर्वथा दूर करके तू निर्मल आत्मीक स्वभाव का ध्यान कर जिसमे निर्वाण की लक्ष्मी प्राप्त हो ।

लब्ध्वा दुर्लभभेदयोः सपदि ये देहात्मनोरन्तरं ।
दग्ध्वा ध्यानहुताशनेन मुनयःशुद्धेन कर्मेन्धनं ।।
लोकालोकविलोकिलोकनयना भूत्वा द्विलोकार्चिताः ।
पंथानं कथयंति सिध्दिवसतेस्ते सन्तु नः सिध्दये ।।६४।।

भावार्थ—जो मुनि शरीर और आत्मा के भेद को जिसका पाना दुर्लभ है, पा करके और शुद्ध ध्यानरूपी अग्नि से कर्मरूपी ईंधन को जला देते हैं वे लोकालोक को देखनेवाले केवलज्ञान नेत्रधारी इस लोक पर लोक से पूज्य हो कर हमारी शुद्धि के लिये मोक्षनगर जाने का मार्ग बताते हैं ।

(२४) श्री पद्मनंदि मुनि धर्मोपदेशामृत मे कहते है---

वचनविरचितैवोत्पद्यते भेदबुध्दिर्दृगवग-
मचारित्राण्यात्मनः स्वं स्वरूपं ।
अनुपचरितमेतच्चेतनैकस्वभावं व्रजति,
विषयभावं योगिनां योगदृष्टेः ।।७६।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र भेदरूप मोक्षमार्ग की वृद्धि वचनो से रची हुई है । वास्तव मे यह रत्नत्रय आत्मा का अपना स्वभाव है । योगी ध्यान दृष्टि के द्वारा इसी चेतनामय स्वभाव का ही अनुभव करते है ।

(२५) श्री पद्मनंदि मुनि एकत्वसप्तति मे कहते हैं—

दर्शनं निश्चयः पुंसि बोधस्तद्बोध इष्यते ।
स्थितिरत्रैव चारित्रमितियोगः शिवाश्रयः ।।१४।।

भावार्थ—शुद्धात्मा का निश्चय सम्यग्दर्शन है, शुद्धात्माका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, शुद्धात्मा मे स्थिति सम्यक्चारित्र है, तीनो की एकता ही मोक्ष का मार्ग है ।

एकमेव हि चैतन्य शुध्दनिश्चयतोऽथवा ।
कोऽवकाशो विकल्पानां तत्राखण्डैकवस्तुनि।।१५।।

भावार्थ—अथवा शुद्ध निश्चयनय से एक चेतन्य ही मोक्षमार्ग है। अखंड वस्तु आत्मा मे भेदो के उठाने की जरूरत नहीं है।

साम्यमेक परं कार्यं साम्यं तत्वं परं स्मृतम्।
साम्यं सर्वोपदेशानामुपदेशो विमुक्तये ॥६६॥

भावार्थ—उत्तम समताभाव एक करना चाहिये, समता का तत्व उत्कृष्ट है। समताभाव ही सर्व उपदेशो मे सार उपदेश मुक्ति के लिए कहा गया है।

साम्यं सद्बोधनिर्माणं शाश्वदानन्दमन्दिरम्।
साम्यं शुद्धात्मनोरूपं द्वारं मोक्षैकसद्मनः ॥६७॥

भावार्थ—समताभाव ही सम्यग्ज्ञान को रचनेवाला है, यह अविनाशी आनन्द का मन्दिर है। समताभाव शुद्धात्मा का स्वभाव है। यही मोक्षमहल की सीढी है।

साम्यं निश्शेषशास्त्राणां सारमाहुर्विपश्चितः।
साम्यं कर्ममहादावदाहे दावानलायते ॥६८॥

भावार्थ—समताभाव सर्व शास्त्रो का सार है ऐसा विद्वानो ने कहा है। समताभाव ही कर्म रूपी महावृक्ष के जलाने को दावानल के समान है। यह समताभाव आत्मध्यान मे ही जागृत होता है।

हेयञ्च कर्मरागादि तत्कार्यञ्च विवेकिनः।
उपादेयं परंज्योतिरुपयोगैकलक्षणम् ॥७५॥

भावार्थ—रागादि उपजानेवाले कर्म तथा रागादिभाव उनके कार्य ये सब ही ज्ञानी द्वारा त्यागने योग्य है। मात्र एक उपयोग लक्षणरूप आत्मा की परमज्योति ही गहण करने योग्य है।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय मे कहते हैं—

तत्त्वमात्मगतमेव निश्चितं योऽन्यदेशनिहितं समीक्षते।
वस्तु मुष्टिविधृतं प्रयत्नतः कानने मृगयते स मूढधीः ॥८॥

भावार्थ—आत्मतत्व निश्चय से आत्मा मे ही है। जो कोई उस तत्व को अन्य स्थान मे खोजता है वह ऐसा मूढ है जो अपनी मुट्ठी मे धरी वस्तु को वन मे ढूँढता है।

संविशुद्धपरमात्मभावना संविशुद्धपदकारण भवेत् ।
सेतरेतरकृते सुवर्णतो लोहतश्च विकृती तदाश्रिते ।।२०।

भावार्थ—शुद्ध परमात्मा की भावना शुद्ध पद का कारण है। अशुद्ध आत्मा की भावना अशुद्ध पदका कारण है। जैसे सुवर्ण से सुवर्ण के पात्र बनते हैं और लोहे से लोहे के पात्र बनते है।

बोधरूपमखिलैरुपाधिभिर्वर्जितं किमपि यत्तदेव नः ।

नान्यदल्पमपि तत्वमीदृशं मोक्षहेतुरिति योगनिश्चयः ।।२५।।

भावार्थ—सर्व रागादि की उपाधि से रहित जो एक ज्ञानरूप तत्व है सो ही हमारा है और जरा सा भी कोई हमारा तत्व नही है ऐसा योगी का निश्चय मोक्ष का कारण है।

निश्चयावगमनस्थितित्रयं रत्नसंचितिरियं परात्मनि ।
योगदृष्टिविषयीभवन्नसौ निश्चयेन पुनरेक एव हि ।।३०।।

भावार्थ—परमात्मा के स्वरूप मे सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान व सम्यक्-चारित्र इन तीनो रत्नो का सचय है। इसलिये योगियो की दृष्टि का विषय एक निज आत्मा ही है।

सत्समाधिशशलाञ्छनोदयादुल्लसत्यमलबोधवारिधिः ।
योगिनोऽणुसदृशं,विभाव्यते यत्र मग्नमखिल चराचरं।३३।।

भावार्थ—योगी के आतमध्यानरूपी चन्द्रमा के उदय से निर्मल ज्ञान रूपी समुद्र वढ जाता है। उस समुद्र मे यह चर अचररूप सर्व जगत डूबकर के एक अणुमात्र दिखलाई पडता हे। शुद्ध ज्ञान मे ऐसी शक्ति है जो ऐसे अनन्त लोक हो तौभी दिख जावे।

जल्पितेन वहुना किमाश्रयेद् बुद्धिमानमलयोगसिध्दये ।
साम्यमेव सकलैरुपाधिभिः कर्मजालजनितैर्विवर्जितं।।४१।।

भावार्थ—वहुत अधिक कहने से क्या ? ध्यान की सिद्धि के लिये बुद्धिमान को उचित है कि सर्व कर्मजनित रागादि की उपाधि से रहित एक समता भाव को अगीकार करे।

(२७) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चयपचाशत् मे कहते है—'

सम्यक्सुखबोधदृशां त्रितयमखण्डं परात्मनोरूपं ।
तत्तत तत्परो यः स एव तल्लब्धिकृतकृत्यः ॥१३॥

भावार्थ—सम्यक् सुख ज्ञान दर्शन ये तीनो ही अखण्ड परमात्मा का स्वभाव है। इसलिए जो कोई परमात्मा मे लीन है वह सच्चे सुख व ज्ञान व दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो जाता है।

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिध्यति सम्यग्बोधादृते जातु ॥१६॥

भावार्थ—यदि सम्यक् आत्म ज्ञान न हो तो यह मानव कदापि मोक्ष को नही प्राप्त कर मकता है। चाहे वह हिंसा से रहित एकाकी सर्व उपद्रव को सहता हुआ वन मे वृक्ष के समान खडा रहे।

(२८) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय मे कहते है—

संगादिरहिता धीरा रागादिमलवर्जिताः ।
शान्ता दान्तास्तपोभूषा मुक्तिकाक्षणतत्पराः ॥१९६॥
मनोवाक्काययोगेषु प्रणिधानपरायणाः ।
वृत्ताढ्या ध्यानसम्पन्नास्ते पात्र करुणापराः ॥१९७॥

भावार्थ—जो परिग्रह आदि से रहित हैं, धीर हैं, रागादि मल से रहित हे शान्त हैं, इन्द्रियविजयी है, तपस्वी हैं, मुक्ति प्राप्ति की भावना रखते हे, मन, वचन, काय तीनो योगो को वश रखने वाले हैं, चारित्रवान है, दयावान है, वे ही ध्यानी उत्तम पात्र मुनि है।

आर्त्तरौद्रपरित्यागाद् धर्मशुक्लसमाश्रयात् ।
जीवः प्राप्नोति निर्वाणमनन्तसुखमच्युतम् ॥२२६॥

भावार्थ—आर्त व रौद्र ध्यान को त्याग कर जो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का आश्रय लेता है वही जीव अनन्त सुखमयी अविनाशी निर्वाण को प्राप्त करता है।

आत्मा वै सुमहत्तीर्थं यदासौ प्रशमे स्थितः ।
यदासौ प्रशमो नास्ति ततस्तीर्थनिरर्थकम् ॥३११॥
शीलव्रतजले स्नातुं शुद्धिरस्य शरीरिणः ।
न तु स्नातस्य तीर्थेषु सर्वेष्वपि महीतले ॥३१२॥

रागादिवर्जित स्नानं ये कुर्वन्ति दयापराः ।
तेषा निर्मलता योगेन च स्नातस्य वारिणा ।।३१३।।
आत्मानं स्नापयेन्नित्यं ज्ञाननीरेण चारुणा ।
येन निर्मलता याति जीवो जन्मान्तरेष्वपि ।।३१४।।

भावार्थ—जब यह आत्मा शात भाव मे तिष्ठता है तब यही महान तीर्थ है। यदि आत्मा मे शाति नही है तो तीर्थ यात्रा निरर्थक है। शील व व्रत रूपी जल मे स्नान करने से आत्मा की शुद्धि होती है किन्तु पृथ्वी भर की नदियो मे स्नान करने से नही हो सकती है। जो कोई दयावान रागद्वेषादि भावो को छोड कर आत्मा के वीतराग भाव मे स्नान करते है उन्ही को ध्यान से निर्मलता प्राप्त होती है मात्र जल के स्नान से पवित्रता नही आती है। आत्म ज्ञान रूपी जल से आत्मा को नित्य स्नान कराना चाहिये, जिससे जन्म-जन्म के पाप धुल जाते हैं।

(२२) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है—

मोहवह्निमपाकर्त्तुं स्वीकर्त्तुं सयमश्रियम् ।
छेत्तुं रागद्रुमोद्यान ममत्वमवलम्ब्यताम् ।।१—२४।।

भावार्थ—हे आत्मन्! मोह रूपी अग्नि को बुझाने के लिए सयम रूपी लक्ष्मी को स्वीकार करने के लिये तथा राग रूपी वृक्षो के समूह को काटने के लिये समता भाव को धारण करो।

विरज्य कामभोगेषु विमुच्य वपुषि स्पृहाम् ।
समत्वं भज सर्वज्ञज्ञानलक्ष्मीकुलास्पदम् ।।३—२४।।

भावार्थ—हे आत्मन्! तू काम भोगो से विरक्त हो, शरीर मे राग को छोड और समभाव को भज क्योकि केवल ज्ञान रूपी लक्ष्मी का कुल ग्रह सम भाव है। सम भाव से ही अरहन्त पद होता है।

साम्यसूर्यांशुभिर्भिन्ने रागादितिमिरोत्करे ।
प्रपश्यति यमी स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ।।५—२४।।

भावार्थ—सयमी समता भाव रूपी सूर्य की किरणो मे रागादि अन्धकार के समूह को जब नष्ट कर देता है तब वह अपने आत्मा मे ही परमात्मा के स्वरूप को देख लेता है।

साम्यसीमानमालम्ब्य कृत्वात्मन्यात्मनिश्चयम् ।
पृथक् करोति विज्ञानी संश्लिष्टे जीवकर्मणी ॥६-२४॥

भावार्थ—भेद विज्ञानी महात्मा समता भाव की सीमा को प्राप्त करके और अपने आत्मा मे आत्मा का निश्चय करके जीव और कर्मो को जो अनादि से मिले है, पृथक् कर देता है ।

भावयस्व तथात्मान समत्वेनातिनिर्भर ।
न यथा द्वेषरागाभ्या गृह्णात्यर्थकदम्बकं ॥८-२४॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने आत्मा की समता भाव के साथ अति गाढ इस तरह भावना कर कि जिससे पदार्थ के समूह को राग द्वेष से देखना बन्द हो जावे ।

आशा: सद्यो: विपद्यन्ते यान्त्यविद्या: क्षयं क्षणात् ।
म्रियते चित्तभोगीन्द्रो यस्य सा साम्यभावना ॥११-२४॥

भावार्थ—जो महात्मा समभाव की भावना करता है उसकी आशाएँ शीघ्र नाश हो जाती है, अज्ञान क्षणभर मे क्षय हो जाता है, चित्तरूपी सर्प भी मर जाता है ।

साम्यमेव परं ध्यान प्रणीत विश्वदर्शिभि: ।
तस्यैव व्यक्तये नून मन्येऽयं शास्त्रविस्तर: ॥१३-२४॥

भावार्थ—सर्वज्ञो ने समताभाव को ही उत्तम ध्यान कहा है, उसी की प्रगटता के लिये सर्व शास्त्रो का विस्तार है, ऐसा मै मानता हूँ ।

तनुत्रयविनिर्मुक्त दोषत्रयविवर्जित ।
यदा वेत्त्यात्मनात्मान तदा साम्ये स्थितिर्भवेत्॥१६-२४॥

भावार्थ—जब योगी अपने आत्मा को औदारिक, तैजस, कार्माण इन तीन शरीरो से रहित व राग, द्वेष, मोह इन तीनो दोषो से रहित आत्मा ही के द्वारा जानता है तब ही समभाव मे स्थिति होती है ।

अशेषपरपर्यायैरन्यद्रव्यैर्विलक्षणं ।
निश्चिनोति यदात्मनं तदा साम्यं प्रसूयते ॥१७-२४॥

भावार्थ—जिस समय यह आत्मा अपने को सर्व परद्रव्यो की पर्यायो व पर द्रव्यो से विलक्षण निश्चय करता है उसी समय समताभाव पैदा होता है ।

सौधोत्संगे स्मशाने स्तुतिशपनविधौ कर्दमे कुंकुमे वा
पल्यंके कण्ठकाग्रे दृषदि शशिमणौ चर्मचीनांशुकेषु ।
शीर्णांके दिव्यनार्यामसमशमवशाद्यस्य चित्त विकल्पैर्नालीढं
सोऽयमेकः कलयति कुशलः साम्यलीलाविलासं ।।२९-२४।।

भावार्थ—जिस महात्मा का चित्त महलो को या स्मशान को देख कर, स्तुति व निन्दा किये जाने पर, कीचड व केशर से छिडके जाने पर, पल्यक शय्या व कांटो पर लिटाए जाने पर, पाषाण और चन्द्र-कान्तमणि के निकट आने पर, चर्म व चीन के रेशमी वस्त्रो के दिये जाने पर, क्षोण शरीर व सुन्दर स्त्री के देखने पर,अपूर्व शान्त भाव के प्रताप से राग द्वेप विकल्पो को स्पर्श नही करता है वही चतुर मुनि समता भाव के आनन्द को अनुभव करता है।

यस्या ध्यान सुनिष्कंपं समत्वं तस्य निश्चल ।
नानयोर्विद्ध्यधिष्ठानमन्योऽन्यं स्याद्विभेदतः ।।२—२५।।

भावार्थ—जिमके ध्यान निश्चल हे उसी के समभाव निश्चल है। ये दोनो परस्पर आधार है। ध्यान का आधार समभाव है, समभाव का आधार ध्यान है।

साम्यमेव न सद्ध्यानात्स्थिरी भवति केवलम् ।
शुद्ध्यत्यपि च कर्मौघकलङ्की यन्त्रवाहकः ।।३—२५।।

भावार्थ—प्रशसनीय आत्म ध्यान से केवल समताभाव ही नही स्थिर होता है किन्तु यह शरीर रूपी यन्त्र का स्वामी जीव जो कर्मो के समूह से मलीन हैं सो शुद्ध हो जाता है.

भवज्वलनसम्भूतमहादाहप्रशान्तये ।
शश्वद्ध्यानाम्बुधेर्धीररैवगाहः प्रशस्यते ।।६-२५।।

भावार्थ—ससार रूपी अग्नि से उत्पन्न हुए वडे आताप की शान्ति के लिये धीर वीर पुरुषो को ध्यान रूपी समुद्र का स्नान ही श्रेष्ठ है।

ज्ञानवैराग्यसंपन्नः संवृतात्मा स्थिराशय. ।
मुमुक्षुरुद्यमी शान्तो ध्याता धीरः प्रशस्यते ।।३—२७।।

भावार्थ—धर्म ध्यान का ध्याता वही होता है जो सम्यक् ज्ञान और वैराग्य से पूर्ण हो, इन्द्रिय व मन को वश रखने वाला हो, जिसका अभिप्राय स्थिर हो, मोक्ष का इच्छुक हो, उद्यमी हो तथा शान्त भावधारी हो तथा धीर हो।

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यापि भूतले।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३४-२७॥

भावार्थ—जो जो स्थान ध्यान मे विघ्न कारक हो उन सबको स्वप्न मे भी सेवन न करे। मुनियो को एकान्त ध्यान योग्य स्थान मे ही ध्यान करना चाहिये।

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यांति लाघवं।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८-२८॥

भावार्थ—जहाँ बैठने से रागादि दोष शीघ्र घटते चले जावे वहाँ ही साधु को बैठना ठीक है। ध्यान के समय मे इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९-२८॥

भावार्थ—धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिये काठ के तखते पर, शिला पर, भूमि पर व बालू रेत मे भले प्रकार आसन लगावे।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०—२८॥

भावार्थ—ध्यान के योग्य आसन हैं (१) पर्यंकासन, (पद्मासन), अर्द्ध पर्यंकासन (अर्द्ध पद्मासन), वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग।

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥२०-२८॥

भावार्थ—ध्यान की सिद्धि के लिये स्थान और आसन का विधान है। इनमे से एक भी न हो तो मुनि का चित्त क्षोभ रहित न हो।

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।
प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३-२८॥

भावार्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यान के समय प्रसन्न मन होकर साक्षात् पूर्व दिशा मे मुख करके अथवा उत्तर दिशा मे भी मुख करके ध्यान करे तो प्रशसनीय है ।

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।
मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०-२८॥

भावार्थ—इन्द्रियो को जीतने वाला महात्मा योगी आसन को भी वश करे । जिसका आसन ध्यान मे स्थिर होता है वह कुछ भी खेद नही पाता है ।

नेत्रद्वंद्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे
वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रू युगान्ते ।
ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे
तेष्वेकस्मिन्विगतविषयं चित्तमालम्बनीय ॥१३-३०॥

भावार्थ—शुद्ध मतिधारी आचार्यो ने दश स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये कहे है--(१) नेत्र युगल, (२) कर्ण युगल, (३) नाक का अग्र भाग, (४) ललाट, (५)-मुख, (६) नाभि, (७) मस्तक, (८) हृदय, (९) तालु, (१०) दोनो भोहो का मध्य भाग । इनमे से किसी एक स्थान मे मन को विषयो से रहित करके ठहराना उचित है । उन्ही मे कही पर ॐ या ह्रं मन्त्र को स्थापित कर ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है ।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरण स्मृतम् ।
अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८-३१॥

भावार्थ—जहाँ आत्मा परमात्मा मे एकतानता से लीन हो जावे वही समरसीभाव है, वही एकीकरण हैं, वही आत्म ध्यान हैं ।

ज्योतिर्मयं ममात्मानं पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।
क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥३२-३२॥

भावार्थ—ध्याता विचारे कि मै अपने को ज्ञान ज्योतिमय देखता हूं । इसी से मेरे रागादिक क्षय हो गये हैं । इस कारण न कोई मेरा शत्रु है न कोई मेरा मित्र है ।

भावार्थ—धर्म ध्यान का ध्याता वही होता है जो सम्यक् ज्ञान और वैराग्य से पूर्ण हो, इन्द्रिय व मन को वश रखने वाला हो, जिसका अभिप्राय स्थिर हो, मोक्ष का इच्छुक हो, उद्यमी हो तथा शान्त भावधारी हो तथा धीर हो।

ध्यानध्वंसनिमित्तानि तथान्यान्यापि भूतले।
न हि स्वप्नेऽपि सेव्यानि स्थानानि मुनिसत्तमैः ॥३४-२७॥

भावार्थ—जो जो स्थान ध्यान मे विघ्न कारक हो उन सबको स्वप्न मे भी सेवन न करे। मुनियो को एकान्त ध्यान योग्य स्थान मे ही ध्यान करना चाहिये।

यत्र रागादयो दोषा अजस्रं यांति लाघवं।
तत्रैव वसतिः साध्वी ध्यानकाले विशेषतः ॥८-२८॥

भावार्थ—जहाँ बैठने से रागादि दोष शीघ्र घटते चले जावे वहाँ ही साधु को बैठना ठीक है। ध्यान के समय मे इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

दारुपट्टे शिलापट्टे भूमौ वा सिकतास्थले।
समाधिसिद्धये धीरो विदध्यात्सुस्थिरासनम् ॥९-२८॥

भावार्थ—धीर पुरुष ध्यान की सिद्धि के लिये काठ के तखते पर, शिला पर, भूमि पर व बालू रेत मे भले प्रकार आसन लगावे।

पर्यङ्कमर्द्धपर्यङ्कं वज्रं वीरासनं तथा।
सुखारविन्दपूर्वे च कायोत्सर्गश्च सम्मतः ॥१०—२८॥

भावार्थ—ध्यान के योग्य आसन है (१) पर्यकासन, (पद्मासन), अर्द्ध पर्यकासन (अर्द्ध पद्मासन), वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन और कायोत्सर्ग।

स्थानासनविधानानि ध्यानसिद्धेर्निबन्धनम्।
नैकं मुक्त्वा मुनेः साक्षाद्विक्षेपरहितं मनः ॥२०-२८॥

भावार्थ—ध्यान की सिद्धि के लिये स्थान और आसन का विधान है। इनमे से एक भी न हो तो मुनि का चित्त क्षोभ रहित न हो।

पूर्वाशाभिमुखः साक्षादुत्तराभिमुखोऽपि वा ।

प्रसन्नवदनो ध्याता ध्यानकाले प्रशस्यते ॥२३-२८॥

भावार्थ—ध्यानी मुनि जो ध्यान के समय प्रसन्न मन होकर साक्षात् पूर्व दिशा मे मुख करके अथवा उत्तर दिशा मे भी मुख करके ध्यान करे तो प्रशसनीय है।

अथासनजयं योगी करोतु विजितेन्द्रियः ।

मनागपि न खिद्यन्ते समाधौ सुस्थिरासनाः ॥३०-२८॥

भावार्थ—इन्द्रियो को जीतने वाला महात्मा योगी आसन को भी वश करे। जिसका आसन ध्यान मे स्थिर होता है वह कुछ भी खेद नही पाता हैं।

नेत्रद्वंद्वे श्रवणयुगले नासिकाग्रे ललाटे

वक्त्रे नाभौ शिरसि हृदये तालुनि भ्रूयुगान्ते ।

ध्यानस्थानान्यमलमतिभिः कीर्तितान्यत्र देहे

तेष्वेकस्मिन्विगतविषय चित्तमालम्बनीय ॥१३-३०॥

भावार्थ—शुद्ध मतिधारी आचार्यो ने दश स्थान ध्यान के समय चित्त को रोकने के लिये कहे है--(१) नेत्र युगल, (२) कर्ण युगल, (३) नाक का अग्र भाग, (४) ललाट, (५) मुख, (६) नाभि, (७) मस्तक, (८) हृदय, (९) तालु, (१०) दोनो भोहो का मध्य भाग। इनमे से किसी एक स्थान मे मन को विपयो से रहित करके ठहराना उचित है। उन्ही मे कही पर ॐ या ह्रं मन्त्र को स्थापित कर ध्यान का अभ्यास किया जा सकता है।

सोऽयं समरसीभावस्तदेकीकरणं स्मृतम् ।

अपृथक्त्वेन यत्रात्मा लीयते परमात्मनि ॥३८-३१॥

भावार्थ—जहाँ आत्मा परमात्मा मे एकतानता से लीन हो जावे वही समरसीभाव है, वही एकीकरण हैं, वही आत्म ध्यान हैं।

ज्योतिर्मयं ममात्मान पश्यतोऽत्रैव यान्त्यमी ।

क्षयं रागादयस्तेन नाऽरिः कोऽपि प्रियो न मे ॥३२-३२॥

भावार्थ—ध्याता विचारे कि मैं अपने को ज्ञान ज्योतिमय देखता हूं। इसी से मेरे रागादिक क्षय हो गये हैं। इस कारण न कोई मेरा शत्रु है न कोई मेरा मित्र है।

आत्मन्येवात्मनात्मायं स्वयमेवानुभूयते ।
अतोऽन्यत्रैव मां ज्ञातुं प्रयासः कार्यनिष्फलः ॥४१-३२॥

भावार्थ—यह आत्मा आत्मा में ही आत्मा के द्वारा स्वयमेव अनुभव किया जाता है उससे छोड़कर अन्य स्थान में आत्मा के जानने का जो खेद है सो निष्फल है ।

स एवाहं स एवाहमित्यभ्यस्यन्ननारतम् ।
वासनां दृढयन्नेव प्राप्नोत्यात्मन्यवस्थितिम् ॥४२-३२॥

भावार्थ—वही मैं परमात्मा हूँ, वही मैं परमात्मा हूँ, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करता हुआ पुरुष इस वासना को दृढ करता हुआ आत्मा में स्थिरता को पाता है, आत्म ध्यान जग उठता है ।

शरीराद्भिन्नमात्मानं शृण्वन्नपि वदन्नपि ।
तावन्न मुच्यते यावन्न भेदाभ्यासनिष्ठितः ॥८५-३२॥

भावार्थ—शरीर से आत्मा भिन्न है ऐसा सुनता हुआ भी तथा कहता हुआ भी जब तक दोनों भेद का अभ्यास पक्का नहीं होता है तब तक देह से ममत्व नहीं छूटता है ।

अतीन्द्रियमनिर्देश्यममूर्तं कल्पनाच्युतम् ।
चिदानंदमयं विद्धि स्वस्मिन्नात्मानमात्मना ॥९९-३२॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू आत्मा को आत्मा ही मे आप ही से ऐसा जान कि मैं अतीन्द्रिय हूँ, वचनों से कहने योग्य नहीं हूँ, अमूर्तीक हूँ, मन की कल्पना से रहित हूँ तथा चिदानन्दमयी हूँ ।

इत्यविरतं स योगी पिण्डस्थे जातनिश्चलाभ्यासः ।
शिवसुखमनन्यसाध्यं प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥३१-३७॥

भावार्थ—इस तरह पिण्डस्थ ध्यान में जिसका निश्चल अभ्यास हो गया है वह ध्यानी मुनि ध्यान से साध्य जो मोक्ष का सुख उसको शीघ्र ही पाता है ।

वीतरागस्य विज्ञेया ध्यानसिद्धिर्ध्रुवं मुनेः ।
क्लेश एव तदर्थं स्याद्रागार्त्तस्येह देहिनः ॥११४-३८॥

भावार्थ—जो मुनि वीतराग हैं उनके ध्यान की सिद्धि अवश्य होती है परन्तु रागी के लिये ध्यान करना दुःख रूप ही है ।

अनन्यशरणं साक्षात्तत्संलीनैकमानसः ।
तत्स्वरूपमवाप्नोति ध्यानी तन्मयता गतः ॥३२-३९॥

भावार्थ—जो सर्वज्ञ देवकी शरण रख कर अन्य की शरण न रखता हुआ उसी के स्वरूप मे मन को लीन कर देता है वह ध्यानी मुनि उसी मे तन्मयता को पाकर उसी स्वरूप हो जाता हैं ।

एष देवः स सर्वज्ञः सोऽहं तद्रूपता गतः ।
तस्मात्स एव नान्योऽहं विश्वदर्शीति मन्यते ॥४३-३९॥

भावार्थ—जिस समय सर्वज्ञ स्वरूप अपने को देखता है उस समय ऐसा मानता है कि जो सर्वज्ञ देव है उसी स्वरूपपने को मैं प्राप्त हुआ हूँ । इस कारण वही सर्व का देखने वाला मै हूँ। अन्य मै नही हूँ ऐसा मानता है ।

त्रैलोक्यानन्दबीज जननजलनिधेर्यानपात्र पवित्र
लोकालोकप्रदीप स्फुरदमलशरच्चन्द्रकोटिप्रभाढ्यम् ।
कस्यामप्यग्रकोटौ जगदखिलमतिक्रम्य लब्धप्रतिष्ठं
देवं विश्वैकनाथ शिवमजमनघ वीतरागं भजस्व ।४६-३९।

भावार्थ—हे मुने ! तू वीतराग देव का ही ध्यान कर। जो देव तीन लोक को आनन्द के कारण है, ससार समुद्र से पार करने को जहाज हैं, पवित्र है, लोकालोक प्रकाशक हैं, करोडो चन्द्रमा के प्रभा से भी अधिक प्रभावान हैं, किसी मुख्य कोटि मे सर्व जगत का उल्लघन करके प्रतिष्ठा प्राप्त है, जगत के एक नाथ हैं, आनन्द स्वरूप हैं, अजन्मा व पाप रहित हैं ।

इतिविगतविकल्प क्षीणरागादिदोषं
विदितसकलवेद्यं त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथं
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्ध्या भजस्व ॥३१-४०॥

भावार्थ—हे मुनि ! इस प्रकार विकल्प रहित, रागादि दोष-रहित, सर्वज्ञायक ज्ञाता, सर्व प्रपच से शून्य, आनन्द रूप, जन्म-मरण रहित, कर्म रहित, जगत के एक अद्वितीय स्वामी परम पुरुष परमात्मा को भाव को शुद्ध करके भजन कर ।

आत्मार्थं श्रय मुञ्च मोहगहनं मित्रं विवेकं कुरु
वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनोः ।
धर्म्यध्यानसुधासमुद्रकुहरे कृत्वावगाहं परं
पश्यानन्तसुखस्वभावकलितं मुक्तेर्मुखांभोरुहं।।२-४२।।

भावार्थ—हे आत्मन् । तू अपने आत्मा के अर्थ का ही आश्रय कर, मोह रूपी वन को छोड, भेद-विज्ञान को मित्र बना, वैराग्य को भज, निश्चय से शरीर और आत्मा के भेद की भावना कर। इस तरह धर्म ध्यान रूपी अमृत के समुद्र के मध्य मे अवगाहन करके अनन्त सुख से पूर्ण मुक्ति के मुख कमल को देख ।

(३१) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते है—

क्व यांति कार्याणि शुभाशुभानि,
क्व यान्ति संगाश्चिदचित्स्वरूपाः ।
क्व यान्ति रागादय एव शुद्धचिद्रूप-
कोहं स्मरणे न विद्मः ।।८-२।।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्य स्वरूप हूँ ऐसा स्मरण करते ही न जाने कहा शुभ व अशुभ कार्य चले जाते हैं, न जाने कहा चेतन व अचेतन परिग्रह चले जाते हैं तथा न जाने कहा रागादि बिला जाते है।

मेरुः कल्पतरुः सुवर्णममृतं चिंतामणिः केवलं
साम्यं तीर्थंकरो यथा सुरगवी चक्री सुरेन्द्रो महान् ।
भूभृद्भूरुहधातुपेयमणिधीवृत्ताप्तगोमानवा-
मर्त्येष्वेव तथा च चिंतनमिह ध्यानेषु शुद्धात्मनः।।९-२।।

भावार्थ—जैसे पर्वतो मे मेरु श्रेष्ठ है, वृक्षो मे कल्पवृक्ष बडा है, धातुओ मे सुवर्ण उत्तम है, पीने योग्य पदार्थो मे अमृत सुन्दर है, रत्नो मे उत्तम चिन्तामणि रत्न हे, ज्ञानो मे श्रेष्ठ केवलज्ञान है, चारित्रो मे श्रेष्ठ समताभाव है, आत्माओ मे तीर्थ कर बडे हैं, गायो मे प्रशसनीय कामधेनु है, मानवो मे महान् चक्रवर्ती हैं, तथा देवो मे इन्द्र महान् व उत्तम है उसी तरह सर्व ध्यान मे शुद्ध चिद्रूप का ध्यान सर्वोत्तम है ।

तं चिद्रूपं निजात्मानं स्मर शुद्धं प्रतिक्षणं ।
यस्य स्मरणमात्रेण सद्यः कर्मक्षयो भवेत् ।।१३—२।।

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू चैतन्य स्वरूप शुद्ध अपने आत्मा का प्रति क्षण स्मरण कर जिसके स्मरण मात्र से शीघ्र ही कर्म क्षय हो जाते है।

संगं विमुच्य विजने वसन्ति गिरिगह्वरे ।
शुद्धचिद्रूपसंप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः।।५—३।।

भावार्थ—ज्ञानी अन्य सर्व इच्छाओ को त्याग कर, परिग्रह से अलग होकर शुद्ध चैतन्य-रूप के ध्यान के लिए एकान्त स्थान पर्वत की गुफाओ मे वास करते हैं।

कर्मांगाखिलसंगे निर्ममतामातरं विना ।
शुध्दचिद्रूपसद्ध्यानपुत्रसूतिर्न जायते ।।११-३।।

भावार्थ—सर्व कर्मो से, शरीर से व सब परिग्रह से निर्ममता रूपी माता के विना शुद्ध चैतन्य रूप सत्य ध्यान रूपी पुत्र की उत्पत्ति नही हो सकती है।

नाहं किंचिन्न मे किंचिद् शुध्दचिद्रूपकं विना ।
तस्मादन्यत्र मे चिता वृथा तत्र लयं भजे ।।१०-४।।

भावार्थ—शुद्ध चैतन्य स्वरूप के सिवाय न तो और मै कुछ हूँ, न कुछ और मेरा है। इसलिये दूसरे की चिन्ता करना वृथा है, ऐसा जानकर मैं एक शुद्ध चिद्रूप मे ही लय होता हूँ।

रागाद्या न विधातव्याः सत्यसत्यपि वस्तुनि ।
ज्ञात्वा स्वशुद्धचिद्रूपं तत्र तिष्ठ निराकुलः ।।१०-६।।

भावार्थ—अपने शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप को जानकर उसी मे तिष्ठो और निराकुल रहो। दूसरे भले बुरे किसी पदार्थ मे रागद्वेषादि भाव न करना उचित है।

चिद्रूपोऽहं स मे तस्मात्तं पश्यामि सुखी ततः ।
भवक्षितिर्हितं मुक्तिर्निर्यासोऽय जिनागमे ।।११-६।।

भावार्थ—मैं शुद्ध चैतन्यरूप हूँ इसलिये मैं उसी को देखता हूँ और सुखी होता हूँ। उसी से संसार का नाश और मुक्ति का लाभ होता है, यही जैनागम का सार है।

स्वात्मध्यानामृतं स्वच्छं विकल्पानपसार्य सत्।
पिवति क्लेशनाशाय जलं शैवालवत्सुधीः ॥४-८॥

भावार्थ—जिस तरह प्यास के दुःख को दूर करने के लिये बुद्धिमान् सैवाल को हटाकर जल को पीता है उसी तरह ज्ञानी सर्व संकल्प विकल्पों को छोडकर एक निर्मल आत्म ध्यान रूपी अमृत का ही पान करते हैं।

नात्मध्यानात्परं सौख्य नात्मध्यानात् परं तपः।
नात्मध्यानात्परो मोक्षपथः क्वापि कदाचन ॥५-८॥

भावार्थ—आत्मध्यान से बढकर कहीं कभी सुख नहीं है, न आत्म ध्यान से बढकर कहीं कभी कोई तप है, न आत्मध्यान से बढकर कहीं कभी कोई मोक्ष मार्ग है।

भेदज्ञानं प्रदीपोऽस्ति शुद्धचिद्रूपदर्शने।
अनादिजमहामोहतामसच्छेदनेऽपि च ॥१७-८॥

भावार्थ—यह भेद विज्ञान शुद्ध चिद्रूप के दर्शन के लिये तथा अनादि काल के महा मिथ्यात्व रूपी अन्धकार के छेदन के लिये दीपक है।

शुद्धचिद्रूपसद्ध्यानादन्यत्कार्यं हि मोहजं।
तस्माद् बंधस्ततो दुःखं मोह एव ततो रिपुः ॥२१—९॥

भावार्थ—शुद्ध चिद्रूप के ध्यान के सिवाय जितने कार्य हैं वे सब मोह से होते हैं। उस मोह से कर्म बन्ध होता है, बन्ध से दुःख होता है, इससे जीव का वैरी मोह ही है।

निर्ममत्वं पर तत्त्वं ध्यानं चापि व्रत सुखं।
शीलं खरोधनं तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतेयत् ॥१४—१०॥

भावार्थ—सबसे ममता का त्याग ही परम तत्त्व है, ध्यान है, व्रत है व परम सुख है, शील है व इन्द्रिय निरोध है। इसलिये निर्ममत्वभाव को सदा विचार करे।

रत्नत्रयाद्विना चिद्रूपोपलब्धिन जायते ।
यर्थध्दिस्तपस: पुत्री पितुर्वृष्टिर्बलाहकात् ॥३—१२॥

भावार्थ—जिस तरह तप के विना शुद्धि नही होती, पिता के बिना पुत्री नही होती, मेघ विना वृष्टि नही होती वैसे रत्नत्रय के बिना चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति नही होती है

दर्शनज्ञानचारित्रस्वरूपात्मप्रवर्त्तनं ।
युगपद् भण्यते रत्नत्रयं सर्वज्ञिनेश्वरैः ॥४-१२॥

भावार्थ—जहाँ सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप अपने ही आत्मा की प्रवृत्ति एक साथ होती है इसीको जिनेन्द्रो ने रत्नत्रय धर्म कहा है ।

यथा बलाहकवृष्टेर्जायते हरितांकुराः ।
तथा मुक्तिप्रदो धर्मः शुध्दचिद्रूपचिंतनात् ॥१०-१४॥

भावार्थ—जैसे मेघो की वृष्टि से हरे अकुर फूटते हैं वैसे शुद्ध चैतन्य रूप के चिन्तवन से मोक्षदायक धर्म की वृद्धि होती है ।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं,
च तत्त्वज्ञान सर्वाचितविमुक्तिः ।
निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीना,
मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ॥८-१६॥

भावार्थ—इन नीचे लिखे कारणो से मुनियो को ध्यान की सिद्धि मक्ति के लिये होती है । ये ही मोक्ष के कारण है (१) परिग्रह त्याग कर असग भाव, (२) निर्जन एकान्त स्थान, (३) तत्व ज्ञान, (४) सर्व चिन्ता से छुट्टी, (५) वाधारहितपना, (६) तथा मन, वचन, काय योगो को वश करना ।

(३२) प० वनारसीदास जी वनारसी विलास मे कहते है—

सवैया ३१

पूरव करम दहै, सरवज्ञ पद लहै,
गहै पुण्य पथ फिर पाप मे न आवना ।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै,
लागै दानशील तप सफल सुहावना ॥

पावै भवसिन्धु तट खोलै मोक्ष द्वार पट,
शर्म साघ धर्म की घरा मे करै धावना।
एते सब काज करै अलख को अग घरै,
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना ॥८६॥
प्रशम के पोषवे को अमृत की धारासम,
ज्ञान वन सीचवे को नदी नीर भरी है।
चचल करण मृग बाधवे को वागुरासी,
काम दावानल नासवे को मेघ झरी है॥
प्रबल कषायगिरि भजवे को बज्र गदा,
भौ समुद्र तारवे को पौढी महा तरी है।
मोक्ष पन्थ गाहवेको वेशरी विलायत की,
ऐसी शुद्ध भावना अखण्ड धार ढरी है ॥८७॥

कवित्त।

आलश त्याग जाग नर चेतन, बल सँभार मत करहु विलम्ब।
इहाँ न सुख लवलेश जगत महिं, निम्ब विरष मैं लगे न अम्ब॥
तातैं तू अन्तर विपक्ष हर, कर विलक्ष निज अक्ष कदम्ब।
गह गुन ज्ञान बैठ चारितरथ, देहु मोष मग सन्मुख बम्ब॥ ३॥

सवैया—२३

धीरज तात क्षमा जननी, परमारथ मीत महारुचि मासी।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा, मति पुत्रवधू समता अतिभासी॥
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र शुभोदय दासी।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यो मुनिको कहिये गृहवासी॥ ७॥

(३३) प० बनारसीदास नाटक समयसार मे कहते हैं—

सवैया—३१

जैसे रवि मण्डल के उदै महि मण्डल मे
आतम अटल तम पटल विलातु है।
तैसे परमातम को अनुभौ रहत जोलौं,
तो लौ कहूँ दुविधान कहुँ पक्षपात है॥
नय को न लेस परमाण को न परवेस,
निक्षेपके वश को विध्वस होत जातु है।
जेजे वस्तु साधक है तेऊ तहाँ बाधक है,
बाकी रागद्वेषकी दशाकी कौनबातु है॥ १०॥

कवित्त

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकित रूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल॥
पुद्गल पिंड भावरागादि, इन सो नही तिहारो मेल।
ये जड प्रगट गुपत तुम चतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल॥ १२।

सवैया २३

शुद्ध नयातम आतम की, अनुभूति विज्ञान विभूति है सोई।
वस्तु विचारत एक पदारथ, नाम के भेद कहावत दोई॥
यो सरवग सदा लखि आपुहि, आतम ध्यान करे जब कोई।
मेटि अशुद्ध विभाव दशा सब, सिद्ध स्वरूप की प्रापति होई॥ १४॥

सवैया ३१

बनारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
केहू भाति [illegible] के ऐसो काज कीजिये।
एकहू मुहूरत मिथ्यात्व को विध्वस होइ,
ज्ञान को जगाय अस हस खोज लीजिये॥
वाही को विचार वाको ध्यान यह कौतूहल,
यो ही भर जन्म परम रस पीजिये॥
तजिये भववास को विलास सविकार रूप,
अन्त कर मोह को अनन्त काल जीजिये॥ २४॥

भैया जगवासी तू उदासी व्हैके जगत सो,
एक छ महीना उपदेश मेरो मान रे।
और सकलप विकलप के विकार तजि,
बैठिके एकन्त मन एक ठौर आन रे॥
तेरो घट सरिता मे तू ही व्है कमल वाको,
तू ही मधुकर व्है सुवास पहिचान रे।
प्रापति न व्है हे कछू ऐसौ तू विचारत है,
सही व्है है प्रापति सरूप योही जान रे॥ ३॥

भद ज्ञान आरा सो दुफारा करे ज्ञानी जीव,
आतम करम धारा भिन्न भिन्न चरचे।
अनुभौ अभ्यास लहे परम धरम गहे,
करम मरम को खजानो खोलि खरचे॥

यो ही मोक्ष मग धावे केवल निकट आवे,
पूरण समाधि लहे परम को परचे।
भयो निरदोर याहि करनो न कछु और,
ऐसो विश्वनाथ ताहि बनारसि अरचे॥ २॥
जामे लोक वेद नाहि थापना अछेद नाहि,
पाप पुण्य खेद नाहि क्रिया नाहि करनी।
जामे राग द्वेप नाहि जामे बन्ध मोक्ष नाहि,
जामे प्रभु दास न आकाश नाहि धरनी॥
जामे कुल रीति नाहि, जामे हार जीत नाहि,
जामे गुरु शिष्य नाहि विषयनाहि भरनी।
आश्रम वरण नाहि काहूका सरण नाहि,
ऐसी शुद्ध सत्ता की समाधि भूमि बरनी॥२३॥

सवैया २३

जो कबहूँ यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे।
सम्यक् धार प्रवाह वहे गुण, ज्ञान उदै सुख ऊरध धावे॥
तो अभिअन्तर दर्वित भावित, कर्म क्लेश प्रवेश न पावे।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण व्है परब्रह्म कहावे॥
भेद मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेद विज्ञानकला जिनि पाई।
जो अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसो जु पराई॥
उद्धत रीत वसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई।
ते मतिमान सुवर्ण समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई॥ ५॥

सवैया ३२

जिन्ह के सुदृष्टी मे अनिष्ट इष्ट दोउ सम,
जिन्ह को आचार सुविचार शुभ ध्यान है।
स्वारथको त्यागि जे लगे है परमारथ को,
जिन्ह के वनिज मे नफा है न ज्यान हैं॥
जिन्ह के समझ मे शरीर ऐसो मानीयत,
धानकीसो छीलक कृपाणको सो म्यान है।
पारखी पदारथ के साखी भ्रम भारथके,
तेई साधु तिनहीका यथारथ ज्ञान है॥४५॥

सवैया—२३

काज बिना न करे जिय उद्यम, लाज बिना रण माहि न जूझे।
डील बिना न सधै परमारथ, सील बिना सतसो न अरूझे॥

नेम बिना न लहे निहचे पद, प्रेम बिना रस रीति न बूझे।
ध्यान बिना न थमै मनकी गति, ज्ञान बिना शिवपथ न सूझे ॥२३॥
ज्ञान उदै जिह के घट अन्तर, ज्योति जगी मति होत न मैली।
बाहिज दृष्टि मिटी जिन्हके हिय, आतम ध्यानकला विधि फैली॥
जे जड चेतन भिन्न लखे, सुविवेक लिये परखे गुण थैली।
ते जग मे परमाथ जानि, गहे रुचि मानि अध्यातम सैली ॥२४॥

सवैया ३१

आचारज कहे जिन वचन को विसतार,
अगम अपार है कहेगे हम कितनो।
बहुत बोलवे सो न मवसूद चुप्प भलो,
बोलिये सो वचन प्रयोजन है जितनो॥
नाना रूप जल्पन सो नाना विकलप उठे,
ताते जेतो कारिज कथन भलो तितनो।
शुद्ध परमात्मा को अनुभौ अभ्यास कीजे,
ये ही मोक्ष पन्थ परमारथ है इतनो ॥१२४॥
जे जीव दरव रूप तथा परयाय रूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है।
जे अशुद्ध भावनिके त्यागी भये सरवथा,
विषैसो विमुख ह्वै विरागता चहत है॥
जे-जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिको,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत है।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है ॥३५॥

(३४) प० द्यानतरायजी द्यानत विलास मे कहते है —

सवैया २३

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत है जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयो दु ख दाता॥
सो जड रूप स्वरूप नही मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता।
नास करौ पल मै सबकौ अव, जाय बसौ सिव खेत विख्याता ॥६५॥
सिद्ध हुए अव होइ जु होइगे, ते सब ही अनुभौ गुनसेती।
ताविन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती॥
ज्यौ तुषमांहि नही कनलाभ, किये नित उद्यमकी विधि जेती।
यौ लखि आदरियें निजभाव, विभाव विनास कला सुभ ऐती ॥६६॥

सवैया ३१

जगत के निवासी जगही में रति मानत हैं,
मोख के निवासी मोख ही मे ठहराये है।
जगके निवासी काल पाय मोख पावत हैं,
मोख के निवासी कभी जग मे न आये हैं॥
एतो जगवासी दुखवासी सुखरासी नाहि,
वे तो सुखरासी जिनवानी मे बताये हैं।
ताते जगतवास तें उदास होइ चिदानन्द,
रत्नत्रय पन्थ चलें तेई सुखी गाये हैं॥७३॥

याही जगमाहि चिदानन्द आप डोलत है,
भरम भाव धरैं हरैं आतम सकत को।
अष्ट कर्म रूप जे-जे पुद्गल के परिनाम,
तिन को सरूप मानि मानत सुमत को॥
जाहीसमैं मिथ्या मोह अन्धकार नासि गयौ,
भयौ परगास भान चेतन के ततकौ।
ताहीसमैं जानौ आप आप पर पर रूप,
भानि भव-भावरि निवास मोख गतकौ॥७४॥

राग द्वेष मोह भाव जीवको सुभाव नाहि,
जीवको सुभाव सुद्ध चेतन बखानियें।
दर्व कम रूप ते तो भिन्न ही विराजत हैं,
तिनको मिलाप कहो कैसे करि मानियै॥
ऐसो भेद ज्ञान जाके हिरदै प्रगट भयौ,
अमल अवाधित अखण्ड परमानियै।
सोई सु विचच्छन मुकत भयौ तिहुँकाल,
जानी निज चाल पर चाल भूलि भानियै॥७५॥

अशोक छन्द

राग भाव टारिके सु दोषको विडारिकै,
सु मोह भाव गारिकै निहारि चेतनामयी।
कर्मको प्रहारिकै सु भर्म भाव डारिकै,
सु चर्म दृष्टि दारिकै विचार सुद्धता लयी॥
ज्ञान भाव धारिकै सु दृष्टिको पसारिकै,
लखौ सरूप तारिकै, अपार सुद्धता खई।

मत्त भाव मारिकै सु मार भाव छारिकै,
सु मोखको निहारिकै बिहारिकी बिदा दई ।।७९।।
सुद्ध आतमा निहारि राग दोष मोह टारि,
क्रोध मान वक गारि लोभ भाव भानुरे।
पाप पुन्यको विडारि सुद्ध भावको सम्भारि,
भर्म भावको विसारि पर्म भाव आनुरे ।।
घर्म दृष्टि ताहि जारि सुद्ध दृष्टिको पसारि,
देह नेहको निवारि सेत ध्यान ठानुरे।
जागि जागि सैन छार भव्य मोखको विहार,
एक बार के कहे। हजार बार जानुरे ।।८२।।

छप्पै

जपत सुद्ध पद एक, एक नहिं लखत जीव तन ।।
तनक परिग्रह नाहिं, नाहिं जहँ राग दोष मन ।।
मन बच तन थिर भयौ, भयौ वैराग अखण्डित ।
खण्डित आस्रव द्वार, द्वार सवर प्रभु मण्डित ।।
मडित समाधिसुख सहित जब, जब कषाय अरिगन खपत ।
खप तनममत्त निरमत्त नित, नित तिनके गुण भवि जपत ।।९१।।

सवैया २३

जिनके घटमैं प्रगट्यो परमारथ, राग विरोध हिये न वियारै ।
करकै अनुभौ निज आतमको, विषया सुखसौ हित मूल निवारै ।।
हरिकै ममता धरिकै समता, अपनौ बल फोरि जु कर्म विडारै ।
जिनकी यह है करतूति सुजान, सुआप तिरै पर जीवन तारै ।।९२।।

सवैया ३१

मिथ्या भाव मिथ्या लखौ ग्यान भाव ग्यान लखौ,
काम भोग भावनसो काम जोर जारिकै ।
परको मिलाप तजौ आपनपौ आप भजौ,
पाप पुण्य भेद छेद एकता विचारिकै ।।
आतम अकाज करै आतम सुकाज करै,
पावै भव पार मोक्ष एतौ भेद धारिकै ।
या तै हूँ कहत हेर चेतन चेतौ सवेर,
मेरे मीत हो निचीत एतौ काम सारिकै ।।९४।।

छप्पै

मिथ्या दृष्टी जीव, आपको रागी मानै।
मिथ्या दृष्टी जीव, आपको दोषी जानै॥
मिथ्या दृष्टी जीव, आपको रोगी देखै।
मिथ्या दृष्टी जीव, आपको भोगी पेखै॥
जो मिथ्या दृष्टी जीव सो, सुद्धातम नाही लहैं।
सोई ज्ञाता जो आपको, जैसाका तैसा गहै॥ १०६॥

सवैया—३१

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निज भाव दूजो परउतपात है।
तातै एक भाव गहो दूजो भाव मूल दहो,
जातै सिवपद लहो यही ठीक बात है॥
भाव को दुग्यायो जीव भाव ही सौ सुखी होय,
भाव ही को फेरि फेरै मोखपुर जात है।
यह तो नीको प्रसग लोक कहै सरवग,
आगहीको दाधो अग आग ही सिरात है॥१०७॥

वार वार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तूतौ सोयौ मोह झगमै।
आतमासेती विमुख गहै राग दोष रूप,
पच इन्द्रीविषै सुख लीन पग पग मैं॥
पावत अनेक कष्ट होत नाहि अष्ट नष्ट,
महापद भिष्ट भयौ भमै सिष्टमग मै।
जागि जगवासी तू उदासी ह्वै के विषय सौ,
लागि सुद्ध अनुभौ ज्यौ आवै नाहि जगमैं॥११७॥

(३५) प० भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास मे कहते हैं—

सवैया—३१

कर्म को करैया सो तौ जानै नाहि कैसे कर्म,
भरम मे अनादिही को करमै करतु है।
कर्म को जनैया भैया सो तौ कर्म करै नाहि,
धर्म मांहि तिहु काल धर मे धरतु है॥

दुहन की जाति पाति लच्छन स्वभाव भिन्न,
कवहूं न एकमेक होइ विचरतु है।
जा दिनाते ऐसी दृष्टि अन्तर दिखाई दई,
ता दिनाते आपु लखि आपु ही तरतु है।। २२।

सवैया २३

जब तें अपनो जिउ आपु लख्यो, तवतें जु मिटी दुविधा मनकी।
यो सीतल चित्त भयो तब ही सब, छाड दई ममता तन की।।
चितामणि जब प्रगटयो घर मे, तब कौन जु चाहि करै धनकी।
जो सिद्ध मे आपु मे फेर न जानै सो, क्यो परवाह करै जनकी।।३५।।

केवल रूप महा अति सुन्दर, आपु चिदानन्द शुद्ध विराजै।
अन्तरदृष्टि खुलै जब ही तव, आपुही मे अपनो पद छाजै।।
सेवक साहिव कोउ नही जग, काहेको खेद करै किहूँ काजै।
अन्य सहाय न कोउ तिहारै जु, अन्त चल्यो अपनो पद साजै।।३६।।

जब लो रागद्वेष नहि जीतय, तवलो मुकति न पावै कोइ।
जवलो क्रोध मान मन धारत, तवलो सुगति कहाते होइ।।
जबलो माया लोभ बसे उर, तवलो सुख सुपनै नहि कोइ।
ए अरि जीत भयो जो निर्मल, शिवसम्पति विलसतु है सोइ।। ४५।

सवैया—३१

पचनसो भिन्न रहै कचन ज्यो काई तजै,
रच न मलीन होय जाकी गति न्यारी है।
कजनके कुल ज्यो स्वभाव कीच छुये नाहि,
बसै जलमाहि पै न ऊर्धता विसारी है।।
अजनके अश जाके वश मे न कहूँ दीखै,
शुद्धता स्वभाव सिद्धरूप सुखकारी हे।
ज्ञान को समूह ज्ञान ध्यान मे विराजि रह्यो,
ज्ञानदृष्टि देखो 'भैया' ऐसो ब्रह्मचारी है।। ५५।।

चिदानन्द 'भैया' विराजत है घटमाहि,
ताके रूप लखिवे को उपाय कछू करिये।
अष्ट कर्म जाल की प्रकृति एक चार आठ,
तामे कछू तेरी नाहि अपनी न धरिये।।

पूरब के वन्ध तेरे तेई आइ उदै होहि,
निज गुण शकतिसो निन्है त्याग तरिये।
सिद्ध सम चेतन स्वभाव मे विराजत है,
वाको ध्यान धरु और काहुसो न डरिये ॥ ५६ ॥
एक सीख मेरी मानि आप ही तू पहिचानि,
ज्ञान दृग चर्ण आन वास वाके थरको।
अनन्त वलधारी है जु हलको न भारी है,
महाब्रह्मचारी है जु साथी नांहि जरको ॥
आप महा तेजवन्त गुण को न ओर अन्त,
जाकी महिमा अनन्त दूजो नाहि वरको।
चेतना के रस भरे चेतन प्रदेश धरे,
चेतना के चिह्न करे सिद्ध प्रटतर को ॥ ५७॥

रेखता

अत्रे भरम के त्योरसो देख क्या भूलता,
देखि तु आपमे जिन आपने वताया है।
अन्तर की दृष्टि खोलि चिदानन्द पाइयेगा,
बाहिर की दृष्टि सो पौद्गलीक छाया है ॥
गनीमन के भाव सव जुदे करि देखि तू,
आगे जिन ढूँढा तिन इसी भांति पाया है।
वे ऐब साहिव विराजता है दिल बीच,
सच्चा जिसका दिल है तिसी के दिल आया है ॥ ६० ॥

सवैया ३१

देव एक देहरे मे सुन्दर सुरूप बन्यों,
ज्ञान को विलास जाको सिद्धसम देखिये।
सिद्ध की सी रीति लिये काहूसो न प्रीति किये,
पूरब के वन्ध तेई आइ उदै पेखिये ॥
वर्ण गन्ध रस फास जामे कछु नाहि भैया,
सदा को अवर्न्ध याहि ऐसो करि लेखिये।
अजरा अमर ऐसो चिदानन्द जीव नाव,
अहो मन मूढ ताहि मर्ण क्यो विशेखिये ॥ ६१ ॥

निशदिन ध्यान करो निहचै सुज्ञान करो,
कर्म को निदान करो आवै नाहि फेरिकै।
मिथ्यामति नाश करो सम्यक उजास करो,
धर्म को प्रकाश करो शुद्ध दृष्टि हेरिकै॥
ब्रह्म को विलास करो, आतमनिवास करो,
देव सब दास करो महा मोह जेरिकैं।
अनुभौ अभ्यास करो थिरतामे वास करो,
मोक्ष सुख रास करो कहूँ तोहि टेरिकै॥ ६४॥

सातवां अध्याय
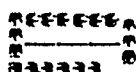
सम्यग्दर्शन और उसका महात्म्य ।

यह बात कही जा चुकी है कि यह ससार असार है, देह अपवित्र और क्षणिक है। इन्द्रियो के भोग अतृप्तिकारक तथा नाशवन्त हैं। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है, तथा इस सहज सुख का साधन एक आत्म ध्यान है। इसको रत्नत्रय धर्म भी कहते हैं। इसमे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकता है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव का यथार्थ श्रद्धान निश्चय सम्यग्दर्शन है। इसी का विशेष वर्णन उपयोगी जानकर किया जाता है, क्योकि आत्म ज्ञान का मुख्य हेतु सम्यग्दर्शन ही है। सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान कुज्ञान है, चारित्र कुचारित्र है, सम्यग्दर्शन के बिना सर्व साधन मिथ्या हैं। जैसे वृक्ष मूल बिना नही होता, नीव बिना मकान नही बनता, एक के अक बिना शून्यो का कोई मूल्य नही होता वैसे सम्यक्त के बिना किसी भी धर्म क्रिया को यथार्थ नही कहा जा सकता है।

सम्यग्दर्शन वास्तव मे आत्मा का एक गुण है, यह आत्मा में सदा काल ही रहता है। ससारी आत्मा के साथ कर्मों का सयोग भी प्रवाह की अपेक्षा अनादिकाल से है। इन्ही कर्मो मे एक मोहनीय कर्म हैं। उसके दो भेद है—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्व कर्म, सम्यग्मिथ्यात्व कर्म और सम्यक्त मोहनीय कर्म। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन गुण का विपरीत परिणमन हो, मिथ्यादर्शन रूप हो, जिससे आत्मा व अनात्मा का भेद विज्ञान न उत्पन्न हो सके सो मिथ्यात्व कर्म है। जिसके उदय से सम्यग्दर्शन और मिथ्या दर्शन के मिले हुए मिश्रित परिणाम हो उस कर्म को सम्यग्मिथ्यात्व या मिश्र कर्म कहते है। जिस कर्म के उदय से सम्यग्दर्शन मलीन रहे, कुछ दोष या मल या अतीचार लगे उसको सम्यक्त मोहनीय कहते हैं।

चारित्र मोहनीय कर्म में चार अनन्तानुवन्धी कषाय कर्म हैं, जिनके उदय से दीर्घकाल स्थायी कठिनता से मिटने वाली कषाय होती है। जैसे पत्थर की लकीरे कठिनता से मिटती है। अनादि मिथ्या दृष्टी जीव को जिसको अव तक सम्यक्त नही हुआ है, मिथ्यात्व कर्म और चार अनन्ता-नुवन्धी कषायो ने सम्यग्दर्शन गुण को ढक रखा है। जव तक यह उदय से न हटे तव तक सम्यग्दर्शन गुण प्रगट नही हो सकता है। इन कर्मो के आक्रमण को हटाने के लिए व्यवहार सम्यग्दर्शन का सेवन जरूरी हैं। जैसे औषधि खाने से रोग जाता है वैसे व्यवहार सम्यग्दर्शन के सेवन से निश्चय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है व मिथ्यात्व रोग जाता है।

जैसे रोगी को इस वात के जानने की जरूरत है कि मैं मूल मे कैसा हूँ, रोग किस कारण से हुआ है व रोग के दूर करने का क्या उपाय है। इसी तरह इस ससारी जीव को इस वात के जानने की जरूरत है कि वह मूल मे कैसा है, क्यो यह अशुद्ध हो रहा है व इसके शुद्ध होने का क्या उपाय है। जैसे नौका मे पानी आ रहा हो तब इस वात के जानने की जरूरत है कि क्यो नौका मे पानी भर रहा है व किस तरह इस नौका को छिद्र रहित व पानी से रहित किया जावे, जिससे यह समुद्र को पार कर सके, इसी तरह इस ससारी जीव को इस वात के जानने की जरूरत है कि उसके पुण्य पाप कर्म का बन्ध कैसे होता है। नये बन्ध को रोकने का व पुरातन बन्ध के काटने का क्या उपाय है, जिससे यह कर्म रहित हो

जावे। जैसे मैला कपडा उस समय तक शुद्ध नही किया जा सकता जिस समय तक यह ज्ञान न हो कि यह कपडा किस कारण मे मैला है व इस मैल के धोने के लिए किस मसाले की जरूरत है। उसी तरह यह अशुद्ध आत्मा उस समय तक शुद्ध नही हो सकता जव तक इसको अशुद्ध होने के कारण का व शुद्ध होने के उपाय का ज्ञान न हो। इसी प्रयोजनभूत बात को या तत्व को समझाने के लिए जैनाचार्यों ने सात तत्व बताये हैं व इनके श्रद्धान को व्यवहार सम्यग्दर्शन कहा है। वे सात तत्व इस प्रकार है—

(१) **जीव तत्व**—चेतना लक्षण जीव है, ससारावस्था मे अशुद्ध है।

(२) **अजीव तत्व**—जीव को विकार का कारण पुद्गल, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश और काल ये पाच चेतनारहित अजीव द्रव्य इस जगत में हैं।

(३) **आस्रव तत्व**—कर्मों के आने के कारण को व कर्मों के आने को आस्रव कहते हैं।

(४) **बन्ध तत्व**—कर्मों के आत्मा के साथ बँधने के कारण को व कर्मो के बन्ध को बन्ध कहते हैं।

(५) **सवर तत्व**—कर्मों के आने के रोकने के कारण को व कर्मों के रुक जाने को सवर कहते हैं।

(६) **निर्जरा तत्व**—कर्मो के झडने के कारण को व कर्मो के झडने को निर्जरा कहते हैं।

(७) **मोक्ष तत्व**—सर्व कर्मों से छूट जाने के कारण को व कर्मों से पृथक् होने को मोक्ष कहते हैं।

यह विश्व जीव और अजीव का अर्थात् छ द्रव्यो का—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इनका समुदाय है। पुद्गलो मे सूक्ष्म जाति की पुद्गल कर्मवर्गणा हैं या कर्मस्कन्ध हैं। उन्ही के सयोग से आत्मा अशुद्ध होता है। आस्रव व बन्धतत्व अशुद्धता के कारण को बताते हैं। सवर अशुद्धता के रोकने का व निर्जरा अशुद्धता के दूर होने का उपाय बताते हैं, मोक्ष बन्ध रहित व शुद्ध अवस्था बताता है। ये सात

तत्व बडे उपयोगी है, इनको ठीक ठीक जाने विना आत्मा के कर्म की बीमारी मिट नही सकती है। इन्हीका सच्चा श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, इन्ही के मनन से निश्चय सम्यग्दर्शन होता है। इसलिए ये निश्चय सम्यक्त के होने मे वाहरी निमित्त कारण हैं। अन्तरग निमित्त कारण अनन्तानुवन्धी चार कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उपशम होना या दबना है।

जीव और अजीव तत्व

जीव और अजीव तत्वो मे गर्भित छ' द्रव्य सत्‌रूप हैं, सदा से हैं व सदा रहेगे, इनको किसी ने न वनाया है, न इनका कभी नाश होगा। सो यह बात प्रत्यक्ष प्रगट है। हमारी इन्द्रियो के द्वारा प्रगट जानने योग्य **पुद्‌गल द्रव्य** है। इसकी परीक्षा की जायगी तो सिद्ध होगा कि यह सत् है, अविनाशी है, कभी नाश नही हो सकता है। एक कागज को लिया जाय, यह पुद्‌गल स्कन्ध है। इसको जला दिया जाय राख हो जायगा, राख को कही डाल दिया जाय दूसरी राख मे मिल जायगी। इस राख को कोई शून्य नही कर सकता है। एक सुवर्ण की अगूठी को लिया जाय, इसको तोड कर वाली वनाई जाय, वाली तोड कर कण्ठी वनाई जाय, कण्ठी तोड कर नथ बनाई जावे, नथ तोड कर कडा वनाया जावे। कितनी भी दशा पलटाई जावें तो भी सुवर्ण पुद्‌गल का कभी नाश नही होगा। मिट्टी का एक घडा है, घडे को तोडा जावे वडे ठीकरे बन जायेंगे, ठीकरो को तोडेंगे छोटे टुकडे हो जायेंगे, उनको पीस डालेगे राख हो जायगी। राख को डाल देंगे राख मे मिल जायगी। मिट्टी की कितनी भी अवस्थाएँ पलटे मिट्टी पुद्‌गल स्कन्ध का नाश नही होगा। जगत मे पुद्‌गलो को एकत्र कर मकान वनाते है। जव मकान को तोडते हैं तब पुद्‌गल ईंट, चूना, लकडी, लोहा अलग होता है। यह देखने मे आयगा व प्रत्यक्ष अनुभव मे आयगा कि जगत मे जितने भी दृश्य पदार्थ हैं वे पुद्‌गलो के मेल से वने हैं। जब वे बिगडते हैं तव पुद्‌गल के स्कन्ध बिखर जाते हैं। एक परमाणु का भी लोप नही हो जाता है। मकान, बर्तन, कपडा, कुरसी, मेज, कलम, दवात, कागज, पुस्तक, चौकी, पलग, पालकी, गाडी, मोटर, रेलगाडी, पखा, दरी, लालटेन, जजीर, आभूषण आदि पुद्‌गल की रचना है, ये टूटते हैं तो अन्य दशा मे हो जाते है। हमारा यह शरीर भी पुद्‌गल है, पुद्‌गलो के स्कन्धो के मेल से वना है।

ी खरीदे। उसमे बने रहने की तथा बदलने की शक्ति एक ही साथ है थवा वह एक ही समय नित्य व अनित्य उभय रूप है, तब ही वह कार्य-ारी हो सकता है।

यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत् का लक्षण सर्व ही द्रव्यो मे पाया जाता है। जीवो मे भी है। कोई क्रोधी हो रहा है, जब क्रोध का नाश होता है तब क्षमा या शान्त भाव का जन्म होता हैं तथा आत्मा ध्रौव्य रूप है ही। किसी आत्मा को गणित मे जोड निकालने का ज्ञान नही था। अर्थात् जोड के कायदे का अज्ञान था, जब जोड निकालने के कायदे का ज्ञान हुआ तब अज्ञान का नाश हुआ और ज्ञान का जन्म हुआ, इस अवस्था को पलटते हुए भी आत्मा वही बना रहा। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मा मे भी सिद्ध है। एक आत्मा ध्यान मे मग्न है, जिस क्षण ध्यान हटा तब ध्यान की दशा का नाश हुआ और ध्यान रहित विकल्प दशा का जन्म हुआ और जीव वही बना है। अशुद्ध जीवो मे तथा पुद्गलो मे अवस्थाओ का पलटना अनुभव मे आता हैं। इससे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण की सिद्धि होती हैं परन्तु शुद्ध जीवों मे व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल मे किस तरह इस लक्षण की सिद्धि की जावे। वस्तु का स्वभाव जब अशुद्ध जीव व पुद्गल मे सिद्ध हो गया है तब वही स्वभाव उनमे भी जानना चाहिए। शुद्ध द्रव्यो मे किसी पर द्रव्य का ऐसा निमित्त नही है जो द्रव्य को मलीन कर सके। इसलिए उनमे विभाव या अशुद्ध पर्याये नही होती हैं। शुद्ध सदृश पर्याये स्वाभाविक होती हैं, जैसे—निर्मल जल मे तरगे निर्मल ही होंगी वैसे शुद्ध द्रव्यो मे पर्याये निर्मल ही होगी।

द्रव्यो के छ. सामान्य गुण—सर्व छहो द्रव्यो मे छ गुण सामान्य हैं। सबमे पाये जाते हैं—(१) **अस्तित्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो उसे अस्तित्वगुण कहते है। (२) **वस्तुत्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से वस्तु कुछ कार्य करे व्यर्थ न हो उसे वस्तुत्व गुण कहते हैं, जैसे पुद्गल मे शरीरादि बनाने की अर्थ क्रिया है। (३) **द्रव्यत्वगुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ध्रुव रहते हुए भी पलटता रहे। उसमे

जब मृतक हो जाता है तब पुद्‌गल के स्कन्ध शिथिल पड जाते है, बिखर जाते है, जलाए जाने पर कुछ पवन मे उड जाते हे। कुछ पडे रह जाते है। पुद्‌गलो मे यह देखने मे आता है कि वे अवस्थाओ को पलटते हुए भी मूल मे बने रहते है। इसीलिए सत का लक्षण यह है कि जिसमे **उत्पाद व्यय ध्रौव्य** ये तीन स्वभाव एक ही समय मे पाये जावे। हरएक पदार्थ की अवस्था समय-समय पलटती है। स्थूल बुद्धि मे देर से पलटी मालूम होती हे। एक नया मकान बनाया गया है वह उसी क्षण से पुराना पडता जाता है। जब वर्ष दो वर्ष बीत जाते है तब स्थूल बुद्धि को पुराना मालूम पडता है। वास्तव मे उसका पलटना हर समय ही हो रहा है। एक मिठाई ताजी बनी है, एक दिन पीछे बासी खाये जाने पर स्वाद ताजे की अपेक्षा बदला हुआ मालूम होता है। यह एकदम नही बदला, बनने के समय से ही बदलता हुआ चला आ रहा है। एक बालक जन्मते समय छोटा होता है। चार वर्ष पीछे बडा हो जाता है वह एकदम से बडा नही हुआ। उसकी दशा का पलटना बराबर होता रहा है, वह बालक हर समय बढता चला आ रहा है। पुरानी अवस्था का नाश होकर नई अवस्था के जन्म को ही पलटना या परिवर्तन कहते हैं। श्वेत कपडे को जिस समय रग मे भिजोया उसी समय श्वेतपना पलट कर रगीनपना हुआ है। श्वेतपने का व्यय व रगीनपने का उत्पाद हुआ है। चने के दाने को हथेली मे मसला जाता है तब चने की दशा नाश होकर चूरे की दशा बन जाती है। क्योकि अवस्था की पलटन होते हुए भी जिसकी अवस्था पलटती है वह बना रहता है। इसीलिए उत्पाद व्यय ध्रौव्य सत् का लक्षण किया गया है। पर्याय पलटने की अपेक्षा उत्पाद व्ययपना व मूल द्रव्य के बने रहने की अपेक्षा ध्रुवपना सिद्ध हे। इसीलिये द्रव्य को नित्य अनित्य रूप उभय रूप कहते हैं। द्रव्य स्वभाव से नित्य है, दशा पलटने की अपेक्षा अनित्य है। यदि द्रव्य मे उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना न हो या नित्य अनित्यपना न हो तो कोई द्रव्य कुछ भी काम नही दे सकता। यदि कोई द्रव्य सर्वथा नित्य ही हो तो वह जैसा का तैसा बना रहेगा। यदि सर्वथा अनित्य हो तो क्षण भर मे नाश हो जायगा। जब वह ठहरेहीगा नही तब उससे कुछ काम नही निकलेगा। यदि सुवर्ण एकसा ही बना रहे, उससे कडे, बाली, कण्ठी, अँगूठी न बने तो वह व्यर्थ ही ठहरे उसे कोई भी न खरीदे। यदि सुवर्ण अनित्य हो, ठहरे ही नहीं तो भी उसे कोई

नही खरीदे। उसमे बने रहने की तथा बदलने की शक्ति एक ही साथ है अथवा वह एक ही समय नित्य व अनित्य उभय रूप है, तब ही वह कार्यकारी हो सकता है।

यह उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना सत् का लक्षण सर्व ही द्रव्यो मे पाया जाता है। जीवो मे भी है। कोई क्रोधी हो रहा है, जब क्रोध का नाश होता है तब क्षमा या शान्त भाव का जन्म होता हैं तथा आत्मा ध्रौव्य रूप है ही। किसी आत्मा को गणित मे जोड निकालने का ज्ञान नही था। अर्थात् जोड के कायदे का अज्ञान था, जब जोड निकालने के कायदे का ज्ञान हुआ तब अज्ञान का नाश हुआ और ज्ञान का जन्म हुआ, इस अवस्था को पलटते हुए भी आत्मा वही बना रहा। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य आत्मा मे भी सिद्ध है। एक आत्मा ध्यान मे मग्न है, जिस क्षण ध्यान हटा तब ध्यान की दशा का नाश हुआ और ध्यान रहित विकल्प दशा का जन्म हुआ और जीव वही बना है। अशुद्ध जीवो मे तथा पुद्‌गलो मे अवस्थाओ का पलटना अनुभव मे आता हैं। इससे उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण की सिद्धि होती हैं परन्तु शुद्ध जीवों मे व धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाश व काल मे किस तरह इस लक्षण की सिद्धि की जावे। वस्तु का स्वभाव जब अशुद्ध जीव व पुद्‌गल मे सिद्ध हो गया है तब वही स्वभाव उनमे भी जानना चाहिए। शुद्ध द्रव्यो मे किसी पर द्रव्य का ऐसा निमित्त नही है जो द्रव्य को मलीन कर सके। इसलिए उनमे विभाव या अशुद्ध पर्याये नही होती हैं। शुद्ध सदृश पर्याये स्वाभाविक होती हैं, जैसे—निर्मल जल मे तरगे निर्मल ही होंगी वैसे शुद्ध द्रव्यो मे पर्याये निर्मल ही होगी।

द्रव्यो के छः सामान्य गुण—सर्व छहो द्रव्यो मे छ गुण सामान्य हैं। सबमे पाये जाते हैं—(१) **अस्तित्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कभी नाश न हो उसे अस्तित्वगुण कहते हैं। (२) **वस्तुत्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से वस्तु कुछ कार्य करे व्यर्थ न हो उसे वस्तुत्व गुण कहते है, जैसे पुद्‌गल में शरीरादि बनाने की अर्थ क्रिया है। (३) **द्रव्यत्वगुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ध्रुव रहते हुए भी पलटता रहे। उसमे

पर्याये होती रहे, उसे द्रव्यत्व गुण कहते हैं, जैसे - पुद्गल मिट्टी से घडा बनना। (४) **प्रमेयत्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य किसी के ज्ञान का विषय हो उसे प्रमेयत्व गुण कहते हैं। (५) **अगुरुलघुत्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से एक द्रव्य दूसरे द्रव्य रूप न हो, एक गुण दूसरे गुण रूप न हो व एक द्रव्य मे जितने गुण हों उतने ही रहे, न कोई कम हों न कोई अधिक हो, उसे अगुरुलघुत्व गुण कहते हैं। (६) **प्रदेशत्व गुण**—जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य का कुछ न कुछ आकार अवश्य हो उसे प्रदेशत्व गुण कहते हैं। आकार विना कोई वस्तु नही हो सकती है। आकाश मे जो वस्तु रहती है वह जितना क्षेत्र घेरती है वही उसका आकार है। छहो द्रव्यो मे अपना अपना आकार है। पुद्गल मूर्तीक है, उसका आकार भी मूर्तीक है। स्पर्श, रस, गन्ध वर्णमय है। शेष पाच द्रव्य अमूर्तीक हैं, उनका आकार भी अमूर्तीक है।

छः द्रव्यों के विशेष गुण— जो गुण उस एक द्रव्य ही में पाये जावें, उनको विशेष गुण कहते हैं। **जीव के विशेष गुण हैं**—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, सम्यक्त, चारित्र आदि। **पुद्गल के विशेष गुण हैं**—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण। **धर्मद्रव्य का विशेष गुण**— गमन करते हुए जीव पुद्गलो को उदासीन रूप से गमन में सहकारी होना है। **अधर्मद्रव्य का विशेष गुण**—ठहरते हुए जीव पुद्गलो को ठहरने मे उदासीनपने सहाय करना है। **आकाश द्रव्य का विशेष गुण**—सर्व द्रव्यो को आकाश या जगह देना है। **काल द्रव्य का विशेष गुण**—सर्व द्रव्यो की अवस्था पलटने मे सहायकारी होना है।

छः द्रव्यो के आकार— जीव का मूल आकार लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशी है। आकाश एक अखण्ड द्रव्य अनन्त है। उसके मध्य मे जहा जीवादि द्रव्य पाए जाते हैं उस भाग को लोकाकाश कहते हैं। इसको यदि प्रदेश रूपी गज से मापा जावे तो यह लोक असख्यात प्रदेशी है। इतना ही बडा मूल मे जीव है। एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को रोकता है उतने क्षेत्र को प्रदेश कहते हैं। तथापि यह जीव जिस शरीर मे रहता है उतने बडे शरीर को माप कर रहता है। नाम कर्म के उदय से इसमे सकोच विस्तार शक्ति काम करती है, जिससे शरीर प्रमाण सकुचित व विस्तृत हो जाता है। पुद्गल के स्कन्ध अनेक

आकार के गोल, चौखूँटे, तिखूँटे बडे छोटे बनते है। एक परमाणु का एक प्रदेश मात्र आकार है। धर्म व अधर्म द्रव्य दोनो लोकाकाश प्रमाण व्यापक हैं। आकाश का अनन्त आकार है। कालाणु असख्यात लोकाकाश के प्रदेशो मे एक एक अलग-अलग है—कभी मिलते नही हैं, इसलिये एक प्रदेश मात्र हरएक कालाणु का आकार है।

छ द्रव्यो की सख्या—धर्म, अधर्म, आकाश एक एक द्रव्य हैं, कालाणु असख्यात हैं, जीव अनन्त हैं, पुद्गल अनन्त हैं।

पाँच अस्तिकाय—जो द्रव्य एक से अधिक प्रदेश रखते हैं वे अस्तिकाय कहलाते हैं। काल का एक ही प्रदेश होता है। काल को छोड कर शेष पाँच द्रव्य जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश अस्तिकाय हैं।

जीव द्रव्य के नौ विशेषण—(१) जीने वाला है, (२) उपयोगवान हैं, (३) अमूर्तीक है, (४) कर्ता है, (५) भोक्ता है, (६) शरीर प्रमाण आकार धारी है, (७) ससारी है, (८) सिद्ध भी हो जाता है, (९) स्वभाव से अग्नि की शिखा के समान ऊपर जाने वाला है। इनका विशेष नीचे प्रकार है—

इनका कथन करते हुए निश्चयनय तथा व्यवहारनय को ध्यान मे रखना चाहिए। जिस अपेक्षा से वस्तु का मूल निज स्वभाव जाना जावे वह निश्चयनय है। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध स्वभाव को व अशुद्ध निश्चयनय अशुद्ध स्वभाव को बताने वाला है। व्यवहारनय वह है जो परपदार्थ को किसी मे आरोपण करके उसको पररूप कहे, जैसे जीव को गोरा कहना। गोरा तो शरीर है। यहा शरीर का आरोप जीव मे करके सयोग को बताने वाला व्यवहारनय है। कभी व कही अशुद्ध निश्चयनय को भी व्यवहारनय कह देते हैं। शुद्ध निश्चयनय शुद्ध मूल स्वभाव को ही बताता है।

(१) **जीवत्व**—निश्चयनय से जीव के अमिट प्राण, सुख, सत्ता, चैतन्य, बोध हैं। अर्थात् स्वाभाविक आनन्द, सत्पना, स्वानुभूति तथा ज्ञान हैं। व्यवहारनय से जीवो के दश प्राण होते हैं जिनके द्वारा एक शरीर मे प्राणी जीवित रहता है व जिनके बिगडने से वह शरीर को छोड देता है। वे प्राण हैं पाच स्पर्शनादि इन्द्रिया—मनबल, वचनबल, कायबल, आयु और श्वासोछ्वास।

(१) एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के चार प्राण होते है—स्पर्शनेन्द्रिय, कायवल, आयु, श्वासोछ्वास। (२) लट आदि द्वेन्द्रियो के छ प्राण होते है— रसना इन्द्रिय, और वचनवल अधिक हो जाता है। (३) चीटी आदि तेन्द्रियो के नाक अधिक होती है, सात प्राण होते हैं। (४) मक्खी आदि चौद्रिय के आख अधिक करके आठ प्राण होते हैं। (५) मन रहित पचेन्द्रिय समुद्र के कोई सर्पादि के कर्ण सहित नौ प्राण होते है। (६) मन सहित पचेन्द्रियो के—देव, नारकी, मानव, गाय, भैसादि पशु, मछली, मयूरादि के दशो प्राण होते हैं।

(२) **उपयोगवान**—जिसके द्वारा जाना जाय उसे उपयोग कहते हैं। उसके आठ भेद है— मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और केवलज्ञान, कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधिज्ञान। ज्ञानोपयोग के आठ भेद है। दर्शनोपयोग के चार भेद है—चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधिदर्शन, केवलदर्शन। ये बारह उपयोग व्यवहारनय से भेदरूप कहे जाते हैं। इनका विशेष स्वरूप आगे कहेगे। इन्ही से ससारी जीवो की पहचान होती है। आत्मा अमूर्तीक पदार्थ है। शरीर मे है कि नही इसका ज्ञान इसी बात को देख कर किया जाता है कि कोई प्राणी स्पर्श का ज्ञान रखता है या नही, रस को रसना से, गन्ध को नाक से, वर्ण को आख से, शब्द को कर्ण से जानता है कि नही या मन से विचार करता है या नही। मृतक शरीर मे इन बारह उपयोगो से से कोई भी उपयोग नही पाया जाता है। क्योकि वहा उपयोग का धारी आत्मा नही रहा है। निश्चयनय से वास्तव मे न ज्ञानोपयोग के आठ भेद है न दर्शनोपयोग के चार भेद है। ज्ञानोपयोग व दर्शनोपयोग एक एक ही है, आत्मा के सहज स्वाभाविक गुण हैं। कर्म के सम्बन्ध से बारह भेद हो जाते हैं, इसलिये निश्चय से आत्मा के उपयोग शुद्ध ज्ञान, शुद्ध दर्शन है।

(३) **अमूर्तीक**—जीव मे निश्चयनय से असल मे न कोई स्पर्श रूखा, चिकना, हलका, भारी, ठण्डा, गरम, नरम, कठोर है, न कोई रस खट्टा, मीठा, चरपरा, तीखा, कसायला है, न कोई गन्ध, सुगन्ध या दुर्गन्ध है, न कोई वर्ण सफेद, लाल, पीला, नीला, काला है। इसलिये मूर्तीक पुद्गल से भिन्न अमूर्तीक चिदाकार है। व्यवहारनय से इस जीव को मूर्तीक कहते है क्योकि ससारी जीव के साथ मूर्तीक कर्म पुद्गलो का मेल दूध और जल के समान एक क्षेत्रावगाह रूप है। कोई भी प्रदेश जीव का शुद्ध नही है, सर्वांग पुद्गल से एकमेक है, इसलिये इसे मूर्तीक कहते है। जैसे दूध से

मिले जल को दूध, रग से मिले पानी को रग कहते हैं।

(४) **कर्ता है**—यह आत्मा निश्चयनय से अपने ही ज्ञानदर्शनादि गुणो के परिणाम को ही करता है। शुद्ध निश्चयनय से शुद्ध भावो का ही कर्ता है, अशुद्ध निश्चयनय से रागादि भाव कर्मों का कर्ता कहा जाता है। शुद्ध निश्चयनय से या स्वभाव से यह आत्मा रागादि भावो का करनेवाला नही है। क्योकि ये इसके स्वाभाविक भाव नही हैं, ये औपाधिक भाव हैं। जब कर्मों का उदय होता है, मोहनीय कर्म का विपाक होता है तब क्रोध के उदय से क्रोधभाव, मान के उदय से मान भाव, माया के उदय से माया भाव, लोभ के उदय से लोभ भाव, काम या वेद के उदय से काम भाव उसी तरह हो जाता है जिस तरह स्फटिकमणि के नीचे लाल, पीला, काला डाक लगाने से स्फटिक लाल, पीला, काला झलकता है। उस समय स्फटिक का स्वच्छ सफेद रग ढक जाता है। आत्मा स्वय स्वभाव से इन विभावो का कर्ता नही है, ये नैमित्तिक भाव हैं—होते है, मिटते हैं, फिर होते हैं, क्योकि ये सयोग से होते है। इसलिये इनको आत्मा के भाव अशुद्ध निश्चय से कहे जाते हैं या यह कहा जाता हैं कि आत्मा अशुद्ध निश्चय से इनका कर्ता है। इन भावो के होने से आत्मा का भाव अपवित्र, आकुलित, दुःखमय हो जाता हैं। आत्मा का पवित्र, निराकुल, सुखमय स्वभाव विपरीत हो जाता हैं। इसलिये इनका होना इष्ट नही है। इनका न होना ही आत्मा का हित है जैसे मिट्टी स्वय मैली, विरस स्वभावी है इसलिए इस मिट्टी के सयोग से पानी भी मैला व विरस स्वभाव हो जाता है, वैसे मोहनीय कर्म का रस या अनुभाग मलीन, कलुषरूप, व आकुलता रूप है, इसलिए उसके सयोग से आत्मा का उपयोग भी मलीन व कलुषित व आकुलित हो जाता है। इन्हीं भावो का निमित्त पाकर कर्म वर्गणारूप सूक्ष्म पुद्गल जो लोक मे सर्वत्र भरे हैं, खिच कर स्वय आकर बध जाते हैं। ज्ञानावरणादि रूप होकर कर्म नाम पाते हैं, जैसे गर्मी का निमित्त पाकर पानी स्वय भाप रूप बदल जाता वैसे कर्मवर्गणा स्वय पुण्य या पाप कर्म रूप बध जाती है। यह बध भी पूर्व विद्यमान कार्माण शरीर से होता है। वास्तव मे आत्मा से नही होता है। आत्मा उस कर्म के शरीर के साथ उसी तरह रहता है जैसे आकाश मे धुआ या रज फैल जाय तब आकाश के साथ मात्र सयोग होता है। का एक क्षेत्रावगाह रूप सम्बन्ध होता है। आत्मा ने कर्म नही बाधे हैं, स्वय बधे है। आत्मा का अशुद्ध भाव केवल निमित्त है तो भी व्य

नय से आत्मा को पुद्गल कर्मों का कर्ता या बाधने वाला कहते है। उसी तरह जैसे कुम्हार को घडे का बनाने वाला, सुनार को कडे का बनाने वाला, स्त्री को रसोई बनाने वाली, लेखक को पत्र लिखने वाला, दरजी को कपडा सीने वाला, कारीगर को मकान बनानेवाला कहते हैं। निश्चय से घडे को बनाने वाली मिट्टी है, कडे को बनाने वाला सोना है, रसोई को बनाने वाली अन्नपानादि सामग्री है, पत्र को लिखने वाली स्याही है, कपडे का सीने वाला तागा है—कुम्हारादि केवल निमित्त मात्र हैं। जो वस्तु स्वय कार्य रूप होती है उसी को उसका कर्ता कहते हैं। कर्ता कर्म एक ही वस्तु होते है। दूध ही मलाई रूप परिणमा है इससे मलाई का कर्ता दूध है। सुवर्ण ही कडे रूप परिणमा है इससे कडे का कर्ता सुवर्ण है। मिट्टी ही घडे रूप परिणमी है इससे घडे का कर्ता मिट्टी है। कर्ता के गुण स्वभाव उससे बने हुए कार्य मे पाये जाते है। जैसी मिट्टी वैसा घडा, जैसा सोना वैसा कडा, जैसा दूध वैसी मलाई, जैसा तागा वैसा उसका बना कपडा। निमित्त कर्ता किन्ही कार्यों के अचेतन ही होते है, किन्ही कार्यो के चेतन व चेतन अचेतन दोनो होते हैं। गरमी से पानी भाप रूप हो जाता है, भाप से मेघ बनते हैं, मेघ स्वय पानी रूप हो जाते हैं, इन सब कार्यों मे निमित्त कर्ता अचेतन ही है। हवा श्वास रूप हो जाता है, इसमे निमित्तकर्ता चेतन का योग और उपयोग हैं। या कर्मवर्गणा कर्म रूप हो जाती है उनमे निमित्त कर्ता चेतन का योग और उपयोग है। मिट्टी का घडा बनता है उसमे निमित्तकर्ता कुम्हार का योग उपयोग है तथा चाक आदि अचेतन भी है। रसोई बनती है, निमित्त कर्ता स्त्री के योग उपयोग है तथा चूल्हा, बर्तन आदि अचेतन भी हैं। जहाँ चेतन निमित्तकर्ता घट, पट, बर्तन, भोजनादि बनाने मे होता है वहाँ व्यवहार नय से उसको घट, पट, बर्तन व भोजनादि का कर्ता कह देते हैं।

यदि निश्चय से विचार किया जावे तो शुद्धात्मा किसी भी कार्य का निमित्त कर्ता भी नही है। जब तक ससारी आत्मा के साथ कर्मों का सयोग है व कर्मो का उदय हो रहा है तब तक आत्मा के मन, वचन, काय योग चलते रहते हैं व ज्ञानोपयोग अशुद्ध होता है। राग द्वेष सहित या कषाय सहित होता है। ये ही योग और उपयोग निमित्त कर्ता हैं। इन्ही से कर्म बधते हैं, उन्ही से घटादि बनते है। कुम्हार ने घडा बनाया, घट बनाने मे मन का सकल्प किया, शरीर को हिलाया व राग सहित उपयोग किया। कुम्हार के योग उपयोग ही घट के निमित्त कर्ता हैं,

आत्मा नही। स्त्री के मन ने रसोई बनाने का सकल्प किया, वचन से किसी को कुछ रखने उठाने को कहा, काय से रखा उठाया, राग सहित ज्ञान भाव किया। योग व उपयोग ही रसोई के निमित्त कर्ता हैं, स्त्री का शुद्ध आत्मा नही। योग और उपयोग आत्मा के विभाव हैं इसलिये अशुद्ध निश्चय से उनका कर्ता आत्मा को कहते है। शुद्ध निश्चय से आत्मा मन वचन काय योग का तथा अशुद्ध उपयोग का कर्ता नही है। यद्यपि योग शक्ति—कर्म आकर्षण शक्ति आत्मा की हैं परन्तु वह कर्मो के उदय से ही मन, वचन, काय द्वारा काम करती है। कर्म का उदय न हो तो कुछ भी हलनचलन काम हो। अशुद्ध सराग उपयोग भी कषाय के उदय मे होता है, आत्मा का स्वाभाविक उपयोग नही। निश्चयनय से आत्मा मे न योग का कार्य है न राग द्वेष रूप उपयोग का कार्य है। इसलिये शुद्ध निश्चयनय से यह आत्मा केवल अपने शुद्ध भावो का ही कर्ता है। परभावो का न उपादान या मूल कर्ता है न निमित्त कर्ता है। स्वभाव के परिणमन से जो परिणाम या कर्म हो उस परिणाम या कर्म का उपादान कर्ता उसको कहा जाता है। ज्ञान स्वरूपी आत्मा है इसलिये शुद्ध ज्ञानोपयोग का ही वह उपादान कर्ता है। अज्ञानी जीव भूल से आत्मा को रागादि का कर्ता व अच्छे बुरे कामो का कर्ता व घटपट आदि का कर्ता मान कर अहकार करके दु खी होता है। मै कर्ता मैं कर्ता इस बुद्धि से जो अपने स्वाभाविक कर्म नही हैं उनको अपना ही कर्म मान कर राग द्वेष करके कष्ट पाता है।

ज्ञानी जीव केवल शुद्ध ज्ञान परिणतिका ही अपने को कर्त्ता मानता है। इसलिये सर्व ही परभावो का व परकार्यो का मै कर्त्ता हूं, इस अहकार को नही करता है। यदि शुभ राग होता है तो उसे भी मन्द कषाय का उदय जानता है। यदि अशुभ राग होता है तो उसे भी तीव्र कषाय का उदय जानता है। अपना स्वभाव नही जानता है, विभाव जानता है। विभाव को रोग, विकार व उपाधि मानता है व ऐसी भावना रखता है कि ये विभाव न हो तो ठीक है। वीतराग भाव मे ही परिणमन हो तो ठीक है। जैसे बालक खेलने का ही प्रेमी है, उसे माता पिता व गुरु के डर से पढने का काम करना पडता है। वह पढता है परन्तु उधर प्रेमी नही है, प्रेमी खेल का ही है। इसी तरह ज्ञानी जीव वीतराग आत्माके शुद्ध भाव का प्रेमी है। पूर्ववद्ध कर्म के उदय से जो भाव होता है तदनुकूल मन, वचन, काय वर्तते हैं। इनको वह पसन्द नही करता है। कर्म का विकार या नाटक समझता है व भीतर से वैरागी है। जैसे बालक पढने

से वैरागी है। ज्ञानी आत्मा बिना आसक्ति के परोपकार करता हुआ अपने को कर्त्ता नही मानता है—मन, वचन, काय का कार्य मात्र जानता है। यदि वह गृहस्थ है, कुटुम्ब को पालता है तथापि वह पालने का अहकार नही करता है। ज्ञानी सर्व विभावो को कर्मकृत जानकर उनसे अलिप्त रहता है। ज्ञानी एक अपने ही आत्मीक वीतराग भावो का ही अपने को कर्त्ता मानता है।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है। जो कोई ज्ञानी आत्मा को पर भावो का अकर्ता समझेगा वही एकदिन साक्षात् अकर्ता हो जायगा। उसके योग और उपयोग की चचलता जब मिट जायगी तब वह सिद्ध परमात्मा हो जायगा। इस तत्व का यह मतलब लेना योग्य नही है कि ज्ञानी सराग कार्यो को उत्तम प्रकार से नही करता है, बिगाड रूप से करता होगा, सो नही है। ज्ञानी मन, वचन, काय से सर्व कार्य यथायोग्य ठीक-ठीक करता हुआ भी मै कर्ता इस मिथ्या अह बुद्धि को नही करता है। इस सर्व लौकिक प्रपच को कर्म का विकार जानता है, अपना स्वभाव नही मानता है। कदाचित् अज्ञानी की अपेक्षा ज्ञानी कुटुम्ब का पालन, जप, तप, पूजा, पाठ, विषयभोग आदि मन, वचन, काय के शुभ, अशुभ कार्य उत्तम प्रकार से करता है—प्रमाद व आलस्य से नही करता है, तो भी मै कर्ता हूँ इस मिथ्यात्व से अलग रहता है। जैसे नाटक मे पात्र नाटक खेलते हुए भी उस नाटक के खेल को खेल ही समझते हैं, उस खेल मे किए हुए कार्यो को अपने मूल स्वभाव मे नही लगाते है। नाटक का पात्र खेल दिखलाते वक्त ही अपने को राजा कहता है। उस समय भी वह अपनी असल प्रकृति को नही भूलता है व खेल के पीछे तो अपने असल रूप ही वर्तन करता है। ब्राह्मण का पुत्र अपने को ब्राह्मण मानते हुए भी खेल मे राजा का पार्ट बड़ी ही उत्तमता से दिखाता है तथापि मैं राजा हो गया ऐसा नही मानता है। ससार को नाटक समझकर व्यवहार करना ज्ञानी का स्वभाव है।

ससार को अपना ही कार्य समझना, व्यवहार करना अज्ञानी का स्वभाव है। इसलिये अज्ञानी ससार का कर्ता है, ज्ञानी ससार का कर्ता नही। अज्ञानी ससार मे भ्रमेगा, ज्ञानी ससार से शीघ्र ही छूट जायगा। वह श्रद्धा मे व ज्ञान मे ससार कार्य को आत्मा का कर्तव्य नही मानता है। कषाय के उदयवश लाचारी का कार्य जानता है।

(५) **भोक्ता है**—जिस तरह निश्चयनय से यह जीव अपने स्वाभाविक भावो का कर्ता है उसी तरह यह अपने स्वाभाविक ज्ञानानन्द या सहज सुख का भोक्ता हे। अशुद्ध निश्चयनय से मैं सुखी, मैं दु खी इस राग द्वेष रूप विभाव का भोक्ता है, व्यवहार नय से पुण्य पाप कर्मों के फल को भोगता है। मैं सुखी मैं दु खी यह भाव मोहनीय कर्म के उदय से होते है। रति कषाय के उदय से सासारिक सुख मे प्रीति भाव व अरति कषाय के उदय से सासारिक दु ख मे अप्रीति भाव होता है। यह अशुद्ध भाव कर्म जनित है इसलिये स्वभाव नही विभाव है। आत्मा मे कर्म सयोग से यह भाव होता है तव आत्मानन्द के सुखानुभव का भाव छिप जाता है इसलिये ऐसा कहा जाता है कि अशुद्ध निश्चयनय से यह सुख दु ख का भोक्ता है। भोजन, वस्त्र, गाना, बजाना, सुगन्ध, पलग आदि बाहरी वस्तुओ का भोग तथा सातावेदनीय असातावेदनीय कर्म का भोग वास्तव मे पुद्गल के द्वारा पुद्गल का होता है। जीवमात्र उनमे राग भाव करता है इससे भोक्ता कहलाता है, यहा भी मन वचन काय द्वारा योग तथा अशुद्ध उपयोग ही पर पदार्थ के भोगे मे निमित्त हैं। जैसे एक लड्डू खाया गया। लड्डू पुद्गल को मुख रूपी पुद्गल ने चवा कर खाया। जिह्वा के पुद्गलो के द्वारा रस का ज्ञान हुआ। लड्डू का भोग शरीर रूपी पुद्गल ने किया। उदर मे पवन द्वारा पहुँचा। जीव ने अपने अशुद्ध भाव इन्द्रिय रूपी उपयोग से जाना तथा खाने की क्रिया मे योग को काम मे लिया लिया।

यदि वैराग्य से जाने तो खाने का सुख न माने। जव वह राग राहित खाता है तव सुख मान लेता है। इसलिये लड्डू का भोग इस जीव ने किया यह मात्र व्यवहार नय का वचन है। जीव ने केवल मात्र खाने के भाव किये व योगो को व्यवहार किया, योग शक्ति को प्रेरित किया। इस तरह सुन्दर वस्त्रो ने शरीर को शोभित किया, आत्मा को नही, तव यह जीव अपने राग भाव से मैं सुखी हुआ ऐसा मान लेता हैं। एक उदास मुखो, पति के परदेश गमन से दु खी स्त्री को सुन्दर वस्त्राभूषण पहनाए जावे, शरीर तो शोभित हो जायगा परन्तु वह राग रहित है, उसका राग भाव उन वस्त्राभूषणो मे नही है इसलिये उसे उस सुख का अनुभव नही होगा। इसीलिये यह वात ज्ञानियो ने स्वानुभव से कही है कि ससार के पदार्थो मे सुख व दु ख मोह राग द्वेष से होता है। पदार्थ तो अपने स्वभाव मे होते हैं। एक जगह पानी वरस रहा है, किसान उस वर्षा को देखकर

सुखी हो रहा है। उसी समय मार्ग मे बिना छतरी के चलने वाला एक सुन्दर वस्त्र पहने हुए मानव दु खी हो रहा है। नगर मे रोगो की वृद्धि पर रोगी दु खी होते हैं, अज्ञानी लोभी वैद्य डाक्टर सुखी होते हैं। एक ही रसोई मे जीमने वाले दो पुरुष हैं। जिसकी इच्छानुकूल रसोई मिली है वह सुखी हो रहा है, जिसकी इच्छा के विरुद्ध है वह दु खी हो रहा है। जैसे पुद्गल का कर्ता पुद्गल हैं वैसे पुद्गल का उपभोग कर्ता पुद्गल है। निमित्त कारण जीव के योग और उपयोग हैं। शरीर मे सरदी लगी, सरदी का उपभोग पुद्गल को हुआ, पुद्गल की दशा पलटी। जीव का शरीर से ममत्व है, राग है, उसने सरदी की वेदना का दु ख मान लिया। जब गर्म कपडा शरीर पर डाला गया, शरीर ने गर्म कपडे का उपयोग किया, शरीर की दशा पलटी, रागी जीव ने सुख मान लिया। स्त्री का उपभोग पुरुष का अग, पुरुष का उपभोग स्त्री का अग- करता है, पुद्गल ही पुद्गल की दशा को पलटता है। राग भाव से रागी स्त्री पुरुष सुख मान लेते है। जितना अधिक राग उतना अधिक सुख व उतना ही अधिक दु ख होता हैं। एक मानव का पुत्र पर बहुत अधिक राग है, वह पुत्र को देखकर अधिक सुख मानता हैं। उसी पुत्र का वियोग हो जाता है तब उतना ही अधिक दु ख मानता है। जो ज्ञानी ऐसा समझते हैं कि मैं वास्तव मे शुद्ध आत्मा द्रव्य हूँ, मेरा निज सुख मेरा स्वभाव है, मैं उसी ही सच्चे सुख को सुख समझता हूँ, उसी का भोग मुझे हितकारी है, वह ससार से वैरागी होता हुआ जितना अश कषाय का उदय है उतना अश बाहरी पदार्थों के सयोग वियोग मे सुख दु ख मानेगा, जो अज्ञानी की अपेक्षा कोटिगुणा कम होगा। भोजन को भले प्रकार रसना इन्द्रिय से खाते हुए भी रसके स्वाद को तो जानेगा व तृप्ति भी मानेगा परन्तु रसना इन्द्रिय जनित सुख को अल्प राग के कारण अल्प ही मानेगा। इसी तरह इच्छित पदार्थ खाने मे न मिलने पर अल्प राग के कारण अल्प दु ख ही मानेगा। वस्तु स्वभाव यह है कि जीव स्वभाव से सहज सुख का ही भोक्ता है। विभाव भावो के कारण जो कषाय के उदय से होते हैं, यह अपनी अधिक या कम कपाय के प्रमाण मे अपने को सुख या दु ख का भोक्ता मान लेता है। मैं भोक्ता हूँ यह वचन शुद्ध निश्चयनय से असत्य है। कषाय के उदय से राग भाव भोक्ता है। आत्मा भोक्ता नही है। आत्मा राग भाव का भोक्ता अशुद्ध निश्चय से कहलाता है यह मानना सम्यग्ज्ञान है। पर वस्तु का व कर्मो का भोक्ता कहना बिलकुल व्यवहार

नय से है। जैसे घट पटादि का कर्ता कहना व्यवहार नय से है।

कर्मों का उदय जब आता है तब कर्म का अनुभाग या रस प्रगट होता है। यही कर्म का उपभोग है। उसी कर्म के उदय को अपना मानकर जीव अपने को सुखी दुखी मान लेता है। साता वेदनीय का उदय होने पर साताकारी पदार्थ का सम्बन्ध होता है। रति नोकषाय से यह रागी जीव साता का अनुभव करता है। अर्थात् राग सहित ज्ञानोपयोग सुख मान लेता हैं। असाता वेदनीय के उदय से असाताकारी सम्बन्ध होता है। जैसे शरीर मे चोट लग जाती है उसी समय अरति कषाय के उदय सहित जीव द्वेष भाव के कारण अपने को दुखी मान लेता है। वास्तव मे कर्म पुद्गल है तब कर्म का उदय व रस या विपाक भी पुद्गल है। घातीय कर्मो का उदय जीव के गुणो के साथ विकारक होकर झलकता है, अघातीय कर्मों का रस जीव से भिन्न शरीरादि पर पदार्थों पर होता है।

जैसे ज्ञानावरण के विपाक से ज्ञान का कम होना, दर्शनावरण के उदय से दर्शन का कम होना, मोहनीय के उदय से विपरीत श्रद्धान होना व क्रोधादि कषाय का होना, अन्तराय के उदय से आत्मबल का कम होना, आयु के उदय से शरीर का बना रहना, नाम के उदय से शरीर की रचना होना, गोत्र कर्म के उदय से ऊँची व नीची लोकमान्य व लोक-निन्द्य दशा होनी। वेदनीय के उदय से साताकारी व असाताकारी पदार्थों का सयोग होना। जीव अपने स्वभाव से अपने सहज सुख का भोक्ता है। पर का भोक्ता अशुद्धनय या व्यवहारनय से ही कहा जाता है।

(६) **शरीर प्रमाण आकारधारी हैं**—निश्चयनय से जीव का आकार लोक प्रमाण असख्यात प्रदेशी है उससे कभी कम या अधिक नही होता है। जीव अमूर्तीक पदार्थ है इससे इसके न तो टुकडे हो सकते हैं और न यह किन्ही से जुड करके बडा हो सकता है। तथापि जैसे जीव मे कर्म को आकर्पण करने वाली योग शक्ति है वैसे इसमे सकोच विस्तार रूप होने की शक्ति है। जैसे योग शक्ति शरीर नाम कर्म के उदय से काम करती है वैसे सकोच विस्तार शक्ति भी शरीर नाम कर्म के उदय से काम करती है। जब तक नाम कर्म का उदय रहता है तब तक ही आत्मा के प्रदेश सकुचित होते है व फैलते हैं। जब नाम कर्म नाश हो जाता है तब आत्मा अन्तिम शरीर मे जैसा होता है वैसा ही रह जाता है। उसका सकोच

विस्तार बन्द हो जाता है।

एक मनुष्य जब मरता है तब तुर्त ही दूसरे उत्पत्ति स्थान पर पहुँच जाता है,बीच मे जाते हुए एक समय, दो समय या तीन समय लगते हैं तब तक पूर्व शरीर के समान आत्मा का आकार बना रहता है। जब उत्पत्ति स्थान पर पहुँचता है तब वहाँ जैसा पुद्गल ग्रहण करता है उसके समान आकार छोटा या बडा हो जाता है। फिर जैसे-जैसे शरीर बढता है वैसे-वैसे आकार फैलता जाता है। शरीर मे ही आत्मा फैला है बाहर नही है, इस बात का अनुभव विचारवान को हो सकता है। हमे दुःख या सुख का अनुभव शरीर भर मे होता है, शरीर से बाहर नहीं। यदि किसी मानव के शरीर भर मे आग लग जावे व शरीर से बाहर भी आग हो तो उस मानव को शरीर भर के आग की वेदना का दुःख होगा, शरीर के बाहर की आग की वेदना न होगी। यदि आत्मा शरीर के किसी स्थान पर होता, सर्व स्थान पर व्यापक न होता तो जिस स्थान पर जीव होता वही पर सुख दुःख का अनुभव होता—सर्वांग नही होता। परन्तु होता सर्वांग है इसलिये जीव शरीर प्रमाण आकार धारी है। किसी भी इन्द्रिय द्वारा मनोज्ञ पदार्थ का राग सहित भोग किया जाता है तो सर्वांग सुख का अनुभव होता है। शरीर प्रमाण रहते हुए भी नीचे लिखे सात प्रकार के कारण हैं जिनके होने पर आत्मा फैल कर शरीर से बाहर जाता है फिर शरीर प्रमाण हो जाता है। इस अवस्था को समुद्घात कहते हैं।

(१) **वेदना**—शरीर मे दुःख के निमित्त से प्रदेश कुछ बाहर निकलते हैं।

(२) **कषाय**—क्रोधादि कषाय के निमित्त से प्रदेश बाहर निकलते हैं।

(३) **मारणान्तिक**—मरण के कुछ देर पहले किसी जीव के प्रदेश फैल कर जहा पर जन्म लेना हो वहा तक जाते हैं, स्पर्श कर लौट आते हैं, फिर मरण होता है।

(४) **वैक्रियिक**—वैक्रियिक शरीर धारी अपने शरीर से दूसरा शरीर बनाते हैं, उसमे आत्मा को फैला कर उससे काम लेते हैं।

(५) **तैजस**—१-शुभ तैजस--किसी तपस्वी मुनि को कही पर दुर्भिक्ष

या रोग सचार देख कर दया आ जावे तब उसके दाहिने स्कन्ध से तैजस शरीर के साथ आत्मा फैल कर निकलता है। इससे कष्ट दूर हो जाता है। २—अशुभ तैजस—किसी तपस्वी को उपसर्ग पडने पर क्रोध आजावे तब उसके बाए स्कन्ध से अशुभ तैजस शरीर के साथ आत्मा फैलता है और वह शरीर कोप के पात्र को भस्म कर देता हैं तथा वह तपस्वी भी भस्म होता है।

(६) **आहारक**—किसी ऋद्धिधारी मुनि के मस्तक से आहारक शरीर बहुत सुन्दर पुरुषाकार निकलता है, उसी के साथ आत्मा फैलकर जहा केवली या श्रुत केवली होते है वहा तक जाता है, दर्शन करके लौट आता है, मुनि का सशय मिट जाता है।

(७) **केवल**—किसी अरहत केवली की आयु अल्प होती है और अन्य कर्मो की स्थिति अधिक होती है, तब आयु के बराबर सब कर्मों की स्थिति करने के लिये आत्मा के प्रदेश लोक व्यापी हो जाते हैं।

(७) **ससारी है**—सामान्य से ससारी जीवो के दो भेद है—**स्थावर**, त्रस। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति काय के धारी प्राणियो को स्थावर कहते हैं तथा द्वेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यंत प्राणियो को त्रस कहते हैं। विशेष मे चौदह भेद प्रसिद्ध हैं जिनको **जीव समास** कहते है। जीवो के समान जातीय समूह को समास कहते हैं।

चौदह जीव समास—१—एकेन्द्रिय सूक्ष्म (ऐसे प्राणी जो लोकभर मे हैं किसी को बाधक नही, न किसी से बाधा पाते स्वय मरते है), २—एकेन्द्रिय बादर (जो बाधा पाते है व बाधक है), ३—द्वेद्रिय, ४—तेद्रिय, ५—चौन्द्रिय, ६—पचेद्रिय असैनी (बिना मन के), ७—पचेद्रिय सैनी। ये सात समूह या समास पर्याप्त तथा अपर्याप्त दो प्रकार के होते है। इस तरह चौदह जीव समास है।

पर्याप्त अपर्याप्त—जब यह जीव किसी योनि मे पहुँचता है तब वहा जिन पुद्गलो को ग्रहण करता है उनमे आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा, मन बनने की शक्ति अन्तर्मुहूर्त मे (४८ मिनिट के भीतर-भीतर) हो जाती है उसको पर्याप्त कहते हैं। जिसके शक्ति की पूर्णता होगी अवश्य परन्तु जब तक शरीर बनने की शक्ति नही पूर्ण हुई तब तक उसको **निर्वृत्यपर्याप्त** कहते हैं। जो छहो मे से कोई पर्याप्ति पूर्ण

नही कर सकते और एक श्वास (नाडी फटकन) के अठारहवें भाग मे मर जाते हैं उनको लब्ध्यपर्याप्त कहते हैं। छ पर्याप्तियो मे से एकेन्द्रियो के आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास चार होती है, द्वेन्द्रिय से असैनी पचेन्द्रिय तक के भाषा सहित पाच होती हैं, सैनी पचेन्द्रिय के सब छहो होती हैं। पुद्गलो को खल (मोटा भाग) व रस रूप करने की शक्ति को आहार पर्याप्ति कहते हैं।

ससारी जीवो की ऐसी अवस्थाएँ जहा उनको ढूंढने से वे मिल सकें, चौदह होती हैं जिनको मार्गणा कहते हैं।

चौदह मार्गणायें— गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, सयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त, सैनी, आहार। इनके विशेष भेद इस भाति हैं—

१—**गति चार**—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

२—**इन्द्रिय पांच**—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र।

३—**काय छ**—पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पति काय, त्रस काय।

४—**योग तीन**—मन, वचन, काय अथवा पन्द्रह योग—सत्य मन, असत्य मन, उभय मन, अनुभय मन, सत्य वचन, असत्य वचन, उभय वचन, अनुभय वचन, औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र, कार्माण। जिस विचार या वचन को सत्य या असत्य कुछ भी न कह सकें उसको अनुभय कहते हैं। मनुष्य तिर्यंचो के स्थूल शरीर को औदारिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था मे औदारिक मिश्र योग कहते है, पर्याप्त अवस्था मे औदारिक योग होता है। देव व नारकियो के स्थूल शरीर को वैक्रियिक कहते हैं। इनके अपर्याप्त अवस्था मे वैक्रियिक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था मे वैक्रियिक योग होता है। आहारक समुद्घात मे जो आहारक शरीर बनता है उसकी अपर्याप्त अवस्था मे आहारक मिश्र योग होता है, पर्याप्त अवस्था मे आहारक योग होता है। एक शरीर को छोड कर दूसरे शरीर को प्राप्त होने तक मध्य की विग्रह गति मे कार्माणयोग होता है। जिसके निमित्त से आत्मा के प्रदेश सकम्प हों और कर्मों को खींचा जा सके उसको योग कहते है। पन्द्रह प्रकार के ऐसे योग होते है। एक समय मे एक योग होता है।

५—वेद तीन—स्त्रीवेद, पु वेद, नपु सकवेद जिसके क्रम से पुरुष-भोग, स्त्री भोग व उभय भोग की इच्छा हो।

६—कषाय चार—क्रोध, मान, माया, लोभ।

७—ज्ञान आठ—मति, श्रुत, अवधि, मनः पर्यय, केवल व कुमति कुश्रुति, कुअवधि।

८—सयम सात—सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसापराय, यथाख्यात, देशसयम, असयम। सयम का न होना असयम है। श्रावक के व्रतो को पालना देशसयम है। शेष पाचो सयम मुनि के होते हैं। समताभाव रखना सामायिक है। समता के छेद होने पर फिर समता मे आना छेदोपस्थापना है। विशेष हिंसा का त्याग जिसमे हो सो परिहारविशुद्धि है। सूक्ष्म लोभ के उदय मात्र मे जो हो सो सूक्ष्मसापराय है। सर्वकषाय के उदय न होने पर जो हो सो यथाख्यातसयम हैं।

९—दर्शन चार—चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल।

१०—लेश्या छः—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कषायो के उदय से और मन वचन काय योगो के चलन से जो भाव शुभ अशुभ होते हैं उनको बताने वाली छ लेश्याएँ हैं। पहली तीन अशुभ हैं, शेष शुभ हैं। बहुत ही खोटे भाव अशुभतम कृष्ण लेश्या हैं, अशुभतर नील है, अशुभ कापोत है, कछ शुभ भाव पीत लेश्या है, शुभतर पद्म है, शुभतम शुक्ल है।

११—भव्य दो—जिनका सम्यक्त होने की योग्यता है वे भव्य, जिनकी योग्यता नही है वे अभव्य है।

१२—सम्यक्त छः—उपशम, क्षयोपशम, क्षायिक, मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र। इनका स्वरूप गुणस्थान के शीर्षक मे देखे।

१३—सज्ञी दो—मन सहित सैनी, मनरहित असैनी।

१४—आहार दो—आहार, अनाहार। जो स्थूल शरीर के बनने योग्य पुद्गल को ग्रहण करना वह आहार है न ग्रहण करना अनाहार है।

सामान्य दृष्टि से य चौदह मार्गणाएँ एक साथ हर एक प्राणी मे पाई जाती हैं। जैसे दृष्टात मक्खी व मनुष्य का लेवे तो इस भाति मिलेगी।

	मक्खी के	मानव के
१	तिर्यंच गति	मनुष्य गति
२	इन्द्रिय चार	इन्द्रिय पांच
३	त्रस काय	त्रस काय
४	वचन या काय	मन, वचन या काय
५	नपु सक वेद	स्त्री, पुरुष या नपु सक
६	कषाय चारो	कषाय चारो
७	कुमति, कुश्रुत	आठो ही ज्ञान हो सकते हैं
८	असयम	सातो ही सयम हो सकते हैं
९	चक्षु व अचक्षु दर्शन	चारो ही दर्शन हो सकते हैं
१०	कृष्ण, नील, कापोत लेश्या	छहो लेश्याएँ हो सकती हैं
११	भव्य या अभव्य कोई	भव्य या अभव्य कोई
१२	मिथ्यात्व	छहो सम्यक्त हो सकते हैं
१३	असैनी	सैनी
१४	आहार व अनाहार	आहार व अनाहार

चौवह गुणस्थान—ससार मे उलझे हुए प्राणी जिस मार्ग पर चलते हुए शुद्ध हो जाते है उस मार्ग की चौदह सीढिया हैं। इन सीढियो को पार करके यह जीव सिद्ध परमात्मा हो जाता है। ये चौदह क्लास या दरजे हैं। भावो की अपेक्षा एक दूसरे से ऊँचे ऊँचे है। मोहनीय कर्म तथा मन, वचन, काय योगो के निमित्त से ये गुणस्थान बने हैं। आत्मा मे निश्चय नय से नहीं हैं। अशुद्ध निश्चय नय से या व्यवहार नय से ये गुणस्थान आत्मा के कहे जाते हैं। मोहनीय कर्म के मूल दो भेद है—एक दर्शन मोहनीय, दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन भेद हैं—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त मोहनीय। इनका कथन पहले किया जा चुका है। चारित्र मोहनीय के पच्चीस भेद हैं।

चार ४ अनंतानुबधी क्रोध, मान, माया, लोभ— दीर्घ काल स्थायी

कठिनता से मिटनेवाले, जिनके उदय से सम्यग्दर्शन व स्वरूपाचरण चारित्र नही प्रगट होता है। उनके हटने से प्रगट होता है।

चार ४ अप्रत्याख्यानावरण कषाय—कुछ काल स्थायी क्रोधादि, जिनके उदय से एक देश श्रावक का चारित्र ग्रहण नही किया जाता।

चार ४ प्रत्याख्यानावरण कषाय—जिन क्रोधादि के उदय से मुनि का सयम ग्रहण नही किया जाता।

चार ४ सज्वलन क्रोधादि तथा नौ नोकषाय—(कुछ कषाय हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पु वेद, नपु सकवेद) इनके उदय से पूर्ण चारित्र यथाख्यात नही होता।

चौवह् गुणस्थानो के नाम हैं—१ मिथ्यात्व २ सासादन ३ मिश्र ४ अविरत सम्यक्त ५ देशविरत ६ प्रमत्त विरत ७ अप्रमत्त विरत ८ अपूर्वकरण ९ अनिवृत्तिकरण १० सूक्ष्म साम्पराय ११ उपशात मोह १२ क्षीण मोह १३ सयोग केवली जिन १४ अयोग केवली जिन।

(१) मिथ्यात्व गुणस्थान—जब तक अनतानुबधी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का उदय बना रहता हैं, मिथ्यात्व गुणस्थान रहता है। इस श्रेणी मे जीव ससार मे लिप्त, इन्द्रियो के दास, बहिरात्मा, आत्मा की श्रद्धा रहित, अहकार ममकार मे फँसे रहते है। शरीर को ही आत्मा मानते हैं। प्राय ससारी जीव इसी श्रेणी मे हैं।

इस श्रेणी से जीव तत्व ज्ञान प्राप्त कर जब सम्यग्दृष्टि होता है, तब अनन्तानुबन्धी चार कषाय तथा मिथ्यात्व कर्म का उपशम करके उपशम सम्यग्दृष्टि होता है। यह उपशम अर्थात् उदय को दबा देना एक अन्तर्मुहूर्त, से अधिक के लिये नही होता है। उपशम सम्यक्त के होने पर मिथ्यात्व कर्म के पुद्गल तीन विभागो मे हो जाते है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त मोहनीय। अन्तर्मुहूर्त के होते होते कुछ काल शेष रहते हुए यदि एकदम से अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय आ जाता है और मिथ्यात्व का उदय नही होता है तो यह जीव उपशम सम्यक्त मे प्राप्त अविरत सम्यक्त गुणस्थान से गिर कर दूसरे सासादन गुणस्थान मे आ जाता है, वहा कुछ काल ठहर कर फिर मिथ्यात्व में

पहले गुणस्थान मे आजाता है। यदि कदाचित् मिथ्यात्व का उदय आया तो चौथे से एकदम पहले गुणस्थान मे आ जाता है। यदि सम्यग्मिथ्यात्व का उदय आ गया तो चौथे से तीसरे मिश्र गुणस्थान मे आ जाता है। यदि उपशम सम्यक्ती के सम्यक्त मोहनीय का उदय आ गया तो उपशम सम्यक्त से क्षयोपशम या वेदक सम्यक्ती हो जाता है। गुणस्थान चौथा ही रहता है।

(२) **सासादन गुणस्थान**—चौथे से गिर कर होता है, फिर मिथ्यात्व मे नियम से गिर पडता है। यहां चारित्र की शिथिलता के भाव होते हैं।

(३) **मिश्र गुणस्थान**—चौथे से गिरकर या पहले से भी चढकर होता है। यहा सम्यक्त और मिथ्यात्व के मिश्र परिणाम दूध और गुड के मिश्र परिणाम के समान होते हैं। सत्य असत्य श्रद्धान मिला हुआ होता है। अन्तर्मुहूर्त रहता है फिर पहले मे आता है, या चौथे मे चढ जाता है।

(४) **अविरतसम्यक्त**—इस गुणस्थान मे उपशम सम्यक्ती अन्तर्मुहूर्त ठहरता है। क्षयोपशम सम्यक्ती अधिक भी ठहरता है। जो अनन्तानुबन्धी कषाय व दर्शन मोहनीय की तीनो प्रकृतियो का क्षय कर डालता है वह क्षायिकसम्यक्ती होता है। क्षायिकसम्यक्त कभी नही छूटता है। क्षयोपशम सम्यक्त मे सम्यक्त मोहनीय के उदय से मलीनता होती है। इस श्रेणी मे यह जीव महात्मा या अन्तरात्मा हो जाता है। आत्मा को आत्मारूप जानता है, ससार को कर्म का नाटक समझता है। अतीन्द्रिय सुख का प्रेमी हो जाता है, गृहस्थी मे रहता हुआ असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प या विद्या कर्म से आजीविका करता है, राज्य प्रबन्ध करता है, अन्यायी शत्रु को दमनार्थ युद्ध भी करता है। यह व्रतो को नियम से नही पालता है इसलिये इसको अविरत कहते हैं। तथापि इसके चार लक्षण होते है—१ प्रशम-शात भाव, २ सवेग-धर्मानुराग-ससार से वैराग, ३ अनुकम्पा-दया, ४ आस्तिक्य-आत्मा व परलोक मे विश्वास। इस श्रेणी वाले के छहों लेश्याएँ हो सकती हे। सर्व ही सैनी पचेन्द्रिय तिर्यन्च, मनुष्य, देव, नारको इस गुणस्थान को प्राप्त कर सकते हैं। यही दर्जा मोक्षमार्ग का प्रवेश द्वार है। यह प्रवेशिका की कक्षा है। इस गुण-—न का काल क्षायिक व क्षयोपशमकी अपेक्षा बहुत है।

(५) **देश विरत**—जब सम्यक्ती जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय नही होता हैं और प्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम या मन्द उदय होता है तो श्रावक के व्रतो को पालता है। एकदेश हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील व परिग्रह से विरक्त रहता है। पाच अणुव्रत तथा सात शीलो को पालता हुआ साधुपद ही की भावना भाता है। इस चारित्र का वर्णन आगे करेंगे। इस गुणस्थान मे रहता हुआ श्रावक गृही कार्य को करता है व धीरे-धीरे चारित्र की उन्नति करता हुआ साधुपद मे पहुँचता है। इसका काल कम से कम अन्तर्मुहूर्त व अधिक से अधिक जीवनपर्यन्त है। इस श्रेणी को पचेन्द्री सैनी पशु तथा मनुष्य धार सकते हैं। छठे से लेकर सब गुणस्थान मनुष्य ही के होते है।

(६) **प्रमत्त विरत**—जब प्रत्याख्यानावरण कषाय का उपशम हो जाता है तब अहिंसादि पाच महाव्रतो को पालता हुआ महाव्रती महात्मा हो जाता हैं। यहा हिंसादि का पूर्ण त्याग है इससे महाव्रती है तथापि इस गुणस्थान मे आहार, विहार, उपदेशादि होता है। इससे पूर्ण आत्मस्थ नही है अतएव कुछ प्रमाद है इसी से इसको प्रमत्तविरत कहते है, इसका काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है।

(७) **अप्रमत्तविरत**—जब महाव्रती ध्यानस्थ होता है, प्रमाद बिल्कुल नही होता है तब इस श्रेणी मे होता है। इसका काल भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है। महाव्रती पुन पुन इन छठे सातवे गुणस्थानो मे आता चढता रहता है।

आठवें गुणस्थान मे दो श्रेणिया हैं—एक **उपशम श्रेणी**, दूसरी **क्षपक श्रेणी**। जहा कषायो को उपशम किया जावे, क्षय न किया जावे वह उपशम श्रेणी है, जहा कषायो का क्षय किया जावे वह क्षपक श्रेणी है। उपशम श्रेणी मे आठवा, नौवा, दशवा व ग्यारहवा गुणस्थान तक होता है, फिर नियम से धीरे-धीरे गिर कर सातवे मे आ जाता है। क्षपक श्रेणी के भी चार गुणस्थान है—आठवा, नौवा, दशवा व बारहवा। क्षपकवाला ११ वे को स्पर्श नही करता हैं, बारहवे से तेरहवे मे जाता है।

(८) **अपूर्वकरण**—यहा ध्यानी महाव्रती महात्मा के अपूर्व उत्तम भाव होते हैं, शुक्लध्यान होता है, अन्तर्मुहूर्त से अधिक काल नही है।

(९) **अनिवृत्तिकरण**—यहा ध्यानी महात्मा के बहुत ही निर्मल भाव

होते है, शुक्लध्यान होता है। ध्यान के प्रताप से सिवाय सूक्ष्म लोभ के सर्व कषायो को उपशम या क्षय कर डालता है, काल अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है।

(१०) **सूक्ष्म सांपराय**—यहाँ ध्यानी महात्मा के एक सूक्ष्म लोभ का ही उदय रहता है, उसका समय भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही है।

(११) **उपशान्त मोह**—जब मोह कर्म बिलकुल दब जाता है तब यह कक्षा अन्तर्मुहूर्त के लिये होती है। यथाख्यात चारित्र व आदर्श वीत-रागता प्रगट हो जाती है।

(१२) **क्षीणमोह**—मोह का बिलकुल क्षय क्षपक श्रेणी द्वारा चढते हुए दशवे गुणस्थान मे हो जाता है तब सीधे यहाँ आकर अन्तर्मुहूर्त ध्यान मे ठहरता है। शुक्ल ध्यान के बल से ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मो का नाश कर देता है और तब केवल ज्ञान का प्रकाश होते ही अरहन्त परमात्मा कहलाता है। गुणस्थान तेरहवा हो जाता है।

(१३) **सयोग केवली जिन**—अरहन्त परमात्मा चार घातीय कर्मों के क्षय होने पर अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य, अनन्त दान, अनन्त लाभ, अनन्त भोग, अनन्त उपभोग, क्षायिक सम्यक्त, क्षायिक चारित्र इन नौ केवल लब्धियो से विभूषित हो जन्म पर्यन्त इस पद मे रहते हुए, धर्मोपदेश देते हुए विहार करते है, इन्द्रादि भक्तजन बहुत ही भक्ति करते हैं।

(१४) **अयोग केवली जिन**—अरहन्त की आयु मे जब इतनी देर ही रह जाती है जितनी देर अ इ उ ऋ लृ ये पाँच लघु अक्षर उच्चारण किये जायँ तब यह गुणस्थान होता है। आयु के अन्त मे शेष अघातीय कर्म आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय का भी नाश हो जाता है और यह आत्मा सर्व कर्मरहित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाता हैं। जैसे भुना चना फिर नही उगता वैसे ही सिद्ध फिर ससारी नही होते है। चौदह जीव समास, चौदह मार्गणा, चौदह गुणस्थान, ये सब व्यवहार या अशुद्ध नय से ससारी जीवो मे होते है। जीव समास एक काल मे एक जीव के एक ही होगा, विग्रह गति का समय अपर्याप्त मे गर्भित है। मार्गणाएँ चौदह ही एक साथ होती है जैसा दिखाया जा चुका है। गुण स्थान एक जीव के एक समय मे एक ही होगा।

(८) **सिद्ध**—सर्व कर्म रहित सिद्ध परमात्मा ज्ञानानन्द मे मगन रहते हुए आठ कर्मों के नाश से आठ गुण सहित शोभायमान रहते है। वे आठ गुण हैं ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहनत्व, अगुरु-लघुत्व, अव्याबाधत्व। अर्थात् सिद्धो मे अतीन्द्रियपना है, इन्द्रियो से ग्रहण योग्य नही हैं। जहाँ एक सिद्ध विराजित है वहाँ अन्य अनेक सिद्ध अवगाह पा सकते हैं, उनमे कोई नीच ऊँचपना नही है, उनको कोई बाधा नही दे सकता है। वे लोक के अग्रभाग मे लोक शिखर पर सिद्ध क्षेत्र मे तिष्ठते हैं।

(९) **ऊर्द्ध गमन स्वभाव**—सर्व कर्मों से रहित होने पर सिद्ध का आत्मा स्वभाव से ऊपर जाता है। जहाँ तक धर्म द्रव्य है वहाँ तक जाकर अन्त मे ठहर जाता है। अन्य ससारी कर्मवद्ध आत्माएँ एक शरीर को छोड कर जब दूसरे शरीर मे जाते हैं तब चार विदिशाओ को छोड कर पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊपर, नीचे इन छ दिशाओ द्वारा सीधा मोडा लेकर जाते है, कोनो मे टेढा नही जाते है।

जीवो की सत्ता सब की भिन्न-भिन्न रहती है। कोई की सत्ता किसी से मिल नही सकती है। जीव की अवस्था के तीन नाम प्रसिद्ध है—**बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा**। पहले तीन गुणस्थान वाले जीव वहिरात्मा है। अविरत सम्यक्त चौथे से लेकर क्षीण मोह बारहवे गुण स्थान तक जीव अन्तरात्मा कहलाता है। तेरहवे व चौदहवे गुणस्थान वाले सकल या स-शरीर परमात्मा कहलाते है। सिद्ध शरीर या कलरहित निकल परमात्मा कहलाते है। तत्वज्ञानी को उचित है कि वहिरात्मापना छोड कर अन्तरात्मा हो जावे और परमात्मा पद प्राप्ति का साधन करे। यही एक मानव का उच्च ध्येय होना चाहिये। यह जीव अपने ही पुरुषार्थ से मुक्त होता है। किसी की प्रार्थना करने से मुक्ति का लाभ नही होता है।

अजीव मे—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल गर्भित है। स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, मय पुद्गल के दो भेद होते है—परमाणु और स्कन्ध। अविभागी पुद्गल के खण्ड को परमाणु कहते है। दो व अनेक परमाणुओ के मिलने पर जो वर्गणा वनती है उनको स्कन्ध कहते है। स्कन्धो के वहुत से भेद है उनके छ मूल भेद जानने योग्य है।

छः स्कन्ध भेद—स्थूलस्थूल, स्थूल, स्थूल सूक्ष्म, सूक्ष्म स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्म सूक्ष्म। जो स्कन्ध कठोर हो, खण्ड होने पर विना दूसरी वस्तु के सयोग के न मिल सके उनको स्थूल स्थूल कहते है जैसे—लकडी, कागज, वस्त्र आदि। जो स्कन्ध वहने वाले हो, अलग किये जाने पर फिर स्वय मिल जावे जैसे पानी, शरवत, दूध आदि, उनको स्थूल कहते है। जो स्कन्ध देखने मे स्थूल दीखे परन्तु हाथो से ग्रहण न हो सकें उनको स्थूल सूक्ष्म कहते है। जैसे धूप, प्रकाश, छाया। जो स्कन्ध देखने मे न आवें परन्तु अन्य चार इन्द्रियो से गहण हो उनको सूक्ष्म स्थूल स्कन्ध कहते हैं, जैसे हवा, शब्द, गन्ध, रस। जो स्कन्ध वहुत से परमाणुओ के स्कन्ध हो परन्तु किसी भी इन्द्रिय से ग्रहण मे न आवे उन्हे सूक्ष्म स्कन्ध कहते है जैसे—भाषावर्गणा, तैजसवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्माणवर्गणा आदि। जो स्कन्ध सर्व से सूक्ष्म हो जैसे दो परमाणु का स्कन्ध, उसे सूक्ष्म सूक्ष्म कहते है।

जीव और पुद्गल सयोग ही ससारी आत्मा की अवस्थाएँ हैं। सर्व पुद्गल का ही पसारा है। यदि पुद्गल को निकाल डाले तो हर एक जीव शुद्ध दीखेगा इसीसे शुद्ध निश्चयनय से सर्व जीव शुद्ध हैं। ससार मे जीव और पुद्गल अपनी शक्ति से चार काम करते है—चलना, ठहरना, अवकाश पाना और वदलना। हरएक कार्य उपादान और निमित्त दो कारणो से होता है। जैसे सोने की अँगूठी का उपादान कारण सुवर्ण है परन्तु निमित्त कारण सुनार व उसके यन्त्रादि है। इसी तरह इन चार कामो के उपादान कारण जीव पुद्गल हैं। तव निमित्त कारण अन्य चार द्रव्य हैं। गमन मे सहकारी धर्म है, स्थिति मे सहकारी अधर्म है, अवकाश मे सहकारी आकाश है, वदलने मे सहकारी काल द्रव्य है। समय, आवली, पल आदि निश्चय काल की पर्याय है, इसी को व्यवहार काल कहते हैं। जव एक पुद्गल का परमाणु एक कालाणु पर से उल्लघ कर निकटवर्ती कालाणु पर जाता है तव समय पर्याय पैदा होती है। इन्ही समयो से आवली, घडी आदि काल वनता है। यद्यपि ये छहो द्रव्य एक स्थान पर रहते हैं और एक दूसरे को सहायता देते हैं तथापि मूल स्वभाव मे भिन्न-भिन्न वने रहते है, कभी मिलते नही है। न कभी छ के सात होते है न पाँच होते है।

आस्रव और बन्ध तत्व

कार्माण शरीर के साथ जीव का प्रवाह की अपेक्षा अनादि तथा कर्म पुद्गल के मिलने व छूटने की अपेक्षा सादि सम्बन्ध है। कार्माण शरीर मे जो कर्म बँधते हैं उनको बताने वाले आस्रव और बन्ध तत्व हैं। कर्म वर्गणाओ का बन्ध के सन्मुख होने को आस्रव और बँध जाने को बन्ध कहते हैं। ये दोनो काम साथ-साथ होते है। जिन कारणो से आस्रव होता है उन्ही कारणो से बन्ध होता है। जैसे नाव मे छिद्र से पानी आकर ठहर जाता है वैसे मन वचन काय की प्रवृत्ति द्वारा कर्म आते है और बँधते हैं। साधारण रूप से योग और कषाय ही आस्रव व बन्ध के कारण है। मन वचन काय के हलन चलन से आत्मा के प्रदेश सकम्प होते हैं उसी समय आत्मा की योग शक्ति चारो तरफ से कर्म वर्गणाओ को खीच लेती है। योग तीव्र होता है तो अधिक कर्म वर्गणाएँ आती है, योग मन्द होता है तो कम आती हैं। योग के साथ कषाय का उदय क्रोध, मान, माया, लोभ किसी का उदय मिला हुआ होता है इसलिए कभी आठ कर्मो के योग्य कभी सात कर्मो के योग्य वर्गणाएँ खिचती है। यदि कषाय का बिलकुल रग न मिला हो तो केवल साता वेदनीय कर्म के योग्य वर्गणाएँ खिचकर आती है। बन्ध के चार भेद है—प्रकृति बन्ध, प्रदेश बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध। योगोसेही प्रकृति और प्रदेशबन्ध होते है। कषायोसे स्थिति और अनुभागबन्ध होते हैं। किस२प्रकृति योग्य कर्म बँधते हैं व कितने बंधते हैं यही प्रकृति और प्रदेश बन्ध का अभिप्राय है। जैसे योगो से आते हे वैसे ही योगो से दोनो बातें हो जाती है, जैसे ज्ञानावरण के अमुक सख्या के कर्म बन्धे, दर्शनावरण के अमुक सख्या के कर्म बँधे। क्रोधादि कषायो की तीव्रता होती है तो आयु कर्म के सिवाय सातो ही कर्मो की स्थिति अधिक पडती है। कितने काल तक कर्म ठहरेगे उस मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं। यदि कषाय मन्द होतीहै तो सात कर्मोकी स्थिति कम पडती है। कषाय अधिक होने पर नर्क आयु की स्थिति अधिक व अन्य तीन आयु कर्म की स्थिति कम पडती है। कषाय मन्द होने पर नर्क आयु की स्थिति कम व अन्य तीन आयु की स्थिति अधिक पडती है। कर्मो का फल तीव्र या मन्द पडना इसको अनुभाग बन्ध कहते है। जब कषाय अधिक होती है तब पाप कर्मों मे अनुभाग अधिक व पुण्य कर्मो मे अनुभाग कम पडता है। जब कषाय मन्द होती है तब पुण्य कर्मो मे अनुभाग अधिक व पाप कर्मो मे अनुभाग कम पडता है।

पुण्य पाप कर्म—आठ कर्मो मे से साता वेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम व उच्च गोत्र पुण्य कर्म है। जबकि असाता वेदनीय, अशुभ आयु, अशुभ नाम, नीच गोत्र तथा ज्ञानावरणादि चार घातीय कर्म पाप कर्म है। योग और कषाय सामान्य से आस्रव और बन्ध के कारण हैं।

आस्रव और बन्ध के विशेष कारण—पाँच हैं—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग।

(१) **मिथ्यात्व पाँच प्रकार**—सच्चा श्रद्धान न होकर जीवादि तत्वो का मिथ्या श्रद्धान होना मिथ्यात्व हैं। यह पाँच प्रकार है —

एकान्त—आत्मा व पुद्गलादि द्रव्यो मे अनेक स्वभाव है उनमे से एक ही स्वभाव है ऐसा हठ पकडना सो एकान्त मिथ्यात्व है। जैसे—द्रव्य मूल स्वभाव की अपेक्षा नित्य है। पर्याय पलटने की अपेक्षा अनित्य है। नित्य अनित्य रूप वस्तु है ऐसा न मानकर यह हठ करना कि वस्तु नित्य ही हे या अनित्य ही है सो एकान्त मिथ्यात्व है या यह ससारी आत्मा निश्चयनय की अपेक्षा शुद्ध है, व्यवहार नय की अपेक्षा अशुद्ध है ऐसा न मान कर इसे सर्वथा शुद्ध ही मानना या इसे सर्वथा अशुद्ध ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है।

विनय—धर्म के तत्वो की परीक्षा न करके कुतत्व व सुतत्व को एक समान मान के आदर करना विनय मिथ्यात्व है। जैसे—पूजने योग्य वीतराग सर्वज्ञ देव है। अल्पज्ञ रागी देव पूजने योग्य नही हैं तो भी सरल भाव से विवेक के बिना दोनो की भक्ति करना विनय मिथ्यात्व है। जैसे--कोई सुवर्ण ओर पीतल को समान मान के आदर करे तो वह अज्ञानी ही माना जायगा। उसको सुवर्ण के स्थान मे पीतल लेकर धोखा उठाना पडेगा, सच्ची सम्यक्त भाव रूप आत्मप्रतीति उसको नही हो सकेगी।

अज्ञान—तत्वो के जानने की चेष्टा न करके देखा देखी किसी भी तत्व को मान लेना अज्ञान मिथ्यात्व है। जैसे—जल स्नान से धर्म होता है, ऐसा मानकर जल स्नान भक्ति से करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

सशय—सुतत्व और कुतत्व की तरफ निर्णय न करके सशय मे रहना, कौन ठीक है कौन ठीक नही हैं ऐसा एक तरफ निश्चय न करना सशय मिथ्यात्व हैं। किसी ने कहा राग द्वेष जीव के हैं, किसी ने

कहा पुद्गल के हैं। सशय रखना कि दोनो मे कौन ठीक है सो सशय मिथ्यात्व है।

विपरीत—जिसमे धर्म नही हो सकता है उसको धर्म मान लेना विपरीत मिथ्यात्व है। जैसे—पशु बलि करने को धर्म मान लेना।

(२) **अविरति भाव**—इसके बारह भेद भी है और पाँच भेद भी हैं। पाँच इन्द्रिय और मन को वश मे न रखकर उनका दास होना, तथा पृथ्वी आदि छ काय के प्राणियो की रक्षा के भाव न करना इस तरह बारह प्रकार अविरत भाव है। अथवा हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील और परिग्रह मूर्छा ये पाँच पाप अविरति भाव हैं।

(३) **प्रमाद**—आत्मानुभव मे धर्मध्यान मे आलस्य करने को प्रमाद कहते हैं। इसके अस्सी (८०) भेद हैं—

चार विकथा × चार कषाय × पाच इन्द्रिय × १ स्नेह × १ निद्रा = ८०

चार विकथा—स्त्री, भोजन, देश, राजा। राग बढाने वाली स्त्रियो के रूप, सौन्दर्य, हाव भाव, विभ्रम, सयोग, वियोग की चर्चा करना स्त्री विकथा हे। राग बढाने वाली, भोजनो के सरस नीरस खाने पीने व चवाने आदि की चर्चा करना भोजन विकथा है। देश मे लूटपाट, मार-पीट, जूआ, चोरी, व्यभिचार, व नगरादि की सुन्दरता सम्बन्धी रागद्वेष बढाने वाली कथा करना, देश विकथा है। राजाओ के रूप की, रानियो की विभूति की, सेना की, नौकर चाकर आदि की राग बढाने वाली कथा करना राजा विकथा है।

हरएक प्रमाद भाव मे एक विकथा, एक कषाय, एक इन्द्रिय, एक स्नेह व एक निद्रा के उदय का सम्बन्ध होता है। इसलिये प्रमाद के ८० भेद हो जाते हैं। जैसे पुष्प सूँघने की इच्छा होना एक प्रमादभाव है। इसमे भोजन कथा (इन्द्रिय भोग सम्बन्धी कथा भोजन कथा मे गर्भित है), लोभ कषाय, घ्राणइन्द्रिय, स्नेह व निद्रा ये पाच भाव सयुक्त हैं। किसी ने किसी सुन्दर वस्तु को देखने मे अन्तराय किया उस पर क्रोध करके कष्ट देने की इच्छा हुई। इस प्रमादभाव मे भोजन कथा, क्रोध कषाय, चक्षुइन्द्रिय, स्नेह और निद्रा गर्भित हैं।

(४) **कषाय**—के २५ भेद है जो पहले गिना चुके हैं।

(५) **योग**—के तीन या १५ भेद हैं यह भी पहले गिना चुके हैं।

चौदह गुणस्थानो की अपेक्षा आस्रव बन्ध के कारण—मिथ्यात्व गुणस्थान मे मिथ्यात्व, अविरत, प्रमाद, कषाय, योग पाचों ही कारण है जिनसे कर्म का वन्ध होता है। **सासादन गुणस्थान मे**—मिथ्यात्व नही है शेष सर्व कारण है। **मिश्र गुणस्थान मे**—अनन्तानुवन्धी चार कषाय भी नही हैं, मिश्रभाव सहित अविरत, प्रमाद, कषाय व योग है। **अविरत सम्यक्तगुणस्थान मे**—न मिथ्यात्व है, न मिश्रभाव है, न अनन्तानुवन्धी कषाय हैं। शेष अविरत, प्रमाद, कषाय व योग हैं।

देशविरत गुणस्थान मे—एकदेश व्रत होने से अविरत भाव कुछ घटा तथा अप्रत्याख्यानावरण कषाय भी छूट गया। शेष अविरत, प्रमाद, कषाय व योग वन्ध के कारण हैं।

छठे प्रमत्त गुणस्थान मे—महाव्रती होने से अविरतभाव बिल्कुल छूट गया तथा प्रत्याख्यानावरण कषाय भी नहीं रहा। यहा शेष प्रमाद, कषाय व योग शेष हैं।

अप्रमत्त गुणस्थान मे—प्रमादभाव नही रहा, केवल कषाय व योग है। **अपूर्वकरण मे** भी कषाय व योग है परन्तु अतिमन्द है।

अनिवृत्तिकरण नौमे गुणस्थान मे—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा नो कषाय नही है। सज्वलन चार कषाय व तीन वेद अति मन्द हैं। **सूक्ष्मसाम्पराय मे**—केवल सूक्ष्म लोभ कषाय और योग हैं। उपशान्त मोह, क्षीण मोह तथा सयोगकेवली जिन इन तीन गुणस्थानो मे केवल योग है। चौदहवे मे योग भी नही रहता है। इस तरह बन्ध का कारण भाव घटता जाता है।

कर्मों का फल कैसे होता है—कर्म का जब बन्ध हो चुकता है तब कुछ समय उनके पकने मे लगता है, उस समय को **आबाधाकाल** कहते है। यदि एक कोडाकोडी सागर की स्थिति पडे तो एक सौ वर्ष पकने मे लगता है। इसी हिसाब से कम स्थिति मे कम समय लगता है। किन्ही कर्मो के आबाधा एक पलक मात्र समय ही होती है, बधने के एक आवली के पीछे उदय आने लगते है। पकने का समय पूर्ण होने पर जिस कर्म की जितनी स्थिति है उस स्थिति के जितने समय (**instants** या **minutest**

moments) हैं उतने समयो मे उस किसी कर्म के स्कन्ध बट जाते हैं। बटवारे मे पहले पहले समयो मे अधिक कर्म व आगे-आगे कम कम कर्म आते हैं। अन्तिम समय मे सबसे कम, आते है। इस बटवारे (distribution) के अनुसार जिस समय जितने कर्म आते हैं उतने कर्म अवश्य झड जाते हैं, गिर जाते हैं। यदि बाहरी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुकूल होता है तो फल प्रगट करके झडते हैं नही तो बिना फल दिये झड जाते हैं। जैसे किसी ने क्रोध कषाय रूपी कर्म ४८ मिनट की स्थिति का बाँधा और एक मिनट पकने मे लगा और ४७०० कर्म है। तो वे कर्म ४७ मिनट मे बट जाते हैं। जैसे ५००, ४००, ३००, २००, १००, इत्यादि रूप से तो ये क्रोध कषाय के स्कन्ध इसी हिसाब से झड जायेगे। पहले मिनट मे ५०० फिर ४०० इत्यादि। यदि उतनी देर कोई सामायिक एकान्त मे बैठकर कर रहा है तो निमित्त न होनेसे क्रोध के फल को बिना प्रगट किये हुये ये कर्म गिर जायेगे। यदि किन्ही क्रोध कर्मों का बल तीव्र होगा तो कुछ द्वेष भाव किसी पर आ जायगा। यदि मन्द होगा तो कुछ भी भावो मे विकार न होगा।

बंधे हुए कर्मों मे परिवर्तन—एक दफे कर्म का वन्ध हो जाने पर भी उनमे तीन अवस्थाये पीछे से हो सकती हैं—**संक्रमण**—पाप कर्म को पुण्य मे व पुण्य को पाप मे बदलना। **उत्कर्षण**—कर्मों की स्थिति व अनुभाग को बढा देना। **अपकर्षण**—कर्मो की स्थिति व अनुभाग को घटा देना। यदि कोई पाप कर्म कर चुका है और वह उसका प्रतिक्रमण (पश्चाताप) बडे ही शुद्ध भाव से करता है तो पाप कर्म पुण्य मे बदल सकता है या पाप कर्म की स्थिति व अनुभाग घट सकता है। यदि किसी ने पुण्यकर्म बाधा है पीछे वह पश्चाताप करता हैं कि मैंने इतनी देर शुभ काम मे लगा दी इससे मेरा व्यापार निकल गया तो इन भावो से बधा हुआ पुण्य कर्म पाप कर्म हो सकता है या पुण्य कर्म का अनुभाग घट सकता है व स्थिति घट सकती है। जैसे औषधि के खाने से भोजन के विकार मिट जाते, कम हो जाते व बल बढ जाता इसी तरह परिणामो के द्वारा पिछले पाप व पुण्य कर्म मे परिवर्तन हो जाता है। इसलिये बुद्धिमान पुरुष को सदा ही अच्छे निमित्तो मे—सत सगति मे—किसी सच्चे गुरु की शरण मे

रह कर अपने भावो को उच्च बनाने के लिये ध्यान व स्वाध्याय मे लीन रहना चाहिये। कुसगति से व कुमार्ग से बचना चाहिये।

भविष्य की आयु कर्म का बन्ध कैसे होता है—हम मानवो के लिये यह नियम है कि जितनी भोगने वाली आयु की स्थिति होगी उसके दो तिहाई बीत जाने पर पहली दफे अन्तर्मुहूर्त के लिये बन्ध का समय होता है। फिर दो तिहाई बीतने पर दूसरी दफे, फिर दो तिहाई बीतने पर तीसरी दफे, इस तरह दो तिहाई समय के पीछे आठ दफे ऐसा अवसर आता है। यदि इनमे भी नही बधे तो मरने के पहले तो आयु बधती ही है। मध्यम लेश्या के परिणामो से आयु बधती है। ऐसे परिणाम उस आयु बन्ध के काल मे नही हुए तो आयु नही बधती है। एक दफे बध जाने पर दूसरी दफे फिर बन्ध काल आने पर पहली बधी आयु की स्थिति कम व अधिक हो सकती हैं। जैसे किसी मानव की ८१ वर्ष की आयु है तो नीचे प्रमाण आठ दफे आयुबन्ध का काल आयेगा—

(१) ५४ वर्ष बीतने पर २७ वर्ष शेष रहने पर
(२) ७२ ,, ,, ९ ,, ,,
(३) ७८ ,, ,, ३ ,, ,,
(४) ८० ,, ,, १ ,, ,,
(५) ८० ,, ८ मास बीतने पर ४ मास शेष रहने पर
(६) ८० ,, १० ,, २० दिन बीतने पर ४० दिन शेष रहने पर
(७) ८० ,, ११ ,, १६ ,, १६ घन्टे बीतनेपर १३दिन८घन्टेरहनेपर
(८) ८० ,, ११ ,, २५ ,, १४ ,, ,, ४ ,, १० ,,

संवर और निर्जरातत्व

आत्मा के अशुद्ध होने के कारण आस्रव और बन्ध हैं, यह कहा जा चुका है। यद्यपि कर्म अपनी स्थिति के भीतर फल देकर व बिना फल दिये झडते हैं तथापि अज्ञानी मिथ्यादृष्टि जीव कभी भी रागद्वेष मोह से खाली नही होता है, इससे हर समय कर्मो का बन्ध करता ही रहता है। अज्ञानी के कर्म की निर्जरा हाथी के स्नान के समान है। जैसे हाथी एक

दफे तो सूँड से अपने ऊपर पानी डालता है फिर रज डाल लेता है वैसे अज्ञानी के एक तरफ तो कर्म झडते हैं, दूसरी तरफ कर्म वधते हैं। अज्ञानी के जो सुख या दु ख होता है या शरीर, स्त्री, पुत्र, पुत्री, धन, परिवार, परिग्रह का सम्बन्ध होता है उसमे वह आसक्त रहता है, सुख मे वहुत रागी दु ख मे वहुत द्वेषी हो जाता हैं। इस कारण उसके नवीन कर्मों का बन्ध तीव्र हो जाता है। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव ससार शरीर व भोगो से वैरागी होता है। वह पुण्य के उदय मे व पाप के उदय मे सम भाव रखता है, आसक्त नही होता है। इससे उसके कर्म झडते वहुत हैं तथा सुख मे अल्प राग व दु ख मे अल्प द्वेष होने के कारण नवीन कर्मो का बन्ध थोडा होता है। चौदह गुणस्थानो मे चढते हुए जितना-जितना बन्ध का कारण हटता है उतना-उतना जो वन्ध पहले होता था उसका सवर हो जाता है तथा ज्ञानी सम्यग्दृष्टी जितना-जितना आत्म मनन व आत्मानुभव का अभ्यास करता है उसके रत्नत्रय भाव के प्रताप से प्रचुर कर्मों की निर्जरा होती है। कर्मों की स्थिति घटती जाती है। पाप कर्म का अनुभाग घटता जाता है, पाप कर्म वहुत शीघ्र झड जाते हैं। पुण्य कर्म मे अनुभाग वढ जाता है वे भी फल देकर या फल दिये विना झड जाते है।

जिन भावो से कर्म वधते है उनके विरोधी भावो से कर्म रुकते है। आस्रव का विरोधी ही सवर है। मिथ्यात्व के द्वारा आते हुए कर्मों को रोकने के लिए सम्यग्दर्शन का लाभ करना चाहिए। अविरति के द्वारा आने वाले कर्मो को रोकने के लिए अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग इन पाच व्रतों का अभ्यास करना चाहिये। प्रमाद के रोकने के लिये चार विकथा को त्याग कर उपयोगी धार्मिक व परोपकारमय कार्यों मे दत्तचित्त रहना चाहिये। कषायो को हटाने के लिये आत्मानुभव व शास्त्र पठन व मनन, तत्व-विचार व क्षमाभाव, मार्दवभाव, आर्जव भाव, सन्तोषभाव का अभ्यास करना चाहिये। योगो को जीतने के लिए मन, वचन, काय को थिर करके आत्म ध्यान का अभ्यास करना चाहिये। सवरतत्व का सामान्य कथन इस प्रकार हैं—

विशेष विचार यह है कि जो अपना सच्चा हित करना चाहता है-

उसको अपने परिणामो की परीक्षा सदा करना चाहिये। तीन प्रकार के भाव जीवो के होते हैं—अशुभोपयोग, शुभोपयोग, शुद्धोपयोग। अशुभोपयोग से पाप कर्मो का, शुभोपयोग से पुण्य कर्मों का बन्ध होता है। परन्तु शुद्धोपयोग से कर्मों का क्षय होता है। इसलिये विवेकी को उचित है कि अशुभपयोग से बच कर शुभोपयोग मे चलने का अभ्यास करे। फिर शुभोपयोग को भी हटा कर शुद्धोपयोग को लाने का प्रयत्न करे। ज्ञानी को भी सदा जागृत और पुरुषार्थी रहना चाहिये। जैसे साहूकार अपने घर मे चोरो का प्रवेश नही चाहता है, अपनी सम्पत्ति की रक्षा करता है उसी तरह ज्ञानी को अपने आत्मा की रक्षा बन्धकारक भावो से करते रहना चाहिये व जिन-जिन अशुभभावों की टेव पड गई हो उनको नियम या प्रतिज्ञा के द्वारा दूर करते चला जावे। जुआ खेलने की, तास खेलने की, चौपड खेलने की, सतरज खेलने की, भाग पीने की, तम्बाकू पोने की, अफीम खाने की, वेश्यानाच देखने की, कम तौलने नापने की, चोरी के माल खरीदने की, अधिक बोझा लादने की, मिथ्या गवाही देने की, मिथ्या कागज लिखने की, खरी मे खोटी मिलाकर खरी कह कर बेचने की, दिन मे सोने की, अनछना पानी पीने की, रात्रि भोजन करने की, वृथा बकवाद करने की, गाली सहित बोलने की, असत्य भाषण की, पर को ठगने की आदि जो जो भूल से भरे हुए अशुभ भाव अपने मे होते हो उनको त्याग करता चला जावे तब उनके त्याग करने से जो पाप का बन्ध होता सो रुक जाता है। प्रतिज्ञा व नियम करना अशुभ भावो से बचने का बडा भारी उपाय है। ज्ञानी भेद विज्ञान से आत्मा को सर्व रागादि परभावो से भिन्न अनुभव करता है। मैं सिद्धसम शुद्ध हूँ उसका यह अनुभव परम उपकारी होता है। इस शुद्ध भावों की तरफ झुके हुए भावो के प्रताप से उसके नवीन कर्मों का सवर व पुरातन कर्मों की निर्जरा होती है।

सिद्धान्त मे सवर के साधन व्रत, समिति, गुप्ति, दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, चारित्र तथा तप को बताया गया है और निर्जरा का कारण तप को कहा गया हैं। इन सबका कुछ वर्णन आगे

किया जायगा। वास्तव मे तात्पर्य यह है कि जितना-जितना शुद्ध आत्मीक भाव का मनन व अनुभव बढता जायगा उतना-उतना नवीन कर्मों का सवर व पुरातन कर्म का क्षय होता जायगा।

मोक्षतत्व।

सातवा तत्व मोक्ष है, जब ध्यान के बल से आत्मा सर्व कर्मों से छूट जाता है तब वह अकेला एक आत्म-द्रव्य अपनी सत्ता मे रह जाता है इसे ही मोक्षतत्व कहते हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा सिद्धात्मा कहलाते हैं वे परम कृतकृत्य परमात्मा रूप से अपने ज्ञानानन्द का भोग करते रहते हैं।

व्यवहारनय से जीवादि सात तत्व का स्वरूप सक्षेप से कहा गया है जिससे सहज सुख के साधक को पर्याय का ज्ञान हो। रोग का निदान व उपाय विदित हो। निश्चयनय से इन सात तत्वो मे केवल दो ही पदार्थ है—जीव और अजीव। उनमे से अजीव त्यागने योग्य है। जीव पदार्थ मे अपना एक शुद्ध जीव ही ग्रहण करने योग्य है ऐसा जानना व श्रद्धान करना निश्चयनय से सम्यक्त है। जीव और कर्म का सयोग ही ससार है। जीव और कर्म के सयोग से ही आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा, मोक्ष पाच तत्व बने हैं। जैसे शक्कर और मावा के सम्बन्ध से पाच प्रकार की मिठाई बनाई जावे तब व्यवहार मे उस मिठाई को पेडा, बरफी, गुलाब जामन आदि अनेक नाम दिये जाते हैं परन्तु निश्चय से उनमे दो ही पदार्थ हैं—शक्कर और मावा। इसी तरह आस्रवादि पाच तत्वो मे जीव और कर्म दो है, उनमे से जीव को भिन्न अनुभव करना ही सम्यग्दर्शन है।

सात तत्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसी तरह सच्चे देव, सच्चे शास्त्र व सच्चे गुरु का श्रद्धान भी व्यवहार सम्यग्दर्शन है। देव, शास्त्र, गुरु की सहायता से ही पदार्थों का ज्ञान होता है व व्यवहार सम्यक्त का सेवन होता है। ससारी जीवों मे जो दोष पाये जाते हैं वे जिनमे न हों वे ही सच्चे देव हैं। अज्ञान व कषाय ये दोष हैं, जिसमे ये न हो अर्थात् जो सर्वज्ञ और वीतराग हो वही सच्चा देव है। यह लक्षण अरहन्त और सिद्ध परमात्मा मे मिलता है। पहले कहा जा चुका है कि तेरहवें और चौदहवें गुणस्थानवर्ती को अरहन्त कहते हैं और सर्व कर्म-रहित आत्मा को सिद्ध कहते हैं। ये ही आदर्श है व ये ही नमूना हैं।

जिन समान हमको होना है। अतएव इन्ही को पूज्यनीय देव मानना चाहिये। अरहन्त द्वारा प्रगट धर्मोपदेश जो जैन आचार्यो के द्वारा ग्रन्थो मे है वह सच्चा शास्त्र है, क्योकि उनका कथन अज्ञान और कषायो को मेटने का उपदेश देता है। उन शास्त्रो मे एकसा कथन है, पूर्वापर विरोध कथन नही है। उन शास्त्रो के अनुसार चलकर जो महाव्रती अज्ञान और कषायो के मेटने का साधन करते है वे ही सच्चे गुरु है। इस तरह देव, शास्त्र, गुरु की श्रद्धा करके व्यवहार सम्यक्ती होना योग्य है।

व्यवहार सम्यक्त के सेवन से निश्चय सम्यक्त प्राप्त होगा। इस लिए उचित है कि नीचे लिखे चार काम नित्य प्रति किये जावे (१) देव भक्ति, (२) गुरु सेवा, (३) स्वाध्याय, (४) सामायिक। ये ही चार औषधियाँ हैं जिनके सेवन करने से अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व कर्म का बल घटेगा। इसलिए श्री जिनेन्द्र देव अरहन्त सिद्ध की स्तुति नित्य करनी चाहिए। भावो के जोडने के लिए अरहन्तो की ध्यानमय मूर्ति भी सहायक हैं। इसलिए मूर्ति के द्वारा ध्यान के भाव का दर्शन करते हुए गुणानुवाद करने से बुद्धि पर शुद्ध भाव रूपी आदर्श की छाप पडती है। ससार अवस्था त्यागने योग्य व मोक्षावस्था ग्रहण योग्य भासती जाती है। इसलिए मूर्ति के सयोग से या मूर्ति के सयोग बिना जैसा सम्भव हो अरहन्त सिद्ध की भक्ति आवश्यक है। गुरुसेवा भी बहुत जरूरी है। गुरु महाराज की शरण मे बैठने से, उनकी शान्त मुद्रा देखने से, उनसे धर्मोपदेश लेने से बुद्धि पर भारी असर पडता है। गुरु वास्तव मे अज्ञान के रोग को मेटने के लिए ज्ञान रूपी अजन की सलाई चला देते हैं जिससे अन्तरग ज्ञान की आख खुल जाती है। जैसे पुस्तको के होने पर भी स्कूल और कालेजो मे मास्टर और प्रोफेसरो की जरूरत पडती है, उनके बिना पुस्तको का मर्म समझ मे नही आता इसी तरह शास्त्रो के रहते हुए भी गुरु की आवश्यकता है। गुरु तत्व का स्वरूप ऐसा समझाते हैं जो शीघ्र समझ मे आ जाता है। इसीलिए गुरु महाराज की सगति करके ज्ञान का लाभ करना चाहिए। उनकी सेवा वैय्यावृत्य करके अपने जन्म को सफल मानना चाहिए। सच्चे गुरु तारणतरण होते हैं। आप भवसागर से तरते हैं, और शिष्यो को भी पार लगाते हैं। यदि गुरु

साक्षात् न मिले तो नित्य प्रति उनके गुणो को स्मरण करके उनकी भक्ति करनी चाहिए।

तीसरा नित्य काम यह है कि शास्त्रो को पढना चाहिए। जिन वाणी के पढने से ज्ञान की वृद्धि होती है, परिणाम शान्त होते हैं। बुद्धि पर तत्वज्ञान का असर पडता है। बडा भारी लाभ होता है। शास्त्रो की चर्चा व मनन से कर्म का भार हलका हो जाता है। जिन शास्त्रो से तत्वो का बोध हो जिनसे अध्यात्म ज्ञान विशेष प्रगट हो, उन शास्त्रों का विशेष अभ्यास करना चाहिए।

चौथा काम यह है कि प्रात काल और सन्ध्याकाल या मध्याह्न काल तीन दफे दो दफे या एक दफे एकान्त मे बैठकर सामायिक करनी चाहिए। जितनी देर सामायिक करे सर्व से रागद्वेष छोड कर निश्चयनय से आत्मा को सिद्धसम शुद्ध विचारना चाहिए, ध्यान का अभ्यास करना चाहिए।

देव पूजा, गुरुभक्ति, शास्त्रस्वाध्याय व सामायिक इन चार कामो को नित्य श्रद्धान भावसहित करते रहने से व इन्द्रियो पर स्वामित्व रखते हुए, नीतिपूर्वक आचार करते हुए, ससार शरीर भोगों से वैराग्य भाव रखते हुए यकायक ऐसा समय आ जाता है कि सामायिक के समय परिणाम उतने निर्मल व आत्मप्रेमी हो जाते हैं कि अनन्तानुबन्धी कषाय का और मिथ्यात्व का उपशम होकर उपशम सम्यक्त का लाभ हो जाता है। अभ्यास करने वाले को इस णमोकार मन्त्र पर ध्यान रखना चाहिये।

णमो अरहताण—सात अक्षर णमो सिद्धाण—पाच अक्षर णमो आइरियाण—सात अक्षर णमो उवज्झायाण—सात अक्षर णमो लोए सव्वसाहूण—नव अक्षर	पैतीस अक्षर

अर्थ—इस लोक मे सर्व अरहतो को नमस्कार हो, इस लोक में सर्व सिद्धो को नमस्कार हो, इस लोक मे सर्व आचार्यों को नमस्कार हो, इस लोक मे सर्व उपाध्यायो को नमस्कार हो,इस लोक मे सर्व साधुओ को

नमस्कार हो। महाव्रती साधुओ मे जो सघ के गुरु होते हैं उनको आचार्य कहते हैं। जो साधु शास्त्रो का पठन पाठन मुख्यता से कराते हैं उनको उपाध्याय कहते हैं शेष साधु सज्ञा मे हैं।

१०८ दफे पैंतीस अक्षरो का णमोकार मन्त्र जपे या नीचे लिखे मन्त्र जपे —

अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधुभ्यो नम — सोलह अक्षरी
अरहतसिद्ध—छ अक्षरी
असिआउसा—पाच अक्षरी
अरहत—चार अक्षरी
सिद्ध, ओ ह्री, सोह—दो अक्षरी
ॐ—एक अक्षरी

जिस समय सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है मानों सूर्य की किरण का प्रकाश होता है। सर्व अज्ञान व मिथ्यात्वका अधेरा व अन्याय चारित्र का अभिप्राय भागजाता है। सम्यग्दर्शनके होते ही रत्नत्रय प्रगट होते हैं। ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है व स्वरूपाचरण चारित्र अनन्तानुवन्धी कषाय के उपशम से प्रगट हो जाता है। सम्यक्त के प्रकट होते समय स्वानुभव दशा होती है,उसी समय अपूर्वअतीन्द्रियआनन्दका लाभ होताहै। उस सहज सुख का बोध होतेही-भले प्रकार अनुभव होतेही-इन्द्रियसुख तुच्छ है यह प्रतीति दृढ होती है। सम्यक्त होते ही वह ससार की तरफ पीठ दे लेता है और मोक्ष की तरफ मुख कर लेता है। अब से सम्यक्ती की सर्व क्रियाएँ ऐसी होती हैं जो आत्मोन्नति मे बाधक न हो। वह अपने आत्मा को पूर्ण ब्रह्म परमात्मारूप वीतरागी ज्ञातादृष्टा अनुभव करता है। सर्व मन वचन काय की क्रिया को कर्म पुद्गल जनित जानता है। यद्यपि वह व्यवहार मे यथायोग्य अपनी पदवी के अनुसार धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थो की सिद्धि करता है तथापि वह यह जानता है कि यह सब व्यवहार आत्मा का स्वभाव नही कर्म का नाटक है। मन, वचन, काय की गुप्ति न होने

से स्वानुभव मे सदा रमण न होने से करना पडता है। वह सम्यक्ती व्यवहार चारित्रको भी त्यागनेयोग्य विकल्प जानता है। यद्यपि उसे मनको रोकनेके लिये व्यवहार चारित्र की शरण लेनी पडती है तो भी वह उसे त्यागने योग्य ही समझता है। जैसे ऊपर जाने के लिये सीढी की जरूरत पडती है परन्तु चढने वाला सीढी से काम लेते हुए भी सीढी को त्यागने योग्य ही समझता है। और जब पहुँच जाता है सीढी को त्याग देता है। सम्यक्ती अपने आत्मा को न बन्ध मे देखता है न उसे मोक्ष होना है ऐसा जानता है। वह आत्मा को आत्म द्रव्य रूप शुद्ध सिद्ध सम ही जानता है। बन्ध व मोक्षकी सर्व कल्पना मात्र व्यवहार है, कर्म की अपेक्षा से है। आत्मा का स्वभाव बन्ध व मोक्ष के विकल्प रहित है। निश्चयनय से आत्मा आत्मारूप ही है। आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप है। जब निश्चयनय से मनन होने मे प्रमाद आता है तब साधक व्यवहार नय से सात तत्वो का मनन करता है या देव पूजा, गुरुभक्ति, स्वाध्याय तथा सामायिक का आरम्भ करता है। इन व्यवहार साधनो को करते हुए भी सम्यक्ती की दृष्टि निश्चय नय पर रहती है। जब निश्चय नय का आलम्बन लेता है, शुद्ध आत्मा का ही मनन करता है। जब मनन करते २ स्वात्मानुभव मे पहुँच जाता है तब निश्चय तथा व्यवहार दोनो का पक्ष छूट जाता है।

सम्यक्ती सदा सुखी रहता है। उसको सहज सुख स्वाधीनता से जब चाहे तब मिल जाता है। सासारिक सुख व दु ख उसके मन को सम्यक्त से नही गिराते हैं वह इनको धूप व छाया के समान क्षणभगुर जानकर इनमे ममत्व नही करता है। जीव मात्र के साथ मैत्री भाव रखता हुआ यह सम्यक्ती अपने कुटुम्ब की आत्माओ को भी आत्मा रूप जानकर उनका हित विचारता है। उनके साथ अन्धमोह नही रखता है, उनको आत्मोन्नति के मार्ग मे लगाता है, उनके शरीर की भले प्रकार रक्षा करता है। दु खीके दु ख को शक्ति को न छिपाकर दूर करता है, वह करुणा भावना भाता रहता है। दूसरे प्राणियो के दु खो को देखकर मानो मेरे ही ऊपर यह दु ख हैं ऐसा जानकर सकम्प हो जाता है और यथाशक्ति दु खो के दूर करने का प्रयत्न करता है। गुणवानो को देखकर प्रसन्न होता है, उनकी उन्नति चाहता है व आगे उनके समान उन्नति

करने की उत्कंठा करता है। जिनके साथ अपनी सम्मति किसी तरह नही मिलती है उनके ऊपर द्वेषभाव नही रखता है, किन्तु माध्यस्थभाव या उपेक्षाभाव रखता है। जगत मात्र के प्राणियो का हितैषी सम्यक्ती होता है। लाभ मे हर्ष व हानि मे शोक नही करता है। गुणस्थान के अनुसार कषाय के उदय से कुछ हो जावे तो भी वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा बहुत अल्प होता है। सम्यक्ती सदा ही निराकुल रहना चाहता है। वह ऐसा कर्जा नही लेता है जिसे वह सुगमता से चुका न सके। पुत्रादि के विवाह मे वह आमदनी को देखकर खर्च करता है। अनावश्यक खर्चको रोकता है। बहुधा सम्यक्ती जीव आमदनी के चार भाग करता है। एक भाग नित्य खर्च मे, एक भाग विशेष खर्च के लिये, एक भाग एकत्र रखने के लिये, एक भाग दान के लिये अलग करता है। यदि दान मे चौथाई अलग न कर सके तो मध्यम श्रेणी मे छठा या आठवा भाग तथा जघन्य श्रेणी मे दशवा भाग तो निकलता ही है और उसे आहार, औषधि, अभय तथा शास्त्रदान मे खर्च करता है।

सम्यक्ती विवेकी, विचारवान होता है, किसी पर अन्याय या जुल्म नही करता है। दूसरा कोई अन्याय करे तो उसको समझाता है, यदि वह नही मानता है तो उसको शिक्षा देकर ठीक करता है। विरोधी को युद्ध करके भी सीधे मार्ग पर लाता है। अविरत सम्यक्ती आरम्भी हिंसा का त्यागी नही होता है। यद्यपि सम्यक्ती सकल्पी हिंसा का भी नियम से त्यागी नही होता है तो भी वह दयावान होता हुआ वृथा एक तृण मात्र को भी कष्ट नही देता है।

सम्यक्ती के आठ अग—जैसे शरीर के आठ अग होते हैं—मस्तक, पेट, पीठ, दो भुजा, दो टांगे, एक कमर। यदि इनको अलग-अलग कर दिया जावे तो शरीर नही रहता है। इसी तरह सम्यक्ती के आठ अग होते हैं। यदि ये न हो तो वह सम्यक्ती नही हो सकता है।

(१) **निःशकित अग**—जिन तत्वो की श्रद्धा करके सम्यक्ती हुआ है उन पर कभी शका नही लाता है। जो जानने योग्य बात समझ मे नही आई हैं और जिनागम से जानी जाती है उन पर अश्रद्धान नही

करता है तथापि वह ज्ञानी से समझने का उद्यम करता है। तथा वह नीचे प्रकार कहे गये सात प्रकार के भयो को ऐसा नही करता है जिसमे श्रद्धान विचलित हो जावे। चारित्र मोह के उदय से यदि कभी कोई भय होता है तो उसे वस्तु स्वरूप विचार कर आत्म बल की स्फूर्ति से दूर करता है।

(१) **इस लोक का भय**—मै यह धर्म कार्य करूँगा तो लोक निन्दा करेंगे, इसलिये नही करना ऐसा भय सम्यक्ती नही करेगा। वह शास्त्र को कानून मानकर जिससे लाभ हो उस काम को लोगो के भय के कारण छोड नही देगा।

(२) **परलोक का भय**—यद्यपि सम्यक्ती दुर्गति जाने योग्य काम नही करता है तथापि वह अपने आत्मा के भीतर ऐसी दृढ श्रद्धा रखता है कि उसे यह भय नही होता है कि यदि नर्कादि मे आया तो वडा दु ख उठाऊँगा। वह शारीरिक कष्ट से घबडाता नही व वैषयिक सुख का लोलुपी नही होता है—अपने कर्मोदय पर सन्तोष रखता हुआ परलोक की चिन्ता से भयभीत नही होता है।

(३) **वेदना भय**—वह रोगो के न होने का यत्न रखता है। मात्रा पूर्वक खान पान, नियमित आहार, विहार, निद्रा, के साधन करता है तथापि भयातुर नही होता है कि रोग आ जायगा तो मैं क्या करूँगा। वह समझता है कि यदि असाता वेदनीय के तीव्र उदय से रोग आ जायगा तो कर्म की निर्जरा ही है ऐसा समझ कर भय रहित रहता है, रोग होने पर यथार्थ इलाज करता है।

(४) **अनरक्षा भय**—यदि सम्यक्ती अकेला हो व कही परदेश मे अकेला जावे तो वह यह भय नही करता है कि मेरी रक्षा यहाँ कैसे होगी, मै कैसे अपने प्राणो को सम्हाल सकूँगा। वह अपने आत्मा के अमरत्व पर व उसके चिर सुरक्षित गुण रूपी सम्पत्ति पर ही अपना दृढ विश्वास रखता है। अतएव मेरा रक्षक नही है ऐसा भय न करके अरहन्तादि पाँच परमेष्ठियो की शरण को ही वडी रक्षा समझता है।

(५) अगुप्त भय—सम्यक्ती यह भय नही करता है कि यदि मेरा माल व असवाव चोरी चला जायगा तो क्या होगा। वह अपने माल की रक्षा का पूर्ण यत्न करके निश्चिन्त हो जाता है और अपने कर्म पर आगे का भाव छोड देता है। वह जानता है कि यदि तीव्र असाता वेदनीय का उदय आ जावेगा तो लक्ष्मी को जाने मे देर न लगेगी, पुण्योदय से बनी रहेगी।

(६) मरण भय—सम्यक्ती को मरने का भय नही होता है। वह मरण को कपडे वदलने के समान जानता है। आत्मा का कभी मरण नही होता है, मैं अजर अमर हूँ ऐसा दृढ विश्वास उसे मरण भय से दूर रखता है, वह जगत मे वीर योद्धा के समान वर्तन करता है।

(७) अकस्मात् भय—वह अपनी शक्ति के अनुसार रहने व बैठने व आने जाने के साधनो को सम्हाल कर काम में लेता है। यह भय नहीं रखता है कि अकस्मात् छत गिर जायगी तो क्या होगा ? भूकम्प आजायगा तो क्या होगा ? इन भयो को नही करता है। प्रयत्न करते हुए भावी को कर्मोदय पर छोड देता है, अकस्मात् का विचार करके भयभीत नहीं होता है।

(२) निःकांक्षित अंग—सम्यक्ती संसार के इन्द्रिय जनित सुखो में सुखपने की श्रद्धा नही रखता है। वह ऐसे सुख को पराधीन, दुख का मूल, आकुलतामय, तृष्णावर्द्धक व पापकर्मबन्धक जानता है।

(३) निर्विचिकित्सित अंग— सम्यक्ती हरएक पदार्थ के स्वरूप को विचार किसी से ग्लानिभाव नही रखता है। दुखी, दरिद्री, रोगी प्राणियो पर दयाभाव रखकर उनसे प्रेमपूर्वक व्यवहार करके उनका क्लेश मेटता है। मलीन को देखकर व मल को देखकर ग्लानिभाव नही करता है। मलीन को स्वच्छ रहने का यथाशक्ति साधन कर देता है। मलीन पुद्गलो से स्वास्थ्य लाभ की अपेक्षा बचते हुए भी किसी रोगी के मलमूत्र कफ उठाने मे ग्लानि नही मानता है।

(४) **अमूढ़दृष्टि अंग**—हरएक धर्म की क्रिया को विचारपूर्वक करता है। जो रत्नत्रय के साधकधर्म के कार्य हैं उन्ही को करता है। देखादेखी मिथ्यात्ववर्द्धक व निरर्थक क्रियाओ को धर्म मान के नही पालता है। दूसरो की देखादेखी किसी भी अधर्मक्रिया को धर्म नही मानता है, मूढ बुद्धि को बिल्कुल छोड देता है।

(५) **उपगूहन अंग**—सम्यक्ती दूसरे के गुणो को देखकर अपने गुणो को बढाता है। पर के औगुणो को ग्रहण कर निन्दा नही करता है। धर्मात्माओ से कोई दोष हो जावे तो उसको जिस तरह बने उससे दूर कराता है परन्तु धर्मात्माओ की निन्दा नही करता है।

(६) **स्थितिकरण अंग**—अपने आत्मा को सदा धर्म मे स्थिर करता रहता है तथा दूसरो को भी धर्म मार्ग मे सदा प्रेरणा करता रहता है।

(७) **वात्सल्यांग**—धर्म और धर्मात्माओ से गौवत्स के समान प्रेम भाव रखता हुआ सम्यक्ती उनके दु खो को मेटने का यथाशक्ति उद्यम करता है।

(८) **प्रभावनांग**—धर्म की उन्नति करने का सदा ही प्रयत्न करना एक सम्यक्ती का मुख्य कर्तव्य होता है। जिस तरह हो अन्य प्राणी सत्य धर्म से प्रभावित होकर सत्य को धारण करे ऐसा उद्यम करता व कराता रहता है।

सम्यक्ती मे इन आठ अगो का पालन सहज ही होता है। उसका स्वभाव ही ऐसा हो जाता है।

निश्चयनय से सम्यक्ती के आठ अग इस प्रकार हैं कि वह निज आत्मा मे नि शक व निर्भय होकर ठहरता है, यही नि शकित अग है। अतीन्द्रिय आनन्द मे मग्न रहता है यही नि कांक्षित अग है। आत्मस्वरूप की मगनता मे साम्यभाव का अवलम्बन करता है यही निर्विचिकित्सित अग है। आत्मा के स्वरूप मे मूढता रहित है, यथार्थ आत्मबोध सहित है यही अमूढदृष्टि अग है। आत्मीक स्वभाव की स्थिरता मे लीन है, पर भाव को ग्रहण नही करता है यही उपगूहन अग है। आत्मा मे आत्मा के द्वारा स्थिर है यही स्थितिकरण अग है। आत्मानन्द मे भ्रमरवत् आसक्त

है यही वात्सल्य अग है। आत्मीक प्रभाव के विकास मे दत्तचित्त है यही प्रभावना अग है।

सम्यक्तो के भीतर से आठ लक्षण और भी प्रगट होते है। इन आठ चिह्नो से भी सम्यक्ती लिखा जाता है—

(१) **संवेग**—ससार, शरीर भोगों से वैराग्य सहित आत्मीकधर्म व उसके साधनो से सम्यक्ती को बहुत प्रेम होता है, वह धर्म के प्रम मे रगा होता है।

(२) **निर्वेद**—ससार असार है, शरीर अपवित्र है, भोग अतृप्तिकारी व विनाशीक है ऐसा भावना सम्यक्ती मे जागृत रहती है।

(३) **निन्दा**—(४) **गर्हा**—सम्यक्ती अपने मुख से अपनी प्रशसा नही करता है, वह जानता है कि यद्यपि मेरा आत्मा सिद्धसम शुद्ध ह तथापि अभी कर्ममल से अशुद्ध हो रहा है। जब तक पूर्ण शुद्ध न हो तब तक मैं निन्दा के योग्य हूँ, ऐसा जानकर अपने मन मे भी अपनी निन्दा करता रहता है तथा दूसरो के सामने भी अपनी निन्दा करता रहता है। यदि कोई उसके धर्माचरण की प्रशसा करे तो वह अपनी कमी को सामने रख देता है। जो कुछ व्यवहार धर्म साधन करता है उसमे अहकार नही करता है।

(५) **उपशम**—सम्यक्ती की आत्मा मे परम शान्त भाव रहता है, वह भीतर से शीतल रहता है, किसी पर द्वेष नही रखता है। यदि कारणवश कभी क्रोध आता भी है तो भी उसका हेतु अच्छा होता है और क्रोध को भी शीघ्र दूर कर शान्त हो जाता है।

(६) **भक्ति**—सम्यक्ती देव, शास्त्र, गुरु का परम भक्त होता है, बडी भक्ति से पूजनपाठ करता है, शास्त्र पढता है, गुरुभक्ति करता है, धर्मात्माओ की यथायोग्य विनय करता है।

(७) **वात्सल्य**—धर्म और धर्मात्माओ मे गौ वत्स समान प्रेम रखता है। धर्म के ऊपर व धर्मात्मा के ऊपर कोई आपत्ति आवे तो उसे दूर करने का मन, वचन, काय से व धन से व अधिकारबल से जिस तरह हो प्रयत्न करता है।

(८) **अनुकम्पा**—सम्यक्ती बडा ही दयालु होता है। दूसरे प्राणियो

पर जो दु ख पडता है उसे अपना ही दु ख समझता है उसको दूर करना कराना अपना धर्म समझता है।

ऐसा सम्यक्ती जीव अपने वर्ताव से जगत भर का प्यारा हो जाता है व सन्तोषी रहता है। अन्याय से धन कमाना पाप समझता है, न्याय-पूर्वक जो प्राप्त करता है उसी मे अपना व अपने सम्वन्धियो का निर्वाह करता है, वह कर्ज लेने से बचता है। कर्जदार ऐसा आकुलित रहता है कि वह धर्म कर्म मे वर्तन नही कर सकता हे। आमदनी के भीतर-भीतर खर्च करने वाला सदा सुखी रहता है। अविरत सम्यक्ती भी चौथे गुणस्थान मे ऐसे कर्मो का बन्ध नही करता है, जिससे नर्क जा सके व एकेन्द्रियादि तिर्यंच हो सके। देव हो तो उत्तम मनुष्य होने का व मनुष्य हो तो स्वर्गवासी उत्तम देव होने का ही कर्म बाधता है।

आठ कर्म की १४८ प्रकृतिया—आठ कर्मो के १४८ भेद नीचे प्रकार है—

ज्ञानावरण के पाच भेद—मतिज्ञानावरण, श्रुतज्ञा०, अवधिज्ञा०, मनपर्ययज्ञाना०, केवलज्ञानावरण, ये पाचो ज्ञानो को क्रम से ढकती है।

दर्शनावरण के नौ भेद—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुद०, अवधिद०, केवलद०, निद्रा, निद्रा-निद्रा, प्रचला (ऊधना), प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि (नीद मे वीर्य प्रगट होकर स्वप्न मे काम कर लेना)।

वेदनीय के दो भेद—सातावेदनीय, असातावेदनीय।

मोहनीय के २८ भेद—दर्शनमोहनीय के तीन भेद व चारित्रमोहनीय के २५ भेद पहले कह चुके हैं।

आयु के ४ भेद—नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।

नाम के ९३ भेद—गति ४, एकेन्द्रिय आदि ५ जाति, औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस, कार्माण शरीर ५, औदारिक, वैक्रियक, आहारक अगोपाग ३, औदारिकादि बन्धन ५, औदारिकादि सघात ५, प्रमाण (कहा पर व कैसे अगोपाग रचे जावे), सस्थान ६ (समचतुरस्र, सुडौल शरीर, न्यग्रोध परिमण्डल—ऊपर वडा नीचे छोटा, स्वाति—ऊपर छोटा नीचे वडा, वामन—बौना, कुब्जक—कुवडा, हु डक—वेडौल), सह-

नन ६ (वज्रऋषभ नाराच वज्र के समान दृढ हड्डी, नसे व कीले हो, वज्रनाराच स०—वज्र के समान हड्डी व कीले हो, नाराच—हड्डी के दोनो ओर कीले हो, अर्द्ध नाराच—एक तरफ कीले हो, कीलित—हड्डी मे हड्डी कीलित हो, असप्राप्तासृपाटिका—मेरु से हड्डी मिली हो। स्पर्श ८, रस ५, गन्ध २, वर्ण ५, आनुपूर्वी ४ (चार गति अपेक्षा—आगे की गति मे जाते हुए पूर्व शरीर के प्रमाण आत्मा का आकार रहे) अगुरु लघु (न शरीर वहुत भारी, न वहुत हलका), उपघात (अपने अग से अपना घात), परघात (अपने मे परका घात), आताप (परको आतापकारी शरीर) उद्योत (परको प्रकाशकारी), उच्छ्वास, विहायोगति २ (आकाश मे गमन शुभ व अशुभ), प्रत्येक (एक शरीर का एक स्वामी), साधारण (एक शरीर के अनेक स्वामी) त्रस (द्वेंद्रियादि) स्थावर, सुभग (परको सुहावना शरीर), दुर्भग (असुहावना), सुस्वर, दुस्वर, शुभ (सुन्दर), अशुभ सूक्ष्म (परमे वाधा न पावे), वादर, पर्याप्ति (पर्याप्ति पूर्ण करे), अपर्याप्ति, स्थिर, अस्थिर, आदेय (प्रभाववान्), अनादेय, यश कीर्ति, अयश कीर्ति, तीर्थंकर।

गोत्र कर्म २ प्रकार—उच्चगोत्र (लोकपूजित), नीच गोत्र।

अन्तराय ५ प्रकार—दानातराय, लाभातराय, भोगा०, उपभोगा०, वीर्यान्तराय।

इनमे से वन्ध मे १२० गिनी गई है। ५ वन्धन ५ सघात शरीर पाच मे गर्भित हैं स्पर्शादि २० की चार गिनी गई हैं तथा सम्यग्मिथ्यात्व व सम्यक्त प्रकृति का वन्ध नही होता है इस तरह २८ घट गई।

१—मिथ्यात्व गुणस्थान मे—१२० मे से ११७ का वन्ध होगा, तीर्थंकर व आहारक अ गोपाग का वन्ध नही होता।

२—सासादन मे—१०१ का वन्ध होता है १६ का नही होता। मिथ्यात्व, नपु सकवेद, नरकायु, नरक गति, नरकगत्यानुपूर्वी, हु डक सस्थान, अस० सहनन, एकेन्द्रियादि चार जाति, स्थावर, आतप, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण।

३—मिश्र मे—१०१ मे २७ कम ७४ का ही बन्ध होता है।

निद्रा निद्रा, प्रचला प्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी कषाय चार,

स्त्रीवेद, तिर्यंचायु, तिर्यंच गति, तिर्यंच गत्यानुपूर्वी, नीच गोत्र, उद्योत अप्रशस्त विहायोगति, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, न्यग्रोध से वामन चार सस्थान, वज्रनाराच से कीलक सहनन चार, मनुष्यायु, देवायु।

४—अविरत सम्यक्त मे—७४ मे मनुष्यायु, देवायु, तीर्थंकर मिलाकर ७७ का बन्ध होता है। ४३ प्रकृति का बन्ध नही होता है।

इससे सिद्ध हैं कि सम्यक्त होने पर सिवाय देव व उत्तम मनुष्य के और नही होता है। यदि पहले नर्क, तिर्यंच व मानव आयु बाध ली हो तो उस सम्यक्ती तिर्यच या मानवको इन तीन गतियो मे जाना पडता है।

चौथे से आगे के सब गुणस्थानो मे सम्यक्त रहता है।

५—देशविरत मे—७७ मे १० कम ६७ का बन्ध होता है।

अप्रत्याख्यान कषाय चार, मनुष्यायु, मनुष्यगति, मनुष्यगत्या०, औदारिक शरीर,औदारिक अगोपाग, वज्रवृषभनाराच स०।

६—प्रमत्तविरत मे—६७ मे ४ कम ६३ का बन्ध होता है, चार प्रत्याख्यानावरण कषाय घट जाते हैं।

७—अप्रमत्तविरत मे—६३ मे ६ घटकर व दो मिलाकर ५९ का बन्ध होता है। अरति, शोक, असाता वेदनीय, अस्थिर, अशुभ, अयश घटती हैं व आहारक शरीर, आहारक अगोपाग मिल जाती हैं।

८—अपूर्वकरण मे—५९ मे देवायु घटाकर ५८ का बन्ध होता है।

९—अनिवृत्तिकरण मे—५८ मे ३६ घटाकर २२ का बन्ध होता है। निद्रा, प्रचला, हास्य, रति, भय, जुगुप्सा, तीर्थंकर, निर्माण, प्रशस्तविहायोगति, पचेन्द्रियजाति, तैजस, कार्माण शरीर२, आहारक २, वैक्रियिक २, समचतुरस्रसस्थान, देवगति, देवगत्या०, स्पर्शादि ४,अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, त्रस, बादर, पर्याप्ति, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर आदेय=३६ ।

१०—सूक्ष्मसापराय मे—२२ मे से ५ निकालकर,१७ का बन्ध होता है सज्वलन क्रोधादि चार व पुरुषवेद नही बधते है।

११—उपशांत मोह मे—१७ मे १६ कम करके १ सातावेदनीय का

बन्ध होता है। ज्ञानावरण ५,+दर्शनावरण ४,+अन्तराय ५,+उच्च गोत्र,+यश=१६।

आगे दो गुणस्थानो मे भी सातावेदनीय का बन्ध होता है।

इस ऊपर के कथन से सिद्ध है कि सम्यक्ती जैसे २ गुणस्थानो मे बढता जाता है वैसे वैसे कम कर्मो का बन्ध करता है। मन्द कषाय मे बन्ध योग्य कर्मो मे स्थिति थोडी पडती है व पुण्य का अधिक बन्ध होकर उनमे अनुभाग अधिक पडता है।

सम्यग्दर्शन की अपूर्व महिमा है। सम्यक्ती सदा सतोषी रहता है। एक चाडाल भी सम्यक्त के प्रभाव से मर कर स्वर्ग मे उत्तम देव होता है। नारकी भी सम्यक्त के प्रभाव से उत्तम मानव होता है। सम्यक्ती यहा भी सुखी रहता है व आगामी भी सुखी रहता है। वह तो मोक्ष के परमोत्तम महल का अनुयायी हो गया है। मार्ग मे यदि विश्राम करेगा तो उत्तम देव या उत्तम मनुष्य ही होगा। उभय लोक मे सुखदायी इस सम्यक्तका लाभ करना जरूरी है। जो पुरुषार्थ करेगे वे कभी न कभी प्राप्त करेगे। सम्यक्त का पुरुषार्थ सदा ही कल्याणकारी है।

सम्यग्दर्शन और उसके महात्म्य के सम्बन्ध मे जैनाचार्य क्या क्या मनोहर वाक्य कहते हैं उनका कथन नीचे प्रकार है—पाठकगण आनन्द लेकर तृप्ति प्राप्त करे।

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते हैं—

जीवोत्ति हवदि चेदा उपओगविसेसिदो पहू कत्ता।
भोत्ता य देहमत्तो ण हि मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥२७॥

भावार्थ—यह जीव जीने वाला है, चेतने वाला या अनुभव करने वाला है, ज्ञान दर्शन उपयोग का धारी है, स्वय समर्थ है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीर मात्र आकार धारी है, अमूर्तीक है, ससार अवस्था मे कर्म सहित है।

कम्ममलविप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अन्तमधिगंता।
सो सव्वणाणदरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं ॥२८॥

भावार्थ—जब यह जीव कर्म मल से छूट जाता है तब लोक के अन्त मे जाकर विराजमान हो जाता है। सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हुए व सिद्ध भगवान अनन्त अतीन्द्रिय सुख का अनुभव करते हैं।

भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो।
गुणपज्जयेसु भावा उप्पादवए पकुव्वंति ॥१५॥

भावार्थ—सत् पदार्थ का कभी नाश नही होता है तथा असत् पदार्थ का कभी जन्म नही होता है। हर एक पदार्थ अपने गुणो की अवस्थाओ मे उत्पाद तथा व्यय करते रहते है अर्थात् हर एक द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है।

ओगाढगाढणिचिदो पोग्गलकायेहि सव्वदो लोगो।
सुहमेहि वादरेहिं य णंताणतेहि विविहेहि ॥६४॥

भावार्थ—यह लोक सर्व तरफ नाना प्रकार अनन्तानन्त सूक्ष्म तथा वादर पुद्गल कायो से खूब गाढ रूप से भरा हैं। इसमे सर्व जगह सूक्ष्म तथा बादर स्कन्ध पाए जाते हैं।

अत्ता कुणदि सहाव तत्थ गदा पोग्गलो सभावेहि।
गच्छन्ति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥६५॥

भावार्थ—आत्मा के अपने ही रागादि परिणाम होते हैं उनका निमित्त पाकर कर्म पुद्गल अपने स्वभाव से ही आकर कर्म रूप होकर आत्मा के प्रदेशो मे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध रूप होकर ठहर जाते है। जीव उनको बाधता नही है, जीव के रागादि भाव भी पूर्व बद्ध कर्म के उदय से ही होते हैं।

उदयं जह मच्छाग गमणाणुग्गहयर हवदि लोए।
तह जीवपुग्गलाणं धम्मं दव्वं वियाणेहि ॥८५॥

भावार्थ—जैसे इस लोक मे पानी मछलियो के गमनागमन मे उपकारी है वैसे जीव पुद्गलो के गमनागमन में धर्म द्रव्य सहकारी है।

जह हवदि धम्मदव्व तह तं जाणेह दव्वमधमक्खं।
ठिदिकिरियाजुत्ताणं कारणभूदं तु पुढवीव ॥८६॥

भावार्थ—धर्म द्रव्य के समान अधर्म द्रव्य जीव पुद्गलों के ठहरने मे सहकारी है जैसे पृथ्वी प्राणियो के ठहरने मे सहकारी है।

सव्वेसिं जीवाणं सेसाणं तह य पुग्गलाण च।
जं देदि विवरमखिलं तं लोए हवदि आयासं ॥९०॥

भावार्थ—जो सर्व जीवो को, पुद्गलो को, व शेष धर्म अधर्म व काल को स्थान देता है वह आकाश है। जहाँ आकाश खाली है वह अलोकाकाश है, शेष लोकाकाश है।

कालो त्ति य ववदेसो सब्भावपरूवगो हवदि णिच्चो।
उप्पण्णप्पद्धंसी अवरो दीहंतरट्ठाई ॥१०१॥

भावार्थ— सत्तारूप निश्चय काल द्रव्य नित्य है जो सर्व द्रव्यो के परिवर्तन मे सहकारी हैं। दूसरा व्यवहार काल समय रूप है जो उत्पन्न व नाश होता है। बहुत समयो की अपेक्षा व्यवहार काल दीर्घ स्थाई होता है।

एदे कालगासा धम्माधम्मा य पुग्गला जीवा।
लब्भंति दव्वसण्णं कालस्स दु णत्थि कायत्त ॥१०२॥

भावार्थ—काल, आकाश, धर्म, अधर्म, पुद्गल और जीव ये छ द्रव्य हैं। उनमे से काल द्रव्य को छोडकर पाँच को अस्तिकाय कहते हैं।

वादरसुहुमगदाणं खंधाणं पुग्गलो त्ति ववहारो।
ते होंति छप्पयारा तेलोक्कं जेहिं णिप्पण्णं ॥७६॥
पुढवी जलं च छाया चउरिंदियविसयकम्मपाओग्गा।
कम्मादीदा येवं छब्भेया पोग्गला होंति ॥१॥

भावार्थ—वादर व सूक्ष्म स्कन्धों को पुद्गल कहते हैं। यह व्यवहार है। वे छ प्रकार के हैं उन्ही से तीन लोक रचा हुआ है। पृथ्वी--स्थूल स्थूल स्कन्ध है, जल--स्थूल हैं, छाया--स्थूल सूक्ष्म है चार इन्द्रिय के विषय सूक्ष्म स्थूल हैं, कार्मण वर्गणा सूक्ष्म है। उनसे भी सूक्ष्म स्कन्ध दो परमाणु के स्कन्ध तक सूक्ष्म सूक्ष्म हैं।

सुहदुक्खजाणणा वा हिदपरियम्मं च अहिदभीरुत्तं।
जस्स ण विज्जदि णिच्चं तं समणा विंति अज्जीवं ॥१२५॥

भावार्थ—जिसमे सदा ही सुख व दु ख का ज्ञान, हित मे प्रवृत्ति व अहित से भय नही पाया जाता है उसीको मुनियो ने अजीव कहा हैं ।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो ।
चित्ते णत्थि कलुस्सं पुण्णं जीवस्स आसवदि ।।१३५।।

भावार्थ—जिसके शुभ राग है, दया सहित परिणाम है, चित्त में मलीनता नही है, उसके पुण्यकर्म का आस्रव होता है ।

अरहंतसिद्धसाहुसु भत्ती धम्मम्मि जा य खलु चेट्ठा ।
अणुगमणं पि गुरूणं पसत्थरागो त्ति वुच्चंति ।।१३६।।

भावार्थ—प्रशस्त या शुभराग उसको कहते हैं जहा अरहन्त, सिद्ध व साधु की भक्ति हो, धर्म-साधन का उद्यम हो व गुरुओ की आज्ञानुसार वर्तन हो ।

तिसिदं बुभुक्खिदं वा दुहिदं दट्ठूण जो दु दुहिदमणो ।
पडिवज्जदि तं किवया तस्सेसा होदि अणुकम्पा ।।१३७।।

भावार्थ—जो प्यासे को, भूखे को, दु खी को देखकर स्वय दु खी मन होकर दया भाव से उसकी सेवा करता है उसी के अनुकम्पा कही गई है ।

कोधो व जदा माणो माया लोभो व चित्तमासेज्ज ।
जोवस्स कुणदि खोहं कलुसो त्ति य तं बुधा वेति।।१३८।।

भावार्थ—जब क्रोध या मान या लोभ चित्त मे आकर जीव के भीतर क्षोभ या मलीनता पैदा कर देते हैं उस भाव को ज्ञानियो ने कलुष भाव कहा है ।

चरिया पमादबहुला कालुस्सं लोलदा य विसयेसु ।
परपरितावपवादो पावस्स य आसवं कुणदि ।।१३९।।

भावार्थ—प्रमादपूर्ण वर्तन, कलुषता, पाच इन्द्रियो के विषयो मे लोलुपता, दूसरो को दु खी करना व दूसरो की निन्दा करनी ये सब पाप के आस्रव के कारण हैं ।

सण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा य अत्तरुद्दाणि ।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होति ।।१४०।।

भावार्थ—आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार सज्ञाएँ कृष्ण, नील, कापोत तीन लेश्या के भाव, इन्द्रियो के वश मे रहना, आर्त तथा रौद्र-ध्यान, कुमार्ग मे लगाया हुआ ज्ञान, ससार से मोह ये सब भाव पाप को बाधने वाले हैं।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु ।
णासवदि सुहं असुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥१४२॥

भावार्थ—जो साधु दुख व सुख पडने पर समभाव के धारी हैं व सर्व जग के पदार्थो मे जो रागद्वेप, मोह नही करते हैं उस साधु के शुभ व अशुभ कर्म नही आते हैं।

जो संवरेण जुत्तो अप्पट्ठपसाधगो हि अप्पाणं ।
मुणिऊण झादि णियदं णाणं सो संधुणोदि कम्मरयं ॥१४५॥

भावार्थ—जो मन, वचन, काय को रोक करके आत्मा के प्रयोजन रूप सिद्धि भाव को साधने वाला आत्मा को जानकर नित्य आत्म-ज्ञान को ध्याता है वही कर्मरज को दूर करता है।

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व जोगपरिकम्मो ।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अगणी ॥१४६॥

भावार्थ—जिसके भावो मे राग द्वेप मोह नही है न मन, वचन, काय की क्रियाएँ है उसी के शुभ अशुभ कर्मो को जलाने वाली ध्यानमयी अग्नि पैदा होती है।

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो ।
भावणिमित्तो बंधो भावो रदिरागदोसमोहजुदो ॥१४८॥

भावार्थ—योग के निमित्त से कर्मवर्गणाओ का ग्रहण होता है, वह योग मन, वचन, काय के द्वारा होता है। अशुद्ध भाव के निमित्त से कर्म का बन्ध होता है। वह भाव रति, राग, द्वेप, मोह सहित होता है।

जो संवरेण जुत्तो णिज्जरमाणोध सव्वकम्माणि ।
ववगदवेदाउस्सो मुयदि भवं तेण सो मोक्खो ॥१५३॥

भावार्थ—जो कर्मो के आने को रोक कर सवर सहित होकर सर्व

कर्मों का क्षय कर देता है वह वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र से रहित होकर ससार को त्याग देता है। यही मोक्ष का स्वरूप हैं। मोक्ष प्राप्त आत्मा के शरीर कोई नही रहता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है—

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसव संवर णिज्जर बधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१५॥

भावार्थ—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध व मोक्ष इन नौ पदार्थों को जब निश्चय नय से जान जाता है तब सम्यक्त होता है अर्थात् निश्चय नय से जीव और अजीव इन दो तत्वों से ये नौ पदार्थ बने हे। उनमे अजीव से ममत्व त्याग कर एक अपने शुद्ध जीव को ग्रहण करने योग्य मानना ही निश्चय सम्यग्दर्शन है।

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिदा जे इमे गुणट्ठाणा।
ते कह हवंति जीवा ते णिच्चमचेदणा उत्ता ॥७३॥

भावार्थ—मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान मोहनीय कर्म के उदय की अपेक्षा से कहे गए हैं। मोहनीय कर्म जड अचेतन है तब ये गुणस्थान जीव के स्वभाव कैसे हो सकते है? निश्चय से ये जीव से भिन्न सदा ही अचेतन जड कहे गए हैं, इनमे कर्मो का ही विकार है। ये जीव के स्वभाव नही है। यदि स्वभाव होते तो सिद्धो मे भी पाये जाते।

कम्मस्स य परिणामं णोकम्मस्सय तहेव परिणाम।
ण करेदि एदमादा जो जाणदि सो हवदि णाणी ॥८०॥

भावार्थ—निश्चय से यह आत्मा आठ कर्मो की अवस्था का तथा शरीरादि की अवस्था का कर्ता नही है। आत्मा तो ज्ञानी है। वह तो मात्र जानता ही है। पर का कर्तापना आत्मा का स्वभाव नहीं है।

जीवपरिणामहेदुं कम्मत्त पुग्गला परिणमंति।
पुग्गलकम्मणिमित्त तहेव जीवो वि परिणमदि ॥८६॥

भावार्थ—जीवो के रागादि भावो का निमित्त पाकर कर्म वर्गणा रूप पुद्गल स्वय ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाते हैं। इसी

तरह पूर्व बद्ध पुद्गल कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव भी रागादि भावो मे परिणमन करता है। यह निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध अशुद्ध निश्चय नय से है।

णवि कुव्वदि कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।
अण्णोण्णणिमित्तेण दु परिणामं जाण दोण्हंपि ॥८७॥

भावार्थ—न तो जीव पुद्गल कर्म के गुणो को करता है न पुद्गल कर्म जीव के गुणो को करता है, परस्पर एक दूसरे के निमित्त से ही दोनो में परिणमन होता है।

एदेण कारणेण दु कत्ता आदा सएण भावेण।
पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ॥८८॥

भावार्थ—इस कारण से ही यह आत्मा अपने हो भावो का कर्ता है, पुद्गल कर्म कृत सर्व भावो का कभी भी कर्ता नही है।

णिच्छयणयस्स एवं आदा अप्पाणमेव हि करेदि।
वेदयदि पुणो तं चेव जाण अत्ता दु अत्ताणं ॥८९॥

भावार्थ—निश्चय नय से आत्मा अपने ही परिणामो का कर्ता है। और अपने ही आत्मस्वरूप को ही भोगता है।

ववहारस्स दु आदा पुग्गलकम्मं करेदि अणेयविहं।
तं चेव य वेदयदे पुग्गलकम्मं अणेयविहं ॥९०॥

भावार्थ—व्यवहार नय का यह अभिप्राय है कि यह आत्मा अनेक प्रकार पुद्गल कर्मों का कर्ता है तैसे ही अनेक प्रकार पुद्गल कर्मों को भोगता है।

जीवो ण करेदि घडं णेव पडं णेव सेसगे दव्वे।
जोगुवओगा उप्पादगा य सो तेसिं हवदि कत्ता ॥१०७॥

भावार्थ—न तो जीव घट को बनाता है न पट को बनाता है न और द्रव्यो को बनाता है। जीव के योग और (अशुद्ध) उपयोग ही घटादि के उत्पन्न करने मे निमित्त हैं। अशुद्ध निश्चय नय से उन योग व उपयोग का जीव कर्ता कहलाता है।

उवभोजमिंदियेहिय दव्वाणमचेदणाणमिदराणं ।
जं कुणदि सम्मदिट्ठी तं सव्वं णिज्जरणिमित्तं ॥२०२॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि आत्मा जो पाँचो इन्द्रियो के द्वारा अचेतन और चेतन द्रव्यो का उपभोग करता है सो सर्व कर्मो की निर्जरा के निमित्त होता है। सम्यग्दृष्टी अन्तरग मे किसी पदार्थ से आसक्त नही है, इसलिये उसके कर्म फल देकर झड जाते हैं। वह ससार कारणीभूत कर्म बन्ध नही करता हैं। राग भाव के अनुसार कुछ कर्म बँधता है सो भी छूटने वाला है।

पुग्गलकम्मं कोहो तस्स विवागोदओ हवदि एसो ।
ण हु एस मज्झभावो जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२०७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी समझता है कि मोहनीय नाम का पुद्गल कर्म क्रोध है, उसी का विपाक या रस मेरे भावो के साथ झलकने वाला यह क्रोध है सो यह मेरा स्वभाव नही है। यह तो पद्गल का ही स्वभाव है, मैं तो मात्र इसका ज्ञाता एक आत्मा द्रव्य क्रोध से निराला हूँ।

उदयविवागो विविहो कम्माणं वण्णिदो जिणवरेहि ।
ण दु ते मज्झ सहावा जाणगभावो दु अहमिक्को ॥२१०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी ऐसा जानता है कि नाना प्रकार कर्मो का विपाक या फल जिसे जिनेन्द्रो ने बताया है मेरे आत्मा का स्वभाव नही है। मैं तो एक अकेला मात्र ज्ञाता हूँ, जानने वाला ही हूँ।

छिज्जदु वा भिज्जदु वा णिज्जदु वा अहव जादु विप्पलयं ।
जह्मा तह्मा गच्छदु तहावि ण परिग्गहो मज्झ ॥२१८॥

भावार्थ—ज्ञानी के यह भेद भावना होती है कि यह शरीर छिद जाहु, भिद जाहु, अथवा कोई कही लेजाहु अथवा चाहे जहाँ चला जाहु तथापि यह शरीर व तत्सम्बन्धी परिग्रह मेरा नही हैं। मै तो अकेला ज्ञाता दृष्टा पदार्थ हूँ।

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणय॥२२६॥

अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोहं ।।२३०।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी ज्ञानी आत्मा कर्मों के मध्य पडा हुआ भी सर्व पर द्रव्यो से राग भाव को त्याग करता हुआ इसी तरह कर्म रूपी रज से लिप्त नही होता हैं, जिस तरह कीचड मे पडा हुआ सोना नही बिगड़ता हैं। परन्तु अज्ञानी जीव कर्मो के मध्य पडा हुआ सर्व पर द्रव्यो मे राग भाव व रता हुआ कर्म रूपी रज से लिप्त हो जाता हैं। जैसे लोहा कीचड मे पडा हुआ बिगड जाता है। सम्यग्दृष्टी ऐसा भीतर से वैरागी होता है कि कर्म का फल भोगते हुए भी कर्म की निर्जरा कर देता है तथा बन्ध या तो होता नही, यदि कषाय के अनुसार कुछ होता भी है तो वह बिगाड करने वाला ससार मे भ्रमण कराने वाला नही होता है। सम्यक्त की अपूर्व महिमा है।

सम्मादिट्ठी जीवा णिस्संका होंति णिब्भया तेण ।
सत्तभयविप्पमुक्का जह्मा तह्मा दु णिस्संका ।।२४३।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीव शका रहित होते है। वे निर्भय होते है। वे सात प्रकार भय से रहित होते है। उनको आत्मा मे दृढ विश्वास होता है। उनके मरण का व रोगादि का भय नही होता है।

एवं सम्मादिट्ठी वट्टंतो वहुविहेसु जोगेसु ।
अकरंतो उवओगे रागादी णेव वज्झदि रयेण ।।२६१।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी कार्य वश से नाना प्रकार मन वचन काय के योगो द्वारा वर्तता है तो भी उपयोग मे रागादि भावो को नही करता हुआ कर्म रूपी रज से नही बधता है। मिथ्यादृष्टी की तरह बधता नही है। वीतरागी सम्यक्ती अबन्ध रहता है अथवा सराग सम्यक्ती के जितना राग होता है उतना अल्पबन्ध होता हैं जो बाधक नही है।

णवि रागदोसमोहं कुव्वदि णाणी कसायभावं वा ।
सयमप्पणो ण सो तेण कारगो तेसि भावाणं।।३०२।।

भावार्थ—सम्यक्ती ज्ञानी जो स्वय ही अपने मे विना कर्मो के उदय से राग द्वेष, मोह व कषाय भाव नही पैदा करता है इसलिये आत्मा इन रागादि भावो का निश्चय से कर्ता नही हैं।

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च ।
बंधे सु जोण रज्जदि सो कम्मविमुक्खणं कुणदि।।३१५।।

भावार्थ—कर्म बन्धो का स्वभाव तथा आत्मा का शुद्ध स्वभाव जान करके जो कर्म बन्धो मे रजायमान नही होता हैं, कर्मों से विरक्त हो जाता है वही ज्ञानी कर्मो से अवश्य मुक्ति पा लेता है ।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ वहु पयाराइ ।
जाणदि पुण कम्मफलं बधं पुण्ण च पाव च ।।३४०।।

भावार्थ—ज्ञानी न तो नाना प्रकार कर्मों का कर्ता है न भोक्ता है, वह कर्म के करने व भोगने से उदासीन रहता हुआ कर्मों के फल पुण्य व पाप को व उनके बन्ध को मात्र जानता हैं । कर्मोदय से जो कुछ होता है उसका ज्ञाता दृष्टा रहना ज्ञानी का कर्तव्य है, वह कर्म के नाटक मे लीन नही होता है ।

वेदतो कम्मफलं अप्पाणं जो कुणदि कम्मफल ।
सो त पुणोवि बधदि वीय दुक्खस्स अट्ठविह ।।४०९।।

भावार्थ—कर्मो के फल को भोगते हुए जो उस कर्म-फल को अपना कर लेता है । अर्थात् उनमे तन्मय होकर फँस जाता है । वह फिर आठ प्रकार कर्मों को बाँधता है, जो दु खो का बीज है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचन सार मे कहते हैं —

मोहेण य रागेण य दोसेण य परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो बधो तम्हा ते सखवइदव्वा ।।८१।।

भावार्थ—जो जीव मोह से, राग से या द्वेष से परिणमन करता है उसको नाना प्रकार कर्म का बन्ध होता है । इसलिये इन रागादि का क्षय करना योग्य है ।

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलद्ध जोएहमुददेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।।८५।।

भावार्थ—जो जिनेन्द्र के उपदेश को पाकर राग, द्वेप, मोह को नाश कर देता है वह शीघ्र ही सर्व ससार के दृ खो से छूटकर मुक्त हो जाता है ।

दव्व सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समवखादो ।
सिद्धं तध आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ।।७-२।।

भावार्थ—द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है। सत् रूप है ऐसा जिनेन्द्र ने तत्व रूप से कहा है, आगम से भी यही सिद्ध है ऐसा जो नही मानता है वह नियम से मिथ्याहष्टी है।

समवेदं खलु दव्वं सम्भवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं ।
एकम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ।।११-२।।

भावार्थ—हर एक द्रव्य एक ही समय मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य भावो से एकमेक है। इसलिये द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप तीन प्रकार है।

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तंपि दव्वं णेव पणट्ठं ण उप्पण्णं ।।१२—२।।

भावार्थ—किसी भी द्रव्य की जब कोई पर्याय या अवस्था पैदा होती है तब ही दूसरी पूर्व की अवस्था नाश हो जाती है तो भी मूल द्रव्य न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है। पर्याय की अपेक्षा द्रव्य उत्पाद व्यय रूप है द्रव्य की अपेक्षा ध्रुव है।

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं ।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं तु परिणामो।।३०-२।।

भावार्थ—यह आत्मा अनादि काल से कर्मो से मलीन चला आया है इसलिये राग द्वेष मोह रूप सयोग मय भाव को धारण करता है तब इन रागादि भावो के निमित्त से पुद्गल कर्म स्वय वध जाता है। इसलिये रागादि भाव ही भाव कर्म है या कम वन्ध कारक भाव हे।

आदा कम्ममलिमसो धारदि पाणो पुणो पुणो अण्णो ।
ण जहदि जाव ममत्त देहपधाणेसु विसएसु ।।६१—२।।

भावार्थ - यह कर्मो से मलीन आत्मा जब तक शरीरादि इन्द्रियो के विषयो मे ममत्व भाव को नही छोडता है, तब तक बार-बार अन्य-अन्य प्राणो को धारता रहता है। अर्थात् एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय पर्यन्त प्राणी होता रहता है।

जो इन्दियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहि सो ण रंजदि किह तं पाणा अणुचरंति ।।६२-२।।

भावार्थ—परन्तु जो कोई इन्द्रिय विषय व कषायो का विजयी

होकर अपने शुद्ध चैतन्य मय शुद्धोपयोग का ध्यान करता है और सर्व ही शुभ व अशुभ कर्मों मे राग नही करता है उसको ये इन्द्रियादि दश प्राण किस तरह सम्बन्ध कर सकते हैं ? अर्थात् वह जन्म-मरण से छूट ही जायगा ।

रत्तो वन्धदि कम्मं मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा ।
एसो बन्धसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ।।८०—२।।

भावार्थ—रागी जीव कर्मो को वाँधता है, वीतरागी कर्मों से छूट जाता है, ऐसा वन्ध तत्व का सक्षेप जीवो के लिये निश्चय से जानना चाहिये ।

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणतो अत्थे खवेदि कम्माणि किध भिक्खू ।।५३-३।।

भावार्थ—जो साधु आगम ज्ञान से रहित है, न अपने आत्मा को सर्व कर्मो से रहित शुद्ध जानता है और न पर पदार्थो को ही जानता है वह पदार्थो के भेद ज्ञान को न पाता हुआ किस तरह कर्मो का क्षय कर सकता है ? शास्त्र ज्ञान के द्वारा स्व पर पदार्थ का वोध होता है । इसलिये मुमुक्षु को शास्त्र का मनन सदा कर्तव्य है ।

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि ण अत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असजदो वा ण णिव्वादि ।।५७—३।।

भावार्थ—जिसकी श्रद्धा जीवादि पदार्थो मे नही हैं, वह मात्र शास्त्रो के ज्ञान से सिद्धि नही पा सकता । तथा जो पदार्थो की श्रद्धा रखता है, परन्तु सयम को धारण नही करता है वह भी निर्वाण को नही पा सकता । शास्त्र ज्ञान यदि सम्यग्दर्शन सहित हो और तव सम्यक् चारित्र को पाले वही मुक्त होता है ।

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादियेसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरोत्ति।५९-३।

भावार्थ—जिसकी शरीरादि पर द्रव्यो मे परमाणु मात्र भी जरासी मूर्छा विद्यमान है, वह सर्व आगम का ज्ञाता है तो भी मोक्ष नही पा सकता है ।

ण हवदि समणोत्ति मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तोवि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदपधाणे जिणक्खादे ।।८५–३।।

भावार्थ—जो कोई साधु संयमी हो, तपस्वी हो तथा सूत्रों का ज्ञाता हो परन्तु आत्मा आदि पदार्थों मे जिसकी यथार्थ श्रद्धा नही है वह वास्तव मे साधु नही है।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हैं —

मिच्छत्त अविरमणं कसायजोगा य आसवा होंति।
पणपणचउतियभेदा सम्म परिकित्तिदा समए ॥४७॥

भावार्थ—मिथ्यात्व भाव एकान्त आदि पाँच प्रकार अविरत भाव हिंसादि पाँच प्रकार, कषाय भाव क्रोधादि चार प्रकार, योग मन, वचन, काय तीन प्रकार, ये सब कर्मों के आस्रव के द्वार है, ऐसा आगम मे भले प्रकार कहा गया है।

किण्हादितिण्णि लेस्सा करणजसोक्खेसु गिद्धिपरिणामो।
ईसाविसादभावो असुहमणत्ति य जिणा वेंति ॥५१॥

भावार्थ—कर्मों के अनेक कारण अशुभ व शुभ मन, वचन, काय हैं सो यहाँ कहते है। कृष्ण, नील, कपोत तीन लेश्या के परिणाम, इन्द्रियो के सुख मे लम्पटता, ईर्ष्या भाव, शोक भाव, अशुभ मन के भाव है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

रागो दोसो मोहो हास्सादोणोकसायपरिणामो।
थूलो वा सुहुमो वा असुहमणोत्ति य जिणा वेंति ॥५२॥

भावार्थ—राग द्वेष, मोह, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुं वेद, नपुंसकवेद सम्बन्धी परिणाम चाहे तीव्र हो या मन्द हो अशुभ मन के भाव है ऐसा जिनेन्द्र कहते है।

भत्तिच्छिरायचोरकहाओ वयणं वियाण असुहमिदि।
बधणछेदणमारणकिरिया सा असुहकायेत्ति ॥५३॥

भावार्थ—भोजन, स्त्री, राजा व चोर इन चार विकथाओ को कहना अशुभ वचन जानो, बाँधना, छेदना, मारना आदि कष्ट प्रद काम करना अशुभ काय की क्रिया की क्रियाएँ है।

मोत्तूण असुहभाव पुव्वुत्त णिरवसेसदो दव्वं।
वदसमिदिसीलसंजमपरिणाम सुहमणं जाणे ॥५४॥

भावार्थ—पहले कहे हुए सर्व अशुभ भावो को व द्रव्यो को छोडकर जो परिणाम अहिंसादि व्रत, ईर्या आदि समिति, शील, सयम मे अनुरक्त हैं उनको शुभ मन जानो।

संसारछेदकारणवयण सुहवयणमिदि जिणुद्दिट्ठ।
जिणदेवादिसु पूजा सुहकायत्ति य हवे चेट्ठा ।।५५।।

भावार्थ—जिन वचनो से ससार के छेद का साधन वताया जावे वे शुभ वचन है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। श्री जिनेन्द्र देव की पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, सामायिक, सयम तथा दान आदि मे चेष्टा व उद्यम सो शुभ काय हैं।

सुहजोगेसु पवित्ती संवरणं कुणदि असुहजोगस्स।
सुहजोगस्स णिरोहो सुद्धुवजोगेण सभवदि ।।६३।।

भावार्थ—शुभ मन, वचन, काय के योगो मे प्रवृत्ति करने से अशुभ योगो के द्वारा आस्रव रुक जाता है तथा जब शुद्धोपयोग मे वर्ता जाता है तव शुभ योगो का भी निरोध हो जाता है—पूर्ण सवर होता हे।

सुद्धुवजोगेण पुणो धम्मं सुक्क च होदि जीवस्स।
तम्हा सवरहेदू झाणोत्ति विचिन्तये णिच्च ।।६४।।

भावार्थ—शुद्धोपयोग से ही इस जीव के धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान होता है। इसलिये कर्मो के रोकने का कारण ध्यान है ऐसा नित्य विचारना चाहिये।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य दर्शन पाहुड मे कहते हैं —

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्स णत्थि णिव्वाण।
सिज्झन्ति चरियभट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झन्ति ।।३।।

भावार्थ—जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वे ही भ्रष्ट हैं। क्योकि सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट जीव को कभी निर्वाण का लाभ नही हो सकता है। जो चारित्र से भ्रष्ट हैं परन्तु सम्यक्त से भ्रष्ट नही है वे फिर ठीक चारित्र पालकर सिद्ध हो सकेंगे परन्तु जो सम्यग्दर्शन से भ्रष्ट है वे कभी भी सिद्धि न प्राप्त करेंगे।

छह दव्व णव पयत्था पंचत्थी सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो ।।१९।।

भावार्थ—जो जीवादि छः द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, जीव तत्व आदि सात तत्व व पुण्य पाप सहित नव पदार्थ इन सबका यथार्थ स्वरूप श्रद्धान मे लाता है उसे ही सम्यग्दृष्टि जानना योग्य है।

जीवादी सद्दहण सम्मत्त जिणवरेहि पण्णत्त ।
ववहारा णिच्छयदो अप्पाण हवइ सम्मत्त ॥२०॥

भावार्थ—व्यवहार नय से जीवादि तत्वो का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है परन्तु निश्चय नय से अपना आत्मा ही सम्यग्दर्शन रूप है या शुद्धात्मा ही मैं हू ऐसा श्रद्धान सम्यक्त है। यह बात जिनेन्द्रो ने कही है।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्ष पाहुड मे कहते हैं —

परदव्वादो दुग्गइ सद्दव्वादो हु सग्गई होई ।
इय णाऊण सदव्वे कुणह रई विरय इयरम्मि ॥१६॥

भावार्थ—पर द्रव्य मे रति करने से दुर्गति होती है किन्तु स्वद्रव्य मे रति करने से सुगति होता है ऐसा जानकर पर द्रव्य मे विरक्त होकर स्वद्रव्य मे प्रेम करो।

मिच्छत्त अण्णाणं पाव पुण्ण चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

भावार्थ—मिथ्यात्व, अज्ञान व पुण्यपाप को मन, वचन, काय द्वारा त्याग करके मौन व्रत के साथ योगी ध्यान मे तिष्ठकर अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे।

जीवाजीवद्विहत्ती जोई जाणेइ जिणवरमएण ।
त सण्णाणं भणिय अवियत्थ सव्वदरसीहि ॥४१॥

भावार्थ—जो योगी जीव और अजीव पदार्थ के भेद को जिनेन्द्र के मत के अनुसार यथार्थ जानता है वही सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान है। वह निर्विकल्प आत्मानुभव है ऐसा सर्वदर्शी जिनेन्द्रो ने कहा है।

परमप्पय झायंतो जोई मुच्चेइ मलदलोहेण ।
णादियदि णवं कम्म णिद्दिट्ठं जिणवरिदेहि ॥४८॥

भावार्थ—परमात्मा को ध्याता हुआ योगी पाप बन्ध कारक लोभ से छूट जाता है। उसके नया कर्म का आस्रव नही होता है। ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है।

देव गुरुम्मिय भत्तो साहम्मिय सजदेसु अणुरत्तो ।
सम्मत्तसुव्वहतो झाणरओ होइ जोई सो ।।५२।।

भावार्थ—जो योगी सम्यग्दर्शन को धारता हुआ, देव तथा गुरु की भक्ति करता है–साधर्मी सयमी माधुओ मे प्रीतिमान है, वही ध्यान मे रुचि करने वाला होता है ।

गहिऊण य सम्मत्त सुणिम्मल सुरगिरीव णिक्कम्प ।
तं जाणे झाइज्जइ सावय ! दुक्खक्खयट्ठाए ।।८६।।

भावार्थ—हे श्रावक ! परम शुद्ध सम्यग्दर्शन को ग्रहण कर मेरु पर्वतवत् उसे निष्कम्प रखकर ससार के दु खो के क्षय के लिये उसीको ध्यान मे ध्याया कर ।

सम्मत्त जो झायइ सम्माइट्ठी हवेइ सो जीवो ।
सम्मत्तपरिणदो उण खवेइ दुट्ठट्ठकम्माणि ।।८७।।

भावार्थ—जो जीव निश्चय सम्यक्त आत्मा की दृढ श्रद्धाको ध्याता है वही सम्यक्दृष्टि है । जो कोई आत्मानुभव रूप सम्यक्त मे रमण करता है सो दुष्ट आठ कर्मो को क्षय कर देता है ।

किं वहुणा भणिएणं जे सिद्धा णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहि जे वि भविया त जाणइ सम्ममाहप्पं ।।८८।।

भावार्थ—बहुत क्या कहे, जो महात्मा भूतकाल मे सिद्ध हुए है व आगामी काल मे सिद्ध होंगे सो सब सम्यग्दर्शनका महात्म्य है ऐसा जानो ।

ते धण्णा सुकयत्था ते सूरा ते वि पंडिया मणुया ।
सम्मत्त सिद्धियर सिविणे वि ण मइलियं जेहिं ।।८९।।

भावार्थ—वे ही धन्य है, वे ही कृतार्थ हैं, वे ही वीर है, वे ही पडित मानव हैं जिन्होने स्वप्न मे भी सिद्धि को देने वाले सम्यग्दर्शन को मलीन नही किया । निरतिचार सम्यग्दर्शन को पाकर आत्मानन्द का विलास किया । शुद्ध सम्यक्त आत्मानुभूति ही है ।

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे ।
णिग्गथे पव्वयणे सद्दहण होइ सम्मत्तं ।।९०।।

भावार्थ—हिंसा रहित धर्म मे, अठारह दोष रहित देव मे व निर्ग्रन्थ मोक्ष मार्ग या साधु मार्ग मे जो श्रद्धान है सो सम्यग्दर्शन है।

(७) श्री वट्टकेर आचार्य मूलाचार द्वादशानुप्रेक्षा मे कहते हैं—

रागो दोसो मोहो इंदियसण्णा य गारवकसाया।
मणवयणकायसहिदा दु आसवा होंति कम्मस्स ॥३८॥

भावार्थ—राग, द्वेष, मोह, पाच इन्द्रियो के विषय, आहार, भय, मैथुन, परिग्रह, सज्ञा, ऋद्धि गारव, रस गारव, सात गारव व ऐसे तीन अभिमान, व क्रोधादि कषाय तथा मन, वचन, काय कर्मों के आने के द्वार है।

हिंसादिएहिं पंचहिं आसवदारेहिं आसवदि पावं।
तेहिंतो धुव विणासो सासवणावा जह समुद्दे ॥४६॥

भावार्थ—हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह ये पाँच आस्रव के द्वार हैं। उनसे ऐसा पाप का आस्रव होता है, जिनसे सदा ही आत्मा का ससार समुद्र मे नाश होता है। जैसे छेद सहित नौका समुद्र मे डगमगा कर डूबती है।

इन्दियकसायदोसा णिग्घिप्पंति तवणाणविणएहिं।
रज्जूहि णिग्घिप्पंति हु उप्पहगामी जहा तुरया ॥५०॥

भावार्थ—जैसे कुमार्ग मे जाने वाले घोडे लगामो से रोक लिये जाते है वैसे ही तप, ज्ञान व विनय के द्वारा इन्द्रिय व कषाय के दोष दूर हो जाते हैं।

संसारे संसरंतस्स खओवसमगदस्स कम्मस्स।
सव्वस्स वि होदि जगे तवसा पुण णिज्जरा विउला ॥५५॥

भावार्थ—ससार मे भ्रमण करते हुए जब कर्मों का क्षयोपशम होता हैं तब इस लोक मे सर्व जीवो के एक देश निर्जरा होती है परन्तु तप करने से बहुत अधिक कर्मों की निर्जरा होती है।

चिरकालमज्जिदं पि य विहुणदि तवसा रयत्ति णाऊण।
दुविहे तवम्मि णिच्चं भावेदव्वो हवदि अप्पा ॥५८॥

भावार्थ—चिरकाल के बाधे हुए कर्मरज तप के द्वारा धुल जाते हैं ऐसा जानकर दो प्रकार बाहरी भीतरी तप के द्वारा नित्य ही आत्मा की भावना करनी योग्य है।

(८) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार अधिकार मे कहते है—

सम्मत्तादो णाण णाणादो सव्वभावउवलद्धी।
उवलद्धपयत्थो पुण सेयासेयं वियाणादि ॥१२॥
सेयासेयविदण्हू उद्धुददुस्सील सीलवं होदि।
सीलफलेणब्भुदय तत्तो पुण लहदि णिव्वाणं ॥१३॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्ज्ञान होता हैं। सम्यग्ज्ञान से सर्व पदार्थका यथार्थ ज्ञान होता है। जिसको पदार्थो का भेदविज्ञान है वह हितकर व अहितकर भावो को ठीकर जानता है। जो श्रेय व कुश्रेय को पहचानता है, वह कुआचार को छोड देता है। शीलवान हो जाता है। शील के फल से सम्पूर्ण चारित्र को पाता है। पूर्ण चरित्र को पाकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है।

णाणविण्णाणसंपण्णो झाणज्झणतवेजुदो।
कसायगारवुम्मुक्को संसारं तरदे लहुं ॥७७॥

भावार्थ—जो ज्ञान व चारित्र से सम्पन्न होकर ध्यान, स्वाध्याय व तप मे लीन है तथा कषाय व अभिमान से मुक्त है, वह शीघ्र ससार से तर जाता है।

(९) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार पचाचार मे कहते हैं—

णेहोउप्पिदगत्तस्स रेणुओ लग्गदे जधा अगे।
तह रागदोससिणेहोल्लिदस्स कम्मं मुणेयव्वं ॥३९॥

भावार्थ—जैसे तेल से चिकने शरीर पर रज लग जाती है, वैसे राग, द्वेष रूपी तैल से जो लिप्त है उसके कर्म का बन्ध हो जाता हैं।

जं खलु जिणोवदिट्ठं तत्थित्ति भावदो गहणं।
सम्मद्दंसणभावो तव्विवरीदं च मिच्छत्तं ॥६८॥

भावार्थ—जैसे पदार्थ का स्वरूप जिनेन्द्र ने कहा है वे ही पदार्थ है ऐसा भावपूर्वक श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इससे [illegible] मिथ्यादर्शन है।

जे अत्थपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहि सुदणाणे ।
ते तह रोचेदि णरो दसणविणयो हवदि एसो ॥१६६॥

भावार्थ—जो जीवादि पदार्थ जिनेन्द्रो ने श्रुतज्ञान मे उपदेश किये है उनकी तरफ जो मानव रुचि करता है उसी के ही सम्यग्दर्शन की विनय होती है ।

(१०) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार षडावश्यक मे कहते है—

जिदकोहमाणमाया जिदलोहा तेण ते जिणा होंति ।
हंता अरिं च जम्मं अरहंता तेणु वुच्चंति ॥५४॥

भावार्थ—जिसने क्रोध, मान, माया, लोभ, कषायो को जीत लिया है वे जिन है । जिन्होंने ससार रूपी शत्रु को नाश कर दिया है वे ही अर्हन्त है ऐसे कहे जाते है ।

अरिहंति वंदणणमंसणाणि अरिहंति पूयसक्कार ।
अरिहंति सिद्धिगमण अरहंता तेण उच्चंति ॥६५॥

भावार्थ—जो वन्दना व नमस्कार के योग्य है व जो पूजा सत्कार के योग्य हैं । तथा जो सिद्ध होने योग्य है उनको अरहन्त ऐसा कहते है ।

सव्व केवलकप्पं लोगं जाणंति तह य पस्संति ।
केवलणाणचरित्ता तह्मा ते केवली होंति ॥६७॥

भावार्थ—क्योंकि श्री अरहन्त भगवान केवल ज्ञान के विषय रूप सर्व लोक अलोक को देखते जानते हैं व केवल ज्ञान मे ही आचरण कर रहे हैं इसलिये वे केवली होते हैं ।

मिच्छत्तवेदणीयं णाणावरणं चरित्तमोह च ।
तिविहा तमाहु मुक्का तह्मा ते उत्तमा होंति ॥६८॥

भावार्थ—क्योंकि अरहन्त भगवान ने मिथ्यात्वमय श्रद्धान को, ज्ञानावरण को, चारित्र मोह को इन तीनों को त्याग कर दिया है, इसलिये वे उत्तम हैं ।

भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं ।
आयरियपसाएण य विज्जा मंता य सिज्झंति ॥७२॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्रो की भक्ति से पूर्व सचित कर्म क्षय हो जाते

है। आचार्य की भक्ति से व उनकी कृपा से विद्याएँ व मन्त्र सिद्ध हो जाते है।

जे दव्वपज्जया खलु उवदिट्ठा जिणवरेहिं सुदणाणे।
ते तह सद्दहदि णरो दसणविणओत्ति णादव्वो ।।८८।।

भावार्थ—जो द्रव्यो की पर्यायें जिनेन्द्र ने श्रुतज्ञान मे उपदेश की हैं उनका जो श्रद्धान करता है, वह दर्शन विनय है ऐसा जानना योग्य है।

(११) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड मे कहते हैं—

श्रद्धानं परमार्थनामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ।।४।।

भावार्थ—सत्यार्थ देव, शास्त्र, गुरु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह नि शकितादि आठ अग सहित हो, लोक मूढता, देव मूढता, गुरु मूढता रहित हो। तथा जाति, कुल, धन, वल, रूप, विद्या, अधिकार, तप इन आठ मदो रहित हो।

सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्मगूढांगारान्तरौजसम् ।।२८।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित एक चाडाल को भी गणधर देवो ने माननीय देव तुल्य कहा हैं। जैसे भस्ममे छिपीहुई अग्निकी चिनगारी हो। आत्मा उसका पवित्र होगया है, किन्तु शरीर रूपी भस्म मे छिपा हैं।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान्।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ।।३३।।

भावार्थ—जो सम्यग्दृष्टि गृहस्थ है, वह मोक्ष मार्ग पर स्थिर है, जबकि मिथ्यादृष्टि मुनि मोक्ष मार्गी नही है। इसलिये सम्यग्दृष्टी गृहस्थ मिथ्यादृष्टी मुनि से श्रेष्ठ है।

न सम्यक्त्वसम किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम् ।।३४।।

भावार्थ—तीन लोक व तीन काल मे सम्यग्दर्शन के समान प्राणियो को कोई कल्याणकारी नहीं हैं। इसी तरह मिथ्यादशन के समान कोई अहितकारी नही है।

सम्यग्दर्शनशुद्धा नारकतिर्यङ्नपुंसकस्त्रीत्वानि ।
दुष्कुलविकृताल्पायुर्दरिद्रतां च व्रजंति नाप्यव्रतिकाः ।।३५।।

भावार्थ—शुद्ध सम्यक्दृष्टि व्रत रहित होने पर भी नारकी, पशु, नपुंसक, स्त्री, नीच कुली, विकलांगी, अल्प आयु धारी तथा दरिद्री नही पैदा होते हैं ।

(१२) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है—

अरहन्तसिद्धचेइय, सुदे य धम्मे य साधुवग्गे य ।
आयरियेसूवज्झाएसु, पवयणे दंसणे चावि ।।४६।।
भत्ती पूया वण्णजणणं च णासणमवण्णवादस्स ।
आसादणपरिहारो, दंसणविणओ समासेण ।।४७।।

भावार्थ—श्री अरहन्त भगवान, सिद्ध परमेष्ठी, उनकी मूर्ति, द्वादशांग श्रुत, धर्म, साधु समूह, आचार्य, उपाध्याय, प्रवचन और सम्यग्दर्शन इन दश स्थानो मे भक्ति करना, पूजा करनी, गुणो का वर्णन करना, कोई निन्दा करे तो उसको निवारण करना, अविनय को मेटना, यह सब सक्षेप मे सम्यग्दर्शन का विनय है ।

णगरस्स जह दुवारं, मुहस्स चक्खू तरुस्स जह मूलं ।
तह जाण सुसम्मतं, णाणचरणवीरियतवाण ।।७४०।।

भावार्थ—जैसे नगर की शोभा द्वार से है, मुख की शोभा चक्षु से है, वृक्ष की स्थिरता मूल से है, इसी तरह ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य की शोभा सम्यग्दर्शन से है ।

सम्मत्तस्स य लंभो, तेलोक्कस्स य हवेज्ज जो लम्भो ।
सम्मद्दंसण लम्भो, वर खु तेलोक्कलंभादो ।।७४६।।
लद्धूण य तेलोक्कं, परिवडदि परिमिदेण कालेण ।
लद्धूण य सम्मत्तं, अक्खयसोक्खं लहदि मोक्खं ।।७४७।।

भावार्थ—एक तरफ सम्यग्दर्शन का लाभ होता हो दूसरी तरफ तीन लोक का राज्य मिलता है तो भी तीन लोक के लाभ से सम्यग्दर्शन का लाभ श्रेष्ठ है । तीन लोक का राज्य पाकर के भी नियत काल पीछे

वहा से पतन होगा। और जो सम्यग्दर्शन का लाभ हो जायगा तो अविनाशी मोक्ष के सुख को पायेगा।

विधिणा कदस्स सस्सस्स, जहा णिप्पादयं हवदि वासं।
तह अरहादियभत्ती, णाणचरणदंसणतवाणं ॥७५५॥

भावार्थ—विधि सहित बोये हुए अन्न का उत्पाद जैसे वर्षा से होता है वैसे ही अरहन्त आदि की भक्ति से ज्ञान चारित्र सम्यक्त व तप की उत्पत्ति होती है।

जो अभिलासो विसएसु, तेण ण य पावए सुहं पुरिसो।
पावदि य कम्मबंधं, पुरिसो विसयाभिलासेण ॥१८२७॥

भावार्थ—जो पुरुष पांच इन्द्रियो के विषयो मे अभिलाषा करता है वह आत्मसुख को नही पा सकता है। विषयो की अभिलाषा से यह पुरुष कर्म का बन्ध करता है।

कोहि डहिज्ज जह चंदणं, णरो दारुगं च वहुमोल्लं।
णासेइ मणुस्सभवं, पुरिसो तह विसयलोभेण ॥१८२८॥

भावार्थ—जैसे कोई मानव वहुमूल्य चन्दन के वृक्ष को लकडी या ईंधन के लिये जला डाले तैसे ही अज्ञानी पुरुष इन्द्रिय विषयो के लोभ से इस मनुष्य भव को नाश कर देता है।

छंडिय रयणाणि जहा, रयणद्दीवा हरिज्ज कट्ठाणि।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८२९॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष रत्नद्वीप मे रत्नो को छोड कर काष्ठ को ग्रहण करे वैसे ही इस मनुष्य भव मे अज्ञानी धर्म को छोड कर भोगो की अभिलाषा करता है।

गंतूण णदणवणं, अमियं छडिय विसं जहा पियइ।
माणुसभवे वि छंडिय, धम्मं भोगेऽभिलसदि तहा ॥१८३०॥

भावार्थ—जैसे कोई पुरुष नन्दनवन मे जाकर अमृत को छोड विष पीवे वैसे ही अज्ञानी इस मनुष्य भव मे धर्म को छोड कर भोगो की अभि लाषा करता है।

गुत्ति परिखाहिं गुत्त, सजमणयरं ण कम्मरिउसेणा।
बंधेइ सत्तुसेणा, पुरं व परिखादिहि सुगुत्त।।१८३८।।

भावार्थ—जैसे खाई कोट से रक्षित नगर को शत्रु की सेना भग नही कर सकती है वैसे तीन गुप्ति रूपी खाई कोट से रक्षित सयम नगर को कर्म रूपी वैरी की सेना भग नही कर सकती है।

अमुयंतो सम्मत्त, परीसहचमुक्करे उदीरंता।
णेव सदी मोत्तव्वा, एत्थ हु आराधणा भणिया।।१८४२।।

भावार्थ—परीषहो की सेना का समूह आने पर भी ज्ञानी को सम्यग्दर्शन को न छोडते हुए भेदविज्ञान की स्मृति को नही छोडना चाहिए।

डहिऊण जहा अग्गी, विद्धसदि सुवहुग पि तणरासीं।
विद्धंसेदि तवग्गी, तह कम्मतणं सुवहुग पि।।१८४९।।

भावार्थ—जैसे अग्नि आप ही जल कर वहुत तृण के ढेर को जला देती हैं वैसे ही तप रूपी अग्नि वहुत काल के सचित कर्मो को जला देती हैं।

धादुगदं जह कणयं, सुज्झइ धम्मंतमग्गिणा महदा।
सुज्झइ तवग्गिधम्मो, तह जीवो कम्मधादुगदो।।१८५१।।

भावार्थ—जैसे पाषाण मे मिला हुआ सोना महान् अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है वैसे कर्म धातु से मिला हुआ जीव महान् तप रूपी अग्नि से धमा हुआ शुद्ध हो जाता है।

एवं पिणद्धसंवरवम्मो सम्मत्तवाहणारूढो।
सुदणाणमहाधणुगो, झाणादितवोमयसरेहिं।।१८५३।।
संजमरणभूमीए कम्मारिचमू पराजिणिय सव्वं।
पावदि सजयजोहो अणोवमं मोक्खरज्जसिरिं।।१८५४।।

भावार्थ—इस तरह जो कोई सयमी योद्धा सवर रूपी वख्तर पहन कर, सम्यग्दर्शन रूप वाहन पर चढा हुआ श्रुतज्ञान रूपी महा धनुष द्वारा ध्यानमयी तप के वाणो को सयम रूपी रणभूमि मे कर्म रूप वैरी पर चला कर सर्व कर्म की सेना को जीत लेता है वही अनुपम मोक्ष की राज्य लक्ष्मी को पाता है।

णिज्जियदोसं देवं, सव्वजीवाण दयावरं धम्मं ।
वज्जियगंथं च गुरुं, जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी ।।१।।

भावार्थ—वही सम्यग्दृष्टि कहा जाता है जो दोष रहित देव को, सर्व जीवो पर दया करने वाले धर्म को व परिग्रह रहित गुरु को ही मानता है।

(१३) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते हैं—

सर्वः प्रेप्सति सत्सुखाप्तिमचिरात् सा सर्वकर्मक्षयात् ।
सद्वृत्तात्स च तच्च बोधनियतं सोप्यागमात् स श्रुतेः ।।
सा चाप्तात्स च सर्वदोषरहितो रागादयस्तेप्यत-
स्तं युक्त्या सुविचार्य सर्वसुखदं सन्तः श्रयन्तु श्रियैः।।८।।

भावार्थ—सर्व जीव सच्चे सुख को शीघ्र चाहते हैं। सो सुख सर्व कर्मों के क्षय से होगा। कर्मों का क्षय सम्यक्चारित्र से होगा। चारित्र सम्यग्ज्ञान पर निर्भर है। सो ज्ञान आगम से होता है। आगम श्री जिन-वाणी के उपदेश के आधार पर है। यह उपदेश अरहन्त आप्त से मिलता है। आप्त वही यथार्थ है जो रागादि दोषो से रहित हो। इसलिए सत्पुरुष भले प्रकार विचार करके सुखरूपी लक्ष्मी के लिए सच्चे देव की शरण ग्रहण करो।

शमबोधवृत्ततपसां पाषाणस्येव गौरवं पुंसः ।
पूज्यं महामणेरिव तदेव सम्यक्त्वसंयुक्तम् ।।१५।।

भावार्थ—शान्त भाव, ज्ञान, चारित्र, तप इन सबका मूल्य सम्यक्त के विना कंकड पत्थर के समान हैं। परन्तु यदि इनके साथ सम्यग्दशन हो तो इनका मूल्य महामणि के समान अपार है।

अस्त्यात्माऽस्तमितादिबन्धनगतस्तद्बन्धनान्यास्रवै-
स्ते क्रोधादिकृताः प्रमादजनिताः क्रोधादयस्तेऽव्रतात् ।
मिथ्यात्वोपचितात् स एव समल· कालादिलब्धौ क्वचित्-
सम्यक्त्वव्रतदक्षताऽकलुषताऽयोगैः क्रमान्मुच्यते ।।२४१।।

भावार्थ—आत्मा है सो अनादि काल से कर्मो से बधा है। कर्मो का

बन्ध आस्रवो से होता है, आस्रव क्रोधादि से होता है, क्रोधादि प्रमाद से होते हैं, प्रमाद हिंसा आदि पाच अव्रतो से होता है, ये अव्रत मिथ्या-दर्शन से पुष्ट होते है, इस ही मिथ्यादर्शन से यह आत्मा मलीन हैं, काल आदि की लब्धि पाकर जो सम्यग्दर्शन, चारित्र, विवेक, कषाय रहितपना पावे तो यह अनुक्रम से मुक्त हो जावे।

(१४) श्री देवसेनाचार्य तत्वसार मे कहते हैं—

मणवयणकायरोहे रुज्झइ कम्माण आसवो णूणं।
चिरबद्धं गलइ सइं फलरहियं जाइ जोईण ॥३२॥

भावार्थ—मन, वचन, काय को रोक लेने पर नियम से कर्मो का आस्रव रुक जाता है तथा चिरकाल के बधे हुए कर्म फलरहित होकर योगी की आत्मा से स्वय जल जाते है।

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवंपि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ ॥३३॥

भावार्थ—घोर तप करते हुए भी जब तक पर द्रव्यो मे मन लवलीन है तब तक भव्य जीव मोक्ष नही प्राप्त कर सकता है किन्तु शुद्ध भाव मे लीन होने से शीघ्र ही मुक्त हो जाता है।

परदव्व देहाई कुणइ ममत्ति च जाम तस्सुवरि।
परसमयरदो तावं वज्झदि कम्मेहि विविहेहिं ॥३४॥

भावार्थ—शरीर आदि पर द्रव्य हैं। जबतक यह जीव उनके ऊपर ममता करता है तब तक वह पर पदार्थ मे रत बहिरात्मा है और तबतक नाना प्रकार कर्मो से बधता है।

रूसइ तूसइ णिच्चं इन्दियविसयेहिं सगओ मूढो।
सकसाओ अण्णाणी णाणी एदो दु विवरीदो ॥३५॥

भावार्थ—कषायवान अज्ञानी मूढ नित्य ही इन्द्रियो के विषयो को मनोज्ञ पाकर सन्तुष्ट होता हैं, अमनोज्ञ पाकर क्रोधित होता है परन्तु ज्ञानी इससे विपरीत रहता है।

ण मुएइ सगं भावं ण परं परिणमइ मुणइ अप्पाणं।
जो जीवो संवरणं णिज्जरणं सो फुडं भणिओ ॥५५॥

भावार्थ—जो जीव अपने शुद्ध आत्मीक भाव को छोडता नही है तथा पर रागादि भावो मे परिणमता नही है और अपने आत्मा का अनुभव करता है वही प्रगट रूप से सवर रूप और निर्जरारूप कहा गया है।

ण मरइ तावेत्थ मणो जाम ण मोहो खयंगओ सव्वो ।
खीयति खीणमोहे सेसाणि य घाइकम्माणि ।।६४।।

भावार्थ---जब तक सर्व मोह का क्षय नही होता है तब तक मन का मरण नही होता है। मोह के क्षय होने पर शेष तीन घातीय कर्म भी क्षय हो जाते हैं।

णिहए राए सेण्णं णासइ सयमेव गलियमाहप्पं ।
तह णिहयमोहराए गलति णिस्सेसघाईणि ।।६५।।

भावार्थ---जैसे राजा के मरने पर राजा की सेना प्रभारहित होकर स्वय भाग जाती है वैसे ही मोह राजा के नाश होने पर सर्व घातीय कर्म जल जाते हैं।

धम्माभावे परदो गमण णत्थिति तस्स सिद्धस्स ।
अत्थइ अणंतकालम् लोयग्गणिवासिउं होउ ।।७०।।

भावार्थ—अलोकाकाश मे धर्म द्रव्य नही है इससे श्री सिद्ध भगवान का गमन लोक के बाहर नही होता है वे लोक के अग्र भाग मे अनन्त काल तक निवास करते रहते हैं।

सते वि धम्मदव्वे अहो ण गच्छइ तह य तिरियं वा ।
उड्ढं गमणसहाओ मुक्को जीवो हवे जम्हा ।।७१।।

भावार्थ—लोक मे सर्वत्र धर्म द्रव्य होते हुए भी मुक्त जीव न नीचे जाता है न आठ दिशाओ मे जाता है किन्तु ऊपर को ही जाता है क्योकि जीव का ऊर्ध्व गमन स्वभाव है।

(१५) श्री योगेन्द्रदेव योगसार मे कहते है---

मग्गणगुणठाणइ कहिया ववहारेण वि दिट्ठि ।
णिच्छइणइ अप्पा मुणहु जिम पावहु परमेट्ठि ।।१७।।

भावार्थ—चौदह मार्गणा, व चौदह गुणस्थान व्यवहार नय मे जीव

के कहे गए है। निश्चय नय से आत्मा को इनसे रहित ध्याओ जिससे परमेष्ठी पद की प्राप्ति हो सके।

णिच्छइ लोयपमाण मुणि ववहारइ सुसरीरु।
एहउ अप्पसहाउ मुणि लहु पावहु भवतीरु ॥२४॥

भावार्थ—निश्चय नय से यह आत्मा लोक प्रमाण आकारधारी है परन्तु व्यवहारनय से अपने शरीर के प्रमाण है, ऐसे आत्मा के स्वभाव का मनन करो जिससे शीघ्र ही ससार सागर के तट पर पहुँच जाओ।

चउरासीलक्खह फिरिउ काल अणाइ अणंतु।
पर सम्मत्त ण लद्धु जिउ एहउ जाणि णिभंतु ॥२५॥

भावार्थ—यह जीव अनादि काल से अनन्त काल हो गया चौरासी लाख योनियो मे फिरता चला आ रहा है क्योकि इसको सम्यग्दर्शन का लाभ नही मिला, यही बात बिना भ्रान्ति के जानो। सम्यक्त रत्न हाथ लग जाता तो भव मे न भ्रमता।

पुण्णि पावइ सग्ग जिय पावइ णरयणिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥३२॥

भावार्थ—पुण्य बन्ध से जीव स्वर्ग मे जाता हैं,पाप बन्ध से नरक मे वास पाता है। जो कोई पुण्य पाप दोनो से ममता छोडकर अपने आत्मा को ध्याता हैं वही मोक्ष मे बास पाता हैं।

छहदव्वह जे जिणकहिआ णव पयत्थ जे तत्त।
ववहारे जिणउत्तिया ते जाणियहि पयत्त ॥३५॥

भावार्थ—श्री जिनेन्द्र ने जो छ द्रव्य तथा नौ पदार्थ कहे हैं उनका श्रद्धान व्यवहार नय से सम्यक्त भगवान ने कहा हैं उनको प्रयत्न पूर्वक जानना योग्य है।

तित्थहु देउलि देउ जिणु सव्व वि कोई भणेइ।
देहादेउलि जो मुणइ सो वुह को वि हवेइ ॥४४॥

भावार्थ—तीर्थस्थान मे व देवालय मे श्री जिनेन्द्र देव हैं ऐसा सब कोई कहता हैं। परन्तु जो अपने शरीर रूपी मन्दिर मे आत्मा देव को पहचानता है वह कोई एक पडित हैं।

आउ गलइ ण वि मणु गलइ ण वि आसाहु गलेइ ।
मोह फुरइ ण वि अप्पहिउ इम संसार भमेइ ॥४८॥

भावार्थ—आयु तो गलती जाती है। परन्तु न तो मन गलता है न आशातृष्णा गलती है। मोह की गहलता झलक रही है। इससे यह प्राणी आत्महित नही करता हुआ इस ससार मे भ्रमण किया करता है।

जेहउ मणु विसयह रमइ तिम जे अप्प-मुणेइ ।
जोइउ भणइ रे जोइहु लहु णिव्वाण लहेइ ॥४९॥

भावार्थ—जैसा यह मन इन्द्रियो के विषयो मे रमता है, वैसा यदि अपने आत्मा के अनुभव मे रम जावे तो योगेन्द्र देव कहते हैं कि हे योगी ! यह जीव शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेवे।

जो पाउ वि सो पाउ मुणि सव्वु वि को वि मुणेइ ।
जो पुण्ण वि पाउ विभणइ सो बुह को वि हवेइ ॥७०॥

भावार्थ—जो पाप है सो पाप है ऐसा तो सब कोई मानते है। परन्तु जो कोई पुण्य को भी पाप कहता है, आत्मा का बाधक कहता है ऐसा बुद्धिमान कोई ही होता है।

जइ बधउ मुक्कउ मुणहि तो बधियहि णिभंतु ।
सहजसरूवि जइ रमइ तो पावइ सिव संतु ॥८६॥

भावार्थ—जो कोई ऐसा विकल्प करता है कि मैं बन्धा हू मुझे मुक्त होना है वह अवश्य बन्ध को प्राप्त होता है। जो कोई सहज आत्म स्वरूप मे रमण करता है वही परम शान्त मोक्ष को पाता है।

सम्माइट्ठीजीवडह दुग्गइगमणु ण होइ ।
जइ जाइ वि तो दोस ण वि पुव्वक्किउ खवणेइ ॥८७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि जीव का दुर्गति मे गमन नही होता है यदि पूर्वबद्ध आयु कर्म के योग से दुर्गति जावे भी तो दोष नही है, वह पूर्वकृत कर्मो का नाश ही करता है।

अप्पसरूवह जो रमइ छंडवि सहुववहारु ।
सो सम्माइट्ठी हवइ लहु पावइ भवपारु ॥८८॥

भावार्थ—जो सर्व व्यवहार को छोड़कर एक आत्मा के स्वरूप मे रमण करता है वही सम्यग्दृष्टी है, वह शीघ्र भवसागर से पार हो जाता है।

जो सम्मत्तपहाणु वुहु सो तयलोय पहाणु ।
केवलणाण वि सह लहई सासयंसुक्खणिहाणु ॥९०॥

भावार्थ—जो पण्डित सम्यग्दर्शन मे प्रधान है वह तीन लोक मे प्रधान है। वह शीघ्र ही अविनाशी सुख के निधान केवल ज्ञान को झलका लेता है।

जे सिद्धा जे सिज्झसिहि जे सिझहि जिण उत्तु ।
अप्पादसण ते वि फुडु एहउ जाणि णिभतु ॥१०८॥

भावार्थ—जो सिद्ध हुए है व जो सिद्ध होंगे व जो सिद्ध हो रहे हैं, वे सब आत्मा के दर्शन से ही—निश्चय सम्यक्दर्शन से ही होते हैं ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। इसी बात को बिना किसी भ्रान्ति के जान।

(१६) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन मे कहते है —

तापत्रयोपतप्तेभ्यो भव्येभ्यः शिवशर्मणे ।
तत्त्वं हेयमुपादेयमिति द्वेधाभ्यधादसौ ॥३॥

भावार्थ—जन्म जरा मरण के ताप से दुःखी भव्य जीवो को मोक्ष का सुख प्राप्त हो जावे इसलिये सर्वज्ञ ने हेय और उपादेय ऐसे दो तत्व बताए हैं।

वन्धो निबन्धनम् चास्य हेयमित्युपदर्शितम् ।
हेयं स्याद्दुःखसुखयोर्यस्माद्बीजमिदं द्वयं ॥४॥

भावार्थ—कर्म बन्ध और उसका कारण हेय तत्व या त्यागने योग्य तत्व कहा गया है क्योकि ये ही दोनो त्यागने योग्य सासारिक दुःख तथा सुख के बीज हैं।

मोक्षस्तत्कारणं चैतदुपादेयमुदाहृतं ।
उपादेयं सुखं यस्मादस्मादाविर्भविष्यति ॥५॥

भावार्थ—मोक्ष और उसका साधन उपादेय तत्व या ग्रहण करने

योग्य तत्व कहा गया है क्योकि इसी ही से उपादेय मोक्ष सुख का प्रकाश होगा ।

तत्र बन्धः सहेतुभ्यो यः संश्लेषः परस्परं ।
जीवकर्मप्रदेशाना स प्रसिद्धश्चतुर्विधः ॥६॥

भावार्थ—राग द्वेषादि कारणो से तो जीव का और कर्म वर्गणाओ का परस्पर सम्बन्ध होना सो बन्ध प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग से चार प्रकार का प्रसिद्ध हैं ।

स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासतः ।
बन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तरः ॥८॥

भावार्थ—बन्ध के हेतु सक्षेप से मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान व मिथ्या चारित्र है । इससे अधिक जो कुछ कहना है सो इन ही का विस्तार है ।

स्यात्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रितयात्मकः ।
मुक्तिहेतुर्जिनोपज्ञं निर्जरासंवरक्रियाः ॥२४॥

भावार्थ—मोक्ष का साधन जिनेन्द्र भगवान ने सम्यग्दर्शन,सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता को कहा है। इसीसे नवीन कर्मो का सवर होता है व पुरातन कर्मो की निर्जरा होता है ।

जीवादयो नवाप्यर्था ते यथा जिनभाषिताः ।
ते तथैवेति या श्रद्धा सा सम्यग्दर्शनम् स्मृतं ॥२५॥

भावार्थ—जीव, अजीव, आस्रव, वन्ध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा, मोक्ष इन नव पदार्थो का जैसा स्वरूप श्री जिनेन्द्र ने कहा है वे उसी ही तरह है। ऐसी श्रद्धा उसको सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

पुरुषः पुद्गलः कालो धर्माधर्मौ तथांवरं ।
षड्विध द्रव्यमाम्नात तत्र ध्येयतम. पुमान् ॥११७॥

भावार्थ—जीव, पुद्गल, काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश छ प्रकार द्रव्य कहा गया हैं । उनमे ध्यान करने योग्य एक शुद्ध आत्मा ही है ।

कर्मबन्धनविध्वंसादूर्ध्वं व्रज्यास्वभावतः ।
क्षणेनैकेन मुक्तात्मा जगच्चूडाग्रमृच्छति ॥२३१॥

भावार्थ—कर्मों के बन्ध क्षय हो जाने पर मुक्त आत्मा एक समय मे ही स्वभाव से ऊपर को जाता है और लोक शिखर पर विराजमान हो जाता है।

पुंसः संहारविस्तारौ संसारे कर्मनिर्मितौ ।
मुक्तौ तु तस्य तौ नस्तः क्षयात्तद्धेतुकर्मणां ॥२३२॥

भावार्थ—ससार अवस्था मे कर्मों के उदय के निमित्त से जीव के आकार मे सकोच या विस्तार होता था, मुक्त होने पर सकोच विस्तार के कारण कर्मों का क्षय हो जाने पर आत्मा के प्रदेशो का सकोच विस्तार नही होता है। जैसा अन्तिम शरीर से आत्मा होता है वैसा आकार सिद्ध भगवान का स्थिर रहता है।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः ।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ—जब सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है तब आत्मा अपने स्वरूप मे ही ठहरता है जैसे रत्न के भीतर से ससर्ग प्राप्त मल उसके हेतुओ से निकल जाने पर रत्न अपने स्वभाव मे चमकता है।

(१७) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कहते हैं —

परिणममाणो नित्यं ज्ञानविवर्त्तैरनादिसन्तत्या ।
परिणामानां स्वेषां स भवति कर्त्ता च भोक्ता च ॥१०॥

भावार्थ—यह जीव अनादि काल से ज्ञानावरणादि कर्मों से मलीन है, उन कर्मो के द्वारा जिन विभावों मे यह परिणमन करता है उनका यह जीव अपने को कर्ता तथा भोक्ता मान लेता है।

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये ।
स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥१२॥

भावार्थ—जीव के राग द्वेषादि विभावो के निमित्त होते हुए अन्य कर्म वर्गणा योग्य पुद्गल स्वय ही ज्ञानावरणादि कर्म रूप परिणमन कर जाते है।

परिणममाणस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि ॥१३॥

भावार्थ---यह जीव आप ही अपने ही चैतन्यमयी रागादि भावों से जब परिणमन करता है तब वहाँ पुद्गल कर्म का उदय निमित्त मात्र होता है। रागादि नैमित्तिक भाव हैं, जीव के स्वभाव नही है।

एवमयं कर्मकृतैर्भावैरसमाहितोऽपि युक्त इव।
प्रतिभाति बालिशानां प्रतिभासः स खलु भवबीजं ॥१४॥

भावार्थ---इस तरह जो कर्मो के निमित्त से रागादि भाव होते हैं उनका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नही है। निश्चय से आत्मा उनसे भिन्न है तो भी अज्ञानी जीवो को यही प्रतीति मे आता है कि ये रागादि भाव जीव के ही है, यही प्रतिभास अज्ञान है और ससार भ्रमण का कारण है।

जीवाजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेशविविक्तमात्मरूपं तत् ॥२२॥

भावार्थ---जीव और अजीव आदि तत्वो का श्रद्धान विपरीत अभिप्राय रहित यथार्थ रूप से रखना चाहिये यही व्यवहार सम्यक्त है, निश्चय से यह सम्यक्त आत्मा का स्वभाव है।

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः।
सविपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥२११॥

भावार्थ---जब साधक के रत्नत्रय की भावना पूर्ण नही होती है, जब जो कर्मों का बन्ध होता है उसमे रत्नत्रय का दोष नहीं है। रत्नत्रय तो मोक्ष का ही साधक है, वह बन्धकारक नही है। उस समय जो रत्नत्रय भाव का विरोधी रागाश होता है वही बन्ध का कारण है।

येनांशेन सुदृष्टिस्तेनांशेनास्य बन्धनं नास्ति।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धन भवति ॥२१२॥

भावार्थ---जितने अश सम्यग्दर्शन होता है उतने अश से बन्ध नही होता है। उसी के साथ जितना अश राग का होता है उसी राग के अश से बन्ध होता है।

योगात्प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च ॥२१५॥

भावार्थ---योगो से प्रदेश बन्ध और प्रकृति बन्ध होता है, कषायो से स्थिति बन्ध व अनुभाग बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र न योग रूप है, न कषाय रूप हैं। इससे रत्नत्रय बन्ध के कारण नही है।

(१८) श्री अमृतचन्द्राचार्य नाटक समयसार कलश मे कहते है ---

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ।।
सम्यग्दर्शनमेतदेवनियमादात्मा च तावानयम् ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोऽस्तुनः ।।६-१।।

भावार्थ---शुद्ध निश्चय नय की अपेक्षा से अपने इस आत्मा को जो अपने एक द्रव्य स्वभाव मे निश्चल है, अपने स्वरूप मे व्याप्त है व पूर्ण ज्ञान समूह है। सर्व अन्य द्रव्यो से भिन्न देखना या अनुभव करना सम्यग्दर्शन है। नियम से यही निश्चय सम्यग्दर्शन आत्माका गुण है, आत्मा मे व्यापक है, आत्मा जितना है उतना ही उसका गुण सम्यग्दर्शन है। इसलिये नव पदार्थो की परिपाटी के विचार को छोडकर हमे एक अपना आत्मा ही ग्रहण योग्य है।

व्याप्यव्यापकता तदात्मनि भवेन्नैवातदात्मन्यपि ।
व्याप्यव्यापकभावसम्भवमृते का कर्तृकर्मस्थितिः ।।
इत्युद्दामविवेकघस्मरमहो भारेण भिन्दंस्तमो ।
ज्ञानीभूय तदा स एष लसितः कर्तृत्वशून्यः पुमान् ।।४-३।।

भावार्थ---व्याप्य व्यापकपना तत्स्वरूप मे ही होता है अतत् स्वरूप मे नही होता है। अर्थात् गुण गुणी मे ही होता है, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ व्यापकपना नही होता है। इसलिये जीव का पुद्गल के साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नही है। ऐसे दृढ भेद विज्ञान रूपी महान तेज के भार से जब अन्तरग का अज्ञान मिट जाता है अर्थात् अज्ञान से जो आत्मा को पुद्गल का व रागादि का कर्ता मानता था वह अज्ञान चला जाता है तब यह सम्यग्दृष्टी जीव ज्ञानी होता हुआ पर भाव के कर्तापने से रहित ही शोभता है। ज्ञानी को तब दृढ निश्चय हो जाता है कि आत्मा मूल स्वभाव से पुद्गलका व रागादिका कर्ता नही है। रागादि भाव नैमित्तिक भाव हैं—आत्मा स्वभाव से कर्ता नही है।

आत्मभावान्करोत्यात्मा परभावान्सदा परः ।
आत्मैव ह्यात्मनो भावाः परस्य पर एव ते ॥११—३॥

भावार्थ—आत्मा अपने भावो को करता है, पर पदार्थ पर भावो को करता है, सदा का यह नियम है। इसलिए आत्मा के जितने भाव है वह आत्मारूप ही हैं। पर के जितने भाव हे वे पररूप ही है।

आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञान ज्ञानादन्यत्करोति किं ।
परभावस्य कर्त्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम् ॥१७— ३।

भावार्थ—आत्मा ज्ञानमय है, स्वय ज्ञान ही है तव वह ज्ञान के सिवाय और क्या करेगा। यह आत्मा पर भावो का कर्ता है, यह व्यवहारी जीवो का कहना मात्र है। व्यवहार मे ऐसा कहा जाता हैं कि आत्मा ने अशुभ भाव किए व शुभ भाव किए। निश्चय से ये सव भाव मोहकर्म के निमित्त से हुए हैं। आत्मा तो मात्र अपने शुद्ध भाव का ही कर्ता है।

ज्ञानिनो ज्ञाननिर्वृत्ताः सर्वे भावा भवन्ति हि।
सर्वेऽप्यज्ञाननिर्वृत्ता भवन्त्यज्ञानिनस्तु ते ॥२२—३॥

भावार्थ---ज्ञानी के सव ही भाव ज्ञान द्वारा किए हुए ज्ञानमयी ही होते हैं। अज्ञानी के सर्व ही भाव अज्ञान द्वारा किएहुए अज्ञानरूप ही होते हैं। सम्यग्दृष्टी ज्ञानी के विषयभोग सम्बन्धी भाव भी ज्ञान की भूमिका मे ही है जवकि अज्ञानी मिथ्यादृष्टी के व्रत व तप के भाव भी अज्ञान की भूमिका मे अज्ञानमयी है।

कर्म सर्वमपि सर्वविदो यद्बन्धसाधनमुशन्त्यविशेषात् ।
तेन सर्वमपि तत्प्रतिषिद्धं ज्ञानमेव विहितं शिवहेतुः॥४-४॥

भावार्थ---सर्वज्ञो ने कहा है कि सर्व ही शुभ व अशुभ क्रियाकाण्ड सामान्य से बन्ध का ही कारण है इसलिए सर्व ही त्यागने योग्य है। एक शुद्ध वीतराग आत्मज्ञान ही मोक्ष का कारण कहा गया है।

निषिद्धे सर्वस्मिन् सुकृतदुरिते कर्मणि किल ।
प्रवृत्ते नैःकर्म्ये न खलु मुनयः सन्त्यशरणाः ॥
तदा ज्ञाने ज्ञानं प्रतिचरितमेषां हि शरणं ।
स्वयं विन्दन्त्येते परमममृतं तत्र निरताः ॥५—४॥

भावार्थ---मोक्ष मार्ग मे शुभ कर्म व अशुभ कर्म दोनों का निषेध होने पर भी मुनि इन कर्मों से रहित अवस्था मे प्रवृत्ति करते हुए अशरण नही होते हैं। आत्मज्ञान का ज्ञान मे वर्तना यही उनके लिए शरण है। वे मुनि आत्मानुभव मे लीन रहते हुए परम आनन्दामृत का स्वाद निरन्तर लेते हैं---निष्कर्म आत्मध्यान ही मोक्ष मार्ग है।

वृत्तं ज्ञानस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं सदा।
एकद्रव्यस्वभावत्वान्मोक्षहेतुस्तदेव तत् ॥७—४॥

भावार्थ—आत्मज्ञान के स्वभाव से वर्तना सदा ही ज्ञान मे परिणमन करना है क्योकि वहा एक आत्मद्रव्य का ही स्वभाव है इसलिए यही मोक्ष का साधन है। जब आत्मा आत्मा मे ही वर्तता है—आत्मस्थ हो जाता है तव ही मोक्ष का मार्ग प्रकट होता है।

वृत्तं कर्मस्वभावेन ज्ञानस्य भवनं न हि।
द्रव्यान्तरस्वभावत्वान्मोक्षहेतुर्न कर्म तत् ॥८—४॥

भावार्थ– जब यह जीव पुण्य व पापकर्म मे वर्तता हैं तब वहा आत्मज्ञान मे वर्तन नही हैं। परद्रव्य के स्वभाव मे रमण करने के कारण कर्म मे वर्तना मोक्षमार्ग नही है।

संपद्यते सवर एष साक्षाच्छुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलंभात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्मात्तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यं।५-६॥

भावार्थ—शुद्धात्मा का अनुभव होने से साक्षात् कर्मो का आना रुक जाता है, सवर हो जाता है। यह शुद्धात्मानुभव भेदविज्ञान से होता है इसलिए भेदविज्ञान की भावना उत्तम प्रकार से करनो चाहिए। आत्मा को सर्व रागादि से व कर्मादि से भिन्न मनन करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टेर्भवति नियतं ज्ञानवैराग्यशक्तिः
स्वं वस्तुत्वं कलयितुमयं स्वान्यरूपाप्तिमुक्त्या।
यस्माज् ज्ञात्वा व्यक्तिकरमिदं तत्वतः स्वं परं च
स्वस्मिन्नास्ते विरमति परात्सर्वतो रागयोगात् ॥४—७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी के भीतर नियम से आत्मज्ञान की तथा वैराग्य की शक्ति पैदा हो जाती है वह अपने स्वरूप की प्राप्ति व पर स्वरूप से मुक्ति के लिएअपने वस्तु-स्वभाव की अनुभूति का प्रेमी हो जाता है क्योकि उसने आत्मा को व अनात्मा को तत्वदृष्टि से अलग-अलग जान लिए हैं। इसलिए वह सर्वं ही राग के कारणो से विरक्त रहता हुआ अपने आत्मा के स्वभाव मे विश्राम करता है।

सम्यग्दृष्टय एव साहसमिदं कर्तुं क्षमन्ते परं
यद्वज्रेऽपि पतत्यमी भयचलत्त्रैलोक्यमुक्ताध्वनि।
सर्वामेव निसर्गनिर्भयतया शङ्कां विहाय स्वयं
जानन्तः स्वमबध्यबोधवपुष बोधाच्च्यवन्ते न हि।।२२-७।।

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी जीव बडे साहसी होते हैं। ऐसा वज्रपात पडे कि जिसके होते हुए भयभीत हो तीन लोक के प्राणी मार्ग से भाग जावें तो भी वे सम्यक्ती महात्मा स्वभाव से निर्भय रहते हुए सर्व शकाओ को छोडकर तथा अपने आपको अविनाशी ज्ञान शरीरी जानते हुए आत्मीक अनुभव से व आत्मज्ञान से कभी पतित नही होते है।

प्राणोच्छेदमुदाहरन्ति मरणं प्राणाः किलास्यात्मनो।
ज्ञानं तत्स्वयमेव शाश्वततया नोच्छिद्यते जातुचित्।।
तस्यातो मरणं न किञ्चन भवेत्तद्भीः कुतो ज्ञानिनो।
निःशङ्कः सततं स्वयं स सहजं ज्ञानं सदा विन्दति।।२७-७।।

भावार्थ—प्राणो के वियोग को मरण कहते हैं। निश्चय से इस आत्मा का प्राण ज्ञान है। वह स्वय ही नित्य है। उसका कभी नाश होता ही नही तब उस ज्ञान प्राण का मरण कभी नही हो सकता इसलिए ज्ञानी को मरण का भय नही होता है। वह नि शक रहता हुआ सदा ही स्वय अपने सहज ज्ञान का स्वाद लेता है।

सर्वं सदैव नियतं भवति स्वकीय-
कर्मोदयान्मरणजीवितदुःखसौख्यम्।
अज्ञानमेतदिह यत्तु परः परस्य
कुर्यात्पुमान् मरणजीवितदुःखसौख्यम् ।।६—८।।

भावार्थ— सर्व को नियम से सदा ही अपने ही पाप पुण्य कर्मों के उदय से दुःख तथा सुख होता है। दूसरे ने दूसरे को मार डाला, जिलाया या दुःखी तथा सुखी किया ऐसा मानना अज्ञान है। जब तक अपने आयु कर्म का छेद नही होता, मरण नही हो सकता। अपने ही साता असाता के उदय से सुख दुःख होता है।

विश्वाद्विभक्तोऽपि हि यत्प्रभावादात्मा-
नमात्मा विदधाति विश्वम्।
मोहैककन्दोऽध्यवसाय एष,
नास्तीह येषां यतयस्त एव॥१०—८॥

भावार्थ—यह आत्मा अन्य सर्व जगत के पदार्थों से भिन्न है तौ भी जिस अज्ञान के प्रभाव से यह अपने को जगत के पदार्थों के साथ अपनापना मानता है उस अज्ञान का मूल कारण मोह का उदय है। जिन महात्माओ के भीतर यह पर को अपना मानने का खोटा अभिप्राय नही होता है वे ही सच्चे यति है।

न जातु रागादिनिमित्तभाव-
मात्माऽऽत्मनो याति यथार्ककान्तः।
तस्मिन्निमित्तं परसंग एव वस्तु-
स्वभावोऽयमुदेति तावत्॥१३—८॥

भावार्थ—यह आत्मा अपने से कभी रागादि भावों मे परिणमन नही कर सकता। जैसे स्फटिक मणि अपने से ही लाल, पीली, काली नही होती। जैसे स्फटिक को लाल, पीली कालो कान्तिवाली दीखने मे लाल, पीले, काले डाक की सगति का दोष है वैसे आत्मा मे रागद्वेषादि विभावो मे परिणमने मे मोहनीय कर्म के उदयका दोष है। अकेले आत्मा मे कभी रागादि नही होते है।

अनवरतमनन्तैर्बध्यते सापराधः
स्पृशति निरपराधो बन्धन नैव जातु।
नियतमयमशुद्धं स्वं भजन्सापराधो
भवति निरपराधः साधुशुद्धात्मसेवी॥८-९॥

भावार्थ—जो परभाव या पर पदार्थ को अपनाता है वह अपराधी आत्म-भावना से पतित होता हुआ अनन्त कर्मवर्गणाओ से बन्धता है। परन्तु जो अपराधी नही हैं, स्वात्मा मे ही आत्मापने का अनुभव करत है, वह कभी भी बन्ध को नही प्राप्त होता है। अपराधी सदा अपने को अशुद्ध ही भजता हे जब कि निरपराधी भले प्रकार अपने शुद्ध स्वरूप की आराधना करता हुआ अबन्ध रहता है।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभाव।
जानन्परं करणवेदनयोरभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव ॥६-१०॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी ज्ञानी न तो रागादि कर्मो को करता है न उनको भोक्ता है—वह मात्र उनके स्वभाव को जानता ही है। वह कर्ता व भोक्ता अपने स्वभावरूप शुद्ध भावो का हो है। परभाव तो कर्मजन्य है, उनका कर्ता भोक्ता नही होता है। कर्ता भोक्तापना न करता हुआ व मात्र जानता हुआ ज्ञानी अपने शुद्ध स्वभाव मे निश्चल रहता हुआ अपने को पर से मुक्तरूप ही अनुभव करता है।

विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव।
सचेतयेऽहमचलं चैतन्यात्मानमात्मान ॥३७-१०॥

भावार्थ—कर्म रूपी विप वृक्षो के फल मेरे भोगे बिना ही गल जाओ। मैं तो अपने ही निश्चल एक चैतन्य भाव को ही भोगता हूँ। ज्ञानी ऐसा मनन करता है।

व्यवहारविमूढदृष्टयः परमार्थं कलयन्ति नो जनाः।
तुषबोधविमुग्धबुद्धयः कलयन्तीह तुषं न तन्दुलं॥४८-१०॥

भावार्थ—जो व्यवहार क्रियाकाण्ड मे ही मूढता से मग्न है वे मानव परमार्थ स्वरूप शुद्ध आत्मा का अनुभव नही कर सकते। जिनको चावलो की भूसी मे ही चावलो का ज्ञान है वे तुषो को ही पावेगे। उनके हाथ मे कभी चावल नही आ सकते हैं। व्यवहार धर्म केवल बाहरी सह-

भारी है। आत्मानुभव ही परमार्थ धर्म है। जो परमार्थ धर्म का अनुभव करते हैं वे ही शुद्धात्मा को पाते हैं।

(१६) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना मे कहते हैं—

जीवाजीवपदार्थतत्त्वविदुषो बन्धास्रवो रुन्धतः।
शश्वत्संवरनिर्जरे विदधतो मुक्तिश्रियं कांक्षतः॥
देहादेः परमात्मतत्त्वममलं मे पश्यतस्तत्त्वतो।
धर्मध्यानसमाधिशुद्धमनसः कालः प्रयातु प्रभो॥४॥

भावार्थ—सम्यक्ती ऐसी भावना भाता है कि हे प्रभो! मैं जीव और अजीव पदार्थों के स्वरूप को ठीकर जानता रहू, बन्ध और आस्रवो को रोकता रहू, निरन्तर सवर और निर्जरा को करता रहू, मुक्ति रूपी लक्ष्मीकी आकाक्षा रखता रहू,तथा शरीरादि से निश्चय से मेरा परमात्मा स्वरूप शुद्ध तथा भिन्न है ऐसा अनुभव करता रहू। इस तरह शुद्ध मन से धर्मध्यान और समाधिभाव मे मेरे जीवन का काल व्यतीत होवे।

नरकगतिमशुद्धैः सुन्दरैः स्वर्गवासं।
शिवपदमनवद्यं याति शुद्धैरकर्मा॥
स्फुटमिह परिणामैश्चेतनः पोष्यमाणै-
रिति शिवपदकामैस्ते विधेया विशुद्धाः॥७८॥

भावार्थ—अशुभ भावो से नरक गति होती है, शुभ भावो से स्वर्गवास होता है, कमर्रहित यह जीव शुद्ध भावो से प्रशसनीय शिव पद को प्राप्त करता है यह बात प्रगट है, तब जो मोक्ष पद की काक्षा करते हैं उनको चैतन्य को पोषने वाले परिणामो के द्वारा शुद्ध भावो को ही रखना योग्य है। शुभ व अशुभ भावो से विरक्त होना उचित है।

यो बाह्यार्थं तपसि यतते बाह्यमाप्नोत्यसौ।
यस्त्वात्मार्थं लघु स लभते पूतमात्मानमेव॥
न प्राप्यंते क्वचन कलमाः कोद्रवे रोप्यमाणे-
र्विज्ञायेत्थं कुशलमतयः कुर्वते स्वार्थमेव॥८४॥

भावार्थ—जो कोई बाहरी इन्द्रिय भोगो के लिये तप करता है वह बाहरी ही पदार्थों को पाता है। जो कोई आत्मा के विकास के लिये तप करता है वह शीघ्र ही पवित्र आत्मा को ही पाता है। कोदवो के बोने से कदापि चावल प्राप्त नही हो सकते ऐसा जानकर प्रवीण बुद्धिवालो को आत्मा के हित मे उद्यम करना योग्य है।

भवति भविनः सौख्यं दुःखं पुराकृतकर्मणः।
स्फुरति हृदये रागो द्वेषः कदाचन मे कथं॥
मनसि समतां विज्ञायेत्थं तयोर्विदधाति यः।
क्षपयति सुधीः पूर्वं पापं चिनोति न नूतनं॥१०२॥

भावार्थ—ससारी प्राणियो को पूर्व बाधे हुए कर्मों के उदय के अनुकूल सुख तथा दुख होता है। मेरे मन मे उनमे राग व द्वेष कदापि भी नही प्रगट होता है। इस तरह जो कोई जानकर उन सुख व दुख के होने पर समभाव को रखता है वह बुद्धिमान पूर्व सचित कर्मों को क्षय करता है और नवीन कर्मो को एकत्र नही करता है।

चित्रोपद्रवसंकुलामुरुमलां निःस्वस्थतां संसृतिं।
मुक्तिं नित्यनिरन्तरोन्नतसुखामापत्तिभिर्वर्जितां॥
प्राणी कोपि कषायमोहितमतिर्नो तत्त्वतो बुध्यते।
मुक्त्वा मुक्तिमनुत्तमामपरथा किं संसृतौ रज्यते॥८१॥

भावार्थ—यह ससार नाना उपद्रवो से भरा है, अत्यन्त मलीन है। आकुलताओ का घर है, इसमे स्वस्थपना नही है तथा मुक्ति नित्य निरन्तर श्रेष्ठ आत्मीक सुख से पूर्ण है और सब आपत्तियो से रहित है इस बात को कोई कषाय से मोहित बुद्धिवाला ही प्राणी यथार्थ न समझे तो न समझे अन्यथा जो कोई बुद्धिमान है वह अनुपम श्रेष्ठ मुक्ति को छोड कर इस असार ससार मे किस तरह राग करेगा ?

(२०) श्री पद्मनन्दि मुनि एकत्वसप्तति मे कहते है—

संयोगेन यदा यातं मत्तस्तत्सकलं परं।
तत्परित्यागयोगेन मुक्तोऽहमिति मे मतिः॥२७॥

भावार्थ:— सम्यग्दृष्टी ऐसा विचार करता है कि जिन २ का संयोग मेरे साथ चला आया है वे सब भाव कर्म, द्रव्य कर्म, नो कर्म मुझ से भिन्न हैं। उनका मोह छोड देने से मैं मुक्तरूप ही हू ऐसी मेरी बुद्धि हैं।

किं मे करिष्यतः क्रूरौ शुभाशुभनिशाचरौ ।

रागद्वेषपरित्यागमोहमन्त्रेण कीलितौ ॥२८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टि विचारता है कि मैंने राग द्वेष के त्याग रूप साम्यभाव महामन्त्र से शुभ व अशुभ कर्म रूपी दुष्ट राक्षसो को कील दिया है तब वे मेरा क्या विगाड सकते हैं। जब मैंने समता भाव धारण किया है तब पुण्य, पाप कर्म उदय मे आकर अपना फल भी दे तौ भी मैं उनसे आकुलित नही हो सकता हू ।

(२१) पद्मनन्दि मुनि देशव्रतोद्योतन अधिकार मे कहते हैं—

एकोप्यत्र करोति यः स्थितिमतिं प्रीतः शुचौ दर्शने ।

स श्लाघ्यः खलु दुःखितोप्युदयतो दुष्कर्मणः प्राणिभृत् ॥

अन्यैः किं प्रचुरैरपि प्रमुदितैरत्यन्तदूरीकृत-

स्फीतानंदभरप्रदामृतपथैर्मिथ्यापथप्रस्थितैः ॥२॥

भावार्थ—इस जगत मे वह प्राणी जो निर्मल सम्यग्दर्शन मे अपनी निश्चल बुद्धि रखता है कदाचित् पूर्व पाप कर्मो के उदय से दु खित भी हो और अकेला भी हो तो भी प्रशसा के योग्य है। इसके विरुद्ध मिथ्या-दर्शन मे रहने वाले अनेक उन प्राणियो की कोई प्रशसा नही है, जो धन सम्पदा से सुखी हैं परन्तु अत्यन्त आनन्द देने वाला सम्यग्दर्शनमयी आत्मीक मोक्ष मार्ग से दूर रहने वाले हैं।

बीजं मोक्षतरोर्दृशं भवतरोर्मिथ्यात्वमाहुर्जिनाः ।

प्राप्तायां दृशि तन्मुमुक्षुभिरलं यत्नो विधेयो बुधैः ॥

संसारे बहुयोनिजालजटिले भ्राम्यन् कुकर्मावृतः ।

क्व प्राणी लभते महत्यपि गते काले हि ता तामिह ॥३॥

भावार्थ—मोक्ष रूपी वृक्ष का बीज सम्यग्दर्शन है। ससार रूपी वृक्षका बीज मिथ्यादर्शन है ऐसा जिनेन्द्रोने कहा है। जब ऐसा सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जावे तो मोक्ष के इच्छुक पण्डितो को योग्य है कि वे उस

सम्यग्दर्शन की रक्षा का यत्न करते रहे। पाप कर्मों से घिरा हुआ यह प्राणी चौरासी लाख योनि सहित इस ससार मे भ्रमता रहता हे तब कही दीर्घकाल जाने पर बडे भाग्य से किसी प्राणी को कभी इस सम्यग्दर्शन का लाभ होता है।

(२२) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चय पचाशत् मे कहते हैं —

आस्तां बहिरुपधिचयस्तनुवचनविकल्पजालमप्यपरं ।
कर्मकृतत्वान्मत्तः कुतो विशुद्धस्य मम किञ्चित् ॥२७॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी विचारता है कि कर्मो के द्वारा प्राप्त बाहरी परिग्रह आदि उपाधि का समूह तो दूर ही रहो—शरीर, वचन और विकल्पो का समूह मन भी मुझसे भिन्न है क्योकि निश्चय से मैं परम शुद्ध हू। तब ये सब मेरे कैसे हो सकते हैं ?

कर्म परं तत्कार्यं सुखमसुखं वा तदेव परमेव ।
तस्मिन् हर्षविषादौ मोही विदधाति खलु नान्यः ॥२८॥

भावार्थ—सम्यग्दृष्टी विचारता है कि आठ कर्म मुझसे भिन्न है तब उनके उदय से जो सुख दु ख कार्य होता है वह भी मुझसे भिन्न है। मोही, मिथ्यात्वी प्राणी ही सुख मे हर्ष व दु ख मे शोक करता है, सम्यग्दृष्टी ऐसा कभी नही करता है।

कर्म न यथा स्वरूपं न तथा तत्कार्यकल्पनाजाल ।
तत्रात्ममतिविहीनो मुमुक्षुरात्मा सुखी भवति ॥२९॥

भावार्थ—आठ कर्म जैसे अपना स्वरूप नही है वैसे उन कर्मो का कार्य सुख दु खादि कल्पना जाल भी मेरा स्वरूप नही हैं। जो इनमे आत्म बुद्धि नही रखता है वही मुमुक्षु आत्मा सुखी है।

(२३) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय मे कहते हैं —

कषायातपतप्तानां विषयामयमोहिनाम् ।
संयोगयोगखिन्नानां सम्यक्त्वं परमं हित ॥३८॥

भावार्थ—जो प्राणी कषायके आताप से तप्त है, इन्द्रियो के विषयो के रोग से पीडित है, इष्ट वियोग अनिष्ट सयोग से दु खी हैं, उन सबके लिये सम्यक् दर्शन परम हितकारी औषधि है।

वरं नरकवासोऽपि सम्यक्त्वेन समायुतः ।
न तु सम्यक्त्वहीनस्य निवासो दिवि राजते ॥३९॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित नरक मे रहना भी अच्छा है किन्तु सम्यग्दर्शन रहित स्वर्ग मे रहना भी सुखदाई नही है । क्योंकि जहाँ आत्म ज्ञान है वहीं सच्चा सुख है ।

सम्यक्त्वं परमं रत्नं शंकादिमलवर्जितं ।
संसारदुःखदारिद्र्य नाशयेत्सुविनिश्चितम् ॥४०॥

भावार्थ—शका काक्षा आदि दोषो से रहित सम्यग्दर्शन ही परम रत्न है । जिसके पास यह रत्न होता है उसका ससार दु ख रूपी दालिद्र निश्चय से नष्ट हो जाता है ।

सम्यक्त्वेन हि युक्तस्य ध्रुवं निर्वाणसंगमः ।
मिथ्यादृशोस्य जीवस्य ससारे भ्रमण सदा ॥४१॥

भावार्थ—सम्यग्दर्शन सहित जीव को अवश्य निर्वाण का लाभ होगा । मिथ्यादृष्टी जीव सदा ही ससार मे भ्रमण करता रहेगा ।

पंडितोऽसौ विनीतोऽसौ धर्मज्ञः प्रियदर्शनः ।
यः सदाचारसम्पन्नः सम्यक्त्वदृढमानसः ॥४२॥

भावार्थ—जिसका भाव सम्यग्दर्शन मे दृढ है और जो सदाचारी है वही पण्डित है, वही विनयवान है, वही धर्म ज्ञाता है, वही ऐसा मानव है जिसका दर्शन दूसरो को प्रिय है ।

सम्यक्त्वादित्यसम्पन्न कर्मध्वान्त विनश्यति ।
आसन्नभव्यसत्वानां काललब्ध्यादिसन्निधौ ॥४९॥

भावार्थ—सम्यक् दर्शन रूपी सूर्य के प्रकाश से कर्मो का अन्धकार भाग जाता है । यह सम्यग्दर्शन निकट भव्यो को काल लब्धि आदि की निटकता पर होता है ।

सम्यक्त्वभावशुद्धेन विषयासगवर्जितः ।
कषायविरतेनैव भवदुःख विहन्यते ॥५०॥

भावार्थ—जिसके भावो मे सम्यग्दर्शन से शुद्धता है, व जो विषयो

के सग से रहित है, व कषायो का विजयी है वही ससार के दु खो को नाश कर डालता है।

प्रज्ञा तथा च मैत्री च समता करुणा क्षमा ।
सम्यक्त्वसहिता सेव्या सिद्धिसौख्यसुखप्रदा ।।२६७।।

भावार्थ—आत्मा व अनात्मा का विवेक सो ही प्रज्ञा है, प्राणी मात्र का हित सो ही मैत्री है, सर्व पर समान भाव समता है, दु खियो पर दया भाव करुणा है। यदि सम्यक् दर्शन सहित इनका सेवन किया जावे तो मोक्ष-सुख का लाभ होता है।

(२४) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते है —

कषायाः क्रोधाद्याः स्मरसहचराः पञ्चविषयाः ।
प्रमादा मिथ्यात्वं वचनमनसी काय इति च ।।
दुरन्ते दुर्ध्याने विरतिविरहश्चेति नियतम् ।
स्रवन्त्येते पुंसा दुरितपटल जन्मभयदं ।।९-७।।

भावार्थ—प्रथम तो मिथ्यत्व रूप परिणाम, दूसरे अविरति रूप परिणाम, तीसरे काय के सहकारी पाचो इन्द्रियो के विषय, चौथे स्त्री कथा आदि प्रमाद भाव, पाँचवे क्रोधादि कषाय, छठे आर्त रौद्र दो अशुभ ध्यान, सातवे मन, वचन, काय की अशुभ क्रिया ये सब परिणाम प्राणियो को ससार मे भयकारी पाप कर्म के आस्रव के कारण हैं।

द्वारपालीव यस्योच्चैर्विचारचतुरा मतिः ।
हृदि स्फुरति तस्याघसूतिः स्वप्नेऽपि दुर्घटा ।।१०-८।।

भावार्थ—जिस पुरुष के हृदय मे द्वारपाली के समान विवेक बुद्धि प्रगट है उसके पाप की उत्पत्ति स्वप्न मे भी नही होगी। विवेक से वह हितकारी प्रवृत्ति ही करता है।

विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः ।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवरः ।।११-८।।

भावार्थ—जिस समय मुनि सब कल्पनाओ के समूह को छोडकर अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप मे मन को निश्चल करते है, उसी समय मुनि महाराज को परम सवर की प्राप्ति होती है, कर्म का आना रुकता है।

सकलसमितिमूलः संयमोद्दामकाण्डः
प्रशमविपुलशाखो धर्मपुष्पावकीर्णः ।
अविकलफलबन्धैर्बन्धुरो भावनाभि-
र्जयति जितविपक्षः संवरोद्दामवृक्षः ॥१२-८॥

भावार्थ—ईर्या समिति आदि पांच समितियाँ जिस वृक्ष की जड है, सामायिक आदि सयम जिसका स्कन्ध है, शान्त भाव रूपी जिसकी बडी-बडी शाखाएँ हैं, उत्तम क्षमादि दश धर्म जिसके खिले हुए पुष्प हैं, ऐसा पूर्ण फल उत्पन्न करने वाली बारह भावनाओ मे सुन्दर यह सवर रूपी महावृक्ष जगत मे जयवन्त हो जिसने अपने विपक्षी आस्रव को जीत लिया है।

ध्यानानलसमालीढमप्यनादिसमुद्भवं ।
सद्यः प्रक्षीयते कर्म शुद्धयत्यंगी सुवर्णवत् ॥८-६॥

भावार्थ—यद्यपि कर्म जीव के साथ अनादि काल से लगे हुए हैं तो भी ध्यान की अग्निके स्पर्श से शीघ्र उसी तरह जल जाते हैं जैसे सुवर्ण का मैल भस्म हो जाता है और यह आत्मा सुवर्ण के समान शुद्ध हो जाती है।

तपस्तावद्बाह्यं चरति सुकृती पुण्यचरित-
स्ततश्चात्माधीनं नियतविषयं ध्यानपरमं ।
क्षपत्यन्तर्लीनं चिरतरचित कर्मपटलं
ततो ज्ञानाम्भोधिं विशति परमानन्दनिलयं॥६—६॥

भावार्थ--पवित्र आचार धारी पुण्यात्मा पुरुष प्रथम अनशनादि बाहरी तपो का अभ्यास करता है फिर अन्तरग छ तपोका अभ्यास करता है फिर निश्चल होकर आत्म ध्यानरूपी उत्कृष्ट तप को पालता है। इस ध्यान से चिरकाल के सचित कर्मोको नाश कर डालता है और परमानन्द से पूर्ण ज्ञान समुद्र मे मग्न हो जाता है अर्थात् केवली अरहन्त परमात्मा हो जाता है।

सद्दर्शनमहारत्न विश्वलोकैकभूषणं ।
मुक्तिपर्यन्तकल्याणदानदक्षं प्रकीर्तितं ॥५३-६॥

भावार्थ---यह सम्यग्दर्शन महारत्न है, सर्व लोकमे अत्यन्त शोभायमान है। यही मोक्ष पर्यन्त सुख देने को समर्थ कहा गया है।

चरणज्ञानयोर्बीजं यमप्रशमजीवितं ।
तपःश्रुताद्यधिष्ठानं सद्भिः सद्दर्शनं मतं ।।५४—६।।

भावार्थ---यह सम्यग्दर्शन ही ज्ञान और चारित्र का वीज है, यम और शान्त भाव का जीवन है, तप और स्वाध्याय का आधार है, ऐसा आचार्यो ने कहा है।

अप्येक दर्शन श्लाघ्यं चरणज्ञानविच्युत ।
न पुनः संयमज्ञाने मिथ्यात्वविषदूषिते ।।५५—६।।

भावार्थ---विशेप ज्ञान व चारित्र के न होने पर भी एक अकेला सम्यग्दर्शन ही हो तो भी प्रशसनीय है परन्तु मिथ्यादर्शन रूपी विष से दूपित ज्ञान और चारित्र प्रशसनीय नही है।

अल्पल्पमपि सूत्रज्ञैर्दृष्टिपूर्वं यमादिकं ।
प्रणीतं भवसम्भूतक्लेशप्राग्भारभेषज ।।५६—६।।

भावार्थ---आचार्यो ने कहा है कि यदि सम्यग्दर्शन के साथ मे थोडा भी यम, नियम, तपादि हो तो भी वह ससार के दुखो के भार को हलका करने की औषधि है।

मन्ये मुक्तः स पुण्यात्मा विशुद्धं यस्य दर्शनं ।
यतस्तदेव मुक्त्यंगमग्रिमं परिकीर्तितं ।।५७—६।।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि जिसको निर्मल सम्यग्दर्शन मिल गया है त्रह बडा पुण्यात्मा है, वह मानो मुक्त रूप ही है क्योकि यही मोक्ष का प्रधान कारण कहा गया है।

प्राप्नुवन्ति शिवं शश्वच्चरणज्ञानविश्रुताः ।
अपि जीवा जगत्यस्मिन्न पुनर्दर्शनं विना ।।५८—६।।

भावार्थ—इस जगत मे जो ज्ञान और चारित्र के पालने मे प्रसिद्ध महात्मा है वे भी सम्यग्दर्शन के बिना मोक्ष को नही पा सकते हैं।

अतुलसुखनिधानं सर्वकल्याणबीजं
जननजलधिपोतं भव्यसत्त्वैकपात्रं ।

दुरिततरुकुठारं पुण्यतीर्थप्रधानं,

पिवत जितविपक्ष दर्शनाख्यं सुधाम्बुम् ।।५८-६।।

भावार्थ—आचार्य कहते हैं कि हे भव्य जीवो ! तुम सम्यग्दर्शन रूपी अमृत को पीओ, यह अनुपम अतीन्द्रिय सहज सुख का भण्डार है, सर्व कल्याण का बीज है, ससार समुद्र से पार करने को जहाज है, भव्य जीव ही इसको पा सकते हैं। यह पाप रूपी वृक्ष के काटने को कुठार है, पवित्र तीर्थों मे यही प्रधान है तथा मिथ्यात्व का शत्रु है।

ध्यानशुद्धि मनःशुद्धिः करोत्येव न केवलम् ।

विच्छिनत्त्यपि निःशङ्कं कर्मजालानि देहिनाम्।।१५-२२।।

भावार्थ-- मन की शुद्धता केवल ध्यान की शुद्धि ही नही करती है किन्तु निश्चय से ससारी प्राणियो के कर्म के जालो को काट देती है।

यथा यथा मनःशुद्धिर्मुनेः साक्षात्प्रजायते ।

तथा तथा विवेकश्रीर्हृदि धत्ते स्थिरं पदम् ।।१८-२२।।

भावार्थ—मुनि के मन की शुद्धता जैसे-जैसे साक्षात् होती जाती है वैसे-वैसे भेद ज्ञान रूपी लक्ष्मी हृदय मे स्थिरता से विराजती जाती है।

शमश्रुतयमोपेता जिताक्षाः शसितव्रता; ।

विदन्त्यनिर्जितस्वान्ताः स्वस्वरूपं न योगिनः।।३२-२२।।

भावार्थ—जो योगी शान्त भाव, शास्त्र ज्ञान तथा यम नियम को पालते हैं व जितेन्द्रिय हैं तथा प्रशसनीय व्रतो के धारी हैं वे भी यदि मन को नही जीते तो आत्म स्वरूप का अनुभव नही कर सकते।

विलीनविषयं शान्त निःसगे त्यक्तविक्रियम् ।

स्वस्थं कृत्वा मनः प्राप्तं मुनिभिः पदमव्ययम्।।३३-२२।।

भावार्थ—जिन मुनियो का चित्त इन्द्रियो के विषयो से छूट गया है व जिनका मन शान्त है, परिग्रह की मूर्छा से रहित है, निर्विकार है तथा आत्मा मे स्थित है, उन्ही मुनियो ने अविनाशी पद को प्राप्त किया है।

मोहपङ्के परिक्षीणे प्रशान्ते रागविभ्रमे ।

पश्यन्ति यमिनः स्वस्मिन्स्वरूपं परमात्मनः ।।११-२३।।

भावार्थ—मोह रूपी कीचड के चले जाने पर तथा रागादिक भावो के शान्त होने पर मुनिगण अपने आत्मा मे ही परमात्मा के स्वरूप को अवलोकन करते हैं।

महाप्रशमसंग्रामे शिवश्रीसगमोत्सुकैः ।
योगिभिर्ज्ञानशस्त्रेण रागमल्लो निपातितः ।।१२-२३।।

भावार्थ—मोक्ष रूपी लक्ष्मी को प्राप्ति की भावना करने वाले योगियो ने महा शान्तिमय युद्ध के भीतर ज्ञान रूपी शस्त्र से राग रूपी योद्धा को गिरा दिया। बिना राग के जीते मोक्ष का लाभ कठिन है।

नित्यानन्दमयीं साध्वीं शाश्वतीं चात्मसंभवाम् ।
वृणोति वीतसंरभो वीतरागः शिवश्रियम् ।।२४-२३।।

भावार्थ—रागादि के विकल्पो से रहित वीतरागी साधु ही नित्य आनन्दमयी, सुन्दर, अविनाशी, अपने आत्मा से ही प्राप्त मोक्ष रूपी लक्ष्मी को वरता है।

स पश्यति मुनिः साक्षाद्विश्वमध्यक्षमञ्जसा ।
यः स्फोटयति मोहाख्यं पटलं ज्ञानचक्षुषा ।।३३-२३।।

भावार्थ—जो कोई मुनि मोह के परदे को दूर कर देता है वही ज्ञान रूपी नेत्र से सर्व जगत को प्रत्यक्ष एक साथ देख लेता है।

यस्मिन्सत्येव संसारी यद्वियोगे शिवीभवेत् ।
जीवः स एव पापात्मा मोहमल्लो निवार्यताम्।।३५-२३।।

भावार्थ—हे आत्मन्! जिस पापी मोह-मल्ल के जीते रहते हुए यह जीव ससारी होता हुआ भ्रमता है व जिसके नाश हो जाने पर यह मोक्ष का स्वामी हो जाता है उस मोह-मल्ल को दूर कर।

मोहपङ्के परिक्षीणे शीर्णे रागादिबन्धने ।
नृणां हृदि पदं धत्ते साम्यश्रीर्विश्ववन्दिता ।।१०-२४।।

भावार्थ—जब मोह की कीच सूख जाती है व रागद्वेषादि के बन्धन कट जाते हैं तब ही मानवो के हृदय मे जगत से वन्दनीय समता रूपी लक्ष्मी अपना पग रखती है।

शाम्यन्ति जन्तवः क्रूरा बद्धवैराः परस्परम् ।
अपि स्वार्थे प्रवृत्तस्य मुनेः साम्यप्रभावतः ॥२०-२४॥

भावार्थ—जो मुनि अपने आत्मा के ध्यान मे लवलीन हैं उनके साम्यभाव के प्रभाव से उनके पास परस्पर वैर करने वाले क्रूर जीव भी शान्त हो जाते हैं।

सारंगी सिंहशावं स्पृशति सुतधिया नन्दिनी व्याघ्रपोतं
मार्जारी हंसबालं प्रणयपरवशा केकिकान्ता भुजंगं ।
वैराण्याजन्मजातान्यपि गलितमदा जन्तवोऽन्ये त्यजन्ति
श्रित्वा साम्यैकरूढं प्रशमितकलुषं योगिनं क्षीणमोहं२६-२४।

भावार्थ—जिस योगी का मोह क्षय हो गया है व जो क्रोधादि कलुष भावो को शान्त कर चुके हैं व जो समता भाव मे आरूढ है उस योगी के निकट हिरणी तो सिह के बच्चे को पुत्र की बुद्धि से प्यार करती है, गऊ बाघ के बच्चे को खिलाती है, बिल्ली हस के बच्चे को प्रेम से स्पर्श करती है तथा मोरनी सर्प के बच्चे को प्यार करती है। इसी तरह अन्य प्राणी भी जिनका जन्म से वैर होता है वे मदरहित हो वैर छोड देते हैं।

अनादिविभ्रमोद्भूतं रागादितिमिरं घनं ।
स्फुटयत्याशु जीवस्य ध्यानार्कः प्रविजृम्भितः ॥५-२५॥

भावार्थ—अनादि काल के मिथ्या भ्रम से उत्पन्न हुआ रागादि अधकार बहुत घन है। जब जीव के भीतर ध्यानरूपी सूर्य प्रगट होता है तब वह अन्धकार शीघ्र ही विलय हो जाता है।

(२५) श्री ज्ञानभूषण तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते हैं—

स्वकीयं शुद्धचिद्रूपं भेदज्ञानं विना कदा ।
तपः श्रुतवतां मध्ये न प्राप्तं केनचित् क्वचित् ॥११-८॥

भावार्थ—यह अपना शुद्ध चैतन्य स्वभाव भेदज्ञान के बिना कभी भी कहीं भी किसी भी तपस्वी व शास्त्रज्ञ ने नही पाया है। भेद ज्ञान से स्वात्मलाभ होता है।

क्षयं नयति भेदज्ञश्चिद्रूपप्रतिघातकं ।
क्षणेन कर्मणां राशिं तृणानां पावको यथा ।।१२-८।।

भावार्थ—जिस तरह अग्नि तृणो की राशि को क्षणमात्र मे जला देती है उसी तरह भेदज्ञानी महात्मा चैतन्य स्वरूप की घातक कर्मो की राशि को क्षणमात्र मे भस्म कर देता है।

संवरो निर्जरा साक्षात् जायते स्वात्मबोधनात् ।
तद्भेदज्ञानतस्तस्मात्तच्च भाव्यं मुमुक्षुणा ।।१४-८।।

भावार्थ—सवर तथा निर्जरा साक्षात् अपने आत्मा के ज्ञान से होती है। वह आत्मज्ञान भेदज्ञान से होता है। इसलिए मोक्ष के इच्छुक को उचित है कि वह भेदज्ञान की भावना करता रहे।

ममेति चिंतनाद् बन्धो मोचनं न ममेत्यतः ।
बन्धनं द्व्यक्षराभ्यां च मोचन त्रिभिरक्षरैः ।।१३-१०।।

भावार्थ—पर पदार्थ मेरा है इस भावना से कर्मबन्ध होता है, तथा पर पदार्थ मेरा नही हैं इस भावना से मुक्ति होती है। मम इन दो अक्षरो से बन्ध है, नमम इन तीन अक्षरो से मुक्ति है।

नास्रवो निर्ममत्वेन न बन्धोऽशुभकर्मणां ।
नासंयमो भवेत्तस्मान्निर्ममत्वं विचिंतयेत् ।।१८-१०।।

भावार्थ—पर पदार्थ मेरा नही हैं इस भावना से न अशुभ कर्मो का आस्रव होता है न उनका बन्ध होता है न कोई असयमभाव ही होता है इसलिए निर्ममत्व की सदा भावना करनी योग्य है।

श्रद्धानं दर्शनं सप्ततत्त्वानां व्यवहारतः ।

अष्टांग त्रिविधं प्रोक्तं तदौपशमिकादितः ।।६-१२।।

भावार्थ—जीवादि सात तत्वो का श्रद्धान करना व्यवहारनय से सम्यग्दर्शन है। वह नि शकितादि आठ गुण सहित होना चाहिये। उसके औपशमिक, क्षयोपशमिक, क्षायिक ये तीन भेद है।

स्वकीये शुद्धचिद्रूपे रुचिर्या निश्चयेन तत् ।
सद्दर्शनं मतं तज्ज्ञैः कर्मेन्धनहुताशनं ।।८-१२।।

भावार्थ—अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप मे जो रुचि उसे निश्चय सम्यग्दर्शन तत्वज्ञानियो ने कहा है। यह सम्यग्दर्शन कर्मों के ईंधन को जलाने के लिए अग्नि के समान है।

संक्लेशे कर्मणां बंधोऽशुभानां दुःखदायिनां।
विशुद्धौ मोचनं तेषां बन्धो वा शुभकर्मणां ॥१४-१३॥

भावार्थ—दुखित-क्लेशित परिणामो से दुखदायक पापकर्मों का वन्ध होता है। विशुद्ध परिणामो से उन पापकर्मों की निर्जरा होती है अथवा शुभ कर्मो का वन्ध होता है।

यावद्वाह्यांतरान् संगान् न मुंचंति मुनीश्वराः।
तावदायाति नो तेषां चित्स्वरूपे विशुद्धता ॥२१-१३॥

भावार्थ—जव तक मुनिगण वाहरी व भीतरी परिग्रहों को नही त्यागते है तव तक उनकी चैतन्य स्वरूप मे निर्मलता नही हो सकती है।

कारणं कर्मबन्धस्य परद्रव्यस्य चिंतनं।
स्वद्रव्यस्य विशुद्धस्य तन्मोक्षस्यैव केवलं ॥१६-१५॥

भावार्थ—परद्रव्य की चिन्ता कर्म वन्ध करने वाली है जबकि शुद्ध आत्मद्रव्य की चिन्तामात्र कर्मों से मुक्ति देने वाली है।

(२६) प० वनारसीदास जी नाटक समयसार मे कहते हैं—

सवैया २३

भेद विज्ञान जग्यो जिन्ह के घट, सीतल चित्त भयो जिम चन्दन।
केलि करे शिव मारग मे, जगमाहि जिनेश्वर के लघुनन्दन ॥
सत्यस्वरूप सदा जिन्हके, प्रगट्यो अवदात मिथ्यात निकन्दन।
शान्तदशा तिनकी पहिचानि, करे करजोरि वनारसी वन्दन ॥६॥

सवैया ३१

स्वारथ के साचे परमारथ के साचे चित्त,
साचे साचे वैन कहैं सांचे जैनमती है।
काहू के विरुद्धी नाहि परजाय बुद्धी नाहि,
आतमगवेषी न गृहस्थ हैं न यती हैं॥
रिद्धिसिद्धि वृद्धी दीसै घट मे प्रगट सदा,
अन्तर की लच्छिसौं अजाची लक्षपती हैं।

दास भगवन्त के उदास रहै जगतसौ,
सुखिया सदैव ऐसे जीव समकिती हैं ॥ ७ ॥
जाकैं घट प्रगट विवेक गणधर को सो,
हिरदे हरख महा मोह को हरतु है।
साचा सुख माने निज महिमा अडोल जाने,
आपु ही मे अपनो स्वभाव ले धरतु है॥
जैसे जल कर्दम कतकफल भिन्न करे,
तैसे जीव अजीव विलछन करतु है।
आतम सकतिसाधे ग्यान को उदो आराधे,
सोई समकिती भवसागर तरतु है ॥ ८ ॥
शुद्ध नय निहचै अकेला आप चिदानन्द,
अपने ही गुण परजाय को गहत है।
पूरण विज्ञानघन सो है व्यवहार माहि,
नव तत्वरूपी पच द्रव्य मे रहत है॥
पच द्रव्य नव तत्व न्यारे जीव न्यारो लखे,
सम्यक दरस यह और न गहत है।
सम्यक दरस जोई आतम सरूप सोई,
मेरे घट प्रगटा बनारसी कहत है ॥ ७ ॥

कवित्त

सतगुरु कहे भव्य जीवन सो, तोरहु तुरत मोह की जेल।
समकितरूप गहो अपनो गुण, करहु शुद्ध अनुभव को खेल॥
पुद्गल पिण्ड भाव रागादिक, इनसो नही तिहारो मेल।
ये जड प्रगट गुपत तुम चेतन, जैसे भिन्न तोय अरु तेल ॥१२॥

सवैया ३१

धर्म मे न सशै शुभ कर्म फल की न इच्छा,
अशुभ को देखि न गिलानि आने चित्त मे।
साचि दृष्टि राखे काहू प्राणी को न दोष भाखे,
चंचलता भानि थिति ठाणै बोध चित्त मे॥
प्यार निज रूप सो उच्छाह की तरग उठे,
एह आठो अग जब जागे समकित मे।
ताहि समकित को धरे सो समकितवन्त,
वेहि मोक्ष पावे वो न आवे फिर इतमे ॥५६॥

जब लग जीव शुद्ध वस्तुको विचारे ध्यावे,
तब लग भोग सो उदासी सरवग है।
भोग मे मगन तब ज्ञान की जगन नाहि,
भोग अभिलाप की दशा मिथ्यात अग हैं ॥
ताते विषै भोग मे मगन सो मिथ्याती जीव,
भोग सो उदासिसो समकित अभग है।
ऐसे जानि भोग सो उदासि व्है मुगति साधे,
यह मन चग तो कठोठी माहि गग है ॥१२॥
जिन्हके सुमति जागी भोग सो भए विरागी,
परसग त्यागि जे पुरुष त्रिभुवन मैं।
रागादिक भावनिसो जिन्ह की रहनि न्यारी,
कबहू मगन व्है न रहे धाम धन मैं ॥
जे सदैव आपको विचारे सरवग शुद्ध,
जिन्हके विकलता न व्यापे कछु मन मे।
तेई मोक्ष मारग के साधक कहावे जीव,
भावे रहो मन्दिर मे भावे रहो बन मे ॥१६॥

सवैया २३

जो कबहूँ यह जीव पदारथ, औसर पाय मिथ्यात मिटावे।
सम्यक् धार प्रवाह वहै गुण, ज्ञान उदै मुख उरध धावे ॥
तो अभिअन्तर दवित भावित, कर्म कलेश प्रवेश न पावे।
आतम साधि अध्यातम के पथ, पूरण ह्वै परब्रह्म कहावे ॥ ४ ॥
भेदि मिथ्यात्वसु वेदि महारस, भेद विज्ञानकला जिनि पाई।
जो, अपनी महिमा अवधारत, त्याग करे उरसो जु पराई ॥
उद्धत रीत बसे जिनके घट, होत निरन्तर ज्योति सवाई।
ते मतिमान सुवर्ग समान, लगे तिनको न शुभाशुभ काई ॥ ५ ॥

सवैया ३१

जाके परकाश मे न दीसे राग द्वेष मोह,
आस्रव मिटत नहि बन्ध को तरस है।
तिहुँ काल जामे प्रतिबिम्बित अनन्त रूप,
आपहु अनन्त सत्ताऽनन्ततें सरस हैं ॥
भावश्रुत ज्ञान परिणाम जो विचारि वस्तु,
अनुभौ करै न जहा वाणी को परस है।

अतुल अखण्ड अविचल अविनासी धाम,
चिदानन्द नाम ऐसो सम्यक् दरस है ॥ १५ ॥

जसे फिटकरी लोद हरडे की पुट बिना,
श्वेत वस्त्र डारिए मजीठ रग नीर मे।
भीग्या रहे चिरकाल सर्वथा न होइ लाल,
भेदे नहि अन्तर सुपेदी रहे चीर में ॥
तैसे समकितवन्त राग द्वेष मोह बिन,
रहे निशि वासर परिग्रह की भीर मे।
पूरव करम हरे नूतन न बन्ध करे,
जाचे न जगत सुख राचे न शरीर में ॥ ३३ ॥

जैसे काहू देश को बसैया बलवन्त नर,
जगल मे जाई मधु छत्ता को गहत है।
वाको लपटाय चहु ओर मधु मच्छिका पै,
कम्बल की ओट मे अडकित रहत है ॥
तसे समकिती शिव सत्ता को स्वरूप साधे,
उदै के उपाधी को समाधिसी कहत है।
पहिरे सहज को सनाह मन मे उच्छाह,
ठाने सुख राह उदवेग न लहत है ॥३४॥

सवैया ३१

केई मिथ्यादृष्टि जीव धरे जिन मुद्रा भेष,
क्रिया मे मगन रहे कहे हम यती है।
अतुल अखण्ड मल रहित सदा उद्योत,
ऐसे ज्ञान भाव सो विमुख मूढ मती है ॥
आगम सम्भाले दोष टाले व्यवहार भाले,
पाले व्रत यद्यपि तथापि अविरती है।
आपको कहावे मोक्ष मारग के अधिकारी,
मोक्ष से सदैव रुष्ट दुष्ट दुरगती है ॥११८॥

सवैया ३१

चाक सो फिरत जाको ससार निकट आयो,
पायो जिन्हे सम्यक् मिथ्यात्व नाश करिके।

ग्रन्थन के पढे कहा पर्वत के चढे कहा,
कोटि लच्छि बढे कहा कहा रकपन मे।
सजम आचरे कहा मौन व्रत धरे कहा,
तपस्या के करे कहा कहा फिरे बन मे॥
छन्द करे नये कहा जोगासन भये कहा,
दानहू के दये कहा बैठे साधुजन मे।
जौलौं ममता न छूटै मिथ्या डोरी हू न टूटै,
ब्रह्म ज्ञान बिना लीन लोभ की लगन मे॥५५॥

सवैया २३

मौन रहैं वनवास गहैं, वर काम दहैं जु सहैं दुख भारी।
पाप हरे सुभ रीति करे, जिन वैन धरे हिरदे सुखकारी॥
देह तपै बहु जाप जपै, न वि आप जपै ममता विसतारी।
ते मुनि मूढ करे जगरूढ, लहैं निज गेह न चेतन धारी॥५६॥

(२८) भैया भगवतीदास ब्रह्म विलास मे कहते हैं —

सवैया ३१

भौथिति निकन्द होय कर्म बन्ध मन्द होय,
प्रगटै प्रकाश निज आनन्द के कन्द को।
हित को दृढाव होय विनैको बढाव होय,
उपजै अंकूर ज्ञान द्वितीया के चन्द को॥
सुगति निवास होय दुर्गति को नाश होय,
अपने उछाह दाह करे मोह फन्द को।
सुख भरपूर होय दोष दुख दूर होय,
यातै गुण वृन्द कहैं सम्यक सुछन्द को॥८॥

सवैया २३

जीव अकर्ता कह्यो परको, परको करता पर ही पर ही परवान्यो।
ज्ञान निधान सदा यह चेतन, ज्ञान करे न करे कछु आन्यो॥
ज्यो जग दूध दही घृत तक्रकी, शक्ति धरे तिहुँ काल बखान्यो।
कोऊ प्रवीन लखै दृग सेति सु, भिन्न रहै वपुसो लपटान्यो॥२३॥

सवैया ३१

केवल प्रकाश होय अन्धकार नाश होय,
ज्ञान को विलास होय और लो निवाहवी।
सिद्ध मे सुवास होय, लोकालोक भास होय,
आपु रिद्ध पास होय और की न चाहवी ॥
इन्द्र आय दास होय अरिन को त्रास होय,
दर्व को उजास होय इष्टनिधि गाहिवी।
सत्व सुखराश होय सत्य को निवास होय,
सम्यक भये ते होय ऐसी सत्य साहिवी ॥६१॥

सवैया २३

जाके घट समकित उपजत है, सो तो करत हस की रीत।
क्षीर गहत छाडत जल को सग, बाके कुल की यहै प्रतीत ॥
कोटि उपाय करो कोउ भेदसों, क्षीर गहै जल नेकु न पीत।
तैसे सम्यकवन्त गहै गुण, घट घट मध्य एक नवनीत ॥६२॥
सिद्धसमान चिदानन्द जानि के, थापत है घट के उर वीच।
वाके गुण सब वाहि लगावत, और गुणहि सब जानत कीच ॥
ज्ञान अनन्त विचारत अन्तर, राखत है जिय के उर सीच।
ऐसे समकित शुद्ध करतु है, तिनतै होवत मोक्ष मगीच ॥६३॥
नर सम्यकवत करै अनुभव, नित आतम सो हित जोडन को।
परमारथ साधि यहै चितवै, विषया सुख सो मन मोडन को ॥
घट मे समता प्रगटी तिहतै, न डरै लखि कर्म झकोरन को।
निज शुद्ध सरूपहि ध्यावत है, तव ध्यावत है शिव तोरन को ॥६॥

कवित्त

मिथ्या भाव जौलो तौलो भ्रम सो न नातो टूटै,
मिथ्या भाव जौलो तौलो कर्म सो न छूटिये।
मिथ्याभाव जौलो तौलो सम्यक न ज्ञान होय,
मिथ्या भाव जौलो तौलो अरि नाहि कूटिये।
मिथ्या भाव जौलो तौलो मोक्ष को अभाव रहै,
मिथ्या भाव जौलो तौलो परसग जूटिये।

मिथ्या को विनाश होत प्रगटै प्रकाश जोत,
सूधो मोक्ष पन्थ सूधै नेकु न अहूटिये ॥१२॥

सवैया ३१

बापुरे विचारे मिथ्यादृष्टि जीव कहा जानै,
कौन जीव कौन कर्म कैसे के मिलाप है।
सदा काल कर्मनसो एकमेक होय रहे,
भिन्नता न भासी कौन कर्म कौन आप है॥
यह तो सर्वज्ञ देव देख्यो भिन्न भिन्न रूप,
चिदानन्द ज्ञानमयी कर्म जड व्याप है।
तिहँ भाति मोह हीन जानै सरधानवान,
जैसे सर्वज्ञ देखो तैसो ही प्रताप है ॥१०॥

छप्पै

जैनधर्म को मर्म, दृष्टि समकिततै सूझै।
जैनधर्म को मर्म, मूढ कैसे कर बूझै॥
जैनधर्म को मर्म, जीव शिवगामी पावै।
जैनधर्म को मर्म, नाथ त्रिभुवन को गावै।
यह जैनधर्म जग मे प्रगट, दया दुहू जग पेखिये।
भैया सुविचक्षन भविक जन, जैनधर्म निज लेखिये ॥३॥

सवैया २३

जो जिन देव की सेव करै जग, ताजिनदेवसो आप निहारै।
जो शिवलोक बसै परमातम, तासम आतम शुद्ध विचारै॥
आप मे आप लखै अपनो पद, पाप रु पुण्य दुहू निरवारै।
सो जिन देव को सेवक है जिय,जो इहि भाति क्रिया करतारै॥१२॥

छप्पै

राग दोष अरु मोह, नाहि निजमाहि निरक्खत।
दर्शन ज्ञान चरित्र, शुद्ध आतम रस चक्खत॥
परद्रव्यनसो भिन्न, चिन्ह चेतनपद मडित।
वेदत सिद्ध समान, शुद्ध निज रूप अखडित॥
सुख अनन्त जिहि पद वसत, सो निहचै सम्यक महत।
भैया सुविचक्षन भविक जन, श्री जिनन्द इहि विधि कहत ॥१४॥

छहो द्रव्य नव तत्त्व, भेद जाके सब जानै ।
दोष अठारह रहित, देव ताको परमानै ।।
सयम महित सुसाधु, होय निरग्र थ, निरागी ।
मति अविरोधी ग्रन्थ, ताहि मानै परत्यागी ।।
बरकेवल भाषित धर्मधर, गुण थानक वूझै मरम ।
भैया निहार व्यवहार यह, सम्यक लक्षण जिन धरम ।।१५।।
चहुँ गति मे नर बडे, बडे तिन मे समदृष्टी ।
समदृष्टितै बडे, साधु पदवी उतकृष्टी ।।
साधुनतै पुन बडे, नाथ उवझाय कहावें ।
उवझायनतै बडे, पन्च आचार बतावे ।।
तिन आचार्यनतै जिन बडे, वीतराग तारन तरन ।
तिन कह्यो जैनवृष जगत मे, भैया तस वन्दत चरन ।।२४।।

आठवां अध्याय
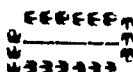
सम्यग्ज्ञान और उसका महात्म्य ।

यह बताया जा चुका है कि यह ससार असार है, शारीरिक तथा मानसिक दु खो का सागर हैं, शरीर अशुचि. क्षणभगुर हैं, इन्द्रिय भोग अतृप्तिकारी, तृष्णावर्द्धक व नाशवन्त है। सहज सुख आत्मा का स्वभाव है, सुख का साधन स्वात्मानुभव है, या आत्मध्यान है। यह आत्मध्यान सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र की एकता रूप है। निश्चय से ये तीनो ही एक आत्मा रूप ही हैं। व्यवहार से ये भिन्न-भिन्न कहलाते हैं व निश्चय के साधन रूप से व्यवहार का बहुत विस्तार है। इन तीनो मे से सम्यग्दर्शन के व्यवहार व निश्चय का कुछ स्वरूप आत्मानन्द के पिपासुओं के लिये किया जाचुका है। अब सम्यग्ज्ञान का निश्चय व्यवहार कथन इस अध्याय मे किया जाता है।

जैसे सम्यग्दर्शन गुण आत्मा का स्वभाव है वैसे ज्ञान गुण भी आत्मा का स्वभाव है। सम्यग्दर्शन सहित ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

निश्चय से ज्ञान स्वय सम्यक् है यथार्थ है, क्योकि ज्ञान एक ऐसा विशेष गुण है जो पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल इन पाच द्रव्यो मे नही पाया जाता है। इसीलिये वे जड हैं किन्तु आत्मा मे पाया जाता है। वे सब अन्धकार रूप हैं। ज्ञान ही एक प्रकाश रूप है। ज्ञान का स्वभाव सूर्य के प्रकाश के तुल्य है। जैसे सूर्य एक हो क्षण मे जगत के पदार्थों को प्रकाश करता है वैसे ज्ञान भी सर्व ही जानने योग्य को एक काल मे प्रकाश करता है।

"सर्वं ज्ञेय जानाति तत् ज्ञान" जो सर्व ज्ञेयो को जाने वह ज्ञान है। प्रत्येक आत्मा स्वभाव से शुद्ध है, ज्ञायक स्वभाव है, सिद्ध शुद्ध आत्मा के सदृश ही हर एक आत्मा का स्वभाव है। प्रदेशो की भिन्नता की अपेक्षा हर एक आत्मा की सत्ता भिन्न-भिन्न है परन्तु गुण व स्वभावो की अपेक्षा परस्पर कोई अन्तर नही है। सर्व ही सिद्ध तथा ससारी जीव समान हैं, परमात्मा या सिद्धात्मा को सर्वज्ञ व सर्वदर्शी या अनन्त ज्ञान व अनन्त दर्शन से युक्त इसीलिये कहते हैं कि उनके ज्ञान गुण पर कोई आवरण या परदा या मैल नही है—वह शुद्ध है—ज्ञान दीपक के प्रकाश की तरह स्वपर प्रकाशक होता है। ज्ञान अपने द्रव्य गुणी आत्मा को भी दिखाता है व अन्य सर्व पदार्थों को भी दिखाता है।

क्रम रहित सर्व को जान लेना यह ज्ञान गुण का स्वभाव है। इसीलिये इस ज्ञान को अनुपम, अद्भुत व महान कहते हैं। जिनको ज्ञानावरण कर्म के उदय से अर्थात् क्षयोपशम से कुछ ज्ञान की शक्ति प्रगट है कुछ अप्रगट है उनको जानने का प्रयास करना होता है तब वह ज्ञान क्रम से पदार्थों को जानता हैं। तथापि जान लेने के पीछे धारणा मे अनेक पदार्थोंका ज्ञान एक साथ अल्पज्ञानी के भी पाया जाता है। जब वह अल्प ज्ञानी उसका व्यवहार मन, वचन, काय से करता है तब वह क्रम से होता है परन्तु भण्डार मे सचय तो एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान रहता है। जैसे एक पचास वर्ष का विद्वान है, जो सस्कृत और अँग्रेजी मे एम० ए० है, बहुत सा पूर्वीय व पाश्चात्य साहित्य को पढ चुका है, वह एक साथ सस्कृत, अँग्रेजी के ज्ञान को व वैद्यक को, व्यापार को, मकान बनवाने की कला को, व्याख्यान की कला को, लिखने की कला को, तास, चौपट, सतरज खेलने को कला को, अपने सम्बन्धियो के नामठामादि इतिहास को, जगत के इतिहास को, नाना देशो के भूगोल को, देखे हुए समझे हुए

अनेक पदार्थों के स्वरूप को, गान विद्या को, वाजा बजाने को, तैरने को, व्यायाम को, खडग चलाने को, रसवती बनाने को, पूजा पाठ को, आत्म ध्यान की कला को, जीवन की अनुभूत घटनाओ को इत्यादि बहुत से विषयो को एक साथ ज्ञान मे भण्डार के समान रख रहा है।

यदि कोई महात्मा निमित्त ज्ञानी है, ज्योतिषी है या अवधि ज्ञानी है तो वह भविष्य की बहुत सी बातो को भी अपनी व पराई जानकर ज्ञान के भण्डार मे रख लेता है। योगाभ्यास के बल से जितना जितना ज्ञान का विकास होता जाता है उतना उतना ज्ञान मे त्रिकालगोचर ज्ञान का भण्डार अधिक-अधिक सचय होता है। सचित ज्ञान अक्रम ही विराजमान रहता है। एक मति व श्रुतज्ञानी कई भाषाएँ जानता है। सस्कृत पुस्तक पढने का काम पडता है तब सस्कृत पढने लगता है, गुजराती पढने का काम पडता है, तव गुजराती पढने लगता है, मराठी पढने का काम पडता है, तव मराठी पढने लगता है, इग्लिश पढने का काम पडता है तब इग्लिश पढने लगता है। एक व्याख्याता किसी विषय पर भाषण करता है, उसने अनेक पुस्तको को पढकर एक विषय पर जो ज्ञान सचय किया है वह सब उसके ज्ञान मे मौजूद है एक साथ विद्यमान है, उसी मे से धीरे-धीरे वह वक्ता बहुत सा ज्ञान अपने १॥ व २ घण्टे के वक्तव्य से प्रकाशित कर देता है।

ज्ञान का प्रकाश मन द्वारा सोचने मे, वचन द्वारा कहने मे, काय द्वारा सकेत करने मे अवश्य क्रम से होगा, परन्तु आत्मा के भण्डार मे ज्ञान का सचय एक साथ बहुत सा रहता है यह बात हरएक प्रवीण पुरुष समझ सकता है।

यह बात भी ठीक है कि अपने अपने ज्ञान की प्रगटता के अनुसार तीन काल का ज्ञान भी किसी मर्यादा तक अल्पज्ञानियो के पाया जाता है। एक स्त्री रसोई बनाने का प्रवन्ध कर रही है, वह जानती है कि मैं क्या कर रही हू, क्या क्या सामान एकत्र कर रही हूँ यह वर्तमान का ज्ञान है। क्या क्या सामान एकत्र कर चुकी हू व यह सामान कैसे व कब आया था व घर मे कहाँ रक्खा था, जहाँ से लाकर अब रसोई मे रक्खा है। ऐसा भूतकाल का ज्ञान भी है। तथा रसोई मे अमुक अमुक वस्तु बनानी हैं, इतनी तैयार करनी है, इतने मानवो को जिमाना है, अमुक अमुक जीमेगे, रसोई के पीछे मुझे कपडे सीना है, अनाज फटकना है,

पुस्तक पढना हैं, अमुक के घर सम्बन्धी होने के कारण एक रोगी की कुशल पूछने जाना है, अमुक से यह यह बातें करनी हैं ऐसा बहुत सा भविष्य का ज्ञान भी है। तीन काल का एक साथ ज्ञान हुए बिना सुनार गहना नही घड सकता, थवई या इन्जीनियर मकान नही बना सकता, अध्यापक पढा नही सकता, एक यात्री किसी स्थान पर पहुँच नही सकता। पर्वत की चोटी पर पहुँच कर एक मन्दिर के दर्शन करने हैं, मैं अमुक स्थान से चलकर यहाँ आया हू, पर्वत का मार्ग दो घण्टे मे अमुक अमुक मार्ग से तय करूँगा, यह सब ज्ञान एक साथ होता है। इस ज्ञान को लिये हुए ही वह पर्वत के शिखर पर पहुँच जाता है।

अल्पज्ञानी को अपने ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम के अनुसार थोडा त्रिकालज्ञान होता है तब सर्वज्ञ को व अनन्त ज्ञानी को व सर्व आवरण से रहित निर्मल प्रकाशमान ज्ञान ज्योति को त्रिकालगोचर सर्व विश्व की अनन्त द्रव्यो का व उनके गुणो का व उनकी पर्यायो का ज्ञान हो जावे तो इसमे कोई आश्चर्य की व सशय की बात नही है। शुद्ध ज्ञान भी यदि कुछ न जाने तो वह ज्ञान शुद्ध ही क्या हुआ, वह तो अवश्य कुछ या उतने अश अशुद्ध हुआ जितने अश वह नही जानता है। शुद्ध ज्ञान दोपहर के सूर्य के समान विश्वव्यापी ज्ञेय को एक साथ जानता हैं एक साथ प्रकाश किये हुए है उसको कुछ जानना शेष नही रहा।

सर्वज्ञत्व की शक्ति आत्मज्ञानी मे भी है। जितना जितना अज्ञान का परदा हटता जाता है उतना उतना ज्ञान का विकास या ज्ञान का प्रकाश होता जाता है, उतना २ ज्ञान उन्नति रूप या वर्द्धमान होता जाता है। एक बालक जन्मते समय बहुत अल्प जानता है, वही जितना जितना अनुभव पाता हैं व जितना जितना विद्या पढता है उतना उतना अधिक अधिक ज्ञानी होता जाता है। उसमे ज्ञान की वृद्धि कही बाहर से ज्ञान का सचय करके इस तरह नही हुई हैं जैसे द्रव्य को दूसरो से संचय करके बढाया जाता हैं व फैले हुए पानी को एक सरोवर मे एकत्र किया जाता हैं। ज्ञान एक ऐसा अद्भुत गुण है जो कोई किसी को दे नही सकता कोई किसी से ले नही सकता। यद्यपि लोक व्यवहार मे ऐसा कहा जाता है कि इस आचार्य ने अपने शिष्य को बहुत ज्ञान दिया शिष्य ने आचार्य से बहुत ज्ञान पाया परन्तु यह वचन केवल व्यवहार मात्र है, वास्तव मे

असत्य है। यदि आचार्य ज्ञान देते तो उनका ज्ञान घटता तव शिष्य का ज्ञान वढता सो ऐसा नही हुआ है।

आचार्य ने जब से शिष्य को पढाना प्रारम्भ किया और दस वर्ष तक पढाया तब तक जो कुछ पढाया, समझाया, वताया वह सब ज्ञान आचार्य मे वरावर स्थिर रहा। इतना ही नही, समझाते समझाते वताते वताते आचार्य का ज्ञान भी वढता चला गया और पढने वाले शिष्य का ज्ञान भी बढता गया। जहा देनलेन के शब्दो का व्यवहार है वहा देन लेन कुछ नही हुआ तथापि दाता व प्राप्त कर्ता दोनो मे ज्ञान बढ गया, ऐसा क्यो हुआ ? क्यो नही एक तरफ ज्ञान घटा तब दूसरी तरफ बढा।

इसका सीधासाधा उत्तर यही है कि ज्ञान का सदा विकास या प्रकाश होता हैं। गुरु के समझाने से व पुस्तको के पढने से जितना-जितना अज्ञान का परदा हटता हैं, जितना जितना ज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उतना-उतना ज्ञान अधिक-अधिक चमकता जाता हैं। यह भी जगत मे कहने का व्यवहार है कि इसने अपने ज्ञान मे वहुत उन्नति की, वहुत निर्मलता की, वहुत विकास किया। उन्नति या विकास शब्द वही प्रयोग मे आते हैं जहा शक्ति तो हो पर व्यक्ति न हो। व्यक्त होने ही को प्रकाश या विकास कहते हैं। सूर्य का प्रकाश हुआ या विकास हुआ अर्थात् सूर्य मे प्रकाशक शक्ति है ही उसके ऊपर से अन्धकार हटा, मेघो का परदा हटा। सूर्य का प्रकाश इधर झलका यह रत्न चमक उठा। अर्थात् रत्नपाषाण मे रत्न बनने की व चमकने की शक्ति तो थी ही, उसके मल को हटाने से वह रत्नरूप से चमक उठा। तेजाव मे डालने से यह सुवर्ण का आभूषण चमक उठा। अर्थात् सुवर्ण के आभूषण मे चमकने की शक्ति तो थी ही उस पर मैल छा गया था। तेजाब से जितना मैल कटता गया, सुवर्ण की चमक झलकती गई।

हर एक के ज्ञान मे अनन्त पदार्थों के ज्ञान की अमर्यादित शक्ति है यह कभी सीमित नही किया जा सकता है कि इससे आगे ज्ञान प्रकाश न करेगा। आज के विश्व मे पदार्थ विद्या ने कैसा अपूर्व विकास किया हैं जिससे हजारो मील शब्द पहुँच जाता है। अमेरिका मे बैठे हुए भारत में गाया हुआ गाना सुना जा सकता है। हवाई विमानो से लाखो मन बोझा

आकाश मे जा सकता है। बिना तार के सम्बन्ध से क्षणमात्र मे हजारो मील सामान पहुँच जाते हैं। पदार्थों के भीतर अद्‌भुत्‌ ज्ञान है, यह ज्ञान पदार्थ वेत्ताओ को कैसे होता है!! इसका पता लगाया जायगा तो विदित होगा कि पदार्थ के खोजी एकान्त मे बैठकर अपने भीतर खोजते हैं। खोजते-खोजते कोई बात सूझ जाती है उसी का प्रयोग करते हैं। उसको ठीक पाते हैं तब और सोचते हैं और नई नई बाते सूझ जाती हैं वश प्रयोग से उनबातो को जमा कर नई खोज (New invention) प्रगट करदी जाती है। जितना २ मैले वर्तन को माजा जायगा वह उतना २ चमकता जायगा। इसी तरह जितना २ इस अपने शुद्ध ज्ञान को माजा जायगा, इसमे खोज की जायगी उतना २ ज्ञान का विकास होता जायगा। प्रत्येक प्राणी की आत्मा मे यदि अमर्यादित ज्ञान न हो तो ज्ञान का विकास सम्भव हो न हो।

ज्ञान का काम मात्र जानना है, मात्र प्रकाश करना है। जैसा द्रव्य गुण पर्याय है वैसा ही जानना है, न कम जानना है, न अधिक जानना है, न विपरीत जानना है। शुद्ध ज्ञान छहो द्रव्यो के भिन्न-भिन्न स्वभावो को जानता है मूल स्वभावो को जानता है तथा वे द्रव्य परस्पर एक दूसरे को किस तरह सहायक होते हैं यह भी जानता है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल क्रिया रहित स्थिर हैं, स्वय विभावरूप या उपाधिरूप नही परिणमते है—केवल द्रव्यो के हलनचलन, थिर होने, अवकाश पाने व परिवर्तन मे उदासीन रूप से सहाय करते हैं। कर्मो से ससारी जीव अनादि काल से सम्बन्धित है—कर्म पुद्‌गल हैं—जीव और पुद्‌गल मे पर के निमित्त से विभाव रूप होने की शक्ति है। इससे जीवो मे कर्मो के उदय से विभाव भाव, रागादि भाव, अज्ञान भाव, असयत भाव होते है, उन भावो के निमित्त से कर्मपुद्‌गल आकर जीव के कार्मण शरीर के साथ वन्ध जाते है। उनका वन्ध किस तरह होता है, वे क्या-क्या व किस-किस तरह अपना असर दिखलाते हैं व कैसे दूर होते हैं, जीव और कर्म की परस्पर निमित्त नैमित्तिक क्रिया से क्या-क्या होता है इस सर्व व्यवस्था को भी शुद्ध ज्ञान जानता हैं।

अभिप्राय यह है कि छ द्रव्यो को, उनके सामान्य व विशेष गुणो

को, उनकी स्वाभाविक व वैभाविक पर्यायो को—जगत की सर्व व्यवस्था को शुद्ध ज्ञान ठीक-ठीक जानता है। जैसा सूर्य का प्रकाश घटपट, नगर द्वार, गली, महल, वृक्ष, पर्वत, ककड, पत्थर, तावा, लोहा, पीतल, नदी, सरोवर, झील, खाई आदि सर्व पदार्थों को—उनके आकार को जैसा है वैसा दिखलाता है वैसे शुद्ध ज्ञान सूर्य प्रकाश के समान सर्व पदार्थो का सब कुछ स्वरूप जैसा का तैसा जानता है और जैसे सूर्य सर्व को प्रकाश करता हुआ भी किसी पर राग द्वेष नही करता है। कोई सूर्य को अर्घ चढावे तो उस पर प्रसन्न नही होता है, कोई सूर्य की निन्दा करे तो उस पर अप्रसन्न या क्रोधित नही होता है—पूर्ण समदर्शी है। अपने ताप व प्रकाश से सर्व पदार्थो को गुणकारी हो जाता है—वह कुछ विचार नही करता है कि मैं किसी को लाभ पहुँचाऊँ व हानि पहुँचाऊँ। वह तो पूर्ण वीतरागता से प्रकाश करता है। भले ही कोई लाभ मान लो व कोई हानि मान लो। उसी तरह शुद्ध ज्ञान सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायो को यथार्थ जानते हुए भी न किसी से राग करता है न द्वेष करता है न प्रशसा किए जाने पर उन्मत्त होता है न निन्दा किये जाने पर रुष्ट होता है। पूर्ण समदर्शी, वीतरागी, निराकुल रहता है। जैसे सर्वज्ञ वीतरागपना सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है वैसे ही सर्वज्ञ वीतरागपना हरएक आत्मा का स्वभाव है।

आत्मा के स्वभाव में मोह का किंचित् भी मल नही है इसलिए आत्मा का ज्ञान जानता हुआ भी न क्रोध करता है, न मान करता है, न माया करता है, न लोभ करता है, न हास्यभाव करता है, न रति करता है, न अरति करता है, न शोक करता है, न भय करता है, न जुगुप्सा या घृणा करता है, न कोई काम का विकार करता है। वह मोह मदिरा के सयोग बिना किंचित् भी मोहित नही होता, दोषित नही होता। आत्मा का स्वभाव सर्वज्ञ वीतरागता है, यही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। विभावपना, अल्पज्ञानपना ज्ञानावरण कर्म के उदय से है। रागद्वेष, मोह, मोहनीय कर्म के उदय से हैं। जितनी कुछ अन्तरग अवस्थाएँ आत्मा की वैभाविक

होती हैं वे सब चार घातीय कर्मों के उदय से हैं। जितनी कुछ बाहरी सामग्री का सयोग आत्मा से होता हैं, वह चार अघातीय कर्मों के उदय से हैं, यह सब जानना भी सम्यग्ज्ञान है। सिद्ध परमात्मा अरहन्त केवली परमात्मा के ज्ञान मे और सम्यग्दृष्टी अविरति या विरती के ज्ञान मे पदार्थों के स्वरूप के जानने की अपेक्षा कोई अन्तर नही है। जैसा केवली जानते हैं, वैसा स्याद्वादी श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टी भी जानता है। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, स्वभाव या विभाव पर्याय की अपेक्षा वस्तु का क्या स्वरूप है, यह सब ज्ञान जैसा केवलीभगवान को होता है, वैसा सम्यग्दृष्टी को होता है। मात्र अन्तर यह है कि केवली भगवान शुद्ध स्वाभाविक केवलज्ञान से जानते हैं और यह श्रुतज्ञानी श्रुतज्ञान के द्वारा परोक्ष जानता है। केवलज्ञानी अधिक पर्यायो को जानते हैं। श्रुतज्ञानी कम पर्यायोको जानता है। परन्तु जितना कुछ श्रुतज्ञानी जानता है वह केवलज्ञानी के सदृश ही, अनुकूल ही जानता है प्रतिकूल नही जानता है और जैसे केवलज्ञानी सर्व कुछ जानते हुए भी पूर्ण वीतराग हैं वैसे ही सम्यग्दृष्टी का ज्ञान भी वीतरागभाव से जानता है, वह भी रागद्वेष बिना किये हुए अपनी व दूसरो की कर्मजनित अवस्था को वस्तु स्वरूप से जानता है इसलिए सम्यग्दृष्टो को भी ज्ञाता कहते हैं, उदासीन कहते हैं।

केवल अन्तर यह है कि सम्यग्दृष्टी दो प्रकार के होते हैं—एक वीतराग दूसरे सराग। ध्यानस्थ आत्मलीन सम्यग्दृष्टी को वीतराग कहते हैं, वह सम्पूर्ण मन वचन, काय की क्रियाओ से विरक्त रहता हुआ उसी तरह आत्मा के आनन्द का स्वाद ले रहा है जैसे सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा लेते हैं। सराग सम्यक्ती मन, वचन, काय की क्रियाओ को रागपूर्वक करता है। तथापि वह इन सर्व क्रियाओ का कर्ता अपने को नही मानता है। आत्मा ज्ञाताद्दृष्टा है, यही बुद्धि रखता है, कषाय के उदय से उसे व्यवहार कार्यो को अपनी २ पदवी के अनुकूल करना पडता है। उनको वह अपना कर्तव्य नही जानता है, कर्मोदय जनित रोग जानता है। उस सराग सम्यक्ती का ज्ञान व श्रद्धान तो वीतराग सम्यग्दृष्टी के समान है, केवल चारित्र मोह के उदय का अपराध है, उसको वह

सम्यग्दृष्टी कर्म का उदय जानता है उसे पर ही अनुभव करता है। सर्व मन, वचन, काय की क्रियाओ को भी पर जानता है। इसलिए वह भी पूर्ण उदासीन हैं।

भावना यह है कि कब यह सरागता मिटे और मैं वीतराग हो जाऊ। तत्वज्ञानी सम्यक्ती का यह ज्ञान कि मैं निश्चय से परमात्मावत् शुद्ध निर्विकार ज्ञाता दृष्टा हूँ, आत्मज्ञान कहलाता है। यही आत्मज्ञान परम सुखसाधन है। इस आत्मज्ञान को ही निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। इसी को जिनवाणी का सार **भावश्रुतज्ञान** कहते है। इसी आत्मज्ञान मे उपयोग की थिरता को स्वरूपाचरण चारित्र कहते हैं स्वानुभव कहते हैं या आत्मध्यान कहते हैं। भावश्रुतज्ञान के द्वारा आत्मा का अनुभव दुईज का चन्द्रमा है, वही अभ्यास के बल से बढ़तेर पूर्णमासी का चन्द्रमा रूप केवल ज्ञान हो जाता है। जिस रत्नत्रय से सहजसुख की सिद्धि होती है, उसमे आत्मज्ञान ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

इस आत्मज्ञान की प्राप्ति के लिए द्रव्यश्रुत द्वारा छ द्रव्य, पचास्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थो का ज्ञान आवश्यक है जिसके थान के लिए परमागम का अभ्यास करना बहुत आवश्यक है। इस शास्त्राभ्यास को व्यवहारसम्यग्ज्ञान कहते हैं।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान—जिनवाणी मे बहुत से शास्त्रो का सग्रह है उनको चार अनुयोगो मे विभाजित किया गया है, जिनको चार वेद भी कहा जा सकता है।

प्रथमानुयोग—प्रथम अवस्था के कम ज्ञानी शिष्यो को तत्वज्ञान की रुचि कराने मे जो समर्थ हो उसको प्रथमानुयोग कहते हैं। इसमे उन महान पुरुषो के व महान स्त्रियो के जीवन चरित्र है जिन्होने धर्म धार के आत्मा की उन्नति की है। इसमे उन चरित्रो का भी कथन है जिन्होंने पाप बाधकर दुःख उठाया है व जिन्होने पुण्य बाधकर सुख साताकारी साधन प्राप्त किया है। इस तरह के वर्णन को पढने से यह असर बुद्धि पर पड़ता है कि हमको भी धर्म का साधन करके अपना हित करना

योग्य है ।

दूसरा अनुयोग **करणानुयोग** हैं । इसमे चार गति का स्वरूप और लोक का स्वरूप बताया है तथा जीवो की अवस्था के भेद गुणस्थान व मार्गणास्थानो का कथन है तथा कर्मो के वन्ध, उदय, सत्ता आदि का निरूपण है । वह सव हिसाब वताया है जिससे आत्मा की अवस्थाएँ कर्म के संयोग से भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं । इस ज्ञान की अध्यात्म ज्ञान के लिये वहुत आवश्यकता है । जो गुणस्थानो को समझेगा वह ठीक-ठीक जानेगा कि सम्यग्दृष्टी किस अपेक्षा बन्धक है तथा किस अपेक्षा अबन्धक है । तथा कर्म बन्ध कौन से गुणस्थान तक होता है तथा कर्मो की अवस्था कैसे बदली जा सकती है । यह आत्मज्ञान का बडा ही सहकारी है । कर्म पुद्गल की सगति से जीव के सर्व व्यवहार नृत्य का दिग्दर्शन इस अनुयोग से होता है ।

तीसरा अनुयोग **चरणानुयोग** है—मन वचन काय को थिर करने के लिये स्वरूपाचरणमयी निश्चय चारित्र मे उपयुक्त होने के लिये जिस जिस व्यवहार चारित्र की आवश्यकता है वह सव इस अनुयोग मे वताया है । साधु का क्या चारित्र है व गृहस्थ श्रावक का क्या चारित्र है, वह सव विस्तार पूर्वक इस तरह बताया गया है कि हर एक स्थिति का मानव अपनी योग्यतानुसार उसका आचरण कर सके तथा सहज सुख का साधन करता हुआ राज कर्तव्य, देश रक्षा कर्म, वाणिज्य कर्म, कृषि कर्म, शिल्प कर्म आदि गृहस्थ योग्य आवश्यक कर्म भी कर सके, देश परदेश मे नाना प्रकार वाहन द्वारा भ्रमण कर सके । लौकिक उन्नति सर्व तरह से न्यायपूर्वक करते हुए सहज सुख का साधन किया जा सके । जैसे जैसे वैराग्य बढे वैसे वैसे चारित्र को अधिक अधिक पाला जा सके व अधिक अधिक आत्मध्यान की उन्नति की जा सके ।

चौथा अनुयोग **द्रव्यानुयोग** है—इसमे छ द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्व, नौ पदार्थ का व्यवहार नय से पर्यायरूप तथा निश्चय नय से द्रव्य रूप कथन है । इसीमे शुद्धात्मानुभव की रीतियाँ बताई हैं, [illegible]व रहने का साधन बताया हैं, अतीन्द्रिय सहज सुख की प्राप्ति का [illegible]स।

उपाय बताया है। इन चार अनुयोगो के शास्त्रो को नित्य प्रति यथा सम्भव अभ्यास करना व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन है।

जैसे सम्यग्दर्शन के आठ अग हैं वैसे इस सम्यग्ज्ञान के भी आठ अग हैं। यदि आठ अगो के साथ शास्त्राभ्यास को किया जायगा तो ही ज्ञान की वृद्धि होगी, अज्ञान का नाश होगा। तथा भावो की शुद्धि होगी, कषायो की मन्दता होगी ससार से राग घटेगा, वैराग्य बढेगा, सम्यक्त की निर्मलता होगी, चित्त निरोध की कला मालूम होगी। आठ अगो को ध्यान मे रखते हुए शास्त्रो का अभ्यासी मन, वचन, काय को लीन कर लेता है—पढते पढते आत्मानन्द की छटा छा जाती है।

सम्यग्ज्ञान के आठ अग (१) ग्रन्थ शुद्धि—शास्त्र के वाक्यो को शुद्ध पढना। जब तर्क शुद्ध नही पढेगे तब तक उसका अर्थ नही भासेगा।

(२) **अर्थ शुद्धि**—शास्त्रका अर्थ ठीक ठीक समझना। जिन आचार्यों ने ग्रन्थ रचना की है उन्होने अपना ज्ञान पदो की स्थापना मे रख दिया है तब उन्ही स्थापना रूप पदो के द्वारा वही ज्ञान ग्रहण कर लेना जरूरी है जो ज्ञान ग्रन्थ कर्ताओ के द्वारा उसमे भरा गया था या स्थापित किया गया था। जैसे दिशावर से आया हुआ पत्र जब ऐसा पढकर समझा जाता है कि जो मतलब भेजने वाले ने लिखा था वही जान लिया गया तब ही पत्र पढने का लाभ होता है इसलिए ग्रन्थ के यथार्थ भाव को समझना अर्थ शुद्धि है।

(३) **उभय शुद्धि**—ग्रन्थ को शुद्ध पढना और शुद्ध अर्थ समझना, दोनो का ध्यान एक साथ रखना उभय शुद्धि है।

(४) **कालाध्ययन**—शास्त्रो को ऐसे समय पर पढना जब परिणामो मे निराकुलता हो। सन्ध्या का समय आत्म ध्यान तथा सामायिक करने का होता है उस समय को सवेरे दोपहर व साझ को बचा लेना चाहिये तथा ऐसे समय पर भी शास्त्र पढने मे उपयोग न लगेगा जब कोई घोर आपत्ति का समय हो, तूफान हो रहा हो, भूचाल हो रहा हो, घोर कलह या युद्ध हो रहा हो, किसी महापुरुष के मरण का शोक मनाया जा रहा

हो, ऐसे आपत्तियो के समय पर शान्ति से ध्यान करना योग्य है।

(५) **विनय**—बडे आदर से शास्त्रो को पढना चाहिये, बडी भक्ति भावो में रखनी चाहिये कि मैं शास्त्रों को इसीलिये पढता हूँ कि मुझे आत्म ज्ञान का लाभ हो, मेरे जीवन का समय सफल हो। अन्तरग प्रेम पूर्ण भक्ति को विनय कहते हैं।

(६) **उपधान**—धारणा करते हुए ग्रन्थ को पढना चाहिये। जो कुछ पढा जावे वह भीतर जमता जावे जिससे वह पीछे स्मरण मे आ सके। यदि पढते चले गये और ध्यान मे न लिया तो अज्ञान का नाश नही होगा। इसलिये एकाग्रचित्त होकर ध्यान के साथ पढना, धारणा मे रखते जाना उपधान है। यह बहुत जरूरी अग है, ज्ञान का प्रवल साधन है।

(७) **बहुमान**—शास्त्र को वहुत मान या प्रतिष्ठा से विराजमान करके पढना चाहिये। उच्च चौकी पर रखकर आसन से बैठकर पढना उचित है तथा शास्त्र को अच्छे गत्ते वेष्टन से विभूषित करके जहाँ दीमक न लगे, शास्त्र सुरक्षित रहे, इस तरह विराजमान करना चाहिये।

(८) **अनिह्नव**—शास्त्रज्ञान अपने को हो उसको छिपाना नही चाहिये, कोई समझना चाहे तो उसको समझाना चाहिये। तथा जिस गुरु से समझा हो उसका नाम न छिपाना चाहिये। इस तरह जो आठ अगों को पालता हुआ शास्त्रो का मनन करेगा वह व्यवहार सम्यग्ज्ञान का सेवन करता हुआ आत्म ज्ञान रूपी निश्चय सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सकेगा।

ज्ञान के आठ भेद—यद्यपि ज्ञान एक ही हैं, वह आत्मा का स्वभाव है, उसमे कुछ भेद नही है जैसे सूर्य के प्रकाश मे कोई भेद नही है तथापि सूर्य के ऊपर घने मेघ आ जावे तो प्रकाश कम झलकता है मेघ उससे कम हो तो और अधिक प्रकाश प्रगट होता, और अधिक कम मेघ हो तो और अधिक प्रकाश झलकता। और भी अधिक कम मेघ हो तो और भी अधिक प्रकाश प्रगट होता। बिल्कुल मेघ न हो तो पूर्ण प्रकाश प्रकट होता है। इस तरह मेघो के कम व अधिक आवरण के कारण सूर्य प्रकाश के पाँच भेद हो सकते है। तथा और भी सूक्ष्म विचार करोगे तो सूर्य प्रकाश के अनेक भेद हो सकते हैं उसी तरह ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम या क्षय के अनुसार ज्ञान के मुख्य पाच भेद हो गये हैं—**मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधि**

ज्ञान, **मन पर्ययज्ञान, तथा केवलज्ञान।** मति, श्रुत, अवधि तीन ज्ञान जब मिथ्यादृष्टी को होते हैं—**कुमति, कुश्रुत, कुअवधि** कहलाते हैं, सम्यग्दृष्टी के मति, श्रुत, अवधि कहलाते हैं। इस तरह तीन कुज्ञान को लेकर ज्ञान के आठ भेद हो जाते हैं।

मतिज्ञान—पाच इन्द्रिय तथा मन के द्वारा सीधा किसी पदार्थ का जानना मतिज्ञान है। जैसे स्पर्शइन्द्रिय से स्पर्श करके किसी पदार्थ को ठण्डा, गरम, रूखा, चिकना, नरम, कठोर, हलका, भारी जानना। रसना इन्द्रिय से रसना द्वारा रसन योग्य पदार्थ को स्पर्श करके खट्टा, मीठा, चरपरा, कडवा, कसायला या मिश्रित स्वाद जानना। नासिका इन्द्रिय से गन्धयोग्य पदार्थ को छूकर सुगन्ध या दुर्गन्ध जानना। चक्षु इन्द्रिय से विना स्पर्श किये दूर से किसी पदार्थ को सफेद, लाल, पीला, काला या मिश्रित रग रूप जानना। कानो से शब्द स्पर्श कर सुरीला व असुरीला शब्द जानना। मन के द्वारा दूर से किसी अपूर्व बात को यकायक जान लेना। इस तरह जो सीधा ज्ञान इन्द्रिय व मन से होता है उसको मति-ज्ञान (**direct knowledge through senses and mind**) कहते हैं। जितना मतिज्ञानावरण का क्षयोपशम होता है उतनी ही अधिक मतिज्ञान की शक्ति प्रगट होती है। इसलिए सर्व प्राणियो का मतिज्ञान एकसा नही मिलेगा। किसी के कम, किसी के अधिक, किसी के मन्द, किसी के तीव्र। जानी हुई चीज का स्मरण हो जाना व एक दफे इन्द्रियो से व मन से जानी हुई चीज को फिर ग्रहण कर पहचानना कि वही है यह सज्ञा ज्ञान, तथा यह चिन्ता ज्ञान कि जहा २ धूम होगा वहा २ आग होगी। जहा २ सूर्य का प्रकाश होगा कमल प्रफुल्लित होगे। तथा चिह्न को देखकर या जानकर चिह्नो का जानना, धूम को देखकर अग्नि का जानना यह अनुमान ज्ञान, ये सब भी मतिज्ञान हैं क्योकि मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से होते हैं।

श्रुतज्ञान—मतिज्ञान से जाने हुए पदार्थ के द्वारा दूसरे पदार्थ का या विषय का जानना श्रुतज्ञान है। जैसे कान से आत्मा शब्द सुना यह मतिज्ञान है। आत्मा शब्द से आत्मा के गुणपर्याय आदि का बोध करना

श्रुतज्ञान है। इसीलिए शास्त्रज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। हम अक्षरो को देखते हैं या सुनते हैं उनके द्वारा फिर मन से विचार करके शब्दो से जिन २ पदार्थों का सकेत होता है उनको ठीक २ जान लेते हैं यही श्रुत ज्ञान है, यह श्रुतज्ञान मन के ही द्वारा होता हैं। श्रुतज्ञान के दो भेद हैं— अक्षरात्मक श्रुतज्ञान, अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान। जो अक्षरो के द्वारा अर्थ विचारने पर हो वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है जैसे शास्त्र द्वारा ज्ञान। जो स्पर्शनादि इन्द्रियो से मतिज्ञान द्वारा पदार्थ को जानकर फिर उस ज्ञान के द्वारा उस पदार्थ मे हित रूप या अहित रूप बुद्धि हो सो अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। यह एकेन्द्रियादि सब प्राणियो को होता हैं। जैसे वृक्ष को कुल्हाडी लगाने से कठोर स्पर्श का ज्ञान होना सो मति ज्ञान है। फिर उससे दु ख का बोध होना श्रुतज्ञान है। लटको रसना के द्वारा स्वाद का ज्ञान होना मतिज्ञान है, फिर उसे वह सुखदाई या दु ख-दाई भासना श्रुतज्ञान है। चीटी को दूर से सुगन्ध आना मतिज्ञान है फिर सुगन्धित पदार्थ की ओर आने की बुद्धि होना श्रुतज्ञान है। पतग को आख से दीपक का वर्ण देखकर ज्ञान होना मतिज्ञान हैं। वह हितकारी भासना श्रुतज्ञान है। कर्ण से कठोर शब्द सुनना मतिज्ञान है, वह अहित-कारी भासना श्रुतज्ञान है। मतिश्रुतज्ञान सर्व प्राणियो को सामान्य से होते हैं। एकेन्द्रियादि पचेन्द्रिय पर्यन्त सबके इन दो ज्ञानो से कम ज्ञान नही होते हैं। इन दो ज्ञानो की शक्ति होती है, परन्तु ये ज्ञान भी क्रम से काम करते हैं।

अवधिज्ञान—अवधि नाम मर्यादा का है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिए हुए पुद्गलो को या पुद्गल सहित अशुद्ध जीवो का वर्णन जानना इस ज्ञान का काम है। द्रव्य से मतलब है कि मोटे पदार्थ को जाने कि सूक्ष्म को जाने, क्षेत्र से मतलब है कि कितनी दूर तक की जाने, १ कोस की या १०० या १००० या १०००० आदि कोस तक की जाने। काल से मतलब है कि कितने समय आगे व पीछे की जाने। १० वर्ष, १०० वर्ष, एक भव या अनेक भव को आगे पीछे। भाव से मतलब अवस्था विशेष या स्वभाव विशेष से है। अवधिज्ञान के बहुत से भेद हो सकते हैं, जिसको

जितना अवधिज्ञानावरण कर्म का क्षयोपशम होता है उतना कम या अधिक अवधिज्ञान होता है। इस ज्ञान के होने मे मन व इन्द्रियो की जरूरत नही हैं। आत्मा स्वयं ही जानता है। देव तथा नारकियो को तो जन्म से ही होता है। पशुओ को व मानवो को सम्यक्त के व तप के प्रभाव से होता है। यह एक प्रकार की ऐसी विशेष शक्ति का प्रकाश है जिससे अवधिज्ञानी किसी मानव को देखकर विचारता हुआ उसके पूर्व जन्म व आगामी जन्म की घटनाओ को जान सकता है। योगी तपस्वी ऐसा अधिक अवधिज्ञान पा सकते हैं कि सैकडो जन्म पूर्व व आगे की बाते जान लेवें। ज्ञान की जितनी निर्मलता होती है उतना ही उसका अधिक प्रकाश होता है।

मन:पर्ययज्ञान—दूसरो के मन मे पुद्गल व अशुद्ध जीवो के सम्बन्ध मे क्या विचार चल रहा है व विचार हो चुका है व विचार होवेगा उस सर्व को जो कोई आत्मा के द्वारा जान सके वह मन पर्ययज्ञान है। यह ज्ञान बहुत सूक्ष्म बातो को जान सकता है, जिनको अवधिज्ञानी भी न जान सके इसलिए यह ज्ञान अवधिज्ञान से अधिक निर्मल है। यह ज्ञान ध्यानी, तपस्वी, योगियो के ही होता हैं—सम्यग्दृष्टी महात्माओ के ही होता हे। मन पर्यय ज्ञानावरण कर्म के कम व अधिक क्षयोपशम के अनुसार किसी को कम या किसी को अधिक होता है।

केवलज्ञान—सर्व ज्ञानावरण कर्म के क्षय होने से अनन्तज्ञान का प्रकाश होना केवलज्ञान है। यही स्वाभाविक पूर्ण ज्ञान है, जो परमात्मा अरहन्त तथा सिद्ध मे सदा व्यक्ति रूप से चमकता रहता है। ससारी जीवो मे शक्तिरूप से रहता है उस पर ज्ञानावरण का परदा पडा रहता है। जब शुक्लध्यान के प्रभाव से सर्व ज्ञानावरण कर्म का क्षय हो जाता है तबही यह ज्ञान तेरहवे गुणस्थान मे सयोग केवली जिन को प्रगट होता है। एक दफे प्रकाश होने पर फिर यह मलीन नही होता हैं, सदा ही शुद्ध स्वभाव मे प्रगट रहता है। पाच ज्ञानो मे मति, श्रुत परोक्ष है क्योकि इन्द्रिय व मन से होते है परन्तु तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं—आत्मा से ही होते हैं।

श्रुतज्ञान ही केवलज्ञान का कारण है—इन चार ज्ञानो मे श्रुतज्ञान ही ऐसा ज्ञान है जिससे शास्त्रज्ञान होकर आत्माका भेदविज्ञान होता है कि यह आत्मा भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि व नोकर्म शरीरादि

से भिन्न है, सिद्धसम शुद्ध है। जिसको आत्मानुभव हो जाता है वही भाव-श्रुत ज्ञान को पा लेता है। यही आत्मानुभव ही केवलज्ञान को प्रकाश कर देता है। किसी योगी को अवधिज्ञान व मन पर्ययज्ञान नही भी हो तो भी श्रुतज्ञान के बल से केवलज्ञान हो सकता है। अवधि मनःपर्ययज्ञान का विषय ही शुद्धात्मा नही है, ये तो रूपी पदार्थ को ही जानते है जबकि श्रुतज्ञान अरूपी पदार्थो को भी जान सकता है इसलिए श्रुतज्ञान प्रधान है। हम लोगो को उचित है कि हम शास्त्रज्ञान का विशेष अभ्यास करते रहे जिससे आत्मानुभव मिले। यही सहज सुख का साधन है व यही केवलज्ञान का प्रकाशक है।

चार दर्शनोपयोग—पहले हम बता चुके है कि जीव के पहचानने के आठ ज्ञान व चार दर्शन साधन है। दर्शन और ज्ञान मे यह अन्तर है कि ज्ञान साकार है, दर्शन निराकार है। दर्शन मे पदार्थ का बोध नही होता है। जब बोध होने लगता है तब उसे ज्ञान कहते है। जिस समय आत्मा का उपयोग किसी पदार्थ के जानने की तय्यारी करता है तब ही दर्शन होता है, उसके पीछे जो कुछ ग्रहण मे आता है वह ज्ञान है। कर्ण मे शब्द आते ही जब उपयोग उधर गया और शब्द को जाना नही तब दर्शन है। जब जान लिया कि शब्द है तब ज्ञान कहा जाता है। अल्पज्ञानियो के दर्शनपूर्वक मतिज्ञान होता है, मतिज्ञानपूर्वक श्रुतज्ञान होता है। सम्यग्दृष्टी महात्माओ को अवधि दर्शनपूर्वक अवधिज्ञान होता है। केवलज्ञानी को केवलदर्शन, केवलज्ञान के साथ-साथ होता है। चक्षुइन्द्रिय द्वारा जो दर्शन हो वह चक्षुदर्शन है। जैसे आख ने घडी को जाना यह मतिज्ञान है। इसके घडी के आकार को जानने के पहले जो उपयोग चक्षु-इन्द्रिय द्वारा जानने को तय्यार हुआ परन्तु जाना कुछ नही वह चक्षुदर्शन है। जब जान लिया कि यह घडी है तब यह मतिज्ञान है। इसी तरह चक्षु इन्द्रिय के सिवाय चार इन्द्रिय और मन से जो दर्शन होता है वह अचक्षु दर्शन है। अवधिदर्शन सम्यक्ती ज्ञानियो को आत्मा से होता है। केवलदर्शन सर्वदर्शी है, वह दर्शनावरण कर्म के सर्वथा क्षय से प्रगट होता है।

निश्चय और व्यवहारनय—प्रमाण जब वस्तु को सर्वांग ग्रहण

करता है तब नय वस्तु के एक अंश को ग्रहण करता है व बताता है। पहले कहे गए पाचो ज्ञान प्रमाण है व तीन कुज्ञान प्रमाणाभास है। जैसे कोई मानव व्यापारी है और मजिस्ट्रेट भी है, प्रमाणज्ञान दोनो बातो को एक साथ जानता है। नयकी अपेक्षा किसी समय वह व्यापारी कहा जायगा तब मजिस्ट्रेटपना गौण रहेगा व कभी मजिस्ट्रेट कहा जायगा तब व्यापारीपना गौण रहेगा। अध्यात्म शास्त्रो मे निश्चयनय और व्यवहार-नय का उपयोग बहुत मिलता है। स्वाश्रय निश्चय पराश्रय व्यवहार जो नय एक ही वस्तु को उसी को पर की अपेक्षा बिना वर्णन करे वह निश्चयनय है। जो किसी वस्तु को पर की अपेक्षा से और का और कहे वह व्यवहारनय है। एक खडग सोने की म्यान के भीतर है, उसमे खडग को खडग और म्यान को म्यान कहना निश्चयनय का काम है। तथा सोने की खडग कहना व्यवहारनय का काम है। लोक मे ऐसा व्यवहार चलता है कि परके सयोग से उस वस्तु को अनेक तरह से कहा जाता है।

जैसे दो खडग रक्खी है, एक चादी के म्यान मे है और एक सोने की म्यान मे हैं। किसी को इनमे से एक ही खडग चाहिए थी, वह इतना लम्बा वाक्य नही कहता है कि सोने की म्यान मे रक्खी हुई खडग लाओ, किन्तु छोटासा वाक्य कह देता है कि सोने की खडग लाओ। तब यह वचन व्यवहार मे असत्य नही है, किन्तु निश्चय से असत्य है, क्योकि यह भ्रम पैदा कर सकता है कि खडग सोने की है जबकि खडग सोने की नही है। इसी तरह हमारी आत्मा मनुष्य आयु व गति के उदय से मनुष्य शरीर मे है, आत्मा भिन्न है। तैजस कार्माण और औदारिक शरीर भिन्न है। निश्चयनय से आत्मा को आत्मा ही कहा जायगा। व्यवहार-नय से आत्मा को मनुष्य कहने का लोक व्यवहार है क्योकि मनुष्य शरीर मे वह विद्यमान है। आत्मा को मनुष्य कहना व्यवहार से सत्य है तो भी निश्चयनय से असत्य है, क्योकि आत्मा मनुष्य नही है, उसका कर्म मनुष्य है, उसका देह मनुष्य है।

निश्चयनय को भूतार्थ, सत्यार्थ, वास्तविक असल मूल कहते है। व्यवहारनय को असत्यार्थ, अभूतार्थ, अयथार्थ, अवास्तविक कहते हैं।

ससारी आत्मा को समझने के लिये व पर के सयोग मे प्राप्त किसी भी वस्तु को समझने के लिये दोनो नयो की आवश्यकता पडती है। कपडा मलीन है उसको शुद्ध करने के लिये दोनो नयो के ज्ञान की जरूरत हे। निश्चय नय से कपडा उज्वल है, रुई का बना है, व्यवहार नय से मैला कहाता हैं क्योकि मैल का सयोग है। यदि एक ही नय या अपेक्षा को समझे तो कपडा कभी स्वच्छ नही हो सकता है। यदि ऐसा मानले कि कपडा सर्वथा शुद्ध ही हे तब भी वह शुद्ध नही किया जायगा। यदि मानले कि मैला ही हैं तव भी वह शुद्ध नही किया जायगा। शुद्ध तव ही किया जायगा जब यह माना जायगा कि असल मे मूल मे तो यह शुद्ध है परन्तु मैल के सयोग से वर्तमान मे इसका स्वरूप मैला हो रहा है। मैल पर है छुडाया जा सकता है ऐसा निश्चय होने पर ही कपडा साफ किया जायगा। इसी तरह निश्चय नय कहता है कि आत्मा शुद्ध ह। व्यवहारनय कहता है कि आत्मा अशुद्ध है, कर्मो से वद्ध है–दोनो वातो को जानने पर ही कर्मो को काटने का पुरुषार्थ किया जायगा।

निश्चयनय के भी दो भेद अध्यात्म शास्त्रो मे लिये गये गए है---एक शुद्ध निश्चयनय, दूसरा अशुद्ध निश्चयनय। जिसका लक्ष्य केवल शुद्ध गुण पर्याय व द्रव्य पर हो वह शुद्ध निश्चयनय है व जिसका लक्ष्य उसी एक द्रव्य के अशुद्ध द्रव्य, गुण पर्याय पर हो वह अशुद्ध निश्चय ह। जैसे जीव सिद्धसम शुद्ध है यह वाक्य शुद्ध निश्चयनय से कहा जाता हैं। यह जीव रागी द्वेषी हैयह वाक्य अशुद्ध निश्चयनय से कहा जाता है। राग द्वेष जीव के ही नैमित्तिक व औपाधिक भाव हैं। उन भावो मे मोहनीय कर्म का उदय सयोग पा रहा हैं इसलिये वे भाव शुद्ध नही है, अशुद्ध भाव हे। इन अशुद्ध भावो को आत्मा के भाव कहना अशुद्ध निश्चयनय से ठीक है, जवकि शुद्ध निश्चयनय से ठीक नही हैं। ये दोनो नय एक ही द्रव्य पर लक्ष्य रखते हैं।

व्यवहारनय के कई भेद हैं—**अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय।** यह वह नय है कि पर वस्तु का किसी से सयोग होते हुए ही पर को उसका कहना। जैसे यह घी का घडा है। इसमे घी का सयोग है इसलिये

घड़े को घी का घड़ा कहते है। यह जीव पापी है, पुण्यात्मा है। यह जीव मानव है, पशु है। यह गोरा है, यह काला है। ये सब वाक्य इस नय से ठीक हैं, क्योंकि कार्माण व औदारिक शरीर का सयोग है इसलिये अनुपचरित है परन्तु है आत्मा के मूल स्वरूप से भिन्न इसलिये असद्भूत हैं। बिलकुल भिन्न वस्तु को किसी की कहना **उपचरित असद्भूत व्यवहार नय है**। जैसे यह दूकान रामलाल की है, यह टोपी बालक की है, यह स्त्री रामलाल की है, यह गाय फतहचन्द की है यह कपड़े मेरे है यह आभूषण मेरे हैं, यह देश मेरा है।

निश्चयनय का विषय जब वस्तु को अभेद रूप से अखण्ड रूप से ग्रहण करना है तब उसी को खण्ड रूप से ग्रहण करना सद्भूत व्यवहारनय का विषय है। ऐसा भी शास्त्रों मे विवेचन है। जैसे आत्मा को अभेद एक ज्ञायक मात्र ग्रहण करना निश्चयनय का अभिप्राय है तब आत्मा को ज्ञान रूप, दर्शन रूप, चारित्र रूप इस तरह गुण व गुणी भेद करके कहना सद्भूत व्यवहार नय का विषय है। कही कही इस सद्भूत व्यवहार को भी निश्चय नय मे गर्भित करके कथन किया गया है क्योंकि यह सद्भूत व्यवहार भी एक ही द्रव्य की तरफ भेद रूप से लक्ष्य रखता है, पर की तरफ लक्ष्य नही हैं। जहा पर की तरफ लक्ष्य करके पर का कथन है वह असद्भूत व्यवहारनय है या सामान्य से ही व्यवहारनय है।

द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नय—जो नय या अपेक्षा केवल द्रव्य को लक्ष्य में लेकर वस्तु को कहे वह द्रव्यार्थिक है। जो द्रव्य की किसी पर्याय को लक्ष्य मे लेकर कहे वह पर्यायार्थिक है। जैसे द्रव्यार्थिकनय से हर एक आत्मा समान रूप से शुद्ध है, निज स्वरूप मे है। पर्यायार्थिकनय से आत्मा सिद्ध है, ससारी है, पशु है, मानव है, वृक्ष है, इत्यादि। यह आत्मा नित्य है द्रव्यार्थिकनय का वाक्य है यह आत्मा ससारी अनित्य है, यह पर्यायार्थिक नय का वाक्य है, क्योंकि द्रव्य कभी नाश नही होता है, पर्याय क्षण मे बदलती है।

नैगमादि सप्तनय—जगत मे अपेक्षावाद के विना व्यवहार नही हो सकता है । भिन्न-भिन्न अपेक्षा से वाक्य सत्य माने जाते है। उन अपेक्षाओ को या नयो को बताने के लिये जिनसे लोक मे व्यवहार होता है, जैन सिद्धान्त मे सात नय प्रसिद्ध है—नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ, एवभूत । इनमे पहले तीन नय द्रव्यार्थिक मे गर्भित हैं क्योकि इनकी दृष्टि द्रव्य पर रहती है, शेष चार नय पर्यायार्थिक मे गर्भित है क्योकि उनकी दृष्टि पर्याय पर रहती है । तथा अन्त के तीन नयो की दृष्टि शब्द पर रहती है इसलिये वे शब्द नय हैं । शेष चार की दृष्टि पदार्थ पर मुख्यता से रहती हैं इससे वे अर्थनय है ।

नैगमनय—जिसमे सकल्प किया जावे वह नैगमनय है । भूतकाल की बात को वर्तमान मे सकल्प करना यह भूतनैगमनय है । जैसे कार्तिक सुदी १४ को कहना कि आज श्री वर्द्धमान स्वामी का निर्वाण दिवस है । भावी नैगमनय भविष्य की बात को वर्तमान मे कहता है जैसे अर्हन्त अवस्था मे विराजित किसी केवली को सिद्ध कहना । वर्तमान नैगमनय वह हैं जो वर्तमान की अधूरी बात को पूरी कहे जैसे—कोई लकडी काट रहा है, उससे किसी ने पूछा क्या कर रहे हो ? उसने कहा किवाड बना रहा हू क्योकि उसका उद्देश्य लकड़ी काटने मे किवाड ही बनाने का हैं ।

संग्रहनय—जो एक जाति के बहुत से द्रव्यो को एक साथ बतावे वह सग्रहनय है जैसे कहना कि सत् द्रव्य का लक्षण है । यह वाक्य सब द्रव्यो को सत् बताता है। जीव का उपयोग लक्षण हैं यह वाक्य सब जीवो का लक्षण उपयोग सिद्ध करता हैं ।

व्यवहारनय—जिस अपेक्षा से सग्रहनय से ग्रहीत पदार्थों का भेद करते चले जावे वह व्यवहार नय है । जैसे कहना कि द्रव्य छ हैं । जीव ससारी और सिद्ध हे । ससारी स्थावर व त्रस हैं । स्थावर पृथ्वी आदि पाच प्रकार के हैं । इत्यादि ।

ऋजूसूत्रनय—जो सूक्ष्म तथा स्थूल पर्याय मात्र को जो वर्तमान मे है उसी को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्रनय है। जैसे स्त्री को स्त्री, पुरुष को पुरुष, श्वान को श्वान, अश्व को अश्व, क्रोध पर्याय सहित को क्रोधी, दया भाव सहित को दयावान कहना।

शब्द नय—व्याकरण व साहित्य के नियमो की अपेक्षा से शब्दो को व्यवहार करना शब्दनय है। उसमे लिंग, वचन, कारक, काल आदि का दोष झलकता हो तो भी उसे नहीं गिनना सो शब्द नय है। जैसे स्त्री को सस्कृत मे दारा, भार्या, कलत्र कहते हैं। यहा दारा शब्द पुल्लिग है, कलत्र नपुन्सक लिंग है तो भी ठीक है। कोई महान् पुरुष आ रहा है उसे प्रतिष्ठावाचक शब्द मे कहते है—वे आ रहे हैं। यह वाक्य यद्यपि बहु वचन का प्रयोग एक वचन मे है तथापि शब्दनय से ठीक है। कही की कथा का वर्णन करते हुए भूतकाल मे वर्तमान का प्रयोग कर देते हैं जैसे सेना लड रही है, तोपे चल रही है, रुधिर की धारा बह रही है, मृतको के मुण्ड लोट रहे है, ये सब वाक्य भूतकाल के वर्तमान काल मे प्रयोग करना शब्दनय से ठीक है। शब्दनय मे शब्दो पर ही दृष्टि है कि शब्द भाषा साहित्य के अनुसार व्यवहार किया जावे।

समभिरूढ नय—एक शब्द के अनेक अर्थ प्रसिद्ध है। उनमे से एक अर्थ को लेकर किसी के लिए व्यवहार करना समभिरूढ नय है। जैसे गो शब्द के अर्थ नक्षत्र, आकाश, बिजली, पृथ्वी, वाणी आदि है, तो भी गाय के लिए भी व्यवहार करना समभिरूढ नय से ठोक है। यद्यपि गो शब्द के अर्थ जाने वाले के हैं। तथापि सोई, बैठी हरएक दशा मे गाय पशु को गो कहना समभिरूढ नय से ठीक है या एक पदार्थ के अनेक शब्द नियत करना, चाहे उनके अर्थों मे भेद हो, यह भी समभिरूढ नय से है। जैसे स्त्री को स्त्री, अबला, नारी आदि कहना। अथवा इन्द्र को शक्र, पुरन्दर, इन्द्र, सहस्राक्षी आदि कहना। यहा इन शब्दो के भिन्न २ अर्थ है तो भी एक व्यक्ति के लिए व्यवहार करना समभिरूढ नय से ठीक है।

एवंभूत—जिस शब्द का जो वास्तिवक अर्थ हो उसी समान क्रिया करते हुए को उसी शब्द से व्यवहार करना एवभूतनय है। जैसे वैद्यक करते हुए वैद्य को वैद्य कहना, दुर्बल स्त्री को ही अबला कहना, पूजन

करते को पुजारी कहना, राज्य करते हुए न्याय करते हुए को राजा कहना। लोक व्यवहार मे इन नयो की बडी उपयोगिता है।

स्याद्वादनय या सप्तभगवाणी—पदार्थ में अनेक स्वभाव रहते हैं जो साधारण रूप से विचारने मे विरोध रूप भासते हैं परन्तु वे सब भिन्न २ अपेक्षा से पदार्थ मे पदार्थरूप से पाए जाते हैं उनको समझाने का उपाय स्याद्वाद या सप्तभग है।

हरएक पदार्थ मे अस्ति या भावपना, नास्ति या अभावपना ये दो विरोधी स्वभाव है। नित्यपना तथा अनित्यपना ये भी दो विरोधी स्वभाव हैं। एकपना और अनेकपना ये भी दो विरोधी स्वभाव है। एक ही समय मे एक ही स्वभाव को वचन द्वारा कहा जाता है तब दूसरा स्वभाव यद्यपि कहा नही जाता है तौ भी पदार्थ मे रहता अवश्य है, इसी बात को जताने के लिए स्याद्वाद है।

स्यात् अर्थात् कथचित् अर्थात् किसी अपेक्षा से वाद अर्थात् कहना सो स्याद्वाद हैं। जैसे एक पुरुष पिता भी है पुत्र भी है उसको जब किसो को समझावेगे तब कहेगे कि स्यात् पिता अस्ति। किसी अपेक्षा से (अपने पुत्र की अपेक्षा से) पिता हैं। यहा स्यात् शब्द बताता है कि वह कुछ और भी है। फिर कहेगे स्यात् पुत्र अस्ति—किसी अपेक्षा से (अपने पिता की अपेक्षा से) पुत्र है। वह पुरुष पिता व पुत्र दोनो है ऐसा दृढ करने के लिए तीसरा भग कहा जाता है 'स्यात् पिता पुत्रश्च।'

किसी अपेक्षा से यदि दोनो को विचार करे तो वह पिता भी है, पुत्र भी है। वह पिता व पुत्र तो एक ही समय मे है परन्तु शब्दो मे यह शक्ति नही है कि दोनो स्वभावो को एक साथ कहा जा सके। अतएव कहते है चौथा भग—स्यात् अवक्तव्य। किसी अपेक्षा से यह वस्तु अवक्तव्य है, कथनगोचर नही है। यद्यपि यह पिता व पुत्र दोनो एक समय मे है, परन्तु कहा नही जा सकता। सर्वथा अवक्तव्य नही है इसी बात को दृढ करने के लिए शेष तीन भग है। स्यात् पिता अवक्तव्य च। किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता है, स्यात् पुत्र: अवक्तव्य च।

किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पुत्र है। स्यात् पिता पुत्रश्च अवक्तव्य च। किसी अपेक्षा से अवक्तव्य होने पर भी पिता व पुत्र दोनो है। इस तरह दो विरोधी स्वभावो को समझाने के लिए सात भग शिष्यो को दृढ ज्ञान कराने के हेतु किए जाते हैं। वास्तव मे उस पुरुष मे तीन स्वभाव हैं—पिता पना, पुत्र पना व अवक्तव्य पना। इसी के सात भग ही हो सकते है न छ, न आठ। जैसे—(१) पिता, (२) पुत्र, (३) पिता पुत्र, (४) अवक्तव्य, (५) पिता अवक्तव्य, (६) पुत्र अवक्तव्य, (७) पिता पुत्र अवक्तव्य।

यदि किसी को सफेद, काला, पीला तीन रग दिए जावें और कहा जावे कि इसके भिन्न २ रग वनाओ तो वह नीचे प्रमाण सात ही बना देगा।

१—सफेद, २—काला, ३—पीला, ४—सफेद काला, ५—सफेद पीला, ६—काला पीला, ७—सफेद पीला। इससे कम व अधिक नही बन सकते है।

आत्मा के स्वभाव को समझने के लिए इस स्याद्वाद की बडी जरूरत है। आत्मा मे अस्तित्व या भावपना अपने अखण्ड द्रव्य, अपने असख्यात प्रदेश रूप क्षेत्र, अपनी स्वाभाविक पर्याय रूप काल व अपने शुद्ध ज्ञानानन्दमय भाव की अपेक्षा हैं उसी समय इस अपने आत्मा मे सम्पूर्ण अन्य आत्माओ के, सर्व पुद्गलो के, धर्म, अधर्म, आकाश व काल के द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव का नास्तिपना या अभाव भी हे। अस्तित्व के साथ नास्तित्व न हो तो यह आत्मा है। यह श्री महावीरस्वामी का आत्मा है अन्य नही है यह बोध ही न हो। आत्मा मे आत्मापना तो है, परन्तु आत्मा मे भाव कर्म रागादि, द्रव्य कर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनका तथा अन्य सर्व द्रव्यो का नास्तित्व हैं या अभाव है ऐसा जानने पर आत्मा का भेदविज्ञान होगा, आत्मानुभव हो सकेगा। इसी को सात तरह से कहेगे—

१—स्यात् अस्ति आत्मा, २—स्यात् नास्ति आत्मा, ३—स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा, ४—स्यात् अवक्तव्य, ५—स्यात् अस्ति आत्मा अवक्तव्य च, ६—स्यात् नास्ति आत्मा अवक्तव्य च, ७—स्यात् अस्ति नास्ति आत्मा अवक्तव्य च। इसी तरह यह आत्मा अपने द्रव्य व स्वभाव

की अपेक्षा ध्रुव है नित्य है तब ही यह पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। इस तरह एक ही समय मे आत्मा मे नित्यपना तथा अनित्यपना दोनो स्वभाव हैं इसी को सात भगो द्वारा समझाया जा सकता है।

(१) स्यात् नित्य, (२) स्यात् अनित्य, (३) स्यात् नित्य अनित्यं (४) स्यात् अवक्तव्य, (५) स्यात् नित्य अवक्तव्य च, (६) स्यात् अनित्य अवक्तव्य च, (७) स्यात् नित्य अनित्य अवक्तव्य च।

इसी तरह आत्मा अनन्त गुणो का अभेद पिण्ड है,इसलिए एक रूप हैं। वही आत्मा उसी समय ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान रूप है, सम्यक्त गुण की अपेक्षा सम्यक्तरूप है, चारित्रगुण की अपेक्षा चारित्र रूप है, वीर्य गुण की अपेक्षा वीर्यरूप है। जितने गुण आत्मा मे है वे सर्व आत्मा मे व्यापक हैं। इसलिए उनकी अपेक्षा आत्मा अनेक रूप है। इसी के सप्त-भग इस तरह करेंगे—स्यात् एक, स्यात् अनेक, स्यात् एक अनेकश्च, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् एक अवक्तव्य च, स्यात् अनेक अवक्तव्य च, स्यात् एक अनेक अवक्तव्य च।

यह ससारी आत्मा स्वभाव की अपेक्षा शुद्ध है, उसी समय कर्म सयोग की अपेक्षा अशुद्ध है। इसके भी सात भग बनेंगे। स्यात् शुद्ध, स्यात् अशुद्ध, स्यात् शुद्ध अशुद्ध, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् शुद्ध अवक्तव्य च, स्यात् अशुद्ध अवक्तव्य च, स्यात् शुद्ध अशुद्ध अवक्तव्य च।

स्याद्वाद के बिना किसी पदार्थ के अनेक स्वभावो का ज्ञान अज्ञानी शिष्य को न होगा। इसलिए यह बहुत आवश्यक सिद्धान्त है, आत्मा के भेदविज्ञान के लिए तो बहुत जरूरी है। तथा यह स्याद्वाद का सिद्धान्त अनेक एकान्त मत के धारी हठ करने वालो को उनका एकान्त हठ छुडा कर उनमे प्रेम व ऐक्य स्थापन करने का भी साधन है।

जैसे दूर से किसी का मकान पाच आदमियो को दिखलाई दिया, वह मकान भिन्न २ स्थानो पर पाच तरह के रगो से रगा है। जिसको दृष्टि सफेदी पर पडी वह कहता है मकान सफेद है, जिसकी दृष्टि लाल रग पर पड़ी वह कहता है, मकान लाल है, जिसकी दृष्टि पीले रग पर

पडी वह कहता है, मकान पीला है, जिसकी दृष्टि नीले रग पर पडी वह कहता है, मकान नीला है, जिसकी दृष्टि काले रग पर पडी वह कहता है, मकान काला है। इस तरह आपस मे झगडते थे, तब एक समझदार ने कहा कि क्यो झगडते हो, तुम सब एकाश से सच्चे हो परन्तु पूर्ण सत्य नही हो। यह मकान पाच रग का है, ऐसा तुम समझो। जब पाचो ने यह बात समझ ली तब उन सबका एकान्त टूट गया तब सबको बडा आनन्द हुआ। इसी तरह अनेकान्त मत—अनेक स्वभाव वाले पदार्थ को अनेक स्वभाव वाला बताने को स्याद्वाद दर्पण के समान है व परस्पर विरोध मेटने को एक अटल न्यायाधीश के समान है। सहज सुख साधन के लिए तो बहुत ही उपयोगी है। कल्पित इन्द्रिय सुख को त्यागने योग्य व अतीन्द्रिय सुख को ग्रहण योग्य बताने वाला है।

सम्यग्ज्ञानका फल—निश्चयनय से आत्मा को आत्मा रूपही जानना सम्यग्ज्ञान है। जैसे सूर्य पर मेघो के आ जाने से प्रकाश अत्यल्प प्रगट हैं तो भी समझदार जानता है कि सूर्य का प्रकाश उतना ही नही है, वह तो दोपहर के समय मेघ रहित जैसा पूर्ण प्रकाशमान रहता है वैसा ही है। मेघो के कारण कम प्रकाश हैं। सूर्य का स्वभाव ऐसा नही है। ऐसा जो सूर्य के असली प्रकाश को—पूर्ण प्रकाश को भले प्रकार बिना किसी सशय के जानता है वही सम्यग्ज्ञानी है, इसी तरह अपने आत्मा पर ज्ञानावरणादि कर्मो के मेघ होने पर ज्ञान का प्रकाश कम व मलीन हो रहा है। रागी द्वेषी अज्ञानमय हो रहा है तोभी यह आत्मा वास्तव मे सर्वज्ञ वीतराग है, पूर्ण ज्ञानानन्दमय है ऐसा जो सशय रहित, विपरीतता रहित, अनध्यवसाय (आलस्य) रहित जानता है वही सम्यग्ज्ञानी है।

आत्मा द्रव्य चाहे वह वृक्ष मे हो चाहे वह कीट मे, पतग मे, श्वान मे, अश्व मे, मानव मे, नीच मे, ऊँच मे, राजा मे, रक मे, निरोगी मे, रोगी मे, कुरूप मे, सुरूप मे, वृद्ध मे, बाल मे, युवा मे, किसी भी सजीव प्राणी मे हो, सबका आत्मा एक समान शुद्ध ज्ञान, दर्शन, वीर्य,

सुख आदि गुणो का धारी, भावकर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नो कर्म शरीरादि रहित परमात्मा के समान है। ऐसा यथार्थ ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। रुई के (१००) सौ वस्त्र सौ प्रकार के रगो से रगे हुए रक्खे हैं। जो उन सबको एक रूप सफेद रुई के वस्त्र देखता है और भिन्न-भिन्न रगो को उनसे भिन्न देखता है, वही ज्ञानी है। इसी तरह पुद्गल के सयोग से विचित्र रूप दीखने वाले नाना प्रकार आत्माओ को जो एक समान शुद्ध ज्ञानानन्दमय देखता है और पुद्गल को भिन्न देखता है, वही सम्यग्ज्ञानी है।

इस सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से राग, द्वेष, मोह मिटता है, समताभाव जागृत होता है, आत्मा मे रमण करने का उत्साह बढता है, सहज सुख का साधन बन जाता है, स्वानुभव जागृत हो जाता है, जिसके प्रताप से सुख शान्ति का लाभ होता है, आत्मबल बढता है, कर्म का मैल कटता है, परम धैर्य प्रकाशित होता है, यह जीवन परम सुन्दर सुवर्णमय हो जाता है। अतएव हरएक स्वहित वाछक को जिनेन्द्रप्रणीत परमागम के अभ्यास से आत्मज्ञान रूप निश्चय सम्यग्ज्ञान का लाभ लेकर सदा सुखी रहना चाहिए।

आगे सम्यग्ज्ञान के महात्म्य व स्वरूप के सम्बन्ध मे जैनाचार्यों के वाक्यो को पाठकगण मनन करके आनन्द उठावे —

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते हैं—

परिणमदो खलु णाणं, पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं॥२१-१॥

भावार्थ—केवल ज्ञान मे परिणमन करते हुए सर्वज्ञ वीतराग अरहन्त परमात्मा को सर्व द्रव्य तथा उनकी सर्व पर्याये प्रत्यक्ष रूप से प्रगट हो जाती हैं जैसे---स्फटिक मणि के अन्दर तथा बाहर मे प्रगट पदार्थ दीखते हैं उसी तरह भगवान को सब प्रत्यक्ष है। वे भगवान उन द्रव्य व पर्यायों को अवग्रह ईहा आदि मतिज्ञान द्वारा पर की सहायता से व क्रम पूर्वक नही जानते है, एक समय मे सब को जानते है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते है—

णाणी रागप्पजहो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा कणयं ॥२२९॥
अण्णाणी पुण रत्तो सव्वदव्वेसु कम्ममज्झगदो ।
लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दममज्झे जहा लोह ॥२३०॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी आत्मा कर्मवगणाओ के मध्य पडा हुआ भी शरीरादि सर्व पर द्रव्यो मे राग, द्वेष, मोह नही करता हुआ उसी तरह कर्म रज से नही बधता है जिस तरह सुवर्ण कीचड मे पडा हुआ नही बिगडता है—सोने मे जग नही लगती, परन्तु मिथ्या दृष्टि अज्ञानी कर्मो के मध्य पडा हुआ सर्व पर द्रव्यो मे रागभाव करता हुआ कर्म रज से बध जाता है जैसे लोहा कीचड मे पडा हुआ बिगड जाता है। आत्मज्ञान की बडी महिमा है वह अपने स्वभाव को ही अपना समझता है, इसको परमाणु मात्र भी ममत्व परभाव से नही है, सराग सम्यक्ती के यदि कुछ कर्म वन्ध होता भी है वह रज ऊपर पडने के समान है जो शीघ्र झड जाने वाला है, अनन्तानुबन्धी कषाय और मिथ्यात्व से ही भव भ्रमणकारी कर्मवन्ध होता है, अन्य कषायो से बहुत अल्प बन्ध होता है जो बाधक नही है।

णिव्वेदसमावण्णो णाणी कम्मफलं वियाणादि ।
महुरं कडुवं बहुविहमवेदको तेण पण्णत्तो ॥२३९॥

भावार्थ—ससार शरीर भोगो से वैराग्य भाव रखने वाले महात्मा कर्मो के नाना प्रकार मीठे व कडवे फल को—साताकारी व असाताकारी उदय को जानता मात्र है। उनमे रजायमान नही होता है इसलिए वह अभोक्ता कहा गया है।

णवि कुव्वदि णवि वेददि णाणी कम्माइ बहु पयाराइ ।
जाणदि पुण कम्मफलं बन्धं पुण्णं च पावं च ॥२४०॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी महात्मा नानाप्रकारके कर्मो को तन्मयहोकर नही करता है, न कर्मो को बाधता है और न कर्मो के सुख दु खरूप फल को तन्मय होकर भोगता है, वह अपने ज्ञानबल से मात्र जानता है, यह

कर्मों का फल हुआ, यह बन्ध है, यह पुण्य है, यह पाप है। कर्मों के उदय से नाना प्रकार की मन, वचन, काय की अवस्थाएँ होती है उन सबको ज्ञाता होकर जानता है। शरीर मे रोग हुआ सो भी जानता है। शरीर ने भोजन किया यह भी जानता है। ज्ञानी केवल मात्र अपने ज्ञान भाव का कर्ता व भोक्ता है, पर का कर्ता भोक्ता नही होता हे। मन, वचन, काय का जो कुछ परिणमन होता है उसे कर्मोदय का विकार जान कर ज्ञाता दृष्टा साक्षीभूत रहता है।

दिट्ठी सयंपि णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणदिय बन्धमोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव ॥३४१॥

भावार्थ—जैसे आख की दृष्टि अग्नि को देखती मात्र है, न अग्नि को बनाती है न अग्नि का ताप भोगती है, वैसे ज्ञानी महात्मा न तो कर्मों को करते हैं न भोगते हैं, केवल मात्र बन्ध, मोक्ष, कर्मो का उदय और कर्मो की निर्जरा को जानते ही हैं। ज्ञानी मन, वचन, काय, आठ कर्म सबको भिन्न जानता है। उनकी जो कुछ भी अवस्थाएँ होती है उनको अपने आत्मा की नही जानता है, उनको परकी समझ कर उनमे रागी नही होता है, उदासीन भावसे जानता रहता है कि कर्म क्या-क्या नाटक खेलते हैं—वह ससार नाटक को दृष्टा होकर देखता मात्र है,उनका स्वामी व कर्ता व भोक्ता नही बनता है। निश्चय से वह बिल्कुल अपना सम्बन्ध उनसे नही जोडता है। उसका आत्मरसिकपना उसे अलिप्त रखता है।

सत्थं णाण ण हवदि जह्मा सत्थ ण याणदे किंचि।
तह्मा अण्णं णाणं अण्णं सत्थ जिणा विंति ॥४१२॥
अज्झवसाणं णाणं ण हवदि जह्मा अचेदणं णिच्चं।
तह्मा अण्णं णाणं अज्झवसाणं तहा अण्णं ॥४२४॥
जह्मा जाणदि णिच्च तह्मा जीवो दु जाणगो णाणी।
णाणं च जाणयादो अव्वदिरित्तं मुणेयव्वं ॥४२५॥

भावार्थ—शास्त्र जो पुद्गलमय ताडपत्र या कागज, स्याही/ आदि है या वाणी रूपी द्रव्यश्रुत है सो ज्ञान नही है, क्योंकि पुद्गल जडमई द्रव्य शास्त्र कुछ भी नही जानता है। इसलिए शास्त्र अन्य है व जानने वाला ज्ञान अन्य है, ऐसा जिनेन्द्र कहते हैं।

रागादि कलुष भावरूप अध्यवसान ज्ञान नही है क्योंकि वह कर्मों का उदयरूप विपाक सदा ही अचेतन है। इसलिए ज्ञान अन्य है और कलुषरूप अध्यवसान अन्य है। क्योंकि यह नित्य ही जानने वाला है इसलिए जीव ही ज्ञायक है। ज्ञान ज्ञानी से भिन्न नही है, उसी का स्वभाव है, ऐसा जानना योग्य है।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते हैं—

ण वियप्पदि णाणादो णाणी णाणाणि होंति णेगाणि।
तम्हा दु विस्सरूवं भणियं दवियत्ति णाणीहि ॥४३॥

भावार्थ—ज्ञान गुण से आत्मा ज्ञानी भिन्न नही है। नाना प्रकार जानने योग्य पदार्थों की अपेक्षा ज्ञान अनेक प्रकार हैं। ज्ञान विश्वरूप है सर्व को जानता है तब ज्ञानी द्रव्य भी विश्वरूप कहा गया है। जैसे ज्ञान सर्वव्यापक है वैसे ज्ञानी आत्मा भी ज्ञान की अपेक्षा सर्वव्यापी है अर्थात् ज्ञान सर्व को जानने वाला है।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य बोधपाहुड मे कहते हैं—

सजमसंजुत्तस्स य सुझाणजोयस्स मोक्खमग्गस्स।
णाणेण लहदि लक्ख तम्हा णाण च णायव्व ॥२०॥

भावार्थ— सयम से युक्त और ध्यान के योग्य जो मोक्ष का मार्ग है उसका लक्ष्य—जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप है सो सम्यग्ज्ञान से ही प्राप्त होता है इसलिए ज्ञान का स्वरूप जानना योग्य है।

णाणं पुरिसस्स हवदि लहदि सुपुरिसो वि विणयसजुत्तो।
णाणेण लहदि लक्ख लक्खतो मोक्खमग्गस्स ॥२२॥

भावार्थ—ज्ञान का लाभ पुरुष को होता है परन्तु जो मानव विनय सहित है वही ज्ञान का प्रकाश कर सकता है। ज्ञान के ही मनन से मोक्ष के मार्ग को पहचानता हुआ ध्यान का लक्ष्य जो शुद्ध आत्मा का स्वरूप उसको भले प्रकार समझ लेता है।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते हैं—

तित्थयरभासियत्थ गणहरदेवेहि गथिय सम्म।
भावहि अणुदिणु अतुल विशुद्धभावेण सुयणाणं ॥९२॥

भावार्थ—हे मुने ! तू रातदिन निर्मल भाव से भक्तिपूर्वक शास्त्र रूपी श्रुतज्ञान का मनन कर, जो अनुपम है व जिसे मूल मे तीर्थंकरो ने कहा है उसको जानकर गणधरो ने भले प्रकार शास्त्र मे गूथा हैं।

पाऊण णाणसलिलं णिम्महतिसडाहसोसउम्मुक्का ।
हुंति सिवालयवासो तिहुवणचूडामणी सिद्धा ॥९३॥

भावार्थ—आत्मज्ञान रूपी जल को पीकर कठिनता से दूर होने योग्य तृष्णा की दाह व जलन को मिटाकर भव्य जीव सिद्ध हो जाते हैं और तीन लोक क शिखर पर सिद्धालय मे अनन्त काल वास करते है।

णाणमयविमलसीयलसलिलं पाऊण भविय भावेण ।
बाहिजरमरणवेयणडाहविमुक्का सिवा होंति ॥१२५॥

भावार्थ—भव्य जीव भावसहित आत्मज्ञानमई निर्मल शीतल जल को पीकर व्याधरूप मरणकी वेदना की दाह को शमनकर सिद्ध होजाते हैं।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते है—

सिद्धो सुद्धो आदा सव्वण्हू सव्वलोयदरसी य ।
सो जिणवरेहिं भणियो जाण तुमं केवलं णाणं ॥३५॥

भावार्थ—यह आत्मा ही सिद्ध है, शुद्ध है, सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है तथा यही केवलज्ञान स्वरूप है ऐसा जानो, ऐमा श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है।

उग्गतवेणण्णाणी जं कम्मं खवदि भवहि बहुएहिं ।
तं णाणी तिहि गुत्तो खवेइ अन्तोमुहुत्तेण ॥५३॥

भावार्थ—मिथ्याज्ञानी घोर तप करके जिन कर्मो को वहुत जन्मो मे क्षय करता है उन कर्मो को आत्मज्ञानी सम्यग्दृष्टि मन, वचन, काय को रोक करके ध्यान के द्वारा एक अन्तर्मुहूर्त मे क्षय कर डालता है।

सुहजोएण सुभावं परदव्वे कुणइ रागदो साहू ।
सो तेण हु अण्णाणी णाणी एत्तो हु विवरीओ ॥५४॥

भावार्थ—शुभ पदार्थों के सयोग होने पर जो कोई साधु रागभाव से पर पदार्थ मे प्रीतिभाव करता है वह अज्ञानी है। जो सम्यग्ज्ञानी है वह शुभ सयोग होने पर भी राग नही करते है, समभाव रखते है।

तवरहियं जं णाणं णाणविजुत्तो तवो वि अकयत्थो ।
तम्हा णाणतवेण संजुत्तो लहइ णिव्वाणं ॥५९॥

भावार्थ—तप रहित जो ज्ञान है व सम्यग्ज्ञान रहित जो तप है सो दोनो ही मोक्ष साधन मे अकार्यकारी है। इसलिए जो साधु सम्यग्ज्ञान सहित तप पालते हैं वे ही निर्वाण को पा सकते हैं।

ताम ण णज्जइ अप्पा विसएसु णरो पवट्टए जाम ।
विसए-विरत्तचित्तो जोई जाणेइ अप्पाणं ॥६६॥

भावार्थ—जब तक यह मनुष्य इन्द्रियो के विषयो मे आसक्त होकर प्रवतता है तब तक वह आत्मा को नही पहचान सकता है। जो योगी विषयो से विरक्तचित्त होते हैं वे ही आत्मा को जानकर अनुभव कर सकते है।

जे पुण विसयविरत्ता अप्पा णाऊण भावणासहिया ।
छंडति चाउरंगं तवगुणजुत्ता ण संदेहो ॥६८॥

भावार्थ—जो कोई साधु विषयो से विरक्त होकर आत्मा को जान कर उसकी बार-बार भावना करते है और तप व मूलगुणो को पालते हैं वे चार गतिरूप संसार से मुक्त हो जाते है।

परमाणुपमाणं वा परदव्वे रदि हवेदि मोहादो ।
सो मूढो अण्णाणी आदसहावस्स विवरीओ ॥६९॥

भावार्थ—जो कोई मोह से परद्रव्यो मे परमाणु मात्र भी रागभाव रखता है वह मूढ अज्ञानी है, वह आत्मा के स्वभाव से विपरीत वर्तन करता है। आत्मज्ञानी वही हे जो आत्मा को आत्मारूप जाने और अपना मोह किसी भी पर द्रव्य से रचमात्र भी न करे।

(७) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार प्रत्याख्यानअधिकार मे कहते हैं—

जिणवयणे अणुरत्ता गुरुवयण जे करंति भावेण ।
असबल असंकिलिट्ठा ते होंति परित्तसंसारा ॥७२॥

भावार्थ—जो साधु जिनवाणी मे परम भक्तिवन्त है तथा जो भक्ति पूर्वक गुरु की आज्ञा को मानते हैं वे मिथ्यात्व से अलग रहते हुए व शुद्ध भावो मे रमते हुए ससार से पार हो जाते है।

बालमरणाणि बहुसो बहुयाणि अकामयाणिमरणाणि ।
मरिहन्ति ते वराया जे जिणवयणं ण जाणन्ति ।।७३।।

भावार्थ—जो जिनवाणी के रहस्य को नही जानते है ऐसे सम्यग्ज्ञान रहित प्राणी बार-बार अज्ञान मरण करते है, वे बार-बार बिना चाहे हुए ही अकाल मे मरते है। उन बिचारो को मरण का दुख बार-बार सहना पडता है।

जिणवयणमोसहमिणं विसयसुहविरयणं अमिदभूद ।
जरमरणवाहिवेयणखयकरणं सव्वदुक्खाणं ।।६५।।

भावार्थ—यह जिनवाणी का पठन, मनन एक ऐसी औषधि है जो इन्द्रिय विषय के सुख से वैराग्य पैदा कराने वाली है, अतीन्द्रिय सुखरूपी अमृत को पिलाने वाली है, जरा, मरण व रोगादि से उत्पन्न होने वाले सर्व दुखो को क्षय करने वाली हैं।

(८) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार के पचाचार अधिकार मे कहते है :-

विंजणसुद्धं सुत्तं अत्थविसुद्धं च तदुभयविसुद्ध ।
पयदेण य जप्पंतो णाणविसुद्धो हवइ एसो ।।८८।।

भावार्थ—जो कोई शास्त्रो के वाक्यों को व शास्त्रो के अर्थ को तथा दोनो को प्रयत्न पूर्वक शुद्ध पढता है उसीके ज्ञान की शुद्धता होती ह।

विणएण सुदमधीदं जदिवि पमादेण होदि विस्सरिद ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ।।८६।।

भावार्थ—जो विनय पूर्वक शास्त्रो को पढा हो और प्रमाद से कालान्तर मे भूल भी जावे तो भी परभव मे शीघ्र याद हो जाता हैं—थोडे परिश्रम से आ जाता है तथा विनय सहित शास्त्र पढने का फल केवल ज्ञान होता है।

णाणं सिक्खदि णाणं गुणेदि णाणं परस्स उवदिसदि ।
णाणेण कुणदि णायं णाणविणीदो हवदि एसो ।।१७१।।

भावार्थ—जो ज्ञानी होकर दूसरे को सिखाता है ज्ञान का पुन पुन मनन करता रहता हे, ज्ञान से दूसरो को धर्मोपदेश करता हे, तथा ज्ञान पूर्वक चारित्र पालता हे वही सम्यग्ज्ञान की विनय करता हे।

(९) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षडावश्यक मे कहते हैं —

णाणी गच्छदि णाणी वंचदि णाणी णवं च णादियदि।
णाणेण कुणदि चरणं तह्मा णाणे हवे विणओ ॥८९॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी ही मोक्ष जाता है, सम्यग्ज्ञानी ही पाप को त्यागता है, सम्यग्ज्ञानी ही नये कर्म नही बाधता है। सम्यग्ज्ञान से ही चारित्र होता है इसलिये ज्ञान की विनय करनी योग्य है।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना मे कहते हैं —

ते लद्धणाणचक्खू णाणुज्जोएण दिट्ठपरमट्ठा।
णिस्संकिदणिव्विदिगिंछादबलपरक्कमा साधू ॥६२॥

भावार्थ—जो साधु ज्ञान के प्रकाश को रखने वाले हैं वे ज्ञान की ज्योति से परमार्थ जो परमात्म तत्व है उसको जानने वाले होते हैं। उनके भीतर जिन भाषित पदार्थों मे शका नहीं होती है तथा वे ग्लानि रहित होते है तथा वे ही आत्मबल से साहस पूर्वक मोक्ष का साधन करते हैं।

सुदरयणपुण्णकण्णा हेउणयविसारदा विउलबुद्धी।
णिउणत्थसत्थकुसला परमपयवियाणया समणा ॥६७॥

भावार्थ—वे ही मुनि मोक्षरूपी परम पद के स्वरूप को जानने वाले होते हैं जो अपने कानो को शास्त्र रूपी रत्नो से विभूषित रखते हैं अर्थात् जो जिन वाणी को रुचि से सुनते है, जो प्रमाण और नय के ज्ञाता हैं, विशाल बुद्धिशाली है तथा सर्व शास्त्र के ज्ञान मे कुशल है।

अवगदमाणत्थंभा अणुस्सिदा अगव्विदा अचंडा य।
दंता मद्दवजुत्ता समयविदण्हू विणीदा य ॥६८॥
उवलद्धपुण्णपावा जिणसासणगहिद मुणिदपज्जाला।
करचरणसंवुडंगा झाणुवजुत्ता मुणी होंति ॥६९॥

भावार्थ—जो मुनि मान के स्तम्भ से रहित है, जाति, कुल आदि के मद से रहित है, उद्धतता रहित है, शान्त परिणामी है, इन्द्रिय विजयी है, मार्दव धर्म से युक्त है, आत्मा व अनात्मा के ज्ञाता हैं, विनयवान है, पुण्य पाप के स्वरूप के ज्ञाता है, जिन शासन मे दृढ श्रद्धानी है, द्रव्य

पर्यायो के ज्ञाता है, तेरह प्रकार चारित्र से सवर युक्त है अथवा दृढ आसन के धारी हैं वे ही साधु ध्यान के लिये उद्यमी रहते हैं।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार समयसार अधिकारमे कहते हैं-

सज्झायं कुव्वत्तो पंचिदियसपुडो तिगुत्तो य।

हवदि य एयग्गमणो विणएण समाहिओ भिक्खु ॥७८॥

भावार्थ—शास्त्र स्वाध्याय करने वाले के स्वाध्याय करते हुए पाचो इन्द्रिय वश मे होती है, मन, वचन, काय स्वाध्याय मे रत हो जाते है, ध्यान मे एकाग्रता होती है, विनय गुण से युक्त होता है, स्वाध्याय परमोपकारी है।

बारसविधह्मि य तवे सब्भंतरबाहिरे कुसलदिट्ठ।

ण वि अत्थि ण वि य होहदि सज्झायसमं तवोकम्मं॥७९॥

भावार्थ—तीर्थ करो द्वारा प्रतिपादित बाहरी, भीतरी बारह प्रकार तप मे स्वाध्याय तप के समान कोई तप नही है न होवेगा इसलिये स्वाध्याय सदा करना योग्य है।

सूई जहा ससुत्ता ण णस्सदि दु पमाददोसेण।

एवं ससुत्तपुरिसो ण णस्सदि तहा पमाददोसेण॥८०॥

भावार्थ—जैसे सूत के साथ सुई हो तो कभी प्रमाद से भी खोई नही जा सकती है वैसे ही शास्त्र का अभ्यासी पुरुष प्रमाद के दोष होते हुए भी कभी ससार मे पतित नही होता है—अपनी रक्षा करता रहता है। ज्ञान बडी अपूर्व वस्तु है।

(१२) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयभूस्तोत्र मे कहते हैं—

बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतुः

बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।

स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं

नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोऽसि शास्ता॥१४॥

भावार्थ—हे सभवनाथ भगवान्! आपने अनेकात वस्तु का स्वरूप स्याद्वाद नय से उपदेश किया है इसीलिये आपके दर्शन मे बन्ध तत्व, मोक्ष तत्व सिद्ध होता है, दोनो का साधन भी ठीक२ सिद्ध होता है। बद्ध व मुक्त

आत्मा की भी सिद्धि होती है व मुक्ति का फल भी सिद्ध होता है। परन्तु जो वस्तु को एकात मानते है उनके यहा ये सब बाते सिद्ध नही हो सकती है। सर्वथा नित्य या सर्वथा अनित्य मानने से ही ये सब बातें नही बनेगी द्रव्य की अपेक्षा नित्य व पर्याय की अपेक्षा अनित्य मानने से ही बन्ध व मोक्ष सिद्ध हो सकते हैं।

विधिर्निषेधश्च कथंचिदिष्टौ विवक्षया मुख्यगुणव्यवस्था।
इति प्रणीतिः सुमतेस्तवेयं मतिप्रवेकःस्तुवतोऽस्तु नाथ।२५।

भावार्थ—हे सुमतिनाथ भगवान! आपका यह कथन ठीक सिद्ध होता है कि पदार्थ मे किसी अपेक्षा से अस्तिपना है व दूसरी किसी अपेक्षा से नास्तिपना है। इनका वर्णन स्याद्वाद द्वारा मुख्य व गौण रूप से किया जाता हैं। इसी से हमारे द्वारा आप स्तुति योग्य हैं।

सर्वथा नियमत्यागी यथादृष्टमपेक्षकः।
स्याच्छब्दस्तावके न्याये नान्येषमात्मविद्विषाम् ॥१०२॥

भावार्थ—हे अरहनाथ! आपके स्याद्वाद न्याय मे जो स्यात् शब्द है वह एक स्वभाव को जिसकी ओर वर्णन है यथार्थ प्रकाश करता हैं तो भी पदार्थ सर्वथा ऐसा ही हैं इस एकान्त को निषेध करता है। यही वस्तु का स्वरूप है। जो एकाती स्याद्वाद के ज्ञान से शून्य है वे अपने आपके अनिष्ट करने वाले हैं। एकान्त मान के यथार्थ वस्तु स्वरूप को नही पाते है।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्डश्रावकाचार मे कहते हैं—

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः ॥४२॥

भावार्थ—जो वस्तु के स्वरूप को न कम जाने न अधिक जाने, न विपरीत जाने, किंतु जैसा का तैसा सन्देह रहित जाने उसको आगम के ज्ञाता सम्यग्ज्ञान कहते हैं।

प्रथमानुयोगमर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥४३॥

भावार्थ—प्रथमानुयोग को सम्यग्ज्ञान इस प्रकार जानता है कि

इससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थो के साधन का कथन है, जीवन चरित्र है व त्रेसठ महापुरुषों का पुराण है। जिससे पुण्य का आश्रय मिलता है व जिसमे रत्नत्रय व ध्यान का भन्डार है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण को त्रेसठ महापुरुष कहते हैं।

लोकालोकविभक्तेर्युगपरिवृत्तेश्चतुर्गतीनां च।
आदर्शमिव तथामतिरवैतिकरणानुयोगं च ॥४४॥

भावार्थ—करणानुयोग उसको कहते है जो लोक और अलोक के विभाग को काल की पलटन को, चार गति के स्वरूप को दर्पण के समान प्रगट करता है—सम्यग्ज्ञान ऐसा जानता है।

गृहमेध्यनगाराणां चारित्रोत्पत्तिवृद्धिरक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञान विजानाति ॥४५॥

भावार्थ—जिसमें गृहस्थ और मुनियों के आचरण की उत्पत्ति, वृद्धि व रक्षा का कथन हो वह चरणानुयोग है ऐसा सम्यग्ज्ञान जानता है।

जीवाजीवसुतत्वे पुण्यापुण्ये च बन्धमोक्षौ च।
द्रव्यानुयोगदीपः श्रुतविद्यालोकमातनुते ॥४६॥

भावार्थ—द्रव्यानुयोग रूपी आगम वह है जो जीव अजीव तत्वो को पुण्य व पाप के स्वरूप को, बन्ध तथा मोक्ष को तथा भाव श्रुत के प्रकाश को अर्थात् आत्मज्ञान को प्रगट करे।

(१४) श्री समन्तभद्राचार्य आप्तमीमांसा में कहते है—

तत्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्।
क्रमभावि च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम् ॥१०१॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपका केवलज्ञान प्रमाण ज्ञान है। इसमे एक ही साथ सर्व पदार्थ झलकते है। जो अल्प ज्ञानियो मे क्रमवर्ती ज्ञान होता है वह भी प्रमाणीक है, यदि वह ज्ञान स्याद्वाद नय द्वारा संस्कृत हो अर्थात् स्याद्वाद से सिद्ध हो सके।

उपेक्षा फलमाद्यस्य शेषस्यादानहानधीः ।
पूर्वं वाऽज्ञाननाशो वा सर्वस्यास्य स्वगोचरे ॥१०२॥

भावार्थ—केवलज्ञान होने का फल वीतराग भावो का होना है। अन्य अल्पज्ञानियो के होने वाले प्रमाणरूप ज्ञान का फल त्यागने योग्य व ग्रहण योग्य के भीतर विवेक बुद्धि का प्राप्त करना है तथा वीतराग भाव भी है। सर्व ही मतिज्ञान आदि का फल अपने-अपने विषय मे अज्ञान का नाश है।

वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यम्प्रतिविशेषकः ।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि ॥१०३॥

भावार्थ—हे जिनेन्द्र ! आपके मत मे तथा श्रुत केवलियो के मत मे स्याद्वाद मे जो स्यात् शब्द है वह अव्यय है उसका अर्थ किसी अपेक्षा से है। यह शब्द बताता है कि जो वाक्य कहा गया है उसमे किसी विशेष स्वभाव की तो मुख्यता है, दूसरे स्वभावो की गौणता है। यह वाक्य ही प्रगट करता है कि वस्तु अनेकान्त है, अनेक धर्मो को रखने वाली है जैसे स्यात् अस्ति घट इस वाक्य मे किसी अपेक्षा से घट है ऐसा कहते हुए घट मे भावपने की मुख्यता हैं तब अभावपने की गौणता है, ऐसा स्यात् शब्द बताता है।

स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किवृत्तचिद्विधिः ।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेयविशेषकः ॥१०४॥

भावार्थ—यह स्याद्वाद न्याय है वह किसी अपेक्षा से एक स्वभाव को कहने वाला है तथापि वस्तु सर्वथा ऐसी ही है इस एकान्त को निषेध करने वाला है। मुख्य गौण कथन की अपेक्षा उसके सात भग हो जाते हैं, जैसा पहले बताया जा चुका है।

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१०५॥

भावार्थ—जैसे केवलज्ञान सर्व तत्वो को प्रकाश करता है वैसे स्याद्वादनय गर्भित श्रुतज्ञान भी सर्व तत्वो को प्रकाश करता है। इन दोनो मे भेद इतना ही है कि केवलज्ञान जब प्रत्यक्ष जानता है तब श्रुतज्ञान

परोक्ष जानता है। इनके सिवाय जो कुछ ज्ञान है वह वस्तु का स्वरूप यथार्थ नही है।

न सामान्यात्मनोदेति न व्येति व्यक्तमन्वयात् ।
व्येत्युदेति विशेषात्ते सहैकत्रोदयादि सत् ।।५७।।

भावार्थ—वस्तु द्रव्य की अपेक्षा न उत्पन्न होती है और न व्यय होती है, वह बराबर नित्य प्रगटरूप से बनी रहती है तथापि पर्याय की अपेक्षा उपजती विनशती है। आपके सिद्धान्त मे जो सत् पदार्थ है वह एक ही समय मे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है। अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा नित्य है उसी समय पर्याय की अपेक्षा अनित्य है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम् ।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम् ।।५९।।

भावार्थ—वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है इसी का दृष्टात है कि कोई मानव सुवर्ण के घट को तोड कर मुकुट बना रहा था उसी समय तीन आदमी आए, जो सुवर्ण के घट को लेना चाहता था, वह घट को तोडते हुए देखकर शोक मे हो जाता है। जो मुकुट का अर्थी है वह हर्षित होता है परन्तु जो केवल सुवर्ण को ही लेना चाहता है वह उदासीन है। क्योकि सुवर्ण द्रव्य घटरूप से नष्टहोकर मुकुटरूप मे बदल रहा है तथापि सुवर्ण वही है।

पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः ।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम् ।।६०।।

भावार्थ—दूसरा दृष्टात है कि कही पर दही और दूध दोनो रक्खे थे। जिस किसी को दही का त्याग था दूध का त्याग न था वह दूध को पीता हैं। जिसे दूध का त्याग था दही का त्याग न था वह दही को पीता है। परन्तु जिसे गोरस का ही त्याग था वह दोनो को ही नही खाता है। दूध की पर्याय पलट कर दही बना तथापि गोरसपना दोनो मे है। इसलिए हरएक वस्तु सदा ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप है, नित्य अनित्य रूप है जिसकी सिद्धि स्याद्वाद से भले प्रकार की जाती है।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते है—

णिउणं विउलं सुद्धं, णिकाचिदमणुत्तरं च सव्वहिदं।
जिणवयण कलुसहरं, अहो व रत्ति च पठिदव्व ॥१०१॥

भावार्थ—हे आत्मन्! इस जिनवाणी को रात्रिदिन पढना चाहिये। यह जिनेन्द्र का वचन प्रमाण के अनुकूल पदार्थों को कहनेवाला है, इससे निपुण है तथा बहुत विस्तारवाला है, पूर्वापर विरोध से रहित दोषरहित शुद्ध है, अत्यन्त दृढ है अनुपम है तथा सर्व प्राणी मात्र का हितकारी है और रागादि मैल को हरने वाला है।

आदहिदपरिण्णाणभा, वसंवरोणवणवो य संवेगो।
णिक्कम्पदा तवोभावणा, य परदेसिगत्त च ॥१०२॥

भावार्थ—जिनवाणी के पढने से आत्म-हित का ज्ञान होता है, सम्यक्त आदि भाव सवर की दृढता होती है, नवीन-नवीन धर्मानुराग बढता है, धर्म मे निश्चलता होती है, तप करने की भावना होती है और पर को उपदेश देने की योग्यता आती है।

छट्ठट्ठमदसमदुवादसेहिं अण्णाणियस्स जा सोधी।
तत्तो बहुगुणदरिया, होज्ज हु जिम्मिदस्स णाणिस्स ॥१११॥

भावार्थ—शास्त्र ज्ञान के मनन विना जो अज्ञानी को बेला, तेला, चौला आदि उपवास के करने से शुद्धता होती है उससे बहुतगुणी शुद्धता सम्यग्ज्ञानी को आत्म ज्ञान को मनन करते हुए जीमते रहने पर भी होती है।

अक्खेविणी कहा सा, विज्जाचरण उवदिस्सदे जत्थ।
ससमयपरसमयगदा, कहा दु विक्खेविणी णाम ॥६५६॥
संवेयणी पुण कहा, णाणचरित्ततववीरियइड्डिगदा।
णिव्वेयणी पुण कहा, सरीरभोगे भवोघेए ॥६६०॥

भावार्थ—सुकथा चार प्रकार की होती है—(१) **आक्षेपिणी**—जो ज्ञान का व चारित्र का स्वरूप बताकर दृढता कराने वाली हो। (२) **विक्षेपिणी**—जो अनेकान्त मत की पोषक व एकान्त मत को खण्डन करने वाली हो। (३) **संवेजिनी कथा**—जो ज्ञान चारित्र तप वीर्य मे प्रेम बढाने

वाली व धर्मानुराग कराने वाली कथा हो, (४) निर्वेदिनी—जो ससार शरीर भोगो से वैराग्य बढाने वाली हो।

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउं।
णाणं अंकुसभूदं, मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ॥७६३॥

भावार्थ—ज्ञान का उपयोग सदा करना चाहिये। जो शास्त्र ज्ञान का मनन नही करते वे चित्त को रोक नही सकते। मन रूपी मदोन्मत्त हाथी के लिये ज्ञान ही अकुश है।

उवसमइ किण्हसप्पो, जह मंतेण विधिणा पउत्तेण।
तह हिदयकिण्हसप्पो, सुट्ठुवउत्तेण णाणेण ॥७६५॥

भावार्थ—जैसे विधि से प्रयोग किये हुए मन्त्र से काला सांप भी शान्त हो जाता है वैसे भले प्रकार मनन किये हुए ज्ञान के द्वारा मन रूपी काला साप शान्त हो जाता है।

णाणपदीवो पज्जलइ जस्स हियए वि सुद्धलेसस्स।
जिणदिट्ठमोक्खमग्गे पणासयभयं ण तस्सत्थि ॥७७०॥

भावार्थ—जिस शुद्ध लेश्या या भावो के धारी के हृदय मे सम्यग्ज्ञान रूपी दीपक जलता रहता है उसको जिनेन्द्रकथित मोक्ष मार्ग मे चलते हुए कभी भी भ्रष्ट होने का व कुमार्ग मे जाने का भय नही है।

णाणुज्जोएण विणा, जो इच्छदि मोक्खमग्गमुवगन्तुं।
गंतुं कडिल्लमिच्छदि, अंधलयो अंधयारम्मि ॥७७४॥

भावार्थ—जो कोई सम्यग्ज्ञान के प्रकाश के बिना मोक्ष मार्ग में जाना चाहता है वह अन्धा होकर महान अन्धकार मे अति दुर्गम स्थान मे जाना चाहता है।

भावे सगविसयत्थे, सूरो जुगवं जहा पयासेइ।
सव्वं वि तधा जुगवं, केवलणाणं पयासेदि ॥२१३८॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने विषय मे तिष्ठते हुए सर्व पदार्थो को एक साथ प्रकाश करता है वैसे केवल ज्ञान समस्त पदार्थो को प्रकाश करता है।

(१६) श्री पूज्यपाद स्वामी इष्टोपदेश मे कहते हैं —

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः ।
ददाति यत्तु यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदं वचः ॥२३॥

भावार्थ—अज्ञान स्वरूप शरीरादि की या अज्ञानी गुरुकी या मिथ्या शास्त्र की आराधना करने से मोह भ्रम से देहादि अज्ञान की ही प्राप्ति होगी किन्तु ज्ञान स्वभावी आत्मा की या सम्यग्ज्ञानी गुरु की या सम्यक् शास्त्र की आराधना करने से आत्म ज्ञान व आत्मानुभव की प्राप्ति होगी ।

(१७) श्री पूज्यपाद स्वामी समाधि शतक मे कहते हैं :—

अविद्याऽभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः ।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥

भावार्थ—अविद्या या मिथ्या ज्ञान के अभ्यास से यह मन अपने वश मे न रहकर अवश्य आकुलित होगा—पर पदार्थ मे रमेगा, वही मन सम्यग्ज्ञान के अभ्यास के बल से स्वय ही आत्मतत्व के रमण मे ठहर जायगा ।

आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।
कुर्यादर्थवशात्किञ्चिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥

भावार्थ—ज्ञानी को उचित है कि आत्मज्ञान के सिवाय और कार्य को बुद्धि मे चिरकाल धारण न करे । प्रयोजन वश कुछ दूसरा काम करना पडे तो वचन व काय से करले,मन को उसमे आशक्त न करे ।

अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।
परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥

भावार्थ—जो कोई अव्रती हो वह व्रती होकर आत्मज्ञान के अभ्यास मे लीन हो । जिसको परमात्मा का यथार्थ ज्ञान हो जाता है और वह इसीका अनुभव करता है वह अवश्य परमात्मा हो जाता है ।

विदिताऽशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।
देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥

भावार्थ—जो देहमे आत्मा की बुद्धि रखता है ऐसा बहिरात्मा अज्ञानी जीव सर्व शास्त्रो को पढ चुका है तथा जाग रहा है तो भी वह कर्मो से

मुक्त नही हो सकता है किन्तु जो आत्मज्ञानी है वह सोते हुए हैं व कदाचित उन्मत्त हैं—गृहस्थ मे फंसा है तो भी कभी न कभी मुक्त हो जायगा।

(१८) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन मे कहते हैं—

अनेकान्तात्मार्थप्रसवफलभारातिविनते
वचः पर्णाकीर्णे विपुलनयशाखाशतयुते ।
समुत्तुंगे सम्यक् प्रततमतिमूले प्रतिदिनं
श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम् ।।१७०।।

भावार्थ—बुद्धिमान का कर्तव्य है कि वह इस मन रूपी बन्दर को शास्त्ररूपी वृक्ष मे प्रतिदिन रमावे। इस शास्त्ररूपी वृक्ष मे अनेकान्त स्वरूप अनेक स्वभाव व गुण व पर्यायरूपी फल-फूल हैं उनसे यह नम्रीभूत है। यह वृक्ष वचनरूपी पत्रो से व्याप्त है। सैकडो महान नयो या अपेक्षाओ की शाखाओ से शोभित है, तथा इस शास्त्ररूपी वृक्ष का बहुत बडा विस्तार है तथा इसका मूल प्रखर मतिज्ञान है।

शास्त्राग्नौ मणिवद्भव्यो विशुद्धो भाति निर्वृतः ।
अंगारवत् खलो दीप्तो मली वा भस्म वा भवेत् ।।१७६।।

भावार्थ—जैसे रत्न अग्नि मे पडकर विशुद्ध हो जाता है व शोभता है वैसे भव्य जीव रुचिवान शास्त्र मे रमण करता हुआ विशुद्ध होकर मुक्त हो जाता है। परन्तु जैसे अगारा अग्नि मे पड कर कोयला हो जाता है या राख हो जाता है वैसे दुष्ट मानव शास्त्र को पढता हुआ भी रागी, द्वेषी होकर कर्मो से मैला हो जाता है।

मुहुः प्रसार्य्य सज्ज्ञानं पश्यन् भावान् यथास्थितान् ।
प्रीत्यप्रीती निराकृत्य ध्यायेदध्यात्मविन्मुनिः ।।१७७।।

भावार्थ—अध्यात्म का ज्ञाता मुनि बार-बार सम्यग्ज्ञान को फैला कर जैसे पदार्थो का स्वरूप है वैसा उनको देखता हुआ राग व द्वेष को दूर करके आत्मा को ध्याता है।

(१९) श्री योगेन्द्राचार्य योगसार मे कहते हैं—

सत्थं पढंतह ते वि जड अप्पा जे ण मुणंति ।
तिह कारण ऐ जीव फुडु ण हु णिव्वाण लहंति ।।५२।।

भावार्थ—जो कोई शास्त्रो को पढते हैं परन्तु आत्मा को नही जानते है वे जीव कभी भी निर्वाण को नही पा सकते है।

जह लोयम्मिय णियडहा तह सुणम्मिय जाणि ।
जे सुह असुह परिच्चयहि ते वि हवति हु णाणि ।।७१।।

भावार्थ—वे ही ज्ञानी है जो पुण्य व पाप को सुवर्ण की तथा लोहे की बेडी जानते है। दोनो को वन्धन मानते हैं।

सव्वे जीवा णाणमया जो समभाव मुणेइ ।
सो सामाइउ जाणि फुडु जिणवर एम भणेइ ।।९८।।

भावार्थ—सर्व ही जीव शुद्ध ज्ञानमई हे ऐसा जो जानता है वही समभाव का धारी है इसी के सामायिक जानो ऐसा जिनेन्द्रदेव कहते हैं।

(२०) श्री नागसेन मुनि तत्वानुशासन मे कहते हैं—

श्रुतज्ञानमुदासीनं यथार्थमतिनिश्चल ।
स्वर्गापवर्गफलद ध्यानमातर्मुहूर्त्ततः ।।६६।।

भावार्थ—आत्मध्यान श्रुतज्ञान का ध्यान है। द्वादशांगवाणी का सार आत्मज्ञान है। उसी का अनुभव श्रुतज्ञान का अनुभव है तथा वही ध्यान है। यह वीतरागरूप, यथार्थ, अति निश्चल एक अन्तर्मुहूर्त तक रह सकता है जिसका फल स्वर्ग व मोक्ष की प्राप्ति है।

श्रुतज्ञानेन मनसा यतो ध्यायन्ति योगिनः ।
ततः स्थिरं मनो ध्यान श्रुतज्ञानं च तात्विक ।।६८।।

भावार्थ—क्योंकि योगीगण मन द्वारा श्रुतज्ञान के बल से ध्यान करते है, इसलिए स्थिर मन ही ध्यान है, यही निश्चय तत्वरूप श्रुतज्ञान है।

ज्ञानादर्थान्तरादात्मा तस्माज्ज्ञान न चान्यतः ।
एक पूर्वापरीभूतं ज्ञानमात्मेति कीर्त्तित ।।६९।।

भावार्थ—ज्ञान कहो चाहे आत्मा कहो दोनो एक ही बात है क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है, आत्मा से ही होता हे, किसी अन्य द्रव्य से नही

होता है। यह ज्ञान गुण जो बराबर पूर्वापर चला आ रहा है वही आत्मा है ऐसा कहा गया है।

स्वरूपं सर्वजीवानां स्वपरस्य प्रकाशनं।
भानुमंडलवत्तेषां परस्मादप्रकाशनं ॥२३५॥

भावार्थ—सर्व जीवो का स्वभाव अपने को व पर को एक साथ उसी तरह प्रकाश करता है जैसा सूर्यमण्डल अपनेको तथा परको प्रकाश करता है। उन जीवों में ज्ञान का प्रकाश स्वाभाविक है दूसरे पदार्थ से नही है जैसे सूर्य स्वयं प्रकाशरूप है।

तिष्ठत्येव स्वरूपेण क्षीणे कर्मणि पौरुषः।
यथा मणिस्वहेतुभ्यः क्षीणे सांसर्गिके मले ॥२३६॥

भावार्थ—जब सर्व कर्म का क्षय हो जाता है तब यह आत्मा अपने स्वरूप मे ही ठहर जाता है और एक समय मे ही स्वपर को जानता है। जैसे योग्य कारणो से संसर्ग मे आया हुआ मल निकल जाने पर मणि स्वभाव से चमक उठती है।

न मुह्यति न संशेते न स्वार्थानध्यवस्यति।
न रज्यते न च द्वेष्टि किंतु स्वस्थः प्रतिक्षणं ॥२३७॥

भावार्थ—अरहन्त व सिद्ध परमात्मा घाति कर्मो के क्षय होने पर न तो किसी पर मोह करते हैं, न संशय किसी बात मे करते हैं, न उनके भीतर अनध्यवसाय ज्ञान मे प्रमाद) है, न वह राग करते है न द्वेष करते हैं। किन्तु सदा ही प्रतिक्षण ही अपने ही शुद्ध स्वरूप मे स्थित है।

त्रिकालविषयं ज्ञेयमात्मानं च यथास्थितं।
जानन् पश्यंश्च निःशेषमुदास्ते स तदा प्रभुः ॥२३८॥

भावार्थ—वे केवलज्ञानी परमात्मा अपने आत्मा को तथा तीन काल के ज्ञेय पदार्थो को जैसा उनका स्वरूप है वैसा पूर्णपने जानते देखते हुए वीतरागी रहते है।

(२१) श्री अमृतचन्द्र आचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कहते है—

निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

भावार्थ—निश्चयनय वह है जो सत्यार्थ मूल पदार्थ को कहे। व्यवहारनय वह है जो असत्यार्थ पदार्थ को कहे। प्राय सर्व ही ससारी प्राणी निश्चयनय से कथन योग्य सत्यार्थ वस्तु के ज्ञान से बाहर होरहे हैं।

व्यवहारनिश्चयौ यः प्रबुध्य तत्त्वेन भवति मध्यस्थः।

प्राप्नोति देशनायाः स एव फलमविकल शिष्यः ॥८॥

भावार्थ—जो कोई व्यवहारनय और निश्चयनय दोनो को जानकर मध्यस्थ हो जाता है वही शिष्य जिनवाणीके उपदेशका पूर्ण फल पाता है।

सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।

ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात् ॥३३॥

भावार्थ—जिनेन्द्र भगवन्तो ने सम्यग्ज्ञान को कार्य तथा सम्यग्दर्शन को कारण कहा है। इसलिए सम्यग्दर्शन के पीछे ज्ञान की आराधना करना उचित है।

कारणकार्यविधानं समकाल जायमानयोरपि हि।

दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम् ॥३४॥

भावार्थ—यद्यपि सम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति होती है उसी तरह जैसे दीपक से प्रकाश होता है तौभी जैसे दीपक कारण है, प्रकाश कार्य है, वैसे सम्यग्दर्शन कारण है, सम्यक्ज्ञान कार्य है।

कर्तव्योऽध्यवसायः सदनेकांतात्मकेषु तत्त्वेषु।

संशयविपर्ययानध्यवसायविविक्तमात्मरूपं तत् ॥३५॥

भावार्थ—व्यवहार नय से सत्रूप व अनेक धर्म स्वरूप तत्वो को सशय, विपर्यय व अनध्यवसाय रहित जानना चाहिए। वही सम्यग्ज्ञान है। निश्चयनय से यह सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है।

ग्रंथार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।

बहुमानेन समन्वितमनिन्हव ज्ञानमाराध्यम् ॥३६॥

भावार्थ—सम्यग्ज्ञान को आठ अग सहित सेवन करना चाहिए। (१) ग्रन्थशुद्धि—शुद्ध पढना (२) अर्थ शुद्धि—अर्थ [illegible] करना, (३) उभय शुद्धि—शब्द व अर्थ शुद्ध पढना, (४) कालाध्ययन—ठीक समय पर पढना, (५) विनय, (६) उपधान—धारणा सहितपढना (७) बहुमानेनसमन्वित-बहुत मान से पढना, (८) अनिह्नव—गुरु को व ज्ञान को न छिपाना।

येनांशेन ज्ञानं तेनाशेनास्य बन्धनं नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बन्धनम् भवति ।।२१३।।

भावार्थ—जितने अश किसी के परिणाम मे सम्यग्ज्ञान होता है उतने अश से कर्म का बन्ध नही होता हैं किन्तु जितने अश राग होता है उतने अश कर्म का वन्ध होता है । सम्यग्ज्ञान वन्ध का कारण नही है, बन्ध का कारण औदयिक भाव रागद्वेष मोह है ।

(२२) श्री अमृतचन्द्राचार्य तत्वार्थसार मे कहते है—

वाचनापृच्छनाम्नायस्तथा धर्मस्य देशना ।
अनुप्रेक्षा च निर्दिष्टः स्वाध्यायः पंचधा जिनैः ।।१६-७।।
वाचना सा परिज्ञेया यत्पात्रे प्रतिपादनम् ।
ग्रन्थस्य वाथ पद्यस्य तत्त्वार्थस्योभयस्य वा ।।१७-७।।
तत्संशयापनोदाय तन्निश्चयबलाय वा ।
पर प्रत्यनुयोगाय प्रच्छनां तद्विदुर्जिनाः ।।१८-७।।
आम्नायः कथ्यते घोषो विशुद्धं परिवर्तनम् ।
कथाधर्माद्यनुष्ठान विज्ञेया धर्मदेशना ।।१६-७।।
साधोरधिगतार्थस्य योऽभ्यासो मनसा भवेत् ।
अनुप्रेक्षेति निर्दिष्टः स्वाध्यायः स जिनेशिभिः ।।२०-७।।

भावार्थ—शास्त्रो का स्वाध्याय व्यवहार सम्यग्ज्ञान है, सो स्वाध्याय पाँच प्रकार् जिनेन्द्रो ने कहा है । वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मदेशना, अनुप्रेक्षा । किसी ग्रन्थ का व उसके पद्य का तथा उसके अर्थ का या दोनो का दूसरे पात्र को सुनाना या स्वय पढना, वाचना है । सशय दूर करने को, पदार्थ को निश्चय करने को व दूसरों को समझाने के लिये जो पूछना उसे जिनो ने पृच्छना कहा है । शुद्ध शब्द व अर्थ को घोखकर कण्ठ करना आम्नाय कहा जाता है । धर्म कथा आदि का उपदेश करना धर्म देशना है । भले प्रकार जाने हुए पदार्थ का मन से वार-वार अभ्यास करना अनुप्रेक्षा नाम का स्वाध्याय है ऐसा जिनेन्द्रो ने कहा है ।

ज्ञानस्य ग्रहणाभ्यासमरणादीनि कुर्वतः ।
बहुमानादिभिः सार्द्धं ज्ञानस्य विनयो भवेत् ।।३२-७।।

भावार्थ—ज्ञान को बहुत मान व आदर से ग्रहण करना, अभ्यास करना व स्मरण करना, मनन करना आदि ज्ञान की विनय कही जाती है।

(२३) श्री अमृतचन्द्राचार्य श्री समयसार कलश मे कहते हैं —

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै-
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।४।।

भावार्थ- निश्चय नय और व्यवहार नय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद रूप जिनवाणी मे जो रमण करते हैं, उनका मिथ्यात्व भाव स्वयं गल जाता है। तब वे शीघ्र ही अतिशय करके परम ज्योति स्वरूप, प्राचीन, किसी भी खोटी युक्ति से अखण्डित शुद्ध आत्मा का अनुभव कर ही लेते हैं।

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निविश्य सुनिःप्रकम्प-
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समन्तात् ।।१३।।

भावार्थ -शुद्ध निश्चय नय के द्वारा जो शुद्ध आत्मा का अनुभव है वही निश्चय सम्यग्ज्ञान अनुभव है ऐसा जान करके जब कोई अपने आत्मा को अपने आत्मा मे निश्चल रूप से धारण करता है तब वहाँ सर्व तरफ से नित्य ही एक ज्ञान घन आत्मा ही स्वाद मे आता है।

ज्ञानाद्विवेचकतया तु परात्मनोर्यो
जानाति हंस इव वाः पयसोर्विशेषं ।
चैतन्यधातुमचलं स सदाधिरूढो
जानीत एव हि करोति न किञ्चनापि ।।१४-३।।

भावार्थ—ज्ञान के ही प्रताप से आत्मा और पर का भेद विज्ञान जाना जाता है। जैसे दूध और पानी अलग-अलग हैं। ज्ञानी अपनी

निश्चल चैतन्य धातुमयी मूर्ति मे सदा दृढ निश्चय रखता हुआ जानता ही है, कुछ भी करता नही हैं।

ज्ञानादेव ज्वलनपयसोरौष्ण्यशैत्यव्यवस्था
ज्ञानादेवोल्लसति लवणस्वादभेदव्युदासः।
ज्ञानादेव स्वरसविकसन्नित्यचैतन्यधातोः
क्रोधादेश्च प्रभवति भिदा भिन्दती कर्तृभावम् ॥१५-३॥

भावार्थ—ज्ञानके ही प्रतापसे गर्म पानीमे यह झलकता है कि पानी का स्वभाव शीतल है तथा उष्णता अग्नि की है। ज्ञान के ही प्रताप से किसी बने हुए साग मे साग का स्वाद अलग और लवण का स्वाद अलग भासता है। यह ज्ञान का ही प्रभाव है जिससे क्रोध का मैं कर्ता हू, इस अज्ञान का नाश होकर ऐसा झलकता है कि मै क्रोधादिकी कलुषतामे भिन्न अपने आत्मीक रस से नित्य भरा हुआ चैतन्य धातुमय आत्मा मात्र हूँ।

ज्ञानवान् स्वरसतोऽपि यतः स्यात्सर्वरागरसवर्ज्जनशील.।
लिप्यतेसकलकर्मभिरेष. कर्म्ममध्यपतितोऽपि ततो न१७-७

भावार्थ—सम्यग्ज्ञानी अपने स्वभाव से ही सर्व रागादि भावो मे भिन्न अपने को अनुभव करता है। इसलिये कर्मो के मध्य पडे रहने पर भी कर्म बन्ध से नही बधता है। यह आत्मज्ञान की महिमा है।

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्य भवेद्वेदको
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुच्चिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यता ज्ञानिता ॥५-१०॥

भावार्थ—अज्ञानी सदा ही कर्म की प्रकृतियो के स्वभावो मे अर्थात् जैसा कर्म का उदय होता है उसमे लीन होकर सुख दु ख का भोक्ता हो जाता है। ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् कर्मो के उदय से विरक्त रहता है, इसलिये कभी भी भोक्ता नही होता है, वह ज्ञाता रहता है। ऐसा नियम समझकर अज्ञानपना त्याग देना चाहिये, और शुद्ध एक आत्मा की निश्चल ज्योति मे थिर होकर ज्ञान भाव का सेवन करना चाहिये।

शुद्धद्रव्यनिरूपणार्पितमतेस्तत्त्वं समुत्पश्यतो
नैकद्रव्यगतं चकास्ति किमपि द्रव्यान्तर जातुचित् ।
ज्ञानं ज्ञेयमवैति यत्तु तदयं शुद्धस्वभावोदयः
किं द्रव्यान्तरचुम्बनाकुलधियस्तत्त्वाच्चयवन्ते जनाः२२-१०

भावार्थ—जो शुद्ध द्रव्य के विचार मे है और तत्व को देखने वाला हैं उसके मत मे एक द्रव्य के भीतर दूसरा द्रव्य कभी भी प्रवेश नही कर सकता है । जो शुद्ध आत्मा का ज्ञान सर्व ज्ञेय या जानने योग्य पदार्थो को जानता है सो यह उस ज्ञान के शुद्ध स्वभाव का उदय है तब फिर अज्ञानी जन आत्मा को छोडकर परद्रव्य के ग्रहण के लिये आकुल व्याकुल होकर आत्मतत्व के अनुभव से क्यो पतन कर रहे है ? ज्ञान में कोई पदार्थ आता नही, ज्ञान किसी पदार्थ मे जाता नही, तो भी ज्ञान सर्व ज्ञेयो को अपने स्वभाव से जानता है । यह ज्ञान के प्रकाश का महात्म्य हैं ।

स्याद्वाददीपितलसन्महसि प्रकाशे
शुद्धस्वभावमहिमन्युदिते मयीति ।
किं बन्धमोक्षपथपातिभिरन्यभावै-
र्नित्योदयः परमयं स्फुरतु स्वभावः ।।६—१२।।

भावार्थ—स्याद्वाद के द्वारा मेरे भीतर आत्म तेज का प्रकाश हो गया है । जब मेरे मे शुद्ध स्वभाव की महिमा प्रगट हो रही है तब वहाँ बन्ध मार्ग व मोक्ष मार्ग सम्बन्धी भावो से क्या प्रयोजन रहा ? कुछ भी नही । इसलिये सदा ही यह मेरा उत्कृष्ट स्वभाव मेरे मे प्रकाशमान रहो । शुद्ध निश्चय नय से आत्मा सदा ही एकाकार शुद्ध अनुभव मे आता है । वहाँ बन्ध व मोक्ष के विचार की कोई जगह नही है ।

(२४) श्री अमितिगति महाराज तत्त्व भावना मे कहते हैं —

येषां ज्ञानकृशानुरुज्ज्वलतरः सम्यक्त्ववातेरितो ।
विस्पष्टीकृतसर्वतत्वसमितिर्दग्धे विपापैधसि ।।
दत्तोत्प्तिमनस्तमस्ततिहतेर्दीप्यते सर्वदा ।
नाश्चर्यं रचयंति चित्रचरिताश्चारित्रिणः कस्य ते ।८५।।

भावार्थ—जिनके भीतर सम्यक् दर्शन को पवन से प्रेरित सम्यग्ज्ञान रूपी अग्नि की तीव्र ज्वाला सर्व तत्वो को स्पष्ट दिखाती हुई, पाप रूपी ईंधन को जलाती हुई, मन के अन्धकार के प्रसार को दूर करती हुई सदा जलती है वे नाना प्रकार चारित्र का पालन करते हैं। जिनको देखकर किसको आश्चर्य न आयेगा ? अर्थात् वे अद्भुत चारित्र का पालन करते है।

ये लोकोत्तरता च दर्शनपरां दूती विमुक्तिश्रिये।
रोचन्ते जिनभारतीमनुपमां जल्पति श्रृण्वति च ॥
लोके भूरिकषायदोषमलिने ते सज्जना दुर्लभाः।
ये कुर्वन्ति तदर्थमुत्तमधियस्तेषा किमत्रोच्यते ॥१०५॥

भावार्थ—जो कोई परमार्थ स्वरूप बताने वाली, उत्कृष्ट सम्यक्-दर्शन को देनेवाली, मोक्ष रूपी लक्ष्मी की दूती के समान अनुपम जिनवाणी को पढते है, सुनते है व उस पर रुचि करते हैं ऐसे सज्जन इस कषायो के दोषो से मलीन लोक मे दुर्लभ है—कठिनता से मिलते है और जो उस जिनवाणी के अनुसार आचरण करने की उत्तम बुद्धि करते हैं उनकी बात क्या कही जावे ? वे तो महान दुर्लभ है। ऐसी परोपकारिणी जिनवाणी को समझकर उसके अनुसार यथाशक्ति चलना हमारा कर्तव्य है।

सर्वज्ञः सर्वदर्शी भवमरणजरातंकशोकव्यतीतो।
लब्धात्मीयस्वभावः क्षतसकलमलः शश्वदात्मानपायः ॥
दक्षैः संकोचिताक्षैर्भवमृतिचकितैर्लोकयात्रानपेक्षैः।
नष्टाबाधात्मनीनस्थिरविशदसुखप्राप्तये चिंतनीयः।१२०।

भावार्थ—परमात्मा सर्वज्ञ है, सर्वदर्शी है, जन्म, मरण, जरा, रोग व शोकादि दोषो से रहित है, अपने स्वभाव से पूर्ण है, सर्व कर्म मलरहित हैं, नाश रहित नित्य हैं। जो लोग चतुर है, इन्द्रियो के विजयी है, जन्म मरण से भयभीत हैं, ससार की यात्रा को नही चाहते हैं उनको ऐसे शुद्ध आत्मा का चिन्तवन वाधा रहित, अतीन्द्रिय, स्थिर व शुद्ध सुख की प्राप्ति के लिये करना योग्य है। निश्चय से अपना आत्मा भी ऐसा ही है। अपने आत्मा को भी परमात्मा के समान जानकर सदा अनुभव करना चाहिये, जिससे सहज सुख का लाभ हो।

(२५) श्री पद्मनन्दि मुनि सिद्धस्तुति मे कहते है —

स्याच्छब्दामृतगर्भितागममहारत्नाकरस्नानतो
धौता यस्य मतिः स एव मनुते तत्वं विमुक्तात्मनः ।
तत्तस्यैव तदेव याति सुमते साक्षादुपादेयता
भेदेन स्वकृतेन तेन च विना स्वं रूपमेक परम् ।।१४।।

भावार्थ—जिस पुरुष की मति स्याद्वाद रूपी जल के भरे समुद्र मे स्नान करने से धोई गई है—निर्मल हो गई है वही शुद्ध व मुक्त आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जानता है, तथा वह उसी स्वरूप को ग्रहण करने योग्य साक्षात् मानता है। व्यवहार से सिद्ध मे व ससारी मे भेद किया हुआ है। यदि निश्चय से इस भेद को दूर कर दिया जावे तो जो सिद्ध स्वरूप है वही इस अपने आत्मा का स्वभाव है, उसी ही को अनुभव करना योग्य है।

यः सिद्धे परमात्मनि, प्रविततज्ञानैकमूर्तौ किल
ज्ञानी निश्चयतः स एव सकलप्रज्ञावतामग्रणी ।
तर्कव्याकरणादिशास्त्रसहितैः किं तत्र शून्यैर्यतो
यद्योगं विदधाति वेध्यविषये तद्बाणमावर्ण्यते ।।२४।।

भावार्थ—जो पुरुष विस्तीर्ण ज्ञानाकार श्री सिद्ध परमात्मा को जानता है वही सर्व बुद्धिमानो मे शिरोमणि है। जो सिद्ध परमात्मा के ज्ञान से शून्य होकर तर्क व्याकरण आदि शास्त्रो को जानता हैं तो उससे क्या प्रयोजन होगा ? वाण तो उसे ही कहते है जो निशानी को वेध सके अन्यथा व्यर्थ है। आत्मज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है, उसके विना अनेक विद्याएँ आत्म हितकारी नही है।

(२६) श्री पद्मनन्दि मुनि सद्बोधचन्द्रोदय मे कहते हैं —

तावदेव मतिवाहिनी सदा धावति श्रुतगता पुरः पुरः ।
यावदत्र परमात्मसंविदा भिद्यते न हृदयं मनीषिणः।।३६।।

भावार्थ—इस जगत मे जव तक परमात्मा का ज्ञान मानव के हृदय मे नही विराजता है तवतक ही बुद्धि रूपी नदी, शास्त्र रूपी समुद्र की तरफ आगे आगे दौडती रहती है। आत्मा का अनुभव होते ही बुद्धि स्थिर हो जाती है।

बाह्यशास्त्रगहने विहारिणी या मतिर्बहुविकल्पधारिणी ।
चित्स्वरूपकुलसद्मनिर्गता सा सती न सदृशी कुयोषिता।३८।

भावार्थ—जो बुद्धि अपने चैतन्यरूपी कुल घर से निकलकर बाहरी शास्त्रो के वन मे विहार करती हुई नाना विकल्प करने वाली है वह बुद्धि सती स्त्री के समान पतिव्रता नही है किन्तु खोटी स्त्री के समान व्यभिचारिणी है। बुद्धि वही सफल है जो अपने ही आत्मा मे रमण करे, अनेक शास्त्रो के विकल्प भी न करे।

सुप्त एव बहुमोहनिद्रया दीर्घकालमविरामया जनः ।
शास्त्रमेतदधिगम्य साप्रत सुप्रबोध इह जायतामिति।४६।।

भावार्थ—यह मानव दीर्घकाल से लगातार मोहरूपी निद्रा से सो रहा है। अब तो उसे अध्यात्म शास्त्र को जानना चाहिए और आत्मज्ञान को जागृत करना चाहिए ।

(२७) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चयपचाशत् मे कहते हैं—

व्यवहृतिरबोधजनबोधनाय कर्मक्षयाय शुद्धनयः ।
स्वार्थं मुमुक्षुरहमिति वक्ष्ये तदाश्रित किंचित् ।।८।।

भावार्थ– व्यवहारनय अज्ञानी को समझाने के लिए है परन्तु शुद्ध निश्चयनय कर्मो के क्षय के लिए है। इसलिए मै मोक्ष का इच्छुक होकर अपने आत्मा के कल्याण के लिए "उस शुद्ध निश्चयनय के आश्रित ही कुछ कहूगा।"

हिंसोज्झित एकाकी सर्वोपद्रवसहो वनस्थोऽपि ।
तरुरिव नरो न सिद्धयति सम्यग्बोधादृते जातु ।।१६।।

भावार्थ—जो मुनि अहिसा धर्म पालता हुआ, एकाकी सर्व प्रकार के कष्टो को व उपसर्गो को सहता हुआ वन मे रहता है परन्तु आत्मज्ञानमई सम्यग्ज्ञान से शून्य है वह मुक्त नही हो सकता। वह वन मे वृक्ष के समान ही रहने वाला है।

(२८) श्री पद्मनन्दि मुनि परमार्थविंशति मे कहते हैं—

यत्सातं यदसातमगिषु भवेत्तत्कर्मकार्यं तत-
स्तत्कर्मैव तदन्यदात्मन इदं जानन्ति ये योगिनः ।

ईदृग्भेदविभावनाकृतधियां तेषां कुतोहं सुखी ।
दुःखी चेति विकल्पकल्मषकला कुर्यात्पदं चेतसि ।।१२।

भावार्थ—प्राणियो के साता तथा असाता होती है सो कर्मों के उदय का कार्य है । इसलिए वह कार्य भी कर्मरूप ही है । वह आत्मा के स्वभाव से भिन्न है ऐसा योगीगण जानते है । उनके भीतर भेदज्ञान की बुद्धि होती है तब यह विकल्प कि मैं सुखी हू या मैं दु खी हू उनके मन मे कैसे हो सकता है ?

(२९) श्री कुलभद्राचार्य सारसमुच्चय मे कहते है—

ज्ञानभावनया जीवो लभते हितमात्मनः ।
विनयाचारसम्पन्नो विषयेषु पराङ्मुखः ।।४।।

भावार्थ—यह जीव पाचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होकर विनय और आचार सहित ज्ञान की भावना करने से आत्मा के कल्याण को प्राप्त करता है ।

आत्मानं भावयेन्नित्यं ज्ञानेन विनयेन च ।
मा पुनर्म्रियमाणस्य पश्चात्तापो भविष्यति ।।५।।

भावार्थ—हे भव्य जीव ! नित्य आत्मा के शुद्ध स्वरूप की भावना ज्ञान के साथ विनयपूर्वक करो नही तो मरने पर बहुत पश्चात्ताप होगा कि कुछ न कर सके । मरण का समय निश्चित नही है इससे आत्मज्ञान की भावना सदा करनी योग्य है ।

नृजन्मनः फलं सारं यदेतज्ज्ञानसेवनम् ।
अनिगूहितवीर्यस्य संयमस्य च धारणम् ।।७।।

भावार्थ-मानव जन्म का यही सार फल है जो सम्यग्ज्ञान की भावना की जावे और अपने वीर्य को न छिपाकर सयम का धारण किया जावे ।

ज्ञानाभ्यासः सदा कार्यो ध्याने चाध्ययने तथा ।
तपसो रक्षणं चैव यदीच्छेद्धितमात्मनः ।।८।।

भावार्थ—हे भाई ! यदि अपने आत्मा का हित चाहते हो तो ध्यान तथा स्वाध्याय के द्वारा सदा ही ज्ञान का मनन करो और तप की रक्षा करो।

ज्ञानादोत्यो हृदिर्यस्य नित्यमुद्योतकारकः ।
तस्य निर्मलतां याति पचेन्द्रियदिगगना ।।१०।।

भावार्थ—जिसके हृदय मे ज्ञान सूर्य सदा प्रकाशमान रहता है उसकी पाचो इन्द्रियो की दिशारूपी स्त्री निर्मल रहती है। अर्थात् इन्द्रिया विकार रहित अपना २ काम ऐसा करती हैं जिससे आत्मा का अहित न हो।

सर्वद्वन्द्वं परित्यज्य निभृतेनान्तरात्मना ।
ज्ञानामृतं सदापेयं चित्ताल्हादनमुत्तमम् ।।१२।।

भावार्थ—अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टी को निश्चिन्त होकर सर्व राग द्वेषादि के झगडे छोडकर चित्त को आनन्द देने वाले उत्तम आत्मज्ञान रूपी अमृत का पान सदा करना चाहिए।

ज्ञानं नाम महारत्नं यन्न प्राप्तं कदाचन ।
संसारे भ्रमता भीमे नानादुःखविधायिनि ।।१३।।
अधुना तत्वया प्राप्तं सम्यग्दर्शनसयुत्तम् ।
प्रमाद मा पुनः कार्षीविषयास्वादलालसः ।।१४।।

भावार्थ—आत्म ज्ञान रूपी महा रत्न है उसको अब तक कभी भी तूने इस अनेक दु खो से भरे हुए भयानक ससार मे भ्रमते हुए नही पाया। उस महारत्न को आज तूने सम्यग्दर्शन सहित प्राप्त कर लिया है तब आत्मज्ञान का अनुभव कर विषयो के स्वाद की लालसा मे पडकर प्रमादी मत बन।

शुद्धे तपसि सद्वीर्यं ज्ञानं कर्मपरिक्षये ।
उपयोगिधनं पात्रे यस्य याति स पडितः ।।१८।।

भावार्थ—वही पडित है जिसका आत्मा का वीर्य शुद्ध तप मे खर्च होता है जो ज्ञान को कर्मो के क्षय मे लगाता है तथा जिसका धन योग्य पात्रो के काम आता है।

गुरुशुश्रूषया जन्म चित्त सद्ध्यानचिन्तया ।
श्रुतं यस्या समे याति विनियोग स पुण्यभाक् ।।१९।।

भावार्थ—वही पुण्यात्मा है जिसका जन्म गुरु की सेवा करते हुए

वीतता है, जिसका मन धर्मध्यान की चिन्ता मे लीन रहता है तथा जिसके शास्त्र का अभ्यास साम्य भाव की प्राप्ति के लिए काम मे आता है।

नियतं प्रशमं याति कामदाहः सुदारुणः ।
ज्ञानोपयोगसामर्थ्याद्विषं मन्त्रपदैर्यथा ॥११३॥

भावार्थ—भयानक भी काम का दाह, आत्मध्यान व स्वाध्याय मे ज्ञानोपयोग के बल से नियम से शात हो जाता है जैसे मन्त्र के पदो से सर्प का विष उतर जाता है।

प्रज्ञांगना सदा सेव्या पुरुषेण सुखावहा ।
हेयोपादेयतत्वज्ञा या रता सर्वकर्मणि ॥२५८॥

भावार्थ—प्रज्ञा या भेदविज्ञानमई विवेक बुद्धि सर्व कार्यो मे त्यागने योग्य व ग्रहण करने योग्य तत्व को जानने वाली रहती है इसलिये हरएक पुरुष को उचित है कि उस सुखकारी प्रज्ञारूपी स्त्री की सदा सेवा करे।

सत्येन शुद्ध्यते वाणी मनो ज्ञानेन शुद्ध्यति ।
गुरुशुश्रूषया कायः शुद्धिरेष सनातनः ॥३१७॥

भावार्थ—वाणी की शुद्धि सत्य वचन से रहती है, मन सम्यग्ज्ञान से शुद्ध रहता है, गुरुसेवा से शरीर शुद्ध रहता है, यह सनातन से शुद्धि का मार्ग है।

(३०) श्री शुभचन्द्र आचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं—

त्रिकालगोचरानन्तगुणपर्यायसंयुताः ।
यत्र भावाः स्फुरन्त्युच्चैस्तज्ज्ञानं ज्ञानिनां मतम् ॥१-७॥

भावार्थ—जिसमे तीन काल के गोचर अनन्त गुण पर्याय सयुक्त पदार्थ अतिशय रूप से प्रतिभासित होते है उसी को ज्ञानियो ने ज्ञान कहा है। ज्ञान वही है जो सब ज्ञेयो को जान सके।

अनन्तानन्तभागेऽपि यस्य लोकश्चराचरः ।
अलोकश्च स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम् ॥१०-७॥

भावार्थ - केवलज्ञान ज्योति का स्वरूप योगियो ने ऐसा कहा है कि जिस ज्ञान के अनन्तानन्त भाग मे ही सर्व चर अचर लोक तथा अलोक प्रतिभासित हो जाता है। ऐसे अनन्त लोक हो तो भी उस ज्ञान मे झलक जावे । इतना विशाल व आश्चर्यकारी केवल ज्ञान है।

अगम्या यन्मृगाङ्कस्य दुर्भेद्यं यद्रवेरपि ।

तद्दुर्बोधोद्धत ध्वान्त ज्ञानभेद्यं प्रकीर्त्तितम् ॥११-७॥

भावार्थ— जिस मिथ्यात्व के अन्धकार को चन्द्रमा नही मेट सकता सूर्य नही भेद नहीं सकता उस अज्ञानाधकार को सम्यग्ज्ञान मेट देता है, ऐसा कहा गया है।

बोध एव दृढ़ः पाशो हृषीकमृगबन्धने ।

गारुडश्च महामन्त्रः चित्तभोगिविनिग्रहे ॥१४-७॥

भावार्थ—इन्द्रियरूपी मृगो को बाधने के लिये सम्यग्ज्ञान ही दृढ फासी है और चित्तरूपी सर्प को वश करने के लिये सम्यक्ज्ञान ही एक गारुडी महामन्त्र है।

अज्ञानपूर्विका चेष्टा यतेर्यस्यात्र भूतले ।

स बध्नात्यात्मनात्मानं कुर्वन्नपि तपश्चिर ॥१९-७॥

भावार्थ—इस पृथ्वी पर जो साधु अज्ञानपूर्वक आचरण पालता है वह दीर्घ काल तक तप करता रहे तौ भी अपने को कर्म से बाधेगा। अज्ञान पूर्वक तप बन्ध ही का कारण है।

ज्ञानपूर्वमनुष्ठान निःशेष यस्य योगिनः ।

न तस्य बन्धमायाति कर्म कस्मिन्नपि क्षणे ॥२०—७॥

भावार्थ—जिस मुनि का सर्व आचरण ज्ञानपूर्वक होता है उसके कर्मो का बन्ध किसी भी क्षण मे नही होता है।

दुरिततिमिरहस मोक्षलक्ष्मीसरोज ।

मदनभुजगमन्त्र चित्तमातगसिंह ॥

व्यसनघनसमीर विश्वतत्त्वैकदीप ।

विषयशफरजाल ज्ञानमाराधय त्वं ॥२२—७॥

भावार्थ—हे भव्य जीव! सम्यग्ज्ञान की आराधना करो। यह सम्यग्ज्ञान पापरूपी अन्धकार के हरने को सूर्य के समान है, मोक्षरूपी लक्ष्मी के निवास के लिए कमल के समान है, कामरूपी सर्प के कीलने को मत्र के समान है, मनरूपी हाथी के वश करने को सिंह के समान है, आपदारूपी मेघो को उडाने के लिए पवन के समान है, समस्त तत्वो को

प्रकाश करने के लिए दीपक के समान है, तथा पाचो इन्द्रियो के विषयो को पकडने के लिए जाल के समान है।

तद्विवेच्य ध्रुवं धीर ज्ञानार्कालोकमाश्रय।
विशुध्यति च यं प्राप्य रागकल्लोलमालिनी ॥२२-२३॥

भावार्थ— भले प्रकार विचार करके हे धीर प्राणी ! तू निश्चय से आत्मज्ञान रूपी सूर्य के प्रकाश का आश्रय ले जिस सूर्य के प्रकाश के होने से रागरूपी नदी सूख जाती है।

अलब्धपूर्वमासाद्य तदासौ ज्ञानदर्शने।
वेत्ति पश्यति निःशेषं लोकालोकं यथास्थितम्॥३१-४२॥
तदा स भगवान् देवः सर्वज्ञः सर्वदोदितः।
अनन्तसुखवीर्यादिभूतेः स्यादग्रिमं पदं ॥३२-४२॥

भावार्थ—केवलीभगवान चार घातीयकर्म के नाश होने पर जिनको पहले कभी प्रगट नही किया था उन केवलज्ञान व केवलदर्शन गुणो को प्रगट कर सर्व लोक और अलोक यथावत् देखते जानते हैं तब ही वे भगवान् सर्व काल प्रकाश करने वाले सर्वज्ञ देव होते हैं और अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि विभूतियो के प्रथम स्वामी होते हैं।

(३१) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते हैं—

अर्थान् यथास्थितान् सर्वान् समं जानाति पश्यति।
निराकुलो गुणी योऽसौ शुद्धचिद्रूप उच्यते ॥३-१॥

भावार्थ—जो सर्व पदार्थों को जैसा उनका स्वरूप है इसी रूप से एक ही साथ देखता है व जानता है तथा जो निराकुल है और गुणो का भण्डार है, उसे शुद्ध चैतन्य प्रभु परमात्मा कहते हैं।

दुर्लभोऽत्र जगन्मध्ये चिद्रूपरुचिकारकः।
ततोऽपि दुर्लभं शास्त्रं चिद्रूपप्रतिपादकं ॥८-८॥
ततोऽपि दुर्लभो लोके गुरुस्तदुपदेशकः।
ततोऽपि दुर्लभं भेदज्ञानं चिंतामणिर्यथा ॥९-८॥

भावार्थ—इस लोक मे शुद्ध चैतन्य के स्वरुप की रुचि रखने वाला मानव दुर्लभ है, उससे भी कठिन चैतन्य स्वरुप के बताने वाले शास्त्र का

मिलना है। उससे भी कठिन उसके उपदेशक गुरु का लाभ होना है। वह भी मिल जाय तौभी चिन्तामणि रत्न के समान भेदविज्ञान का प्राप्त होना दुर्लभ है। यदि कदाचित् भेदविज्ञान हो जाय तो आत्मकल्याण मे प्रमाद न करना चाहिए।

अछिन्नधारया भेदबोधनं भावयेत् सुधीः।
शुद्धचिद्रूपसप्राप्त्यै सर्वशास्त्रविशारदः ॥१३-८॥

भावार्थ—सर्वशास्त्रो का ज्ञाता विद्वान को उचित है कि शुद्ध चैतन्य स्वरुप की प्राप्ति के लिए लगातार धारावाही भेदविज्ञान की भावना करे, आत्मा को अनात्मा से भिन्न मनन करे।

सता वस्तूनि सर्वाणि स्माच्छब्देन वचांसि च।
चिता जगति व्याप्तानि पश्यन् सद्दृष्टिरुच्यते ॥७-१२॥

भावार्थ—वही सम्यग्दृष्टी व सम्यग्ज्ञानी कहा जाता है जिसको विश्वास है कि सर्व वस्तु सत्रुप है तथा जो स्यात् शब्द के साथ वाणी बोलता है अर्थात् जो अनेकान्त पदार्थ को समझाने के लिए भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक-एक स्वभाव को बढाता है तथा जिसको यह विश्वास है कि ज्ञान अपने विषय की अपेक्षा जगत व्यापी है।'

स्वस्वरूपपरिज्ञानं तज्ज्ञान निश्चयाद् वरं।
कर्मरेणूच्चये वातं हेतुं विद्धि शिवश्रियः ॥१२-१२॥

भावार्थ---अपने शुद्ध आत्म स्वरुप का जानना वह श्रेष्ठ निश्चय सम्यग्ज्ञान है। इसही से कर्मो का क्षय होता है तथा इसी को मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति का साधन जानो।

यदि चिद्रूपेऽनुभवो मोहाभावे निजेत्तस्वात्।
तत्परमज्ञानं स्याद्बहिरन्तरसगमुक्तस्य ॥१३-१२॥

भावार्थ—बाहरी भीतरी दोनो प्रकार के परिग्रह से रहित साधु के मोह के अभाव होने पर जो अपने शुद्ध चैतन्य स्वरुप का अनुभव होता है वह उत्कृष्ट निश्चय सम्यग्ज्ञान है।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मन.।
तस्यावलम्बन कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसगति ॥१०-१५॥

भावार्थ—शास्त्र को मनन कर, सद्‌गुरु के उपदेश से व साधर्मी भाइयो की सगति से अपने आत्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके उसीका आलम्बन लेकर तिष्ठ, उसीका मनन ध्यान और चिन्तवन कर, परपदार्थो की सगति छोड ।

ज्ञेयावलोकनं ज्ञानं सिद्धानां भविनां भवेत् ।
आद्यानां निर्विकल्पं तु परेषां सविकल्पकं ॥८-१७॥

भावार्थ—जानने योग्य पदार्थो का देखना व जानना सिद्ध और ससारी दोनो के होता है । सिद्धो के वह ज्ञानदर्शन निर्विकल्प है, निराकुल स्वाभाविक समभाव रूप हैं, जब कि ससारी जीवो के ज्ञान दर्शन सविकल्प है, आकुलता सहित है ।

(३२) प० बनारसीदास जी समयसार नाटक मे कहते हैं —

सवैया २३

जोग धरै रहे जोगसु भिन्न, अनन्त गुणातम केवल ज्ञानी ।
तासु हृदे द्रहसो निवसी, सरिता समव्है श्रुत सिन्धु समानी ॥
याते अनन्त नयातम लक्षण, सत्य सरूप सिद्धान्त बखानी ।
बुद्धि लखे न लखे दुरबुद्धि, सदा जगमाहि जगे जिनवाणी ॥ ३ ॥

सवैया ३१

निहचे मे एक रूप व्यवहार मे अनेक,
याही नय विरोध ने जगत भरमायो है ।
जग के विवाद नाशिवे को जिन आगम है,
ज्यामे स्याद्वादनाम लक्षण सुहायो है ॥
दर्शन मोह जाको गयो है सहज रूप,
आगम प्रमाण ताके हिरदे मे आयो है ।
अनय सो अखण्डित अनूतन अनन्त तेज,
ऐसो पद पूरण तुरन्त तिन पायो है ॥ ५ ॥
परम प्रतीति उपजाय गणधर की सी,
अन्तर अनादि की विभावता विदारी है ।
भेद ज्ञान दृष्टि सो विवेक की शकति साधि,
चेतन अचेतन की दशा निरवारी हैं ॥
करम को नाशकरि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिये मे हरखि निज शुद्धता सम्भारी है ।

अन्तराय नाश गयो शुद्ध परकाश भयो,
ज्ञान को विलास ताको बन्दना हमारी है ॥ २ ॥

कवित्त

ज्ञेयाकार ज्ञान की परिणति, पै वह ज्ञान ज्ञेय नहि होय।
ज्ञेयरूप षट द्रव्य भिन्न पद, ज्ञानरूप आतम पद सोय ॥
जाने भेद भाण सुविक्षण, गुण लक्षण सम्यक् दृग जोय।
मूरख कहे ज्ञान महि आकृति, प्रगट कलक लखे नहि कोय ॥५२॥

(३३) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास मैं कहते हैं—

सवैया २३

कर्म सुभासुभ जो उदयागत, आवत है जब जानत ज्ञाता।
पूरव भ्रामक भाव किये बहु, सो फल मोहि भयौ दुखदाता ॥
सो जडरूप सरूप नही मम, मैं निज सुद्ध सुभावहि राता।
नाश करौ पल मे सबकौ अब जाय, बसौ सिवखेत विख्यातौ ॥६५॥
सिद्ध हुए अब होइ जु होइगे, ते सब ही अनुभौगुनसेती।
ताबिन एक न जीव लहै सिव, घोर करौ किरिया बहु केती ॥
ज्यौ तुषमाहि नहि कनलाभ, किये नित उद्यम की विधि जेती।
यौ लखि आदरिये निजभाव, विभाव विनाश कला शुभ एती ॥६६॥

सवैया ३१

चेतन के भाव दोय ग्यान औ अग्यान जोय,
एक निजभाव दूजौ परउतपात हैं।
तातै एक भाव गहौ दूजौ भाव मूल दहौ,
जातै सिव पद लहौ यही ठीक बात है ॥
भाव कौ दुखायौ जीव भावहीसौ सुखी होय।
भाव ही कौ फेरि फेरै मोखपुर जात हैं।
यह तौ नीकौ प्रसग लोक कहैं सरवग,
आग ही कौ दाधौ अग आग ही सिरात है ॥१०७॥
केई केई बार जीव भूपति प्रचड भयौ,
केई केई बार जीव कीटरूप धरयौ हैं।
केई केई बार जीव नौग्रीवक जाय बस्यौ,
केई बार सातमे नरक अवतरयौ है ॥

केई केई बार जीव राघौ मच्छ होइ चुक्यौ,
केई बार साधारन तुच्छ काय बरयौ है।
सुख और दुख दोऊ पावत हैं जीव सदा,
यह जान ग्यानवान हर्ष सोक हरयौ है ॥११५॥
बार बार कहैं पुनरुक्त दोष लागत है,
जागत न जीव तूतौ सोयौ मोह झग मे।
आतमासेती विमुख गहै राग दोषरूप,
पन्चइन्द्रीविषैसुखलीन पगपग मे ।
पावत अनेक कष्ट होत नाहिं अष्ट नष्ट,
महापद भिष्ट भयौ भर्म सिष्टमग मे ।
जागि जगवासी तू उदासी व्है के विषय सौ,
लागि शुद्ध अनुभौ ज्यो आवै नाहिं जग मे ॥११७॥

छप्पै

तिय मुख देखनि अन्ध, मूक मिथ्यात मनन कौ।
बधिर दोष पर सुनन, लुंज षटकाय हनन कौं।
पगु कुतीरथ चलन, सुन्न हिय लेन धरन कौ।
आलसि विपयनि माहि, नाहिं बल पाप करन कौ॥
यह अगहीन किह काम कौ, करै कहा जग बैठकै।
द्यानत तातैं आठौ पहर, रहैं आप घर पैठ कें॥५॥
होनहार सो होय, होय नहिं अन-होना नर।
हरष सोक क्यो करै, देख सुख दुख उदैकर॥
हाथ कछू नहि परै, भाव-ससार बढावै।
मोह करम कौ लियौ, तहा सुख रच न पावै॥
यह चाल महा मूरखतनी, रोय रोय आपद सहै।
ग्यानी विभाव नासन निपुन, ग्यानरूप लखि सिव लहैं॥६॥

कवित्त।

देव गुरु सुभ धर्म कौ जानियै, सम्यक आनियै मोखनिसानी।
सिद्धनितैं पहलै जिन मानियैं, पाठ पढे हूजियै स्रुतग्यानी॥
सूरज दीपक मानक चन्दतै, जाय न जो तम सो तम हानी।
द्यानत मोहि कृपाकर दो वर, दो कर जोरि नमौ जिनवानी॥२०॥

सवैया २३

जाहीको ध्यावत ध्यान लगावत, पावत है रिसि पर्म पदीको।
जा थुति इन्द फनिंद नरिंद, गनेस करै सब छाडि मदीको॥
जाही को वेद पुरान बतावत, धारि हरै जमराज बदीको।
द्यानत सो घट माहि लखौ नित, त्याग अनेक विकल्प नदी को॥३३॥

(३४) भैया भगवतीदासजी ब्रह्मविलास मे कहते है—

सवैया ३१

जो पै तोहि तरिवै की इच्छा कछु भई भैया,
तौ तौ वीतरागजू के वच उर धारिए।
भौ समुद्रजल मे अनादि ही तै बूडत हो,
जिननाम नौका मिली चित्ततै न टारिए॥
खेवट विचार शुद्ध थिरतासौं ध्यान काज,
सुख के, समूह को सुदृष्टिमौं निहारिए।
चलिए जो इह पन्थ मिलिए ज्यौ मारग मे,
जन्मजरामरन के भय को निवारिए॥८॥

× × × ×

वीतराग वानी की न जानी बात प्रानी मूढ,
ठानी तै क्रिया अनेक आपनी हठाहठी।
कर्मन के बन्ध कौन अन्ध कछु सूझै तोहि,
रागदोप पणितसो होत जो गठागठी॥
आतमा के जीत की न रीत कहू जानै रच,
ग्रन्थन के पाठ तू करै कहा पठापठी।
मोह को न कियौ नाश सम्यक न लियौ भास,
सूत न कपास करै कारोसो लठालठी॥१०॥

× × × ×

सुन जिनवानी जिहँ प्रानी तज्यो रागद्वेष,
तेई धन्य धन्य जिन आगम मे गाए हैं।
अमृत समानी यह जिहँ नाहिं उर आनी,
तेई मूढ प्रानी भावभवरि भ्रमाए हैं॥
याही जिनवानी को सवाद सुखचाखो जिन,
तेही महाराज भए करम नसाए हैं।
तातै दृग खोल भैया लेहु जिनवानी लखि,
सुख के समूह सब याही मे बताए हैं॥४॥

× × × ×

केवली के ज्ञान में प्रमाण आन सब भासै,
लोक औ अलोकन की जेती कछु बात है।
अतीत काल भई है अनागत मे होयगी,
वर्तमान समैकी विदित यों विख्यात है ॥
चेतन अचेतन के भाव विद्यमान सबै,
एक ही समै मे जो अनत होत जात हैं।
ऐसी कछु ज्ञान की विशुद्धता विशेष बनी,
ताको धनी यहै हंस कैसे बिललात है ॥२५॥

छप्पै।

ज्ञान उदित गुण उदित, मुदित भई कर्म कषाये।
प्रगटत पर्म स्वरूप, ताहि निज लेत लखाए ॥
देत परिगह त्याग, हेत निहचै निज मानत।
जानत सिद्ध समान, ताहि उर अन्तर ठानत ॥
सो अविनाशी अविचल दरव, सर्व ज्ञेय ज्ञायक परम।
निर्मल विशुद्ध शाश्वत सुथिर, चिदानद चेतन धरम ॥८॥

कवित्त।

ग्यारह अंग पढे नव पूरव, मिथ्या बल जिय करहिं बखान।
दे उपदेश भव्य समुझावत, ते पावत पदवी निर्वान ॥
अपने उर मे मोह गहलता, नहि उपजै सत्यारथ ज्ञान।
ऐसे दरवश्रुतके पाठी, फिरहिं जगत भाखै भगवान ॥११॥

नौवां अध्याय
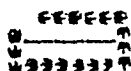
सम्यक्चारित्र और उसका महात्म्य ।

यह बात बताई जा चुकी है कि यह ससार असार है, दु खो का सागर है, शरीर अपवित्र व नाशवन्त है, भोग अतृप्तिकारी व आकुलता-मय हैं । अतीन्द्रिय सहज सुख ही ग्रहण करने योग्य सच्चा सुख है । वह सुख आत्मा ही का स्वभाव है । इसलिए सहज सुख का साधन आत्मा-नुभव है या आत्म ध्यान है । इसी आत्मानुभव को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की एकता कहते हैं । सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का निश्चयनय तथा व्यवहारनय से कुछ स्वरूप कहा जा चुका है । अब इस अध्याय मे सम्यक्चारित्र का कुछ सक्षिप्त कथन किया जाता है ।

निश्चयनय से सम्यक्चारित्र—अपने शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थिरता प्राप्त करना, राग-द्वेष, मोह के विकल्पो से रहित हो जाना, निश्चय सम्यक्चारित्र है । आत्मा का स्वभाव यदि विचार किया जावे तो वह शुद्ध अखण्ड ज्ञानानन्दमय द्रव्य है । वही परमात्मा वही भगवान्, वही

ईश्वर, वही परब्रह्म, वही परम ज्योतिस्वरूप है। उसका यह स्वभाव कभी मिटा नही, मिटता नही, मिटेगा नही। उस आत्मा के स्वभाव मे न कुछ वन्ध हैं जिससे मुक्ति करने की कल्पना हो, न कोई रागादि भाव है जिनको मिटाना हो, न कोई ज्ञानावरणादि कर्म हैं जिनसे छूटना हो, न कोई शरीरादि नोकर्म हैं जिनकी सगत हटाना हो।

यह आत्मा विकारो से रहित यथार्थ एक ज्ञायक स्वरूप परम शुद्ध समयसार है, स्वसमय है, निराबाध है, अमूर्तिक है, शुद्ध निश्चयनय से उसमे किसी साधन की आवश्यकता नही है। वह सदा ही सहजानन्द स्वरूप है। वहा सहज सुख के साधन की कोई कल्पना नही है। यह सब द्रव्यार्थिक नय से शुद्ध द्रव्य का विचार है। इस दृष्टि मे किसी भी साधन की जरूरत नही है। परन्तु पर्यायार्थिक नय या पर्याय की दृष्टि देख रही है। और ठीक-ठीक देख रही है कि इस ससारी आत्मा के साथ तैजस कार्माण दो सूक्ष्म शरीर प्रवाह रूप से साथ-साथ चले आ रहे है। इस कार्माण शरीर के ही कारणो से रागद्वेष, मोह आदि भाव कर्म पाये जाते हैं तथा ओदारिक, वैक्रियिक, आहारक व अन्य वाहरी सामग्रीरूपी नोकर्म का सयोग है।

इस अवस्था के कारण ही इस जीव को जन्म मरण करना पडता है, दुख व सुख के जाल मे फसना पडता है, वार-बार कर्म वन्ध करके उसका फल भोगते हुए इस ससार मे ससरण करना पडता है। इसी पर्याय दृष्टि से या व्यवहार नय से सहज सुख साधन का विचार है। रत्नत्रय का साधन इसी दृष्टि से करने की जरूरत है, सम्यग्दर्शन से जब आत्मा का सच्चा स्वरूप श्रद्धा मे, प्रतीति मे, रुचि मे जम जाता है, सम्यग्ज्ञान से जब आत्मा का स्वरूप सशयादि रहित परमात्मा के समान ज्ञाता दृष्टा आनन्दमय जाना जाता है, तव सम्यक्चारित्र से इसी श्रद्धा व ज्ञान सहित शुद्ध आत्मीक भाव मे रमण किया जाता है, चला जाता है, परिणमन किया जाता है, तिष्ठा जाता है। यही सम्यक्चारित्र है।

इसीलिए चारित्र की वडी भारी आवश्यकता है। किसी को मात्र श्रद्धा व ज्ञान करके ही सन्तोषित न हो जाना चाहिए। किन्तु चारित्र का अभ्यास करना चाहिए। बिना चारित्र के श्रद्धान और ज्ञान अपने अभीष्ट फल को नही दे सकते।

एक मनुष्यको श्रद्धान व ज्ञान है कि यह मोती की माला है, पहरने योग्य हैं, पहरने से शोभा होगी परन्तु जबतक वह उसको पहनेगा नही तबतक उसकी शोभा नही हो सकती। बिना पहरे हुए ज्ञान श्रद्धान व्यर्थ है। एक मानव के सामने रसीले पकवान बरफी, पेड़ा, लाडू आदि पदार्थ रक्खे हैं वह उनका ज्ञान व श्रद्धान रखता है कि ये सेवने योग्य हैं, इसका सेवन लाभकारी है, स्वादिष्ट है, परन्तु जब तक वह उन मिष्ट पदार्थों का सेवन एकाग्र होकर न करेगा तबतक उसका श्रद्धान व ज्ञान कार्यकारी नहीं है।

एक मानव के सामने पुष्पो का गुच्छा पडा हुआ है। वह जानता है व श्रद्धान रखता है कि यह सूघने योग्य है। सूघने से शरीर को लाभ होगा परन्तु यदि वह सूघे नही तो उसका ज्ञान व श्रद्धान कुछ भी काम का न होगा। एक मानव को श्रद्धान है व ज्ञान है कि बम्बई नगर देखने योग्य है। परन्तु जब तक वह बम्बई मे आकर देखेगा नही तब तक उसका ज्ञान श्रद्धान सफल न होगा।

एक मानव को श्रद्धान व ज्ञान है कि लाला रतनलाल जी बडा ही मनोहर गाना बजाना करते हैं, बहुत अच्छे भजन गाते है। जबतक उनको सुनने का प्रबन्ध न किया जाय तबतक यह गाने बजाने का ज्ञान व श्रद्धान उपयोग नही दे सकता है। बिना चारित्र के ज्ञान व श्रद्धान की सफलता नही।

एक मन्दिर पर्वत के शिखर पर है। हमको यह श्रद्धान व ज्ञान है कि उस मन्दिर पर पहुँचना चाहिए व उसका मार्ग इस प्रकार है. इस प्रकार चलेगे तो अवश्य मन्दिर मे पहुँच जावेगे, परन्तु हम आलसी बने बैठे रहे, चलने का पुरुषार्थ न करे तो हम कभी भी पर्वत के मन्दिर पर पहुँच नही सकते हैं। जो कोई अयथार्थ तत्वज्ञानी अपने को परमात्मावत् ज्ञाता दृष्टा अकर्ता, अभोक्ता, बन्ध व मोक्ष से रहित मान कर, श्रद्धान कर, जान कर ही सन्तुष्ट हो जाते हैं और स्वच्छन्द होकर रागद्वेष वर्द्धन कारक कार्यों मे प्रवृत्ति रखते रहते है कभी भी आत्मानुभव [illegible] या आत्म ध्यान का साधन नही करते है वे कभी भी अपने श्रद्धान व ज्ञान का फल नही पा सकते। वे कभी भी सहज सुख का लाभ नहीं सकते। वे कभी भी कर्मों से मुक्त स्वाधीन नहीं हो सकते।

यथार्थ तत्वज्ञानी स्वतत्व रमण को ही मुख्य सहज सुख का

व मुक्ति का ---र्ग मानते हैं। यही जैन सिद्धान्त का सार है। अतएव निश्चय सम्यक्चारित्र के लाभ की आवश्यकता है, स्वात्म रमण की जरूरत है, आत्म ध्यान करना योग्य है। इसका स्वरूप पहले बताया जा चुका है। आत्मा का यथार्थ ज्ञान व यथार्थ श्रद्धान होते हुए जितने अश मे स्वस्वरूप मे थिरता, एकाग्रता, तन्मयता होगी वही निश्चय सम्यक् चारित्र है।

जैन सिद्धान्त ने इसीलिये स्वात्मानुभव की श्रेणियाँ बताकर अविरत सम्यग्दृष्टि स्वात्मानुभव को दोयज का चन्द्रमा कहा है। वही पाँचवे देशविरत गुणस्थान मे अधिक प्रकाशित होता है। छठे प्रमत्त विरत मे इससे अधिक, अप्रमत्त विरत मे इससे अधिक---श्रेणी मे उससे अधिक, क्षीणमोह गुणस्थान मे उससे अधिक,सयोग केवली परमात्माके पूर्णमासीके चन्द्रमा के समान स्वात्मानुभव प्रकाशित हो जाता है। इसी स्वानुभव को ही धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान कहते हैं। इसीको शुद्ध योग कहते हैं। इसीको कारण समयसार कहते है, परमात्मा के स्वानुभव को कार्य समयसार कहते हैं। इसीको सहज सुख साधन कहते हैं। परमात्मा के स्वानुभव पूर्ण अनन्त सुख को सहज सुख साध्य कहते हैं।

वास्तव मे मन, वचन, कायो की चचलता राग द्वेष मोह से या कषायों के रग से रगी हुई स्वात्मानुभव मे बाधक है। जितनी-जितनी यह चचलता मिटती जाती है उतनी-उतनी ही स्वात्मानुभव की कला अधिक-अधिक चमकती जाती है। जैसे पवन के झोकों से समुद्र क्षोभित होकर थिर नही रहता है, जितना-जितना पवन का झोका कम होता जाता है उतना-उतना क्षोभपना भी कम होता जाता है। जब पवन का सचार बिलकुल नही रहता है तब समुद्र बिलकुल थिर हो जाता है उसी तरह राग द्वेष या कषायो के झकोरे जितने अधिक होते हैं उतना ही आत्मा का उपयोग रूपी जल क्षोभित व चचल रहता है। जितना-जितना कषायो का उदय घटता जाता है, चचलता कम होती जाती है, कषायो का अभाव शुद्धात्मचर्या को निष्कम्प प्राप्त करा देता है।

निश्चय सम्यक् चारित्र या आत्मानुभव की प्राप्ति का एक सहज उपाय यह है कि विश्व को व स्वपर को व्यवहारनय से देखना बन्द करके निश्चयनय से देखा जावे। निश्चयनय की दृष्टि मे जीव, पुद्गल, धर्म,

अधम, आकाश, काल ये छहो द्रव्य पृथक्-पृथक अपने मूल स्वभाव मे ही दिखलाई पडेगे। धर्म, अधर्म,काल, आकाश तो सदा ही स्वभाव मे रहते हैं, वे वैसे ही दीख पडेगे। पुद्गल रूप शुद्ध परमाणु रूप दिखलाई देंगे। उनकी शोभनीक व अशोभनीक मकान मन्दिर महल वस्त्र आभूषण बर्तन आदि की अवस्थाएँ बिलकुल नही दिखलाई देगी। तथा जितने जीव हैं सब शुद्ध परमात्मा के समान दिखलाई पडेगे। आप भी परमात्मा रूप अपने को मालूम पडेगा। इस दृष्टि से देखते हुए राग द्वेष की उत्पत्ति के सब कारण हट जावेगे। छोटे बडे, ऊँच नीच की, स्वामी सेवक की, मित्र शत्रु की, बन्धु अबन्धु की, स्त्री पुरुष की, मानव या पशु की सर्व कल्पनाएँ दूर हो जायँगी। सिद्ध ससारी का भेद भी मिट जायगा। अशुचि व शुचि पदार्थ की कल्पना भी चली जायगी। फल यह होगा कि परम समता भाव जागृत हो जायगा, समभाव रूपी सामायिक का उदय हो जायगा।

यह स्वात्मानुभव की प्राप्ति की सीढी है। फिर वह समदृष्टि ज्ञाता आत्मा केवल अपने ही आत्मा की तरफ उपयुक्त हो जाता है। कुछ देर के पीछे निर्विकल्पता आ जाती है, स्वरूप मे स्थिरता हो जाती है, स्वानुभव हो जाता है, यही निश्चय सम्यक् चारित्र है। निश्चय सम्यक्चारित्र स्वात्मानुभव रूप ही है। न यहाँ मन का चिन्तवन है न वचन का जल्प या मनन है, न काय का हलन चलन है—मन, वचन, काय की क्रिया से अगोचर है। वास्तव मे स्वात्मानुभव होते हुए मन का मरण ही हो जाता है या लोप ही हो जाता है या उसका अस्त ही हो जाता है। मन, वचन, काय के विकारो के मध्य मे पडा हुआ निर्विकार आत्मा आत्मा रूप से झलक जाता है, विकार सब मिट जाते हैं।

सम्यक्चारित्र बडा ही उपकारी है। इसीका अभ्यास वीतराग विज्ञानमय भाव की उन्नति करता है व सराग व अज्ञानमय भाव को दूर करता है। यह बात साधक को बराबर ध्यान मे रखनी चाहिये कि जब तक आत्मानुभव न हो तब तक निश्चय सम्यक्चारित्र का उदय नही हुआ। जैसे व्यापारी को हर एक व्यापार करते हुए धनागम पर लक्ष्य है, कुटुम्ब के भीतर सर्व प्राणियो का परिश्रम करते हुए, मकान मे अन्नादि सामग्री एकत्र करते हुए, बर्तनादि व लकडी जमा करते हुए, रसोई का प्रबन्ध करते हुए, यही लक्ष्य रहता है कि हमारा सब का क्षुधारोग मिटे।

इसी तरह साधक का लक्ष्य स्वात्मानुभव रहना चाहिए। सम्यक्‌चारित्र जितने अश हैं वह एक अपूर्व आत्मीक भावका झलकाव है जहा सम्यक्‌दर्शन व सम्यग्ज्ञान भी गर्भित हैं।

वास्तव मे उपयोगात्मक या भाव निक्षेप रूप सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान वही होते हैं जहाँ सम्यक् चारित्र होता है। जब स्वानुभव मे एकाग्रता होती है वही सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्र तीनो की एकता है, वही मोक्षमार्ग है, वही कर्मो के सवर करने का उपाय हैं। वही ध्यान की अग्नि है जो पूर्वबद्ध कर्मों को दग्ध करती है। जैसे अग्नि की ज्वाला जलती हुई किसी चूल्हे मे एक साथ दाहक, पाचक, प्रकाशक का काम कर रही है, वैसे स्वात्मानुभव की ज्योति जलती हुई सम्यक्‌दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्‌चारित्रमयी परिणमन करती हुई अपना काम कर रही है।

अग्नि की ज्वाला एक साथ लकडो को जला रही है, भोजन को पका रही हैं, अन्धकार को नाश कर रही है। इसी तरह स्वात्मानुभव रूप सम्यक्‌चारित्र से एक साथ ही कर्म जलते हैं, आत्मबल बढते हुए आत्मानन्द का स्वाद आता है तथा आत्मज्ञान की निर्मलता होती है, अज्ञान का अन्धकार मिटता जाता है। इसी सम्यक्‌चारित्र के धारावाही अभ्यास से मोहकर्म दग्ध हो जाता है फिर ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्म जल जाते है। अनन्त बल, अनन्त सुख का प्रकाश हो जाता है, अनन्त दर्शन व अनन्त ज्ञान झलक जाता है, आत्मा परमात्मा हो जाता है। सम्यक्‌चारित्र ही जीव को ससारी से सिद्ध अवस्था मे बदल देता है।

निश्चय सम्यक्‌चारित्र की तरफ प्रेमभाव, प्रतिष्ठाभाव, उपादेय भाव, भक्तिभाव, आराधक भाव, तीव्र रुचिभाव रहना चाहिए, तब ही इसकी वृद्धि होती जायगी। यह भी याद रखना चाहिए कि निश्चय सम्यक्‌चारित्र आत्मा के पूर्ण थिरतारूप चारित्र का उपादान कारण है—मूल कारण है। जैसे सुवर्ण की थोडी शुद्धता अधिक शुद्धता का उपादान कारण है। जैसे सुवर्ण की शुद्धता के लिए मसाले की व अग्नि की सहायता की जरूरत है, केवल सुवर्ण अपने आप ही शुद्ध नही हो सकता। हर एक कार्य के लिए उपादान तथा निमित्त दो कारणो की आवश्यकता है। उपादान कारण कार्यरूप वस्तु स्वय हुआ करती है, निमित्त कारण बहुत से सहकारी कारण होते है। गेहू से रोटी अपने ही उपादान कारण

से पलटती हुई बनी है परन्तु निमित्त कारण चक्की, वेलन, तवा, अग्नि आदि मिले हैं। इसी तरह निश्चय सम्यक्‌चारित्र के लिए किन्ही निमित्तो की जरूरत है, जिससे उपयोग, निश्चिन्त होकर—निराकुल होकर स्वरूप रमण कर सके। ऐसे निमित्तो को मिलाने के लिए व्यवहार सम्यक्‌चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्‌चारित्र की सहायता से जितना जितना मन व इन्द्रियो पर विजय लाभ किया जायगा, जितना जितना मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोका जायगा, जितना जितना इच्छा को घटाया जायगा, जितना जितना जगत के चेतन व अचेतन पदार्थो से सम्पर्क या सयोग दूर किया जायगा, जितना जितना ममता का घटाव किया जायगा, जितना जितना समता का बढाव किया जायगा, उतना उतना निश्चय सम्यक्‌चारित्र के प्रकाश का साधन बनता जायगा। इसीलिए व्यवहार सम्यक्‌चारित्र की आवश्यकता है।

व्यवहार सम्यक्‌चारित्र—जो असली चारित्र तो न हो परन्तु चारित्र के प्रकाश मे सहायक हो उसको ही व्यवहारचारित्र कहते हैं। यदि कोई व्यवहारचारित्र पाले परन्तु उसके द्वारा निश्चय सम्यक्‌चारित्र का लाभ न कर सके तो वह व्यवहारचारित्र यथार्थ नही कहा जायगा, सम्यक् नही कहा जायगा। जैसे कोई व्यापार वाणिज्य तो बहुत करे परन्तु धन का लाभ नही कर सके तो उस व्यापार को यथार्थ व्यापार नही कहा जायगा।

जैसे कोई भोजनादि सामग्री तो एकत्र करे परन्तु रसोई बनाकर पेट मे भोजन न पहुँचा सके तो उसका आरम्भ यथार्थ नही कहा जायगा। जहा निश्चय सम्यक्‌चारित्ररूप स्वात्मानुभव पर लक्ष्य है, उसी की खोज है, उसी के रमण का प्रेम है और तब उसमे निमित्त साधनो का सग्रह किया जाता है तो उसको व्यवहार सम्यक्‌चारित्र कहा जायगा। व्यवहार सम्यक्‌चारित्र दो प्रकार का है—एक अनगार या साधुचारित्र दूसरा सागार या श्रावकचारित्र।

अनगार या साधुचारित्र—यहा सक्षेप से सामान्य कथन किया जाता है। यह प्राणी क्रोध, मान, माया, लोभ इन कषायो के वशीभूत होकर रागी, द्वेषी होता हुआ अपने स्वार्थ साधन के लिए पाच प्रकार के

पापकर्म किया करता है। हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह (धन धान्यादि मे मूर्छा) इन्ही का पूर्ण त्याग करना साधु का चारित्र है। इन्ही के पूर्ण त्याग को महाव्रत कहते हैं, इन्ही की दृढता के लिए पाच समिति तथा तीन गुप्ति का पालन किया जाता है। अतएव तेरह प्रकार का व्यवहारचारित्र साधु का धर्म कहलाता है। इनमे पाच महाव्रत मुख्य हैं—

पाच अहिंसादि महाव्रत—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, परिग्रह त्याग, ये पाच महाव्रत है। यद्यपि ये पाच हैं तथापि एक अहिंसा महाव्रत मे शेष चार गर्भित हैं, असत्य बोलने से, चोरी करने से, कुशील भाव से, परिग्रह की तृष्णा से आत्मा के गुणो का घात होता है। अतएव ये सब हिंसा के ही भेद हैं। जहा हिंसा का सर्वथा त्याग है वहा इनका भी त्याग हो जाता है। शिष्य को खुलासा करने के लिए इनका बिस्तार इस इस प्रकार है—

अहिंसा का बहुत साधारण स्वरूप तो यह है कि जो बात हम अपने लिए नही चाहते है वह बात हम दूसरो के लिए न चाहे, हम नही चाहते हैं, हमारे सम्बन्ध मे कोई बुरा विचार करे, कोई हमे झूठ बोल के व अन्य तरह से ठगे, हमे अपशब्द कहे, हमे मारे-पीटे व हमारी जान लेवे व हमारी स्त्री पर कोई कुदृष्टि करे, वैसे उनको भी दूसरो का बुरा न विचारना चाहिए। दूसरो को असत्य बोल कर व अन्य तरह न ठगना चाहिए, अपशब्द न कहना चाहिए, न दूसरो को मारना पीटना चाहिये न प्राण हरण करना चाहिये, न पर की स्त्री पर कुभाव करना चाहिये।

इन सब बुरे कामो की प्रेरणा भीतर अशुद्ध भावो से होती है। इस लिये जिन रागद्वेष या क्रोध, मान, माया, लोभादि या प्रमाद भाव से आत्मा के शुद्ध शान्तभाव का घात होता है उन भावो को **भावहिंसा** कहते है तथा अपने व दूसरे के द्रव्य प्राणो का घात करना **द्रव्य हिंसा** है। द्रव्य प्राणो का स्वरूप जीव द्रव्य के वर्णन मे हो चुका है। भावहिंसा द्रव्यहिंसा का कारण हे। जिस समय क्रोध भाव उठता है वह उस आत्मा के शान्त भाव का घात कर देता है। तथा क्रोधी के मन, वचन, काय आदि द्रव्य प्राणो मे भी निर्वलता हो जाती है। पीछे जब वह क्रोधवश किसी को मारता पीटता है व हानि पहुँचाता है तब दूसरे के भाव प्राणो की व

द्रव्य प्राणो की हिंसा होती है। क्योंकि जब सब जीव सुख शांति चाहते हैं व जीते रहना चाहते हैं। तब अहिंसा महाव्रत ही सब की इस भावना को सिद्ध कर सकता है। जो पूर्ण अहिंसा को पा लेगा वह अपने भावो मे क्रोधादि न आने देगा व वह ऐसा वर्तन करेगा जिससे कोई भी स्थावर व त्रस प्राणी के प्राण न घाते जावे।

यही साधुओं का परम धर्म है जो अनेक प्रकार कष्ट दिए जाने पर भी कष्टदाता पर क्रोधभाव नही लाते हैं, जो भूमि निरखकर चलते हैं व वृक्ष की एक पत्ती भी नही तोडते हैं। हिंसा दो प्रकार की है—**संकल्पी** और **आरम्भी**। जो प्राणघात हिंसा के सकल्प से किया जावे वह सकल्पी हिंसा है, जैसे धर्म के नाम से पशुवलि करना, शिकार खेलना, मासाहार के लिए पशुओ को कटवाना आदि।

आरम्भी—हिंसा वह है जो गृहस्थी को आवश्यक ससारी कामो मे करनी पडती है। वहा हिंसा करने का सकल्प नही होता है किन्तु सकल्प अन्य आवश्यक आरम्भ का होता है, परन्तु उनमे हिंसा हो जाती है। इस हिंसा को आरम्भी हिंसा कहते है। इस हिंसा के तीन भेद है —

(१) **उद्यमी**—जो आजीविका साधन के हेतु असिकर्म (शस्त्रकर्म), मसिकर्म (लिखना), कृषिकर्म, वाणिज्यकर्म, शिल्पकर्म और विद्याकर्म (arts) इन छ प्रकार के कामो को करते हुए होती है।

(२) **गृहारम्भी**—जो गृह मे आहार पान के प्रवन्धार्थ, मकान बनाने, कूप खुदाने, वाग लगाने आदि मे होती है।

(३) **विरोधी**—जो दुष्टो के द्वारा व शत्रुओ के द्वारा आक्रमण किये जाने पर उनसे अपनी, अपने कुटुम्ब की, अपने माल की, अपने देश की रक्षार्थ और कोई उपाय न होने पर उसको मारकर भगाने मे होती है।

अहिंसा महाव्रती इस सकल्पी और आरम्भी दोनो ही प्रकार की हिंसा को त्याग कर देते हैं। त्रस व स्थावर सर्व की रक्षा करते है, भावो मे अहिंसात्मक भाव को पालते है, कषायभावो से अपनी रक्षा करते है।

सत्य महाव्रत— मे चार तरह का असत्य नही कहते है—(१) जो वस्तु हो उसको नही है ऐसा कहना। (२) जो वस्तु न हो उसको है ऐसा कहना। (३) वस्तु कुछ हो कहना कुछ और (४) गर्हित, अप्रिय व सावद्य

वचन जैसे कठोर, निन्दनीक, गाली के शब्द व हिंसामई आरम्भ बढाने वाले वचन। महाव्रती साधु सदा हित मित मिष्ट वचन शास्त्रोक्त ही बोलते हैं।

अचौर्य महाव्रत—मे बिना दिए हुए किसी की कोई वस्तु नही ग्रहण करते हैं, जल मिट्टी भी व जगल की पत्ती भी बिना दी नही लेते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत—मे मन, वचन, काय व कृत कारित अनुमोदना से कभी भी कुशील का सेवन नही करते हैं। कामभाव से अपने परिणामो की रक्षा करते हैं।

परिग्रह त्याग महाव्रत—मे मूर्छा भाव का त्याग करते है, चौबीस प्रकार परिग्रह को त्यागते है। चौदह अन्तरग विभावभाव जैसे—मिथ्या दर्शन, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद, नपुसकवेद, दशप्रकार बाहरी परिग्रह जैसे—क्षेत्र, मकान, चादी, सोना, धन (गो आदि), धान्य, दासी, दास, कपडे, बर्तन।

पांच समिति—इन पाच महाव्रतो की रक्षा के हेतु पाच समिति पालते हैं। प्रमाद रहित वर्तन को समिति कहते है।

ईर्या समिति—जन्तु रहित प्राशुक व रौदी भूमि पर दिन के प्रकाश मे चार हाथ आगे देखकर चलना।

भाषा समिति—शुद्ध, मिष्ट, हितकारी, भाषा बोलना।

एषणा समिति—शुद्ध भोजन, भिक्षा वृत्ति से लेना जो साधु के उद्देश्य से न बनाया गया हो।

आदान निक्षेपण समिति—कोई वस्तु को देखकर रखना व उठाना।

प्रतिष्ठापना या उत्सर्ग समिति—मलमूत्र निर्जतु भूमि पर देखकर करना।

तीन गुप्ति—मनको वश रखके धर्मध्यान मे जोडना **मनोगुप्ति** है। मौन रहना या शास्त्रोक्त वचन कहना **वचनगुप्ति** है—एकासन से बैठना व ध्यान स्वाध्याय मे काय को लगाना **काय गुप्ति** है, यह तेरह प्रकार साधु का चारित्र है। साधु निरन्तर ध्यान व स्वाध्याय मे लीन रहते हैं।

इन पाच महाव्रतो की दृढता के लिए एक-एक व्रत की ५—५ भावनाएं है जिन पर व्रती ध्यान रखते हैं।

(१) **अहिंसाव्रत की पांच भावनाए**—(१) वचनगुप्ति, (२) मनो गुप्ति, (३) ईर्या समिति, (४) आदान निक्षेपण समिति, (५) आलोकित पान भोजन—भोजन देखभाल कर करना।

(२) **सत्यव्रत की पांच भावनायें**—(१) क्रोध का त्याग, (२) लोभ का त्याग, (३) भय का त्याग, (४) हास्य का त्याग। क्योंकि इन्ही चारो के वश असत्य बोला जाता है, (५) अनुवीची भाषण, शास्त्रोक्त वचन कहना।

(३) **अचौर्यव्रत की पाच भावनायें**—(१) **शून्यागार**—शूने स्थान मे ठहरना, (२) **विमोचितावास**—छोडे हुए---उजडे हुए स्थान पर ठहरना, (३) **परोपरोधाकरण**—आप जहा हो दूसरा आवे तो मना न करना व जहा कोई मना करे वहा न ठहरना, (४) **भैक्ष्यशुद्धि**—भिक्षा शुद्ध अन्तराय व दोष टालकर लेना, (५) **साधर्मी अविसवाद**—साधर्मी धर्मात्माओ से विसम्वाद या झगडा न करना।

(४) **ब्रह्मचर्य व्रत की पांच भावनायें**—(१) **स्त्री राग कथा श्रवण त्याग**—स्त्रियो के राग बढानेवाली कथाओ के सुनने का त्याग, (२) **तन्मोहरांगनिरीक्षण त्याग**—स्त्रियो के मनोहर अगो के देखने का त्याग, (३) **पूर्वरतानुस्मरण**—पहले किए हुए भोगो का स्मरण त्याग, (४) **वृष्येष्टरस त्याग**—कामोद्दीपक पुष्टरस का त्याग, (५) **स्वशरीर सस्कार त्याग**—अपने शरीर के शृगार का त्याग।

(५) **परिग्रह त्याग व्रत की पांच भावनायें**—मनोज्ञ व अमनोज्ञ पाचो इन्द्रियो के पदार्थों को पाकर रागद्वेष न रखकर सन्तोष पालना। साधुओ का कर्तव्य है कि दशलाक्षणी धर्म की, बारह अनुप्रेक्षाओ की भावना भावे, बाइस परीषहो को जीते, पाच प्रकार चारित्र को बढावे तथा बारह प्रकार तप का साधन करे। उनका सक्षिप्त स्वरूप यह है—

दशलाक्षणी धर्म—कषायों को पूर्णपने निग्रह करके दश धर्मों को पूर्णपने पाले। कष्ट पाने पर भी उनकी विराधना न करे। (१) **उत्तम क्षमा**, (२) **उत्तम मार्दव**—मान का अभाव, (३) **उत्तम आर्जव**—मायाचार का अभाव, (४) **उत्तम सत्य**, (५) **उत्तम शौच**—लोभ का अभाव, (६) **उत्तम संयम**—मन इन्द्रियो पर विजय व छह काय के प्राणियो पर दया, (७) **उत्तम तप**—इच्छानिरोध करके तप पालना, (८) **उत्तम त्याग**—ज्ञान दान व अभयदान देना, (९) **उत्तम आकिंचन्य**— सर्व से ममता छोडकर एकाकी स्वरूप को ही अपना मानना, (१०) **उत्तम ब्रह्मचर्य**।

बारह भावनाए — (१) **अनित्य**—धन धान्य, स्त्री पुत्र, शरीरादि सर्व क्षणभगुर हैं, नाशवन्त हैं, (२) **अशरण**—मरण से व तीव्र कर्मोदय से कोई बचाने वाला नही, (३) **ससार**—चार गतिरूप ससार दुखो का भण्डार है, (४) **एकत्व**—यह जीव अकेला है। अपनी करणी का आप ही मालिक है, (५) **अन्यत्व**—इस जीव से शरीरादि सब पर है,(६) **अशुचि**—यह शरीर अपवित्र है, (७) **आस्रव**— इन इन भावो से कर्म आते हैं, (८) **सवर**—इन इन भावो से कर्म रुकते है, (९) **निर्जरा**—तप से कर्म झडते हैं, (१०) **लोक**—यह जगत अनादि अनन्त अकृत्रिम है, छह द्रव्यो का समूह है, द्रव्यापेक्षा नित्य व पर्यायापेक्षा अनित्य है। (११) **बोधिदुर्लभ**—रत्नत्रय का लाभ बहुत कठिन है,(१२) **धर्म**—आत्मा का स्वभाव धर्म है, यही परम हितकारी है।

बाईस परीषह जय—नीचे लिखी बाईस परीषहो के पडने पर शान्ति से सहना (१) क्षुधा, (२) तृषा, (३) शीत, (४) उष्ण, (५) दशमशक---डास मच्छरादि पशु बाधा, (६) नग्नता, (७) अरति, (८) स्त्री (९) चर्या—चलने की, (१०) निषद्या---बैठने की, (११) शय्या, (१२) आक्रोश—गाली, (१३) वध, (१४) याचना—मांगने के अवसर पर भी न मांगना, (१५) अलाभ—भोजन अन्तराय पर सन्तोष, (१६) रोग, (१७) तृण स्पर्श, (१८) मल, (१९) सत्कार पुरस्कार—आदर निरादर, (२०) प्रज्ञा--ज्ञान का मद

न करना, (२१) अज्ञान—अज्ञान पर खेद न करना, (२२) अदर्शन—श्रद्धा न बिगाडना '

चारित्र पांच प्रकार—(१) **सामायिक**—समभाव रखना (२) **छेदोपस्थापना**—सामायिक से गिरने पर फिर सामायिक मे स्थिर होना (३) **परिहार विशुद्धि**—ऐसा आचरण जिसमे विशेष हिसा का त्याग हो (४) **सूक्ष्म सांपराय**—दशवे गुणस्थानवर्ती का चारित्र, जहाँ मात्र सूक्ष्म लोभ का उदय है, (५) **यथाख्यात**—पूर्ण वीतराग चारित्र।

बारह तप—छ बाहरी (१) **अनशन**—उपवास खाद्य, स्वाद्य, लेह्य (चाटने की) पेय चार प्रकार आहार का त्याग। (२) **ऊनोदर**—भूख से कम खाना, दो भाग अन्नादि से एक भाग जल से एक भाग खाली रखना। (३) **वृतिपरिसंख्यान**—भिक्षा को जाते हुए कोई प्रतिज्ञा लेना, पूर्ण होने पर ही आहार लेना। (४) **रसपरित्याग**—मीठा, लवण, दूध, घी, दही, तेल इन छ रसो मे से एक व अनेक का त्याग। (५) **विविक्त शय्यासन**—एकान्त मे शयन व आसन रखना। (६) **कायक्लेश**--शरीर का सुखियापना मेटने को कठिन-कठिन स्थानो पर जाकर तप करना। छ अन्तरग (७) **प्रायश्चित**—कोई दोष लगने पर दण्ड लेकर शुद्ध होना। (८) **विनय**—धर्म व धर्मात्माओ की प्रतिष्ठा। (९) **वैय्यावृत्य**—धर्मात्माओ की सेवा करनी। (१०) **स्वाध्याय**—शास्त्रो का पठन पाठन व मनन। (११) **व्युत्सर्ग** शरीरादि से ममता त्याग। (१२) **ध्यान**—धर्म ध्यान व शुक्लध्यान करना।

साधुओ का कर्तव्य है कि इन पाच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, दश धर्म, बारह भावना, बाईस परीषह जय, बारह प्रकार तप से मन, वचन, काय को ऐसा स्वाधीन करे जिससे निश्चय सम्यक्चारित्र का लाभ कर सके। स्वरूप मे ही रमण सामायिक चारित्र है। गृहस्थ का कारावास चिन्ताओ का स्रोत है। अतएव निराकुल होने के लिये गृहस्थ त्यागकर साधु वृत्ति मे रहकर विशेष सहज सुख का साधन कर्तव्य है।

सागार या श्रावक का एक देश चारित्र—अनगार का पांच महाव्रत हैं वैसे सागार का एक देश चारित्र पाच अणु महाव्रत व अणुव्रत का अन्तर इस तरह जानना योग्य ०

गव सौ अश महाव्रत के करे उनमे मे एक अश से लेकर ९९ अश तक अणुव्रत है १०० अश महाव्रत है।

पांच अणुव्रत— जहाँ सकल्पी हिसा का त्याग हो, आरम्भी हिसा का त्याग न हो वह **अहिसा अणुव्रत** है। अहिसा अणुव्रत धारी राज्य कार्य, राज्य प्रबन्ध, देश रक्षार्थ युद्ध, सज्जन पालन, दुर्जन दमन, कृषि, वाणिज्य, शिल्पादि सर्व आवश्यक गृहस्थ के कर्म कर सकता है। समुद्र यात्रा, विदेश गमन आदि भी कर सकता है। वह सकल्पी हिंसा से बचे, शिकार न खेले, मास न खाए, मास के लिये पशु वध न करावे। जिस असत्य से राज्य दण्ड हो—जो दूसरो के ठगने के लिये, विश्वासघात के लिये कहा जावे ऐसा असत्य वचन न कहना, तथा प्रिय हितकारी सज्जनो के योग्य वचन कहना **सत्य अणुव्रत** है। ऐसा श्रावक जिस सत्य वचन से कलह हो जावे, हिंसा की प्रवृत्ति हो जावे, पर का बुरा हो जावे उस सत्य वचन को भी नही बोलता है। न्याय व धर्म की प्रवृत्ति मे हानि न आवे व वृथा किसी प्राणी का वध न हो, उसको कष्ट न पहुँचे इस बात को विचार कर मुख से वचन निकालता है।

गिरी, पडी, भूली किसी की वस्तु को नही लेना **अचौर्य अणुव्रत** है। विश्वासघात करके, छिप करके, धमकी देकर के, वध करके किसी की सम्पत्ति को श्रावक नही हरता है। न्यायपूर्वक अल्प धन मे सन्तोष रखता है। अन्याय से सग्रहीत विपुल धन की इच्छा नही करता है। जिस वस्तु की राज्य से व प्रजा से मनाही नही है केवल उन ही वस्तुओ को बिना पूछे लेता है। जैसे नदी का जल, हाथ धोने को मिट्टी, जगल के फल व लकडी आदि। यदि मनाई हो तो वह ग्रहण नही करेगा।

अपनी विवाहिता स्त्री मे सन्तोष रखकर सर्व पर स्त्रियो को बडी को माता समान, बराबर वाली को बहन के समान, छोटी को पुत्री के समान जो समझता है वह **ब्रह्मचर्य अणुव्रत** को पालता है। श्रावक वीर्य को शरीर का राजा समझकर स्वस्त्री मे परिमित सन्तोषके साथ उपभोग करता है जिससे निर्बलता न हो।

दश प्रकार के परिग्रह को जो अपनी आवश्यकता, योग्यता व इच्छा के अनुकूल जन्मपर्यन्त के लिए प्रमाण कर लेना उससे अधिक की लालसा त्याग देना सो **परिग्रह प्रमाण अणुव्रत** है। जितनी सम्पत्ति का प्रमाण किया हो उस प्रमाण के पूरा हो जाने पर वह श्रावक व्यापारादि बन्द कर देता है फिर सन्तोष से अपना समय धर्म साधन व परोपकार मे व्यतीत करता है। इन पाच अणुव्रतो के मूल्य को बढाने के लिए श्रावक सात शील, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत भी पालता है।

तीन गुणव्रत—जो पाच अणुव्रतो का मूल्य गुणन करे बढादे उनको गुणव्रत कहते हैं जैसे ४ को ४ से गुणा करने से १६ और १६ को १६ से गुणा करने मे २५६ होते हैं।

दिग्विरति—जन्म पर्यन्त के लिए लौकिक प्रयोजन के हेतु दश दिशाओ मे जाने का व व्यापारादि करने का नियम कर लेना उससे अधिक मे जाने की व व्यापार करने की लालसा को त्याग देना दिग्विरति है। इससे फल यह होता है कि श्रावक नियम किए हुए क्षेत्र के भीतर ही आरम्भ करेगा उनके बाहर आरम्भी हिसा भी नही करेगा।

देशविरति—जन्म पर्यन्त के लिए जो प्रमाण किया था उसमे से घटा कर एक दिन, दो दिन, एक सप्ताह के लिए जाने का व्यवहार करने का नियम करना देशविरति है। इससे इतना अधिक लाभ होगा कि वह नियमित काल के लिए नियमित क्षेत्र ही मे आरम्भ करेगा, उसके बाहर आरम्भी हिसा से बचेगा।

अनर्थदण्ड विरति—नियमित क्षेत्र मे भी प्रयोजनभूत कार्य के सिवाय व्यर्थ के आरम्भ करने का त्याग अनर्थदण्ड विरति है। इसके पाच भेद है—(१) **पापोपदेश**—दूसरे को पाप करने का उपदेश देना, (२) **हिंसादान**—हिसाकारी वस्तुएँ दूसरोको मागे देना, (३) **प्रमादचर्या**—प्रमाद या आलस्य से वृथा वस्तुओ को नष्ट करना, जैसे वृथा वृक्ष के पत्ते तोडना, (४) **दु श्रुति**—राग द्वेष बढाने वाली, विषय भोगो मे फसानेवाली खोटी कथाओ को पढना सुनना, (५) **अपध्यान**—दूसरो के अहित का विचार करके हिंसक परिणाम रखना। वृथा पापो के त्याग से व सार्थक काम करने से अणुव्रतो का मूल्य विशेष बढ जाता है।

चार शिक्षाव्रत—जिन व्रतो के अभ्यास से साधुपद मे चारित्रपालने की शिक्षा मिले उनको शिक्षाव्रत कहते है। (१) **सामायिक**—एकान्त मे बैठ कर रागद्वेष छोडकर समताभाव रखकर आत्म-ध्यान का अभ्यास करना प्रात काल, मध्याह्नकाल या सायकाल यथासम्भव ध्यान करना सामायिक है।

(२) **प्रोषधोपवास**—एक मास मे दो अष्टमी, दो चौदस प्रोषध दिन है। उनमे उपवास या एकासन करके धर्मध्यान मे समय को विताना प्रोषधोपवास है।

(३) **भोगोपभोग परिमाण**—जो एक दफे भोगने मे आवे सो भोग है। जो बार-बार भोगने मे आवे सो उपभोग है। ऐसे पाचो इन्द्रियो के भोगने योग्य पदार्थों की सख्या प्रतिदिन प्रात काल एक दिन रात के लिए सयम की वृद्धि हेतु कर लेना भोगोपभोग परिमाणव्रत है।

(४) **अतिथि संविभाग**—साधुओ को या अन्य धर्मात्मा पात्रो को भक्तिपूर्वक तथा दु खित भुखित को करुणापूर्वक दान देकर आहार कराना अतिथि सविभाग शिक्षाव्रत है। इस तरह एक श्रावक को पाच अणुव्रत और सात शील ऐसे बारह व्रत पालने चाहिए। तथा तेरहवे व्रत की भावना भाना चाहिए। वह है—

(१३) **सल्लेखना**—मरन के समय आत्मसमाधि व शान्तभाव से प्राण छूटे ऐसी भावना करनी सल्लेखना या समाधिमरण व्रत है। ज्ञानी श्रावक अपने धर्मात्मा मित्रो का वचन ले लेते है कि परस्पर समाधिमरण कराया जावे।

इन तेरह व्रतो को दोष रहित पालने के लिए इनके पॉच पाच अतीचार प्रसिद्ध हैं। उनको दूर करना श्रावक का कर्तव्य है।

(१) **अहिंसा अणुव्रत के पाच अतीचार**—(१) **बन्ध**—कषाय द्वारा किसी को बाधना या बन्धन मे डाल देना, (२) **वध**—कषाय से किसी को पीटना, घायल करना, (३) **छेद**—कषाय से किसी के अग व उपग छेद कर स्वार्थ साधना, (४) **अति भारारोपण**—मर्यादा से अधिक भार लाद

देना, (५) **अन्नपान निरोध**—अपने आधीन मानव या पशुओ का अन्नपान रोक देना।

(२) **सत्य अणुव्रत के पांच अतीचार**—(१) **मिथ्योपदेश**—दूसरे को मिथ्या कहने का उपदेश दे देना, (२) **रहोभ्याख्यान**—स्त्री पुरुष की एकात गुप्त बातो का प्रकाश कर देना, (३) **कूट लेख क्रिया**—कपट से असत्य लेख लिखना, (४) **न्यासापहार**—दूसरे की धरोहर को असत्य कहकर कुछ न देना, (५) **साकार मन्त्रभेद**—किसी की गुप्त सम्मति को अगो के हलन-चलन से जानकर प्रकाश कर देना। इन सब मे कषाय भाव हेतु होना चाहिए।

(३) **अचौर्य अणुव्रत के पाच अतीचार**—(१) **स्तेन प्रयोग**—दूसरे को चोरी करने का मार्ग बता देना, (२) **तदाहृतादान**—चोरी का लाया हुआ माल जान बूझ कर के लेना व शका से लेना, (३) **विरुद्ध राज्यातिक्रम**—राज्य का प्रबन्ध न होने पर मर्यादा को उल्लघ करके अन्याय पूर्वक लेना देना, (४) **हीनाधिकमानोन्मान**—कमती तौल नाप के देना व बढती तौल नाप के लेना, (५) **प्रतिरूपक व्यवहार**—झूठा सिक्का चलाना व खरी मे खोटी मिला कर खरी कहकर विक्रय करना।

(४) **ब्रह्मचर्य अणुव्रत के पाच अतीचार**—(१) **पर विवाह करण**—अपने पुत्र पौत्रादि सिवाय दूसरो के सम्बन्ध जोडना। (२) **परिग्रहीता इत्वरिका गमन**—विवाही हुई व्यभिचारिणी स्त्री के पास जाना, (३) **अपरिग्रहीता इत्वरिका गमन**—विना विवाही वेश्यादि के पास आना जाना, (४) **अनंगक्रीडा**—काम सेवन के अग छोड कर अन्य अगो से काम सेवन करना, (५) **कामतीव्राभिनिवेश**—काम सेवन की तीव्र लालसा स्व स्त्री मे भी रखना।

(५) **परिग्रह प्रमाण व्रत के पाच अतीचार**—दस प्रकार के परिग्रह के पाच जोड़े होते हैं जगह मकान, चादी सोना, धन धान्य, दासी दास, कपडे बर्तन, इनमे से किसी एक जोडे मे एक को घटा कर दूसरे को मर्यादा बढा लेना ऐसे पांच दोष हैं।

(६) दिग्विरति के पांच अतिचार---(१) ऊर्ध्व व्यतिक्रम---ऊपर जितनी दूर जाने का प्रमाण किया था उसको किसी कषायवश उल्लंघकर आगे चले जाना, (२) अध व्यतिक्रम---नीचे के प्रमाण को उल्लंघकर आगे चले जाना, (३) तिर्यक् व्यतिक्रम---अन्य आठ दिशाओं के प्रमाण को उल्लंघ कर आगे चले जाना, (४) क्षेत्रवृद्धि---क्षेत्र की मर्यादा एक तरफ घटा कर दूसरी ओर बढ़ा लेना, (५) स्मृत्यन्तराधान---मर्यादा को याद न रखना।

(७ देशविरति के पाच प्रतीचार---(१) आनयन---मर्यादा के बाहर से वस्तु मगाना। (२) प्रेष्य प्रयोग---मर्यादा के बाहर कुछ भेजना। (३) शब्दानुपात---मर्यादा के बाहर बात कर लेना। (४) रूपानुपात---मर्यादा के बाहर रूप दिखाकर प्रयोजन बता देना। (५) पुद्गलक्षेप---मर्यादा से बाहर पत्र व ककड आदि फेंक कर प्रयोजन बता देना।

(८) अनर्थ दण्ड विरति के पांच प्रतीचार---(१) कन्दर्प--भंड वचन असभ्यतापूर्ण बोलना। कौत्कुच्य---भण्ड वचनो के साथ साथ काय की कुचेष्टा भी करना। (३) मौखर्य---बहुत बकवाद करना। (४) असमीक्ष्य अधिकरण---बिना विचारे काम करना। (५) उपभोग परिभोगानर्थक्य---भोग व उपभोग के पदार्थ वृथा सग्रह करना।

(९) सामायिक के पाच प्रतीचार---(१) मन. दु प्रणिधान---सामायिक की क्रिया से बाहर मन को चचल करना। (२) वचन दु प्रणिधान-सामायिकके पाठादि सिवाय और कोई बात करना (३ काय दु प्रणिधान--शरीर को थिर न रख कर आलस्यमय प्रमादी रखना। (४) अनादर---सामायिक करने मे आदर भाव न रखना। (५)स्मृत्यनुपस्थान---सामायिक के समय सामायिक का पाठादि भूल जाना।

(१०) प्रोषधोपवास के पाच प्रतीचार---१, २, ३ अप्रत्यवेक्षित अप्रमार्जित उत्सर्ग, आदान, सस्तरोपक्रमण---बिना देखे बिना झाडे मल मूत्रादि करना, उठाना व चटाई आदि बिछाना। (४) अनादर--उपवास

मे आदर भाव न रखना। (५) स्मत्यनुपस्थान---उपवास के दिन धर्मक्रिया को भूल जाना।

(११) **भोगोपभोगपरिमाण व्रत के पाच अतीचार**—जो कोई श्रावक किसी दिन सचित्त का विल्कुल त्याग करे या कुछो का त्याग करे उसकी अपेक्षा ये पाँच अतीचार हैं। (१) **सचित्त**---त्यागे हुए सचित्त को भूल से खा लेना। (२) **सचित्त सम्बन्ध**---त्यागे हुए सचित्त से मिली हुई वस्तु को खा लेना। (३) **सचित्त सम्मिश्र**---त्यागे हुए सचित्त को अचित्त मे मिला कर खाना। (४) **अभिषव**---कामोद्दीपक पौष्टिक रस खाना। (५) **दुपक्वाहार**---कम पका व अधिक पका व न पचने लायक आहार करना।

(१२) **अतिथि सविभाग व्रत के पाँच अतीचार**—साधु को आहार देते हुए ये अतीचार हैं(१) **सचित्त निक्षेप**—सचित्त पर रखकर कुछ देना। (२) **सचित्त अपधान**—सचित्त से ढकी हुई वस्तु दान करना। (३) **परव्यपदेश**—आप दान न देकर दूसरे को दान की आज्ञा करनी। (४) **मात्सर्य**—दूसरे दातार से ईर्ष्याभाव रख कर दान देना। (५) **कालातिक्रम**—दान का काल उल्लघकर अकाल मे देना।

(१३) **सल्लेखना के पाच अतीचार**—(१) **जीवित आशसा**—अधिक जीते रहने की इच्छा करना। (२) **मरणाशसा**---जल्दी मरने की इच्छा करना। (३) **मित्रानुराग**---लौकिक मित्रो से सासारिक राग बताना। (४) **सुखानुबन्ध**—भोगे हुए इन्द्रिय सुखो का याद करना। (५) **निदान**—आगामी विषय भोगो की इच्छा करना।

ये साधारण तेरह व्रत श्रावक के हैं। विशेष यह है कि दिगम्बर जैन शास्त्रो मे ग्यारह प्रतिमाए व श्रेणिया श्रावक की बताई हैं जिनको क्रम से पार करते हुए साधुपद की योग्यता आती है। ये ग्यारह श्रेणिया पचम देशविरति गुणस्थान मे हैं। चौथे अविरत सम्यग्दर्शन गुणस्थान मे यद्यपि चारित्र का नियम नही होता है तथापि वह सम्यक्ती अन्याय से बच कर न्यायरूप प्रवृत्ति करता है। पाक्षिक श्रावक के योग्य कुछ स्थूल

रूप नियमो को पालता है। वे नियम नीचे इस प्रकार हैं—,

१—मास नही खाता है, २—मदिरा नही पीता है, ३—मधु नही खाता है, ४—वरगद का फल नही खाता है, ५—पीपल का फल नही खाता है, ६—गूलर का फल नही खाता है, ७—पाकर का फल नही खाता है, ८—अजीर का फल नही खाता है, ९—जुआ नही खेलता है, १०—चोरी नही करता है, ११—शिकार नही खेलता है, १२—वेश्या का व्यसन नही रखता है, १३—परस्त्री सेवन का व्यसन नही रखता है। पानी दोहरे कपडे से छान कर शुद्ध पीता है, रात्रि के भोजन के त्याग का यथाशक्ति उद्योग रखता है। तथा गृहस्थ के यह छ कर्म साधता है—

(१) **देवपूजा**—श्री जिनेन्द्र की भक्ति करता है, (२) **गुरुभक्ति**—गुरु की सेवा करता है, (३) **स्वाध्याय**—शास्त्र नित्य पढता है, (४) **तप**—रोज सामायिक प्रतिक्रमण करता है, (५) **सयम**—नियमादि लेकर इन्द्रिय दमन करता है, (६) **दान**—लक्ष्मी को आहार, औषधि, विद्या, अभयदान मे व परोपकार मे लगाता है, दान करके भोजन करता है।

ग्यारह प्रतिमा स्वरूप—ग्यारह श्रेणियो मे पहले का चारित्र आगे आगे बढता जाता है। पहले के नियम छूटते नही हैं।

(१) **दर्शन प्रतिमा**—इस श्रेणी मे पाक्षिक श्रावक के योग्य नियम जो ऊपर कहे है उनको पालता हुआ सम्यग्दर्शन को निर्मल रखता है, उसको आठ अग सहित पालता हैं। नि शकितादि का वर्णन सम्यग्दर्शन अध्याय मे किया जा चुका हैं। यहाँ अहिसा, सत्य, अचौर्य, स्वस्त्रीसन्तोष तथा परिग्रह प्रमाण इन पाँच अणुव्रतो का अभ्यास करता है स्थूलपने पालता है, अतीचार नही बचा सकता है।

(२) **व्रत प्रतिमा**—इस श्रेणी मे पहले के सर्व नियमो को पालता हुआ पाँच अणुव्रतो के पच्चीस अतीचारो को बचाता है तथा सात शीलो को भी पालता है। उनके अतीचार पूरे नही टलते हैं अभ्यास करता है। सामायिक शिक्षाव्रत मे कभी रागादि के कारण न भी करे व प्रोपधोपवास मे भी कभी न कर सके तो न करे, एकासन या उपवास शक्ति के

अनुसार करे।

(३) **सामायिक प्रतिमा**—इस श्रेणी मे पहले के नियम पालता हुआ श्रावक नियम से प्रात काल मध्यान्हकाल व सायकाल सामायिक करता हैं। दो घडी या ४८ मिनट से कम नही करता है किसी विशेष कारण के होने पर अन्तर्मुहूर्त ४८ मिनट से कुछ कम भी कर सकता है। सामायिक के पाँचो अतीचारो को बचाता है।

(४) **प्रोषधोपवास प्रतिमा**---इस श्रेणी मे नीचे के नियमो को पालता हुआ नियम से मास मे चार दिन प्रोषध पूर्वक उपवास करता है। अतीचारो को वचाता है, धर्मध्यान मे समय बिताता हैं। इसकी दो प्रकार की विधि है। एक तो यह है कि पहले व आगे के दिन एकासन करे, बीच के दिन उपवास करे, १६ प्रहर तक धर्म ध्यान करे। यह उत्तम है। मध्यम यह है कि १२ प्रहर का उपवास करे, सप्तमी की सन्ध्या से नौमी के प्रात काल तक आरम्भ छोडे, धर्म मे समय बितावे। जघन्य यह है कि उपवास तो १२ प्रहर तक करे परन्तु लौकिक आरम्भ आठ प्रहर ही छोडे---अष्टमी को दिन रात।

दूसरी विधि यह है कि उत्तम तो पूर्ववत् १६ प्रहर तक करे। मध्यम यह है कि १६ प्रहर धर्म ध्यान करे परन्तु तीन प्रकार के आहार का त्याग करे, आवश्यकतानुसार जल लेवे। जघन्य यह है कि १६ प्रहर धर्म ध्यान करे, जल आवश्यकतानुसार लेते हुए बीच मे एक भुक्त भी करले। इन दो प्रकार का विधियो मे अपनी शक्ति व भाव को देखकर प्रोषधोपवास करे।

(५) **सचित्त त्याग प्रतिमा**—इस श्रेणी मे नीचे के नियमोको पालता हुआ सचित्त पथार्थ नही खावे। कच्चा पानी, कच्चा साग आदि न खावे, प्राशुक या गर्म पानी पीवे। सूखी, पकी, गर्म की हुई व छिन्न-भिन्न की हुई वनस्पति लेवे। पानी का रग लवगादि डालने से बदल जाता है तब वह पानी प्राशुक हो जाता है। सचित्त के व्यवहार का इसके त्याग नही है।

(६) **रात्रि भोजन त्याग**—इस श्रेणी मे नीचे के नियमो को पालता

हुआ रात्रि को नियम से न तो आप चार प्रकार का आहार करता है न दूसरो को कराता है। मन, वचन, काय से रात्रि भोजन के करने कराने से विरक्त रहता है।

(७) **ब्रह्मचर्य प्रतिमा**—स्वस्त्री का भी भोग त्याग कर **ब्रह्मचारी** हो जाता है, सादे वस्त्र पहनता है, सादा भोजना खाता है, घर मे एकान्त मे रहता है या देशाटन भी कर सकता है। पहले के सब नियमो को पालता है।

(८) **आरम्भ त्याग प्रतिमा**—पहले के नियमो को पालता हुआ इस श्रेणी मे सर्व ही लौकिक आरम्भ व्यापार कृषि आदि त्याग देता है। आरम्भी हिंसा से विरक्त हो जाता है देखकर भूमि पर चलता है, वाहनो का उपयोग नही करता है, निमन्त्रण पाने पर भोजन कर लेता है, परम सन्तोषी हो जाता है।

(९) **परिग्रह त्याग**—पहले के नियमो को पालता हुआ इस श्रेणी मे धन धान्य, रुपया पैसा मकानादि परिग्रह को देता है या दान कर देता है। थोडे से आवश्यक कपडे व खानपान के दो तीन वर्तन रख लेता है। घर से वाहर उपवन या नसिया मे रहता हैं। निमन्त्रण से भोजन करता है।

(१०) **अनुमति त्याग प्रतिमा**---यह श्रावक यहाँ से पहले तक लौकिक कार्यों मे गुण दोष बताता हुआ सम्मति देता था, अब यहाँ सासारिक कार्यों की सम्मति देना भी त्याग देता है। भोजन के समय निमन्त्रित होकर जाता है। पहले के सब नियम पालता है।

(११) **उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा**---इस श्रेणी मे पहले के नियम पालता हुआ निमन्त्रण से भोजन नही करता है भिक्षावृत्ति से जाकर ऐसा भोजन लेता है जो गृहस्थी ने अपने ही कुटुम्ब के लिये तैयार किया हो। उसके उद्देश्य से न वनाया हो। तव ही इस प्रतिमा को उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा कहते हैं।

इसके दो भेद हैं---(१) **क्षुल्लक**---जो श्रावक एक लगोट व एक ऐसी चद्दर रक्खे जिससे सर्व अग न ढका जावे। मस्तक ढका हो तो पग खुला

रहे, पग ढके हो तो मस्तक खुला हो जिससे उनको सरदी दशमशक आदि की बाधा सहने का अभ्यास हो। यह श्रावक नियम से जीव दया के लिये मोर की पिच्छिका रखता है, क्योंकि वे बहुत ही मुलायम होते हैं, उनसे क्षुद्र जन्तु भी नही मरता है। तथा कमण्डल शौच से लिये जल के वास्ते रखते हैं। जो कई घरो से एकत्र कर भोजन करते हैं वे एक भोजन का पात्र भी रखते है। पाँच सात घरो से एकत्र कर अन्तिम घर मे जल लेकर भोजन करके अपने बर्तन को साफ कर साथ रख लेते हैं। जो क्षुल्लक एक ही घर मे आहार करते हैं वे भिक्षा को जाकर आदर से भोजन दिये जाने पर एक ही घर मे थाली मे बैठकर जीम लेते हैं। यह भोजन का पात्र नही रखते है। ये मुनि पद की क्रियाओ का अभ्यास करते हैं। स्नान नही करते है। एक दफे ही भोजन पान लेते हैं।

(२) **ऐलक**—जो चद्दर भी छोड देते है, केवल एक लगोटी ही रखते हैं। यह साधुवत् भिक्षार्थ जाते हैं। एक ही घर मे बैठकर हाथ में ग्रास रक्खे जाने पर भोजन करते है। यहा कमण्डल काठ का ही रखते हैं। केशो का लोच भी यह नियम से करते है। अपने हाथो से केश उपाडते हैं।

इस तरह उन ग्यारह श्रेणियो के द्वारा उन्नति करते २ श्रावक व्यवहार चारित्र के आश्रय से निराकुलता को पाकर अधिक २ निश्चय सम्यक् चारित्र रूप स्वानुभवका अभ्यास करता है। पचम श्रेणी मे अनन्तानुवधी और अप्रत्याख्यान कषाये नो रहती ही नही, व प्रत्याख्यान कषायो का भी उदय मन्द-मन्द होता जाता है, ग्यारहवी श्रेणी मे अति मन्द हो जाता है। जितनी २ कषाय कम होती है वीतरागभाव वढता है उतना-उतना ही निश्चय सम्यक्चारित्र प्रगट होता जाता है। फिर प्रत्याख्यान कषाय के उदय को विल्कुल जीत कर साधुपद मे परिग्रह त्याग निर्ग्रंथ होकर स्वानुभव का अभ्यास करते-करते गुणस्थान क्रम से अरहन्त हो फिर गुणस्थान से बाहर सिद्ध परमात्मा हो जाता है।

सहज सुख साधन—वास्तव मे निश्चय रत्नत्रयमई आत्मा की एक

शुद्ध परिणति ही है। जब ही मन, वचन, काय के सयोगो को छोड कर आत्मा आत्मस्थ हो जाता है तब ही सहज सुख का स्वाद पाता है—चारित्र के प्रभाव से आत्मा मे थिरता बढती जाती है तब अधिक-अधिक सहज सुख अनुभव मे आता जाता है। साधु हो या श्रावक सबके लिए स्वानुभव ही सहज सुख का साधन है।

इसी हेतु को सिद्ध करने के लिए जो कुछ भी प्रयत्न किया जावे वह सहकारी है। वास्तव मे सहज सुख आत्मा मे ही है। आत्मा मे ही रमण करने से वह प्राप्त होगा। आत्मरमणता का महात्म्य वर्णनातीत है—जीवन को सदा सुखदाई बनाने वाला है। इस जैन धर्म का भी यही सार है। प्राचीन काल मे व आधुनिक जो जो महात्मा हो गए है उन्होने इसी गुप्त अध्यात्म विद्या का अनुभव किया व इस ही का उपदेश दिया। इसी ही को अवक्तव्य कहो या सम्यग्दर्शन कहो, या सम्यग्ज्ञान कहो या सम्यक्चारित्र कहो या केवल आत्मा कहो, या समयसार कहो, स्वसमय कहो, परमयोग कहो, धर्मध्यान कहो, शुक्लध्यान कहो, सहज सुख साधन कहो सब का एक ही अर्थ है। जो जीवन को सफल करना चाहे उनको अवश्य २ सहज सुख साधन के लिए आत्मविश्वास प्राप्त करके आत्मानुभव का अभ्यास करना चाहिए। जैनाचार्यो के सम्यक्चारित्र सम्बन्धी वाक्य नीचे प्रकार मनन करने योग्य हैं—

(१) श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रवचनसार मे कहते है—

चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो समोत्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हि समो ।।७।।

भावार्थ—चारित्र ही धर्म है। जो समभाव हैं उसको ही धर्म कहा गया है। मोह, क्षोभ या रागद्वेष मोह रहित जो आत्मा का परिणाम है वही समभाव हैं वही चारित्र है।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो य सग्गसुहं ।।११।।

भावार्थ—धर्म मे आचरण करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग

सहित होता है तो निर्वाण सुख को पाता है। यदि शुभ उपयोग सहित होता है तो स्वर्ग के सुख को पाता है।

सुविदिदपदत्थसुत्तो, संजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥

भावार्थ—जो साधु भले प्रकार जोवादि पदार्थो को और सिद्धान्त को जानने वाला है, सयम तथा तप से युक्त है, रागरहित है, सुख व दुख मे समान भाव का धारी है वही श्रमण शुद्धोपयोगी कहा गया है।

जीवो दवगदमोहो, उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्म।
जहदि जदि रागदोसे, सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८७॥

भावार्थ—मिथ्यात्व से रहित आत्मा अपने आत्मा के स्वरूप को भले प्रकार जानता हुआ जब रागद्वेष को भी छोड देता है तव शुद्ध आत्मा को पाता है।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्मि।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो ॥९९॥

भावार्थ—जो दर्शन मोह को नाश करने वाला है, जिनप्रणीत सिद्धान्त के ज्ञान मे प्रवीण है, वीतराग चारित्र मे सावधान है वही महात्मा साधु धर्मरूप है ऐसा विशेष रूप से कहा गया है।

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि॥१०७-२॥

भावार्थ—जो मोह की गाठ को क्षय करके साधु पद मे स्थित होकर रागद्वेष को दूर करता है और दुख तथा सुख मे सम भाव का धारी होता है वही अविनाशी सुख को पाता है।

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुभित्ता।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि धादा ॥१०८-२॥

भावार्थ—जो महात्मा मोहरूप मैल को क्षय करता हुआ तथा पाचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त होता हुआ मन को रोकता हुआ चैतन्य स्वरुप मे एकाग्रता से ठहर जाता हैं सा ही आत्मा का ध्याता होता है।

इहलोग णिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्मि लोयम्मि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ।।४२-३।।

भावार्थ—जो मुनि इस लोक मे विषयो की अभिलाषा से रहित है व परलोक मे भी किसी पद की इच्छा नही रखते है, योग्य आहार तथा बिहार के करने वाले है कषाय रहित है वे ही श्रमण हैं।

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंबुडो जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो संजदो भणिदो ।।६१-३।।

भावार्थ—जो महात्मा पाच समितियो को पालते हैं, तीन गुप्ति को रखते हैं, पाचो इन्द्रियो को वश रखने वाले हैं, कषायो के विजयी हैं तथा सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से पूर्ण हैं, सयम को पालने वाले हैं वे ही श्रमण या साधु हैं।

समसत्तुबन्धुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिंदसमो ।
समलोट्ठुकंचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ।।६२-३।।

भावार्थ—जो शत्रु तथा मित्र वर्ग को समभाव मे देखते हैं। जो सुख व दु ख मे समभाव के धारी हैं जो प्रशसा तथा निन्दा किये जाने पर समभाव रखते हैं जो सुवर्ण और ककड को एक दृष्टि से देखते हैं जिनके जीना तथा मरण एक समान है वही श्रमण कहाते हैं।

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु ।
एयग्गगदोत्ति मदो सामण्णं तस्स परिपुण्णं ।।६३-३।।

भावार्थ—जो महात्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र इन तीन भावो मे एक साथ भले प्रकार स्थित होते हैं व एकाग्र हो जाते हैं उन्ही के साधुपना पूर्ण होता है।

(२) श्री कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाय मे कहते हैं—

मुणिऊण एतदट्ठं तदणुगमणुज्झदो णिहदमोहो ।
पसमियरागद्दोसो हवदि हदपरावरो जीवो ।।१०४।।

भावार्थ—जो कोई जीवादि नव पदार्थो को जानकर उनके अनुसार आचरण करने का उद्यम करता है और मोह का क्षय कर डालता है वही जीव रागद्वेष के नाश होने पर ससार के पार पहुँच जाता है।

सम्मत्तं सद्दहणं भावाणं तेसिमधिगमो णाणं ।
चारित्तं समभावो विसयेसु विरूढमग्गाणं ।।१०७।।

भावार्थ—सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित जो रागद्वेष चारित्र है वही बुद्धि व योग्यता प्राप्त भव्यो के लिए मोक्ष का मार्ग है ।

जो सव्वसगमुक्को णण्णमणो अप्पण सहावेण ।
जाणदि पस्सदि णियद सो सगचरिय चरदि जीवो।।१५८।।

भावार्थ—जो महात्मा सर्व परिग्रह को त्यागकर व एकाग्र होकर अपने आत्मा को शुद्ध स्वभावमय देखता जानता है वही नियम से स्वचारित्र या निश्चय चारित्र का आचरण करता है ।

तह्मा णिव्वुदिकामो राग सव्वत्थ कुणदि मा किंचि ।
सो तेण वीदरागो भवियो भवसायर तरदि ।।१७२।।

भावार्थ—राग मोक्ष मार्ग मे बाधक है ऐसा समभकर सर्व इच्छाओ को दूर करके जो सर्व पदार्थो मे किंचित् भी राग नही करता हैं वही भव्य जीव ससार सागर को तर जाता है ।

(३) श्री कुन्दकुन्दाचार्य समयसार मे कहते हैं—

आयारादीणाण जीवादी दसण च विण्णेय ।
छज्जीवाण रक्खा भणदि चरित्त तु ववहारो ।।२६४।।
आदा खु मज्झणाणे आदा मे दसणे चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा मे सवरे जोगे ।।२६५।।

भावार्थ—आचाराग आदि शास्त्रो का ज्ञान व्यवहार सम्यग्ज्ञान हैं । जीवादि तत्वो का श्रद्धान व्यवहार सम्यग्दर्शन है, छ काय के प्राणियो की रक्षा व्यवहार सम्यक्चारित्र है । निश्चय से मेरा ही आत्मा सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है । मेरा आत्मा ही त्याग है, सवर है व ध्यान रूप है ।

(४) श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वादशभावना मे कहते है—

एयारसदसभेय धम्मं सम्मत्तपुव्वय भणिय ।
सागारणगाराणा उत्तमसुहसपजुत्तेहि ।।६८।।

भावार्थ—उत्तम सुख के भोक्ता गणधरों ने श्रावक धर्म ग्यारह प्रतिमारूप व मुनि का धर्म दशलक्षण रूप सम्यग्दर्शन पूर्वक कहा है।

दसणवयसामाइयपोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।

बम्हारंभपरिग्गहअणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ।।६८।।

भावार्थ—देशविरत नाम पचम गुणस्थान मे ग्यारह प्रतिमाए या श्रेणिया इस प्रकार हैं— १) दर्शन (२) व्रत (३) सामायिक (४) प्रोषध (५) सचित्त त्याग (६) रात्रि भुक्ति त्याग (७) ब्रह्मचर्य (८) आरम्भ त्याग (९) परिग्रह त्याग (१०) अनुमति त्याग (११) उद्दिष्ट त्याग।

उत्तमखमामद्दवज्जवसच्चसउच्चं च सजमं चेव ।

तवतागमकिंचण्ह बम्हा इदि दसविहं होदि ।।७०।।

भावार्थ—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम सत्य, उत्तम शौच, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य ये दश प्रकार मुनि धर्म है।

णिच्छयणएण जीवो सागारणगारधम्मदो भिण्णो ।

मज्झत्थभावणाए सुद्धप्प चिंतये णिच्च ।।८२।।

भावार्थ—निश्चयनय से यह जीव श्रावक व मुनि धर्म दोनो से भिन्न है। इसलिए वीतराग भावना से मात्र शुद्धात्मा का नित्य अनुभव करना चाहिए। यही निश्चय सम्यक्चारित्र है।

मोक्खगया जे पुरिसा अणाइकालेण बारअणुवेक्ख ।

परिभाविऊण सम्म पणमामि पुओ पुओ तेसि ।।८९।।

भावार्थ—अनादिकालसे जितने महापुरुष मोक्ष गए है वे अनित्यादि बारह भावनाओ की बार-बार भले प्रकार भावना करने से गए हैं इसलिए इन बारह भावनाओ को बार-बार नमन करता हू।

(५) श्री कुन्दकुन्दाचार्य चारित्रपाहुड मे कहते हैं—

जं जाणइ तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं ।

णाणस्स पिच्छियस्स य समवण्णा होइ चारित्तं ।।३।।

भावार्थ—जो जानता है सो ज्ञान है, जो श्रद्धान करता है वह सम्यग्दर्शन कहा गया है। सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानके संयोग से चारित्र होता है।

एए तिण्णि वि भावा हवंति जीवस्स अक्खयामेया।
तिण्हं पि सोहणत्थे जिणभणियं दुविह चारित्तं ॥४॥

भावार्थ—ये तीनो ही भाव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र जीव के अक्षय और अनन्त स्वभाव हैं। इन्ही की शुद्धता के लिए चारित्र दो प्रकार का—सम्यक्त का आचरण तथा सयम का आचरण कहा गया है।

चारित्तसमारूढो अप्पासु परं ण ईहए णाणी।
पावइ अइरेण सुहं अणोवम जाण णिच्छयदो ॥४३॥

भावार्थ—जो सम्यग्ज्ञानी महात्मा चारित्रवान है वे अपने आत्मा मे किसी भी परद्रव्य को नही चाहते हैं। अर्थात् किसी भी पर वस्तु मे रागद्वेष नही करते हैं। वे ही ज्ञानी अनुपम मोक्ष सुख को पाते हैं, ऐसा हे भव्य ! निश्चय से जानो।

(६) श्री कुन्दकुन्दाचार्य बोधपाहुड मे कहते हैं—

गिहगथमोहमुक्का बावीसपरीषहा जियकषाया।
पावारभविमुक्का पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४५॥

भावार्थ—दीक्षा वह कही गई है जहा गृह व परिग्रह का व मोह का त्याग हो,बाईस परीषहो का सहना हो, कषायो की विजय हो व पापारभ से विमुक्ति हो।

सत्तूमित्ते य समा पससणिद्दाअलद्धिलद्धिसमा।
तणकणए समभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ॥४७॥

भावार्थ—जहा शत्रु व मित्र मे समभाव है, प्रशसा, निन्दा, लाभ व अलाभ मे समभाव है, तृण व कचन मे समभाव है, वही जैनमुनि दीक्षा कही गई है।

उत्तममज्झिमगेहे दारिद्दे ईसरे णिरावेक्खा ।
सव्वत्थ गिहिदपिंडा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४८।।

भावार्थ—जहा उत्तम राजमन्दिरादि व मध्यम घर--सामान्य मनुष्य आदि का इनमे कोई विशेष नही है । जो धनवान व निर्धन की कोई इच्छा नही रखते है, सर्व जगह भिक्षा लेते हैं, वही जैन दीक्षा कही गई है ।

णिग्गंथा णिस्संगा णिम्माणासा अराय णिद्दोसा ।
णिम्मम णिरहंकारा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।४९।।

भावार्थ—जो निर्ग्रन्थ हैं, असग हैं, मान रहित हैं, आशा रहित हैं, ममकार रहित हैं, अहकार रहित हैं, उन्ही के मुनि दीक्षा कही गई है।

णिण्णेहा णिल्लोहा णिम्मोहा णिव्वियार णिक्कलुसा ।
णिब्भय णिरासभावा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५०।।

भावार्थ- -जो स्नेह रहित है, लोभ रहित है, मोह रहित हैं, निर्विकार है, क्रोधादि कलुपता से रहित हैं, भय रहित हैं, आशारहित हैं उन्ही के जैन दीक्षा कही गई है ।

उवसमखमदमजुत्ता सरीरसक्कारवज्जिया रुक्खा ।
मयरायदोसरहिया पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५२।।

भावार्थ---जो शान्तभाव, क्षमा व इन्द्रिय सयम से युक्त है, शरीर के श्रृंगार से रहित है, उदासीन हैं, मद व राग व दोष से रहित है उन्ही के जिनदीक्षा कही गई है ।

पसुमहिलसढसगं कुसीलसग ण कुणइ विकहाओ ।
सज्झायझाणजुत्ता पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५७।।

भावार्थ --जो महात्मा पशु, स्त्री, नपुन्सक की सगति नही रखते है, व्यभिचारी पुरुषो की सगति नही करते हैं, विकथाए नही कहते है न सुनते हैं, स्वाध्याय तथा आत्मध्यान मे लीन रहते हैं, उन्ही के जिन दीक्षा कही गई है ।

तववयगुणेहिं सुध्दा संजमसम्मत्तगुणविसुध्दा य ।
सुध्दा गुणेहिं सुध्दा पव्वज्जा एरिसा भणिया ।।५८।।

भावार्थ---जो महात्मा बारह तप, पाच महाव्रत, मूलगुण व उत्तर गुणो से शुद्ध हैं, सयम व सम्यग्दर्शन गुणो से निर्मल है व आत्मीक गुणो से शुद्ध है उन्ही के शुद्ध दीक्षा कही गई है।

(७) श्री कुन्दकुन्दाचार्य भावपाहुड मे कहते है-

बाहिरसंगच्चाओ गिरिसरिदरिकंदराइ आवासो ।
सयलो णाणज्झयणो णिरत्थओ भावरहियाणं ।।८९।।

भावार्थ --जिन महात्माओ के भावो मे शुद्धात्मा का अनुभव नही है उनका बाहरी परिग्रह का त्याग, पर्वत, गुफा, नदीतट, कन्दरा आदि स्थानो मे तप करना, तथा सर्व ध्यान व आगम का पढना निरर्थक है।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगथजुत्तस्स ।।३।।

भावार्थ—बाहरी परिग्रहका त्याग भावो की शुद्धताके निमित्त किया जाता है। यदि भीतर परिणामो मे कषाय है या ममत्व है तो बाहरी त्याग निष्फल है।

भावरहिएण सपुरिस अणाइकालं अणंतसंसारे ।
गहिउज्झियाइं बहुसो बाहिरणिग्गंथरूवाइं ।।७।।

भावार्थ—शुद्धोपयोगमई भाव को न पाकर हे भव्य जीव! तूने अनादि काल से लगाकर इस अनन्त ससार मे बहुत बार निर्ग्रन्थरूप धार करके छोडा हैं।

भावेण होइ लिंगी णहु लिंगी होइ दव्वमित्तेण ।
तम्हा कुणिज्ज भावं किं कीरइ दव्वलिंगेण ।।४८।।

भावार्थ—भाव सहित भेषधारी साधु का लिग हो सकता है, केवल द्रव्यलिग से या भेषमात्र से साधु नही हो सकता। इसलिये भावरूप साधु पने को या शुद्धोपयोग को धारण कर। भाव बिना द्रव्यलिग कुछ नही कर सकता है।

देहादिसंगरहिओ माणकसाएहिं सयलपरिचत्तो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ स भावलिंगी हवे साहू ॥५६॥

भावार्थ—जो साधु शरीर आदि की मूर्छा से रहित है, मान कषायादि से पूर्णपने अलग है तथा जिसका आत्मा आत्मा मे मगन है वही भावलिंगी है ।

जो जीवो भावंतो जीवसहाव सुभावसजुत्तो ।
सो जरमरणविणासं कुणइ फुड लहइ णिव्वाण ॥६१॥

भावार्थ—जो भव्य जीव आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ आत्मा के स्वभाव की भावना करता है सो जरा मरण का नाश करता है और प्रगट रूप से निर्वाण को पाता है ।

जे रायसंगजुत्ता जिणभावणरहियदव्वणिग्गथा ।
न लहंति ते समाहिं वोहि जिणसासणे विमले ॥७२॥

भावार्थ—जो केवल द्रव्य मे निर्ग्रन्थ हैं भेप साधु का है परन्तु शुद्धोपयोग की भावना से रहित हैं वे रागी होते हुए इस निर्मल जिन शासन मे रत्नत्रय धर्म को व आत्मसमाधि को नही पा सकते है ।

जे के वि दव्वसवणा इंदियसुहआउला ण छिंदति ।
छिंदंति भावसवणा झाणकुठारेहिं भवरुक्ख ॥१२२॥

भावार्थ—जो कोई भी द्रव्य लिंगी साधु हैं और वे इन्द्रियोके सुखोमें आकुल हैं वे ससार के दु खो को नही छेद सकते हैं परन्तु जो भाव लिंगी साधु है, शुद्धोपयोग की भावना करने वाले हैं वे ध्यान रूपी कुठार से ससार के दु खो के मूल कर्मों को छेद डालते है ।

(८) श्री कुन्दाकुन्दाचार्य मोक्षपाहुड मे कहते हैं—

जो इच्छइ णिस्सरिहुं संसारमहण्णवाउ रुद्दाओ ।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्धं ॥२६॥

भावार्थ—जो कोई महात्मा भयानक ससाररूपी महान समुद्र से निकलना चाहता है उसे उचित है कि कर्म रूपी ईंधन को जलाने के लिए अपने शुद्ध आत्मा को ध्यावे यही चरित्र है ।

मिच्छत्तं अण्णाणं पावं पुण्णं चएवि तिविहेण ।
मोणव्वएण जोई जोयत्थो जोयए अप्पा ॥२८॥

भावार्थ—मिथ्यादर्शन, अज्ञान, पुण्य व पाप इन सब को मन वचन काय से त्यागकर योगी योग मे स्थित हो, मौनव्रत के साथ आत्मा का ध्यान करे ।

पंचमहव्वयजुत्तो पंचसु समिदीसु तीसु गुत्तीसु ।
रयणत्तयसंजुत्तो झाणज्झयणं सदा कुणह ॥३३॥

भावार्थ—साधु को उचित कि पाँच महाव्रत, पाच समिति व तीन गुप्ति इस तरह तेरह प्रकार के चारित्र से युक्त होकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र सहित आत्मध्यान तथा शास्त्रपाठन इन दो कार्यों मे सदा लगा रहे ।

जं जाणिऊण जोई परिहार कुणइ पुण्णपावाण ।
त चारित्तं भणियं अवियप्पं कम्मरहिवेहिं ॥४२॥

भावार्थ—कर्मरहित सर्वज्ञो ने उसे ही निर्विकल्प शुद्धोपयोगरूप चारित्र कहा है जिसको अनुभव करता हुआ योगी पुण्य तथा पाप बन्ध-कारक भावो का त्याग कर देवे ।

होऊण दिढचरित्तो दिढसम्मत्तेण भावियमईओ ।
झायंतो अप्पाणं परमपय पावए जोई ॥४९॥

भावार्थ—दृढ सम्यग्दर्शन से परिपूर्ण योगी दृढ चारित्रवान होकर यदि आत्मा को ध्याता है तो वह परमपद को पाता है ।

चरण हवइ सधम्मो धम्मो सो हवइ अप्पसमभावो ।
सो रागरोसरहिओ जीवस्स अणण्णपरिणामो ॥५०॥

भावार्थ—आत्मा का धर्म सम्यक्चारित्र है वह धर्म आत्माका सम-भाव है वही रागद्वेष रहित आत्मा का अपना ही एकाग्र परिणाम है । आत्मस्थ भाव ही समभाव है व वही चारित्र हे ।

बाहिरलिंगेण जुदो अब्भंतरलिंगरहियपरियम्मो ।
सो सगचरित्तभट्ठो मोक्खपहविणासगो साहू ॥६१॥

भावार्थ--जो साधु बाहरी लिंग या भेष सहित है परन्तु भीतरी भावलिंग से रहित है, शुद्ध भाव से शून्य है वह निश्चय सम्यक्चारित्र से भ्रष्ट है तथा मोक्षमार्ग का नाश करने वाला है।

उद्धद्धमज्झलोये केई मज्झ ण अहयमेगागी।
इयभावणाए जोई पावंति हु सासयं ठाणं ।।८१।।

भावार्थ--इस ऊर्ध्व, मध्य व अधोलोक मे कोई पदार्थ मेरा नही है, मैं एकाकी हू। इस भावना से युक्त योगी ही अविनाशी स्थान को पाता है।

णिच्छयणयस्स एवं अप्पा अप्पम्मि अप्पणे सुरदो।
सो होदि हु सुचरित्तो जोई सो लहइ णिव्वाणं ।।८३।।

भावार्थ--निश्चयनय मे जो आत्मा अपने आत्मा मे अपने आत्मा के लिये मगन हो जाता है वही योगी सम्यक्चारित्रवान होता हुआ निर्वाण को पाता है।

(६) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार पचाचार मे कहते है --

पाणिवहमुसावादअदत्तमेहुणपरिग्गहा विरदी।
एस चरित्ताचारो पचविहो होदि णादव्वो ।।९१।।

भावार्थ--प्राणीवध, मृषावाद, अदत्त ग्रहण, मैथुन, परिग्रह इनसे विरक्त होना चारित्राचार पांच तरह का जानना चाहिये।

सरवासेहिं पडंतेहि जह दिढकवचो ण भिज्जदी सरेहिं।
तह समिदीहि ण लिप्पइ साहू काएसु इरियंतो ।।१३१।।

भावार्थ--जैसे सग्राम मे दृढ कवच पहरे हुए सिपाही सैकडो बाणो के पडने पर भी बाणो से नही भिदता है वैसे साधु ईर्या समिति आदि से कार्य सावधानी से करता हुआ पापो से लिप्त नही होता है।

खेत्तस्स वई णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ।।१३७।।

भावार्थ--जैसे खेत की रक्षा को बाड होती है व नगर की रक्षा

को खाई व कोट होता है, वैसे साधु के तीन गुप्तिये पापो से बचाने वाली हैं।

(१०) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार षडावश्यक मे कहते हैं —

सामाइयह्मि दु कदे समणो इर सावओ ह्वदि जह्मा।
एदेण कारणेण दु बहुसो सामाइयं कुज्जा ॥३४॥

भावार्थ—सामायिक ही करने से वास्तव मे साधु या श्रावक होता है इसलिये सामायिक को वहुत वार करना चाहिये।

पोराणय कम्मरयं चरिया रित्तं करेदि जदमाणो।
णवकम्मं ण य बधदि चरित्तविण ओत्ति णादव्वो ॥९०॥

भावार्थ—जो सम्यक्चारित्र पालने का उद्यम करता है उसके पुराने कर्म झडते जाते हैं व नये कर्म नही बिनते हैं—चारित्र का प्रेम से पालन ही चारित्र विनय है।

(११) श्री वट्टकेरस्वामी मूलाचार अनगार भावना मे कहते है —

वसुधम्मि वि विहरता पीड ण करेंति कस्सइ कयाई।
जीवेसु दयावण्णा माया जह पुत्तभडेसु ॥३२॥

भावार्थ—साधुजन पृथ्वी मे विहार करते हुए किसी को भी कभी भी पीडा नही देते हैं। वे सर्व जीवो पर ऐसी हो दया रखते हैं, जैसे माता का प्रेम पुत्र पुत्री आदि पर होता है।

देहे णिरावियक्खा अप्पाणं दमरुई दमेमाणा।
धिदिपग्गहपग्गहिदा छिंदति भवस्स मूलाइं ॥४३॥

भावार्थ—साधुजन शरीर मे ममत्व न रखते हुए, इन्द्रियो को निग्रह करते हुए, अपने आत्मा को वश रखते हुए, धैर्य को धारते हुए ससार के मूल कर्मों का छेदन करते हैं।

अक्खोमक्खणमेत्तं भुंजंति मुणी पाणधारणणिमित्तं।
पाणं धम्मणिमित्तं धम्मं पि चरंति मोक्खट्ठं ॥४९॥

भावार्थ—जैसे गाडी के पहिये मे तेल देकर रक्षा की जाती है। वैसे

मुनिगण प्राणो की रक्षार्थ भोजन करते है, प्राणो को धर्म के निमित्त रखते हैं, धर्म को मोक्ष के अर्थ आचरण करते हैं ।

पंचमहव्वयधारी पंचसु समिदीसु सजदा धीरा ।
पंचिंदियत्थविरदा पंचमगइमग्गया सवणा ।।१०५।।

भावार्थ---जो साधु पाच महाव्रत के पालने वाले हैं, पाच समितियो मे प्रवर्तने वाले हैं, धीर वीर हैं, पाँचो इन्द्रियो के विषयो से विरक्त हैं। वे ही पचमगति जो मोक्ष उसके अधिकारी है ।

समणोत्ति सजदोत्ति य रिसि मुणि साधुत्ति वीदरागोत्ति ।
णामाणि सुविहिदाण अणगार भदत दतोत्ति ।।१२०।।

भावार्थ---भले प्रकार चारित्र पालने वाले साधुओ के ये नाम प्रसिद्ध है-(१) आतमा को तप मे परिश्रम कराने वाले श्रमण, (२) इन्द्रिय व कषायो के रोकने वाले सयत, (३) रिद्धियो को प्राप्त करने वाले ऋषि, (४) स्वपर पदार्थ के ज्ञाता मुनि (५) रत्नत्रय के साधने वाले साधु, (६) राग द्वेष रहित वीतराग, (७) सर्व कल्याण प्राप्त भदन्त, (८) इन्द्रिय विजयी दात ।

(१२) श्री वट्टकेर स्वामी मूलाचार समयसार मे कहते हैं '---

भिक्खं चर वस रण्णे थोवं जेमेहि मा बहू जंप ।
दुक्खं सह जिण णिद्दा मेत्तिं पावेहि सुट्ठु वेरग्गं ।।४।।
अव्ववहारी एक्को झाणे एयग्गमणो भव णिरारम्भो ।
चत्तकसायपरिग्गह पयत्तचेट्ठो असंगो य ।।५।।

भावार्थ—आचार्य शिष्यो को चारित्र के पालने का उपदेश देते हैं। भिक्षा से भोजन कर, वन मे रह, थोडा जीम, दु खो को सह, निद्रा को जीत, मैत्री और वैराग्य भावना को भले प्रकार विचार कर, लोक व्यवहार न कर, एकाकी रह, ध्यान मे एकाग्रमन हो, आरम्भ मत कर, कषाय रूपी परिग्रह का त्याग कर, उद्योगी हो, असग रह अर्थात् निर्मोह रह या आतमस्थ रह ।

थोवह्मि सिक्खदे जिणइ बहुसुद जो चरित्तसंपुण्णो
जो पुण चरित्तहीणो किं तस्स सुदेण बहुएण ।।६।।

भावार्थ—थोडा शास्त्रज्ञ हो या बहु शास्त्रज्ञ हो जो चारित्र से पूर्ण है वही ससार को जीतता है। जो चारित्र रहित है, उसके बहुत शास्त्रो के जानने से क्या लाभ है ? मुख्य सच्चे सुख का साधन आत्मानुभव है।

सव्वं पि हु सुदणाणं सुट्ठु सुगुणिदं पि सुट्ठु पढिदं पि ।
समणं भट्ठचरित्तं ण हु सक्को सुग्गइं णेदुं ।।१४।।
जदि पडदि दीवहत्थो अवडे किं कुणदि तस्स सो दीवो ।
जदि सिक्खिऊण अणयं करेदि किं तस्स सिक्खफलं ।।१५।।

भावार्थ—जो कोई साधु बहुत शास्त्र को जानता है, बहुत शास्त्रो का अनुभवी हो व बहुत शास्त्रो को पढनेवाला हो तौ भी यदि वह चारित्र से भ्रष्ट है तौ वह सुगति को नही पा सकता है। यदि कोई दीप को हाथ मे लेकर भी कुमार्ग मे जाकर कूप मे गिर पडे तौ उसका दीपक रखना निष्फल है वैसे ही जो शास्त्रो को सीख कर भी चारित्र को भग करता है उसको शिक्षा देने का कोई फल नही है।

णो कप्पदि विरदाण विरदीणमुवासयह्मि चेट्ठेदुं ।
तत्थ णिसेज्जउवट्टणसज्झायाहारवोसरणे ।।६१।।

भावार्थ—साधुओ को साध्वियो के या आर्यिकाओ के उपाश्रय मे ठहरना उचित नही है। न तो वहा बैठना चाहिए, न सोना चाहिए, न स्वाध्याय करना चाहिए, न साथ आहार करना चाहिए, न प्रतिक्रमणादि करना चाहिए।

भावविरदो दु विरदो ण दव्वविरदस्स सुग्गई होई ।
विसयवणरमणलोलो धरियव्वो तेण मणहत्थी ।।१०४।।

भावार्थ—जो अन्तरग भावो से विरक्त है वही भावलिंगी साधु है। जो केवल बाहरी द्रव्यो से विरक्त है, अन्तरग रागद्वेषादि का त्यागी नही है, उस द्रव्यलिंगी साधु को सुगति कभी नही होगी। इसलिए पाचो इन्द्रियो के विषयो मे रमनेवाले मन रूपी हाथी को सदा बाधकर रखना चाहिए।

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बज्झइ ॥१२२॥

जदं तु चरमाणस्स दयापेहुस्स भिक्खुणो ।

णवं ण बज्झदे कम्मं पोराणं च विधूयदि ॥१२३॥

भावार्थ—हे साधु ! यत्नपूर्वक देखके चल, यत्न से व्रत पाल, यत्न से भूमि शोधकर बैठ, यत्न से शयन कर, यत्न से निर्दोष आहार कर, यत्नपूर्वक सत्य वचन बोल, इस तरह वर्तन से तुझे पाप का बन्ध न होगा। जो दयावान साधु यत्नपूर्वक आचरण करता है उसके नये पाप कर्म का बन्ध नही होता है और पुरातन कर्म झडता है ।

(१३) श्री समन्तभद्राचार्य स्वयम्भूस्तोत्र मे कहते हैं-

अपत्यवित्तोत्तरलोकतृष्णया

तपस्विनः केचन कर्म कुर्वते ।

भवान्पुनर्जन्मजराजिहासया

त्रयीं प्रवृत्तिं समधीरवारुणत् ॥४६॥

भावार्थ—अज्ञानी कितने तपस्वी, पुत्र, धन व परलोक की तृष्णा के वश तप करते हैं परन्तु हे शीतलनाथ ! आपने जन्म जरा मरण रोग के दूर करने के लिए मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोक कर वीतरागभाव की प्राप्ति की ।

परिश्रमाम्बुर्भयवीचिमालिनी त्वया

स्वतृष्णासरिदार्य शोषिता ।

असंगधर्मार्कगभस्तितेजसा परं

ततो निर्वृतिधाम तावकम् ॥६८॥

भावार्थ—हे अनन्तनाथ ! आपने असग धर्म अर्थात् ममत्वरहित वीतराग धर्मरूपी सूर्य के तेज से अपनी तृष्णारूपी नदी को सुखा डाला। इस नदी मे आरम्भ करने की आकुलतारूप जल भरा है तथा भय की तरगे उठ रही हैं इसीलिए आपका तेज मोक्षरूप है ।

वाह्यं तपः परमदुश्चरमाचरं-
स्त्वमाध्यात्मिकस्य तपसः परिबृंहणार्थम् ।
ध्यानं निरस्य कलुषद्वयमुत्तरस्मिन्
ध्यानद्वये ववृतिषेऽतिशयोपपन्ने ।।८३।।

भावार्थ—हे कुन्थुनाथ भगवान ! आपने आत्मध्यानरूपी आभ्यतर तप की वृद्धि के लिए ही उपवास आदि वाहरी तप बहुत ही दुर्द्धर आचरण किया था। तथा आर्त रौद्र दो खोटे ध्यानो को दूर कर आप अतिशयपूर्ण धर्मध्यान और शुक्लध्यान मे वर्तन करते हुए।

दुरितमलकलकमष्टकं
निरुपमयोगवलेन निर्दहन् ।
अभवदभवसोख्यवान् भवान्
भवतु ममापि भवोपशातये ।।११५।।

भावार्थ—हे मुनिसुव्रतनाथ ! आपने अनुपम योगाभ्यास के बल से आठो कर्मो के महा मलीन कलक को जला डाला तथा आप मोक्षसुख के अधिकारी हो गए। आप मेरे भी ससार के नाश के लिए कारण हो—

अहिसा भूताना जगति विदितं ब्रह्म परमं
न सातवारम्भोऽस्त्यणुरपि च यत्राश्रमविधौ ।
ततस्तत्सिद्ध्यर्थं परमकरुणो ग्रन्थमुभयं-
भवानेवात्याक्षीन्न च विकृतवेषोपधिरतः ।।११९।।

भावार्थ— सर्व प्राणियो पर अहिसामई भाव को ही जगत मे परम ब्रह्मभाव कहते हैं। जिसके आश्रम मे जरासा भी आरम्भ है वहा अहिसा नही रहती है। इसलिए हे नमिनाथ ! आप वडे दयालु है, आपने अहिसा ही के लिए भीतरी वाहरी परिग्रह का त्याग कर दिया और आप विकारी भेषो मे रत न हुए।

(१४) श्री समन्तभद्राचार्य रत्नकरण्ड श्रावकाचार मे कहते हैं—

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञानः ।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः ।।४७।।

भावार्थ— मिथ्यादर्शन के अन्धकार के मिटने से सम्यग्दर्शन

सम्यग्ज्ञान के लाभ हो जाने पर साधु रागद्वेष को दूर करने के लिए चारित्र को पालते हैं।

हिंसानृतचौर्य्येभ्यो मैथुनसेवापरिग्रहाभ्यां च ।

पापप्रणालिकाभ्योविरतिः संज्ञस्य चारित्रम् ॥४९॥

भावार्थ—पाप कर्म के आने की मोरिया—पाच अशुभ कर्म की सेवा है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। इनका त्याग करना सम्यग्ज्ञानी के चारित्र है।

सकलं विकल चरणं तत्सकलं सर्व संगविरतानाम् ।

अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम् ॥५० ॥

भावार्थ—चारित्र दो प्रकारका है—सकल और विकल। सर्व सग से रहित साधुओ के लिए मकल चारित्र है या महाव्रत है। सग सहित गृहस्थो के लिए विकल चारित्र या अणुव्रतरूप चारित्र है।

गृहिणां त्रेधा तिष्ठत्यणुगुणशिक्षाव्रतात्मकं चरणम् ।

पञ्चत्रिचतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यमाख्यातम् ॥५१॥

भावार्थ—गृहस्थियो का चारित्र तीन प्रकार है—पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत।

श्रावकपदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु ।

स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह सतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥१३६॥

भावार्थ—श्री गणधरादि देवो ने श्रावकों के ग्यारह पद (प्रतिमाएँ) वनाए हैं। हरएक पद मे अपने चारित्र के साथ पूर्व के पद का चारित्र क्रम से बढता रहता है। जितना२ आगे के पद मे जाता है, पहला चारित्र रहता है और अधिक बढ जाता है।

(१५) श्री शिवकोटि आचार्य भगवती आराधना मे कहते हैं—

वाहिरतवेण होदि हु, सव्वा सुहसीलता परिच्चत्ता ।

सल्लिहिदं च सरीरं, ठविदो अप्पा य संवेगे ॥ २४२ ॥

दंताणि इंदियाणि य, समाधिजोगा य फासिया होंति ।

अणिगूहिदवीरियदा, जीविदतण्हा य वोछिण्णा ॥२४३॥

भावार्थ--- उपवास ऊनोदर आदि वाहरी तप के साधन करने से सुखिया रहने का स्वभाव दूर होता है। शरीर मे कृषता होती है। ससार देह भोगो से वैराग्यभाव आत्मा मे जगता है। पाचो इन्द्रिया वश मे होती हैं, समाधि-योगाभ्यास की सिद्धि होती है, अपने आत्मबल का प्रकाश होता है, जीवन की तृष्णा का छेद होता है।

णत्थि अणूदो अप्पं, आयासादो अणूणयं णत्थि ।
जह तह जाण महल्लं, ण वयमहिंसासमं अत्थि ।।७८७।।
जह पव्वएसु मेरू, उच्चाओ होइ सव्वलोयम्मि ।
तह जाणसु उच्चायं, सीलेसु वदेसु य अहिसा ।।७८८।।

भावार्थ---जैसे परमाणु से कोई छोटा नही है और आकाश से कोई वडा नही है तैसे अहिसा के समान महान व्रत नही है। जैसे लोक मे सवसे ऊँचा मेरु पर्वत है वैसे सर्व शीलो मे व सर्व व्रतो मे अहिसा व्रत ऊँचा है।

सव्वग्गंथविमुक्को, सीदीभूदो पसण्णचित्तो य ।
ज पावइ पीइसुहं, ण चक्कवट्टी वि तं लहदि ।।११८२।।
रागविवागसतण्हाइगिद्धिअवितित्ति चक्कवट्टिसुह ।
णिस्संगणिव्वुसुहस्स कहं अग्घइ अणंतभागं पि ।११८३।।

भावार्थ---जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित हैं, शान्तचित्त है व प्रसन्न चित्त है उसको जो सुख और प्रेम प्राप्त होता है उसको चक्रवर्ती भी नही पा सकता है। चक्रवर्ती का सुख राग सहित, तृष्णा सहित व वहुत गृद्धता सहित है व तृप्ति रहित है जवकि असग महात्माओ को जो स्वाधीन आत्मीक सुख है उसका अनन्तवा भाग भी सुख चक्री को नही हे।

इंदियकसायवसगो, बहुस्सुदो वि चरणे ण उज्जमदि ।
पक्खी व छिण्णपक्खो, ण उप्पददि इच्छमाणो वि ।१३४३।

भावार्थ---जो कोई वहुत शास्त्रों का ज्ञाता भी है, परन्तु पाच इन्द्रियो के विषयो के व कषायो के आधीन है वह सम्यक्चारित्र का उद्यम

नही कर सकता है। जैसे—पख रहित पक्षी इच्छा करते हुए भी उड नही सकता है।

णासदि य सगं वहुगं, पि णाणमिदियकसायसम्मिस्सं।
विससम्मिसिदं दुद्धं, णस्सदि जध सक्कराकढिद।।१३४४।।

भावार्थ—इन्द्रिय विषय और कषायो से मिला हुआ बहुत बडा ज्ञान नाश हो जाता है जैसे--मिश्री मिलाकर औटाया हुआ दूध भी विष के मिलने से नष्ट हो जाता है।

अब्भंतरसोधीए, सुद्धं णियमेण वाहिरं करणं।
अब्भंतरदोसेण हु, कुणदि णरो बाहिर दोसं ।।१३५०।।

भावार्थ—अन्तरग आत्मा के परिणामो की शुद्धता से वाहरी क्रिया की शुद्धता नियम से होती है। भीतर भावो मे दोष होने से मनुष्य बाहर भी दोषो को करता है।

होइ सुतवो य दीवो, अण्णाणतमन्धयारचारिस्स।
सव्वावत्थासु तवो, वट्टदि य पिदा व पुरिसस्स ।।१४६६।।

भावार्थ—अज्ञानरूपी अधेरे मे चलते हुए उत्तम तप ही दीपक है। सर्व ही अवस्थामे यह तप प्राणियोके लिए पिताके समान रक्षा करता है।

रक्खा भएसु सुतवो, अब्भुदयाणं च आगरो सुतवो।
णिस्सेणी होइ तवो, अक्खयसोक्खस्स मोक्खस्स ।।१४७१।।

भावार्थ—भयो से रक्षा करने वाला एक तप ही है। उत्तम तप सर्व ऐश्वर्यो की खान है। यही आत्मानुभवरूपी तप मोक्ष के अविनाशी सुख पर पहुँचने की सीढी है।

तं णत्थि ज ण लब्भइ, तवसा सम्मकएण पुरिसस्स।
अग्गीव तण जलिउं, कम्मतणं डहदि य तवग्गी ।।१४७२।।

भावार्थ—जगत मे ऐसी कोई उत्ताम वस्तु नही है जो सम्यक् तप करने वाले पुरुष को प्राप्त न होवे। जैसे अग्नि तृण को जला देती है वैसे तप रूपी अग्नि कर्म रूपी तृणो को जला देती है।

जिदरागो जिददोसो, जिदिदिओ जिदभओ जिदकसाओ ।
रदिअरदिमोहमहणो, झाणोवगओ सदा होइ ।।१६६८।।

भावार्थ—जिसने राग को जीता है, द्वेष को जीता है, इन्द्रियो को जीता है, भय को जीता है, कषायो को जीता है, रति अरति व मोहभाव को जिसने नाश किया है वही पुरुष सदाकाल ध्यान मे उपयुक्त रह सकता है ।

(१६) श्री पूज्यपादस्वामी समाधिशतक मे कहते है—

मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।
तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ।।७१।।

भावार्थ---जिसके चित्त मे निष्कम्प आत्मा मे थिरता है उसी को अवश्य मोक्ष का लाभ होता है । जिसके चित्त मे ऐसा निश्चल धैर्य नही है उसको मुक्ति प्राप्त नही हो सकती है ।

जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।
भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ।।७२।।

भावार्थ--मानवो से वार्ता करने से मन की चचलता होती है जिससे मन मे अनेक विकल्प व भ्रम पैदा होता है, ऐसा जानकर योगी मानवो की सगति छोडे ।

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।।८३।।

भावार्थ—हिसादि पापो से पाप का बन्ध होता है । जीवदया आदि व्रतो से पुण्य बन्ध होता हे । मोक्ष तो पुण्य पाप के नाश से होता है । इसलिए मोक्षार्थी जैसे हिसादि पाच अव्रतो छोडता है वैसे वह अहिसादि पाच व्रतो के पालने का भी विकल्प छोड देता है ।

अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परमं पदमात्मनः ।।८४।।

भावार्थ—ज्ञानी जीव पहले अव्रतो को छोड कर अहिसादि व्रतों मे

अपने को जमाता है। पश्चात् आत्मा का श्रेष्ठ निर्विकल्प पद पाकर व्रतो को भी छोड देता है अर्थात् व्रतो के पालने का ममत्व भी उसके छूट जाता है।

(१७) श्री गुणभद्राचार्य आत्मानुशासन में कहते हैं—

अधीत्य सकल श्रुतं चिरमुपास्य घोरं तपो।
यदीच्छसि फल तयोरिह हि लाभपूजादिक ॥
छिनत्सि सुतपस्तरोः प्रसवमेव शून्याशयः।
कथं समुपलप्स्यसे सुरसमस्य पक्वं फलं ॥१८९॥

भावार्थ---सर्व शास्त्रो को पढ कर तथा दीर्घकाल तक घोर तप साधन कर यदि तू शास्त्रज्ञान और तप का फल इस लोक मे लाभ बडाई आदि चाहता है तो तू विवेकशून्य होकर सुन्दर तपरूपी वृक्ष के फूल को ही तोड डालता है। तब तू उस वृक्ष के मोक्षरूपी पक्के फल को कैसे पा सकेगा ? तप का फल मोक्ष है यही भावना कर्तव्य है।

तथा श्रुतमधीष्व शश्वदिहलोकपंक्ति विना।
शरीरमपि शोषय प्रथितकायसंक्लेशनैः ॥
कषायविषयद्विषो विजयसे यथा दुर्जयान्।
शमं हि फलमामनन्ति मुनयस्तपः शास्त्रयोः॥१९०॥

भावार्थ—हे भव्य ! तू इस लोक मे लोगो की सगति बिना शास्त्र को ऐसा पढ व महान् कायक्लेश तप से शरीर को भी ऐसा शोष जिससे तू दुर्जय कषाय और विषयरूपी वैरी को विजय कर सके क्योकि महामुनि तप व शास्त्र का फल शान्त भाव को ही मानते है।

विषयविरतिः संगत्यागः कषायविनिग्रहः
शमयमदमास्तत्त्वाभ्यासस्तपश्चरणोद्यमः।
नियमितमनोवृत्तिर्भक्तिर्जिनेषु दयालुता
भवति कृतिनः ससाराब्धेस्तटे सति ॥२२४॥

भावार्थ—ससार समुद्र का तट निकट होते हुए विवेकी पुण्यात्मा

जीव को इतनी बातो की प्राप्ति होती है—(१) इन्द्रियो के विषय मे विरक्तभाव, (२) परिग्रह का त्याग, (३) कषायो को जीतना, (४) शान्त भाव, (५) आजन्म अहिंसादि व्रत पालन (६) इन्द्रियो का निरोध, (७) तत्व का अभ्यास, (८) तप का उद्यम, (९) मन की वृत्ति का निरोध, (१०) जिनेन्द्र मे भक्ति, (११) जीवो पर दया।

निवृत्तिं भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावतः।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेवपदमव्ययं ॥२२६॥

भावार्थ—जब तक छोडने लायक मन वचन काय का सम्बन्ध है तब तक पर से निवृत्ति की या वीतरागता की भावना करनी चाहिये। और जब पर पदार्थ से सम्बन्ध न रहा तब वहाँ न वृत्ति का विकल्प है और न निवृत्ति का विकल्प है। वही आत्मा का अविनाशी पद है।

रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधन।
तौ च बाह्यार्थसम्बन्धौ तस्मात्तांश्च परित्यजेत् ॥२३७॥

भावार्थ—राग द्वेष होना ही प्रवृत्ति है। उन्ही का न होना निवृत्ति है। ये राग द्वेष बाहरी पदार्थो के सम्बन्ध से होते है इसलिये बाहरी पदार्थों का त्याग करना योग्य हैं।

सुखं दुःखं वास्यादिह विहितकर्मोदयवशात्
कुतः प्रीतिस्तापः कुतः इति विकल्पाद्यदि भवेत्।
उदासीनस्तस्य प्रगलितपुराण न हि नवं
समास्कन्दत्येष स्फुरति सुविदग्धो मणिरिव ॥२६३॥

भावार्थ—अपने ही किये हुए कर्मों के उदय के वश से जब सुख या दुःख होता है तब उनमे हर्ष या विषाद करना किसलिये ? ऐसा विचारकर जो राग द्वेष न करके उदासीन रहते हैं उनके पुरातन कर्म झड जाते हैं और नये नही बधते हैं। ऐसे ज्ञानी, तपस्वी महामणि की तरह सदा प्रकाशमान रहते हैं।

(१८) श्री अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धयुपाय मे कहते है —

चारित्र भवति यतः समस्तसावद्ययोगपरिहरणात् ।
सकलकषायविमुक्त विशदमुदासीनमात्मरूप तत् ।।३९।।

भावार्थ—सर्व पाप सम्वन्धी मन, वचन, काय की प्रवृत्ति का त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है। निश्चय सम्यक्चारित्र सर्व कषायो से रहित, वीतरागमय, स्पष्ट आत्मा के स्वरूप का अनुभव है अर्थात् आत्मा रूप ही है।

हिंसातोऽनृतवचनात्स्तेयादब्रह्मतः परिग्रहतः ।
कात्स्न्यैँकदेशविरतेश्चारित्र जायते द्विविधम् ।।४०।।

भावार्थ—चारित्र दो प्रकार है—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाच पापो से पूर्णतया विरक्त होना महाव्रत रूप चारित्र है तथा इन पापो से एक देश विरक्त होना अणुव्रत रूप चारित्र है।

निरतः कात्स्न्यनिवृत्तौ भवति यतिः समयसारभूतोऽयम् ।
या त्वेकदेशविरतिर्निरतस्तस्यामुपासको भवति ।।४१।।

भावार्थ—पाचो पापो से विलकुल छूट जाने पर जव यह आत्मा समयसार या शुद्धानुभव रूप होता है तव वही यति या साधु है जो इनके एक देश त्याग मे रत है। उसको श्रावक कहते है।

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ।।४२।।

भावार्थ—हिंसादि पाचो ही पापो मे आत्मा के शुद्ध भावो की हिंसा होती है, इसलिये ये सव हिंसा मे गर्भित है। अनृत वचन, चोरी आदि चार पापो के नाम उदाहरण रूप शिष्यो के समझाने के लिये है।

यत्खलु कषाययोगात्प्राणाना द्रव्यभावस्वरूपाणाम् ।
व्यपरोपणस्य करण सुनिश्चिता भवति सा हिंसा ।।४३।।

भावार्थ—जो क्रोधादि कषाय सहित मन वचन काय की प्रवृत्ति से भावप्राण और द्रव्य प्राणो का वियोग करना व उनको कष्ट पहुँचना यही वास्तव मे हिंसा है।

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति ।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य संक्षेप. ।।४४।।

भावार्थ—अपने परिणामो मे रागादि भावो का प्रगट न होने देना वही अहिंसा है और उन्ही का प्रगट होना सो ही हिंसा है। यह जिनागम का सार है।

येनांशेन चरित्र तेनांशेनास्य बन्धन नास्ति ।
येनांशेन तु रागस्तेनाशेनास्य बन्धन भवति ।।२१४।।

भावार्थ—जितने अश परिणाम मे वीतराग रूप चारित्र गुण प्रगट होता है उतने अश वह गुण वन्ध नही करता है। उसी के साथ जितना अश राग रहता है उतना अश वन्ध होता है।

(१६) श्री अमृतचन्द्राचार्य समयसारकलश मे कहते है—

स्याद्वादकौशलसुनिश्चलसयमाभ्यां
यो भावयत्यहरहः स्वमिहोपयुक्तः ।
ज्ञानक्रियानयपरस्परतीव्रमैत्रीपात्रीकृतः
श्रयति भूमिमिमां स एकः ।।४-१२।।

भावार्थ—जो कोई ज्ञानी स्याद्वादनय के ज्ञान मे कुशल है और सयम के पालने मे निश्चल है और निरन्तर अपने आत्मा को तल्लीन होकर ध्याता है वही एक आत्मज्ञान और चारित्र दोनो के साथ परस्पर तीव्र मैत्री करता हुआ इस एक शुद्धोपयोग की भूमि को प्राप्त करता है जो मोक्षमार्ग है और कर्मनाशक है।

चित्रात्मशक्तिसमुदायमयोऽयमात्मा
सद्यः प्रणश्यति नयेक्षणखण्ड्यमानः ।
तस्मादखण्डमनिराकृतखण्ड-
मेकमेकान्तशान्तमचलं चिदहं महोस्मि ।।७-१२।।

भावार्थ—यह आत्मा नाना प्रकार की शक्तियो का समुदाय है। यदि इसको एक-एक अपेक्षा से खण्ड रूप देखा जाय तो इसका वास्तविक

स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसलिए भेद रहते हुए भी मैं अपने को अभेदरूप अखण्ड एक परम शान्त निश्चल चैतन्य ज्योतिरूप अनुभव करता हू। यही सम्यक्चारित्र है।

(२०) श्री अमितगति आचार्य तत्वभावना मे कहते हैं—

कामक्रोधविषादमत्सरमदद्वेषप्रमादादिभिः।
शुद्धध्यानविवृद्धिकारिमनसः स्थैर्यं यतः क्षिप्यते॥
काठिन्य परितापदानचतुरैर्हेम्नो हुताशैरिव ।
त्याज्या ध्यायविधायिभिस्तत इमे कामादयो दूरतः॥५३॥

भावार्थ--क्योकि काम, क्रोध, विषाद, ईर्षा, मद, द्वेष, पमाद आदि दोषों के होने पर शुद्ध आत्मध्यान को बढाने वाली मन की स्थिरता बिगड जाती है इसलिए जैसे तापकारी अग्नि की ज्वालाओ से सुवर्ण की कठिनता मिटा दी जाती है उसी तरह आत्मा के ध्यान करने वालो को उचित है कि वे इन कामादि विकारो को दूर से ही त्याग करे।

स्वात्मारोपितशीलसंयमभरास्त्यक्तान्यसाहाय्यकाः।
कायेनापि विलक्षमाणहृदयाः साहायक कुर्वता॥
तप्यते परदुष्करं गुरुतपस्तत्रापि ये निस्पृहा।
जन्मारण्यमतीत्य भूरिभयदं गच्छन्ति ते निर्वृतिम्॥८८॥

भावार्थ--जो अपने मे शील व सयम के भार को रखते हैं, परपदार्थ की सहायता त्याग चुके है, जिनका मन शरीर से भी रागरहित है तथापि उसकी सहायता से जो बहुत कठिन तप करते है तो भी जिनके भीतर कोई कामना नही है वे ही इस भयभीत ससारवन को उल्लघकर मोक्ष को चले जाते हैं।

पूर्वं कर्म करोति दुःखमशुभं शौख्यं शुभं निर्मितम्।
विज्ञायेत्यशुभ निहतु मनसो ये पोषयंते तपः॥
जायते शमसंयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो।
ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते॥६०॥

भावार्थ—पूर्व बाधा हुआ अशुभ कर्म उदय मे आकर दु ख पैदा करता है तथा शुभ कर्म सुख को पैदा करता है। ऐसा जानकर जो महात्मा अशुभ कर्म को क्षय करने के लिए तप करते हैं वे साम्यभाव व सयम के भण्डार योगी इस जगत मे दुर्लभ है। तिस पर भी जो पुण्य व पाप दोनो ही कर्मो के नाश मे तत्पर है, ऐसे योगियो के सम्वन्ध मे क्या कहा जावे ? उनका मिलना तो वहुत कठिन है ही।

चक्री चक्रमपाकरोति तपसे यत्तन्न चित्रम् सताम् ।
सूरीणा यदनश्वरीमनुपमां दत्ते तपः सपदम् ।
तच्चित्र परमं यदत्र विषय गृह्णाति हित्वा तपो ।
दत्तेऽसौ यदनेकदुःखमवरे भीमे भवाम्भोनिधौ ।।९७।।

भावार्थ—चक्रवर्ती तप करने के लिए सुदर्शन चक्र का त्याग कर देते है इसमे सज्जनो को कोई आश्चर्य नही होता है क्योकि वह तप वीर साधुओ को अविनाशी अनुपम मोक्षकी सम्पदा को देता है। परम आश्चर्य तो इस वात मे आता है जो कोई तप को छोडकर इन्द्रिय विषय को ग्रहण कर लेता है, वह इस महान व भयानक ससार समुद्र मे पड कर अनेक दु खो मे अपने को पटक देता है।

सम्यक्त्वज्ञानवृत्तत्रयमनघमृते ज्ञानमात्रेण मूढा ।
लंघित्वा जन्मदुर्गं निरुपमितसुखां यै यियासति सिद्धि ।।
ते शिश्रीषन्ति नून निजपुरमुदधिं वाहुयुग्मेन तीर्त्वा ।
कल्पांतोद्भूतवातक्षुभितजलचरासारकीर्णान्तरालम् ।९९।

भावार्थ—जो मूढ प्राणी निर्मल सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रमई मोक्ष मार्ग को छोड कर मात्र ज्ञान से ही इस ससार के किले को उल्लघकर अनुपम सुखमई मुक्ति की इच्छा करते हैं वे मानो कल्पकाल की उडी हुई वायु से क्षोभित और जलचरो से भरे हुए इस समुद्र को दोनो भुजाओ से तर कर अपने नगर मे पहुंचना चाहते हैं सो कठिन है।

क्वचन भजति धर्मं क्वाप्यधर्मं दुरतम् ।
क्वचिदुभयमनेकं शुद्धबोधोऽपि गेही ।।

कथमिति गृहवासः शुद्धिकारी मलाना-
मिति विमलमनस्कैस्त्यज्यते स त्रिधापि ।।११६।।

भावार्थ—शुद्ध आत्म ज्ञान धारी गृहस्थी भी घर मे रहकर कभी तो धर्म सेवता है, कभी महान् अधर्म सेवता है, कभी दोनो को सेवता है, तब बताइये यह गृहवास किस तरह सब कर्म मल से शुद्ध करने वाला हो सकता है ? ऐसे निर्मल मन धारकों ने विचार कर इस गृहवास को मन वचन काय से त्याग ही किया ।

(२१) श्री पद्मनन्दिमुनि पद्मनन्दिपच्चीसी के धर्मोपदेशामृत अधिकार मे कहते है —

आराध्यन्ते जिनेन्द्रा गुरुषु च विनतिर्धार्मिकैः प्रीतिरुच्चैः।
पात्रेभ्यो दानमापन्निहतजनकृते तच्च कारुण्यबुद्ध्या ।।
तत्वाभ्यासः स्वकीयव्रतिरतिरमल दर्शन यत्र पूज्य ।
तद्गार्हस्थ्यं बुधानामितरदिह पुनर्दु खदो मोहपाशः।।१३।।

भावार्थ—जिस गृहस्थपने मे श्री जिनेन्द्र की आराधना की जावे, गुरुओ की विनय की जावे, पात्रो को भक्तिपूर्वक दान दिया जावे, आपदा से दु खित दीनो को दया से दान दिया जावे, अपने नियम व्रतो की रक्षा मे प्रेम किया जावे, तथा निर्मल सम्यग्दर्शन पाला जावे, वही गृहस्थपना बुद्धिमानो के द्वारा माननीय है । जहाँ ये सब बात नही वह गृहस्थपना नही है किन्तु दु खदाई मोह का फन्दा है ।

अभ्यस्यतान्तरदृश किमु लोकभक्त्या
मोहं कृशीकुरुत किं वपुषा कृशेन ।
एतद्द्वयं यदि न वहुभिर्नियोगैः
क्लेशैश्च कि किमपरै. प्रचुरैस्तपोभिः ।।५०।।

भावार्थ—हे मुने ! अपने भीतर शुद्ध ज्ञानानन्द स्वरूप का अभ्यास करो, लोगो के रिझाने से क्या लाभ ? मोह भावको कृष करो, कम करो, शरीर को दुबला करने से क्या लाभ ? यदि मोह की कमी और आत्मानु-

भव का अभ्यास ये दो बातें न हो तो बहुत भी नियम, व्रत, सयम से व काय क्लेश रूप भारी तपो से क्या लाभ ?

(२२) श्री पद्मनन्दि मुनि पद्मनन्दि पच्चीसी के यति भावना मे कहते हैं —

भेदज्ञानविशेषसंहृतमनोवृत्तिः समाधिः परो ।
जायेताद्भुतधाम धन्यशमिना केषाचिदत्राचलः ।।
वज्रे मूर्ध्नि पतत्यपि त्रिभुवने वह्निप्रदीप्तेऽपि वा ।
येषां नो विकृतिर्मनागपि भवेत्प्राणेषु नश्यत्स्वपि ।।७।।

भावार्थ—इस जगतमे कितने ही साम्यभावके धारक धन्य योगीश्वर हैं जिनके भीतर भेद विज्ञान के बल से मन की वृत्ति रुक जाने से उत्तम ध्यान का प्रकाश परम निश्चल हो रहा है जिसको देखकर आश्चर्य होता है। वे ऐसे निश्चल ध्यानी हैं कि कोई प्रकार के उपसर्ग आने पर भी ध्यान से चलायमान नही होते। यदि मस्तक पर वज्रपात पडे या तीन भुवनों मे अग्नि जल जावे व प्राणो का नाश भी हो जावे तो भी उनके परिणामो मे विकार नही होता है।

(२३) श्री पद्मनन्दि मुनि पद्मनन्दि पच्चीसी उपासक सस्कार मे कहते है —

देवपूजा गुरूपास्तिः स्वाध्यायः संयमस्तपः ।
दानञ्चेति गृहस्थानां षट् कर्माणि दिने दिने ।।७।।

भावार्थ—देव पूजा, गुरु भक्ति, स्वाध्याय, सयम, तप, और दान ये गृहस्थो के नित्य प्रति दिन करने के कर्म हैं।

(२४) श्री पद्मनन्दि मुनि निश्चय पचाशत् मे कहते है :—

सानुष्ठानविशुद्धे दृग्बोधे जृम्भिते कुतो जन्म ।
उदिते गभस्तिमालिनि किं न विनश्यति तमो नैशं ।।१६।।

भावार्थ—चारित्र की शुद्धता से जब दर्शन, ज्ञान गुण विस्तार को प्राप्त हो जाते हैं तब ससार कहा से रहेगा ? अर्थात् ससार नही रहता

है। जैसे सूर्य के उदय होने पर रात्रि सम्बन्धी अन्धकार क्या नाश नही होगा ? अवश्य होगा।

(२५) श्री कुलभद्र आचार्य सारसमुच्चय मे कहते हैं —

छित्वा स्नेहमयान् पाशान् भित्वा मोहमहार्गलाम् ।
सच्चारित्रसमायुक्तः शूरो मोक्षपथे स्थितः ॥२०॥

भावार्थ—वही वीर पुरुष मोक्षमार्ग मे चलने वाला है जो स्नेहमयी जालो को छेद करके व मोह की महान जजीरो को तोड करके सम्यक् चारित्र को धारण करता है।

विषयोरगदष्टस्य कषायविषमोहितः ।
संयमो हि महामन्त्रस्त्राता सर्वत्र देहिना ॥३०॥

भावार्थ—जो इन्द्रिय विषय रूपी सर्प से डसा हो व जिसको कषाय रूप विष से मूर्छा आ गई हो उसके लिए सयम ही महामन्त्र है, यही सर्व जगह प्राणियो का रक्षक है।

उत्तमे जन्मनि प्राप्ते चारित्र कुरु यत्नतः ।
सद्धर्मे च परां भक्तिं शमे च परमां रतिं ॥४७॥

भावार्थ—उत्तम नर जन्म पाया है तो यत्नपूर्वक चारित्र का पालन कर, रत्नत्रय धर्म मे दृढ भक्ति कर व शान्त भाव मे श्रेष्ठ प्रीति कर।

धर्ममाचर यत्नेन मा भवस्त्व मृतोपमः ।
सद्धर्मं चेतसां पुंसां जीवितं सफलं भवेत् ॥६१॥
मृता नैव मृतास्ते तु ये नरा धर्मकारिणः ।
जीवंतोऽपि मृतास्ते वै ये नराः पापकारिणः ॥६२॥

भावार्थ—हे प्राणी ! तू यत्नपूर्वक धर्म का आचरण कर, मृतक के समान मत बन। जिन मानवो के चित्त मे सच्चा धर्म है उन्ही का जीवन सफल है। जो धर्माचरण करने वाले हैं वे मरने पर भी अमर हैं परन्तु जो मानव पाप के मार्ग मे जाने वाले हैं वे जीते हुए भी मृतक के समान हैं।

चित्तसंदूषकः कामस्तथा सद्गतिनाशनः ।
सद्वृत्तध्वसनश्चासौ कामोऽनर्थपरम्परा ॥१०३॥
दोषाणामाकरः कामो गुणाना च विनाशकृत् ।
पापस्य च निजो बन्धुः परापदां चैव संगमः ॥१०४॥
तस्मात्कुरुत सद्वृत्त जिनमार्गरताः सदा ।
ये सत्खंडितां याति स्मरशल्य सुदुर्धरं ॥१०२॥

भावार्थ—कामभाव मन को दूषित करने वाला है, सद्गति का नाशक है, सम्यक्चारित्र को नष्ट करने वाला है। यह काम परम्परा अनर्थकारी है। काम दोषो का भण्डार है, गुणो का नाश करने वाला है, पाप का खास वन्धु है। वडी-वडी आपत्तियो को बुलाने वाला है इसलिये सदा जैन धर्म मे लीन होकर सम्यक्चारित्र का पालन करो जिससे अति कठिन काम को शल्य चूर्ण चूर्ण हो जावे।

उपवासोऽवमोदर्यं रसानां त्यजनं तथा ।
अस्नानसेवनं चैव ताम्बूलस्य च वर्जनं ॥११५॥
असेवेच्छानिरोधस्तु निरनुस्मरण तथा ।
एते हि निर्जरोपाया मदनस्य महारिपोः ॥११६॥

भावार्थ—उपवास करना, भूख से कम खाना, रसो का छोडना, स्नान न करना, ताम्बूल को न खाना, काम सेवा न करना, काम की इच्छा को रोकना, काम भाव का स्मरण न करना ये सब काम रूपी महा शत्रु के नाश के उपाय है।

सम्पत्तौ विस्मिता नैव विपत्तौ नैव दुःखिताः ।
महतां लक्षण ह्येतन्न तु द्रव्यसमागमः ॥१७०॥

भावार्थ—महान् पुरुषो का यह लक्षण है कि सम्पत्ति होने पर आश्चर्य न माने व विपत्ति पडने पर दुःखी न हो, केवल लक्ष्मी का होना ही महापुरुष का लक्षण नही है।

गृहाचारकवासेऽस्मिन् विषयामिषलोभिनः ।
सीदति नरशार्दूला बद्धा बान्धवबन्धनैः ।।१८३।।

भावार्थ—नरसिंह के समान मानव भी बन्धुजनो के बन्धनो मे बधे हुए, इन्द्रिय विषय रूपी मास के लोभी होकर इस गृहस्थी के कुवास मे कष्ट पाते रहते है ।

मानस्तभ दृढं भक्त्वा लोभाद्रि च विदार्य वै ।
मायावल्लीं समुत्पाट्य क्रोधशत्रुं निहन्य च ।।१९४।।
यथाख्यातं हितं प्राप्य चारित्रं ध्यानतत्परः ।
कर्मणा प्रक्षय कृत्वा प्राप्नोति परम पदम् ।।१९५।।

भावार्थ—जो कोई महात्मा दृढ मान के खम्भ को चूर्ण कर डालता है, लोभ रूपी पर्वत के खण्ड-खण्ड कर देता है, माया की बेल को उखाड के फेक देता है, क्रोध शत्रु को मार डालता है वही ध्यान मे लीन होकर परम हितकारी यथाख्यात वीतराग चारित्र को पाकर परम पद को प्राप्त कर लेता है ।

परीषहजये शूराः शूराश्चेन्द्रियनिग्रहे ।
कषायविजये शूरास्ते शरा गदिता बुधैः ।।२१०।।

भावार्थ—जो महात्मा परीषहो को जीतने मे वीर हैं, इन्द्रियो के निरोध मे शूर हैं, कषायो के विजय मे पराक्रमी है, उन्ही को बुद्धिमानो ने वीर पुरुष कहा है ।

समता सर्वभूतेषु यः करोति सुमानसः ।
ममत्वभावनिर्मुक्तो यात्यसौ पदमव्ययम् ।।२१३।।

भावार्थ—जो सज्जन सुमनधारी सर्व प्राणिमात्र मे समताभाव रखता है और ममता के भाव को छोड देता है वही अविनाशी पद को पाता है ।

रागादिवर्जनं संगं परित्यज्य दृढव्रताः ।
धीरा निर्मलचेतस्काः तपस्यन्ति महाधियः ।।२२३।।

संसारोद्विग्नचित्तानां निःश्रेयससुखैषिणाम् ।
सर्वसंगनिवृत्तानां धन्यं तेषां हि जीवितम् ।।२२४।।

भावार्थ—जो महा बुद्धिमान रागद्वेषादि भावो को हटाकर, परिग्रहो को त्यागकर, महाव्रतो मे दृढ होकर, निर्मल चित्त से तप करते हैं वे ही धीर हैं। जो ससार से वैराग्यवान है, मोक्ष सुख की भावना रखते हैं व सर्व परिग्रह से मुक्त हैं उन्ही का जीवन धन्य है।

संगात्संजायते गृद्धिर्गृद्धौ वाञ्छति संचयम् ।
संचयाद्वर्धते लोभो लोभाद्दुःखपरंपरा ।।२३२।।

भावार्थ---परिग्रह से गृद्धता होती है। गृद्धता होने पर धन सचय करना चाहता है। धन के सचय से लोभ बढता है, और लोभ से दु खो की परम्परा बढती जाती है।

सद्वृत्तः पूज्यते देवैराखण्डलपुरःसरैः ।
असद्वृत्तस्तु लोकेऽस्मिन्निन्द्यतेऽसौ सुरैरपि ।।२७५।।

भावार्थ---सम्यक्चारित्रवान की पूजा इन्द्रादि देव भी करते हैं, किन्तु जो चारित्रवान नही है उसकी इस लोकमे देवगणभी निन्दा करते हैं।

व्रतं शीलतपोदानं संयमोऽर्हत्पूजनं ।
दुःखविच्छित्तये सर्वं प्रोक्तमेतन्न संशयः ।।३२२।।

भावार्थ—दु खो को नाश करने के लिये व्रत, शील, तप, दान, सयम व अर्हन्त पूजा इन सबको कारण रूप कहा गया गया है इसमे कोई सशय नहीं है।

तृणतुल्यं परद्रव्यं परं च स्वशरीरवत् ।
पररामा समा मातुः पश्यन् याति परं पदं ।।३२३।।

भावार्थ—जो पर के धन को तृण समान, पर के शरीर को अपने शरीर के समान, व पर की स्त्री को माता के समान देखता है वही परम पद को पाता है।

(२६) श्री शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णव मे कहते हैं —

यद्विशुद्धेः परं धाम यद्योगिजनजीवितं ।।
तद्वृत्तं सर्वसावद्यपर्युदासैकलक्षणं ।।१-८।।

भावार्थ—जो आत्मा की शुद्धता का उत्कृष्ट धाम है,जो योगीश्वरो का जीवन है, सर्व पापो से दूर रखने वाला है, वही सम्यक्चारित्र है।

पञ्चव्रतं समित्पंच गुप्तित्रयपवित्रितं ।
श्री वीरवदनोद्गीर्णं चरणं चन्द्रनिर्मलं ।।५-८।।

भावार्थ—श्री वीर भगवान ने वर्णन किया है कि पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति ये तेरह प्रकार चारित्र चन्द्रमा के समान निर्मल है।

निःस्पृहत्वं महत्वं च नैराश्यं दुष्करं तपः ।
कायक्लेशश्च दानं च हिंसकानामपार्थक ।।२०-८।।

भावार्थ—जो हिंसक पुरुष हैं उनकी निस्पृहता, महत्ता, आशा-रहितपना, उनका कठिन तप, कायक्लेश तथा दान ये सर्व धर्म कार्य निष्फल है।

अहिंसैव जगन्माताऽहिंसैवानन्दपद्धतिः ।
अहिंसैव गतिः साध्वी श्रीरहिंसैव शाश्वती ।।३२-८।।
अहिंसैव शिवं सूते दत्ते च त्रिदिवश्रियं ।
अहिंसैव हितं कुर्याद्व्यसनानि निरस्यति ।।३३-८।।

भावार्थ—अहिंसा ही जगत की रक्षिका माता है, अहिंसा ही आनन्द की सन्तान बढाने वाली है, अहिंसा ही अविनाशी लक्ष्मी है, अहिंसा से ही उत्तम गति होती हैं, अहिंसा ही मोक्ष सुख को देती है, अहिंसा ही स्वर्ग सम्पदा देती है, अहिंसा ही परम हितकारी है, अहिंसा ही सर्व आपदाओ को नाश करती है।

तपःश्रुतयमज्ञानध्यानदानादिकर्मणा ।
सत्यशीलव्रतादीनामहिंसा जननी मता ।।४२-८।।

भावार्थ—तपस्या, शास्त्रज्ञान, महाव्रत, आत्मज्ञान, धर्म ध्यान,

दान आदि शुभ कर्म, सत्य, शील, व्रत आदि की माता अहिंसा ही कही गई है। अहिसा के होते हुए ये सब यथार्थ है।

दूयते यस्तृणेनापि स्वशरीरे कर्दथिते ।
स निर्दयः परस्यांगे कथं शस्त्रं निपातयेत् ।।४८-८।।

भावार्थ—जो मनुष्य अपने शरीर मे तिनका चुभने पर भी अपने को दुखी मानता है वह निर्दयी होकर परके शरीर पर शस्त्रो को चलाता है यही वडा अनर्थ है।

अभयं यच्छ भूतेषु कुरु मैत्रीमनिन्दितां ।
पश्यात्मसदृशं विश्व जीवलोक चराचरं ।।५२-८।।

भावार्थ—सर्व प्राणियो को अभय दान दो, उनके प्राणो की रक्षा करो, सर्व से प्रशसनीय मित्रता करो, जगत के सर्व स्थावर व त्रस प्राणियो को अपने समान देखो।

व्रतश्रुतयमस्थानं विद्याविनयभूषणं ।
चरणज्ञानयोर्बीज सत्यसंज्ञ व्रतं मतं ।।२७-६।।

भावार्थ—यह सत्य नाम व्रत सर्व व्रतो का शास्त्र ज्ञान का व यम नियम का स्थान है। विद्या व विनय का यही भूषण है। चारित्र व ज्ञान का यही वीज है।

विषयविरतिमूल सयमोद्दामशाखं,
यमदलशमपुष्प ज्ञानलीलाफलाढ्यं ।
विबुधजनशकुन्तैः सेवितं धर्मवृक्षं,
दहति मुनिरपीह स्तेयतीव्रानलेन ।।२०-१०।।

भावार्थ—जिस धर्म वृक्ष की जड विषयो से विरक्ति है, जिसकी बडी शाखा सयम है, जिसके यम नियमादि पत्र है, व उपशम भाव पुष्प है। ज्ञानानन्द रूपी जिसके फल है। जो पण्डित रूपी पक्षियो से सेवित है। ऐसे धर्म वृक्ष को मुनि भी हो तो भी चोरी रूपी तीव्र अग्नि से भस्म कर डालता है।

पर्यन्तविरसं विद्धि दशधान्यच्च मैथुनम् ।
योसित्सगाद्विरक्तेन त्याज्यमेव मनीषिणा ।।६-११।।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य व्रत के पालने वाले को जो स्त्री के सग से विरक्त हैं, दश प्रकार मैथुन को अवश्य त्यागना चाहिये। इस मैथुन का फल अन्त मे विरस होता है।

आद्यं शरीरसस्कारो द्वितीयं वृष्यसेवनं ।
तौर्यत्रिक तृतीय स्यात्ससर्गस्तुर्यमिष्यते ।।७-११।।
योषिद्विषयसंकल्पः पञ्चमं परिकीर्त्तितं ।
तदंगवीक्षणं षष्ठ संस्कारः सप्तमं मतं ।।८-११।।
पूर्वानुभोगसभोगस्मरण स्यात्तदष्टमम् ।
नवमं भाविनो चिन्ता दशमं वस्तिमोक्षणं ।।९-११।।

भावार्थ—दश प्रकार का मैथुन यह हैं (१) शरीर का शृ गार, (२) पुष्ट रस का सेवन, (३) गीत नृत्य वादित्र का देखना सुनना, (४) स्त्रियो की सगति, (५) स्त्रियो के विषयो का सकल्प करना, (६) स्त्रियो के अग देखना, (७) देखने का सस्कार मन मे रखना, (८) पूर्व के भोगो का स्मरण, (९) कामभोग की भावना करनी, (१०) वीर्य का झडना।

स्मरदहनसुतीव्रानन्तसन्तापविद्ध
भुवनमिति समस्तं वीक्ष्य योगिप्रवीराः ।
विगतविषयसगाः प्रत्यह संश्रयन्ते
प्रशमजलधितीरं संयमारामरम्य ।।४८-११।।

भावार्थ—इस जगत को काम की अग्नि के प्रचण्ड और अनन्त सन्तापो से पीडित देखकर विषयो से विरक्त योगीश्वर प्रतिदिन सयमरूपी उपवन मे शोभायमान ऐसे शान्तिसागर के तट का ही आश्रय लेते हैं। बाहरी काम से विरक्त होकर अन्तरग आत्मानुभव करते हैं।

सत्संसर्गसुधास्यान्दैः पु सा हृदि पवित्रिते ।
ज्ञानलक्ष्मीः पदं धत्ते विवेकमुदिता सती ।।१४-१५।।

भावार्थ—सत्पुरुषो की सत्सगति रूपी अमृत के झरने से पुरुषो का हृदय पवित्र हो जाता है तब उसमे विवेक से प्रसन्न हुई ज्ञानरूपी लक्ष्मी निवास करती है।

शीतांशुरस्मिसपर्काद्विसर्पति यथाम्बुधिः।
तथासद्वृत्तसंसर्गान्नृणां प्रज्ञापयोनिधिः ॥१७-१५॥

भावार्थ—जैसे चन्द्रमा की किरणो की सगति से समुद्र बढता है, वैसे सम्यक्चारित्र के धारी महात्माओ की सगति से मनुष्यो का प्रज्ञा (भेदविज्ञान) रूपी समुद्र बढता है।

वृद्धानुजीविनामेव स्युश्चारित्रादिसम्पदः।
भवत्यपि च निर्लेप मनः क्रोधादिकश्मलम् ॥१९-१५॥

भावार्थ— अनुभवी सुचारित्रवान वृद्धो की सेवा करने वालो के ही चारित्र आदि सम्पदाए प्राप्त होती हैं तथा क्रोधादि कषायो से मैलापन भी निर्मल हो जाता है।

मनोऽभिमतनिःशेषफलसंपादनक्षमं।
कल्पवृक्षमिवोदारं साहचर्यं महात्मनाम् ॥३७-१५॥

भावार्थ—महात्मोओ की सगति कल्पवृक्ष के समान सर्व प्रकार के मनोवाछित फल देने को समर्थ है अतएव चारित्र की रक्षार्थ महान् पुरुषो की सेवा कर्तव्य है।

दहति दुरितकक्षं कर्मबन्धम् लुनीते
वितरति यमसिद्धिं भावशुद्धिं तनोति।
नयति जननतीरं ज्ञानराज्यं च दत्ते
ध्रुवमिह मनुजानां वृद्धसेवैव साध्वी ॥४१-१५॥

भावार्थ—वृद्ध महात्माओ की सेवा मानवो के लिए निश्चय से परम कल्याणकारिणी हैं, पापरूपी वन को जलाती है, कर्मवन्ध को काटती है, चारित्र को सिद्ध कराती है, भावो को शुद्ध रखती है, ससार के पार पहुँचाती है तथा ज्ञान के राज्य को या केवलज्ञान को देती है।

विरम विरम संगान्मुञ्च मुञ्च प्रपंचम्
विसृज विसृज मोहं विद्धि विध्दि स्वतत्वम् ।
कलय कलय वृत्तं पश्य पश्य स्वरूपं
कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्दहेतो: ॥४२-१५॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू परिग्रह से विरक्त हो, विरक्त हो, जगत के प्रपच को छोड छोड, मोह को विदा कर, बिदा कर, आत्मतत्व को समझ, समझ, चारित्र का अभ्यास कर, अभ्यास कर, अपने आत्म-स्वरूप को देख देख तथा मोक्ष के सुख के लिए पुरुषार्थ को बारबार कर।

अतुलसुखनिधानं ज्ञानविज्ञानबीजं
विलयगतकलङ्कं शान्तविश्वप्रचारम् ।
गलितसकलशङ्कं विश्वरूपं विशालं
भज विगतविकारं स्वात्मनात्मानमेव ॥४३-१५॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! तू अपने ही आत्मा के द्वारा, अनन्त सुख समुद्र, केवलज्ञान के बीज, कलक रहित, निर्विकल्प, नि शक, ज्ञानापेक्ष विश्वव्यापी, महान्, तथा निर्विकार आत्मा को ही भज, उसी का ही ध्यान कर।

सर्वसंगविनिर्मुक्तः संवृताक्षः स्थिराशयः ।
धत्ते ध्यानधुरां धीरः सयमी वीरवर्णिता ॥३३-१६॥

भावार्थ—जो महात्मा सर्व परिग्रह रहित है, इन्द्रियविजयी है, स्थिरचित्त हैं वही सयमी मुनि श्री महावीर द्वारा कथित आत्म ध्यान की धुरा को धारण कर सकता है।

सकलविषयबीजं सर्वसावद्यमूल
नरकनगरकेतुं वित्तजातं विहाय ।
अनुसर मुनिवृन्दानन्दि सन्तोषराज्य-
मभिलषसि यदि त्वं जन्मबन्धव्यपायम् ॥४०-१६॥

भावार्थ—हे आत्मन् ! यदि तू ससार के बन्ध का नाश करना

चाहता है तो तू सर्व विषयो का मूल, सर्व पापो का बीज, नरक नगर की ध्वजा रूप परिग्रह के समूह को त्याग कर, मुनियो के समूह को आनन्द देने वाले सन्तोषरूपी राज्य को अगीकार कर।

आशा जन्मोग्रपंकाय शिवायाशाविपर्ययः ।
इति सम्यक्समालोच्य यद्धितं तत्समाचर ॥१९-१७॥

भावार्थ—ससार के पदार्थों की आशा ससाररूपी कर्दम मे फसाने वाली है। जबकि आशा का त्याग मोक्ष को देने वाला है ऐसा भले प्रकार विचार कर, जिसमे तेरा हित हो वैसा आचरण कर।

निःशेषक्लेशनिर्मुक्तममूर्त्तं परमाक्षरम् ।
निष्प्रपञ्चं व्यतीताक्षं पश्य स्वं स्वात्मनि स्थितम्।३४-१८।

भावार्थ—हे आत्मन्! तू अपने ही आत्मा मे स्थित सर्व क्लेशो से रहित अमूर्तीक, परम उत्कृष्ट, अविनाशी, निर्विकल्प और अतीन्द्रिय अपने ही आत्मस्वरूप का अनुभव कर। उसी को देख। यही निश्चय-चारित्र है।

वयमिह परमात्मध्यानदत्तावधानाः
परिकलितपदार्थास्त्यक्तसंसारमार्गाः ।
यदि निकषपरीक्षासु क्षमा नो तदानीं
भजति विफलभावं सर्वथैष प्रयासः ॥४६-१९॥

भावार्थ—मुनिराज विचारते हैं कि इस जगत मे हम परमात्मा के ध्यान में लीन हैं, पदार्थों के स्वरूप के ज्ञाता हैं, ससार के मार्ग के त्यागी हैं। यदि हम ऐसा होकर के भी उपसर्ग परीषहो की कसौटी से परीक्षा मे असफल हो जावे तो हमारा मुनिधर्म धारण का सर्व प्रयास वृथा ही हो जावे। इसलिए हमे कभी भी शान्तभाव का त्याग न करना चाहिए, कभी भी क्रोध के वश न होना चाहिए।

स्वासंवित्ति समायाति यमिनां तत्त्वमुत्तमम् ।
आसमन्ताच्छमं नीते कषायविषमज्वरे ॥७७-१९॥

भावार्थ—जब कषायो का विषमज्वर बिल्कुल शान्त हो जाता है तब ही सयमी मुनियो के भीतर उत्तम आत्मतत्व स्वसवेदनरूप झलकता है। अर्थात् तब ही वे शुद्धात्मा का अनुभव कर सकते हैं।

रागादिपकविश्लेषात्प्रसन्ने चित्तवारिणि।
परिस्फुरति निःशेषं मुनेर्वस्तुकदम्बकम् ॥१७—२३॥

भावार्थ—रागद्वेषादि कर्दम के अभाव से जब चित्तरूपी जल प्रसन्न या शुद्ध हो जाता है तब मुनि को सर्व वस्तुओ का स्वरूप स्पष्ट भासता है।

स कोऽपि परमानन्दो वीतरागस्य जायते।
येन लोकत्रयैश्वर्यमप्यचिन्त्यं तृणायते ॥१८-२३॥

भावार्थ—वीतरागी साधु के भीतर ऐसा कोई अपूर्व परमानन्द पैदा होता है कि जिसके सामने तीन लोक का अचिन्त्य ऐश्वर्य भी तृण के समान भासता है।

निखिलभुवनतत्वोद्भासनैकप्रदीपं
निरुपधिमधिरूढं निर्भरानन्दकाष्ठाम्।
परममुनिमनीषोद्भेदपर्यन्तभूत
परिकलय विशुद्धं स्वात्मनात्मानमेव ॥१०३—३२॥

भावार्थ—हे आत्मन्! तू अपने ही आत्मा के द्वारा सर्व जगत के तत्वो को दिखाने के लिए अनुपम दीपक के समान, उपाधिरहित, परमानन्दमय, परममुनियो को भेदविज्ञानसे प्रगट ऐसे आत्मा का अनुभव कर।

(२७) श्री ज्ञानभूषण भट्टारक तत्वज्ञानतरगिणी मे कहते हैं—

संग विमुच्य विजने वसंति गिरिगह्वरे।
शुद्धचिद्रूपसप्राप्त्यै ज्ञानिनोऽन्यत्र निःस्पृहाः ॥५-३॥

भावार्थ—ज्ञानी महात्मा इच्छा रहित होकर शुद्ध चैतन्य स्वरूप की प्राप्ति के लिए परिग्रह को त्याग कर एकान्त स्थान पर्वत की गुफा आदि मे तिष्ठते हैं।

निर्वृत्तिर्यत्र सावद्यात् प्रवृत्तिः शुभकर्मसु ।
त्रयोदशप्रकारं तच्चारित्रं व्यवहारतः ।।१४—१२।।

भावार्थ—जहा पापो से विरक्ति हो व शुभ कामो मे प्रवृत्ति हो वह व्यवहारनय से चारित्र है। मुनियो के वह तेरह प्रकार है।

सगं मुक्त्वा जिनाकार धृत्वा साम्य दृश धिय ।
यः स्मरेत् शुद्धचिद्रूप वृत्त तस्य किलोत्तमं ।।१६-१२।।

भावार्थ—जो कोई परिग्रह को त्याग कर व जिनेन्द्र क समान निर्ग्रंथरूप धारण कर समता, सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान का धारी हो, शुद्ध चैतन्य स्वरूप का ध्यान करता है, उसी के उत्तम चारित्र होना है।

शुध्दे स्वे चित्स्वरूपे या स्थितिरनिश्चला ।
तच्चारित्र पर विध्दि निश्चयात्कर्मनाशकृत् ।।१८-१२।।

भावार्थ—निश्चयनय से अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप मे जो निश्चलना से स्थिति प्राप्त करना वह कर्मो का नाशक निश्चय सम्यक्चारित्र है एसा जानो।

सत्पूज्यानां स्तुतिनतियजनं षट्कमावश्यकानां
वृत्तादीना दृढतरधरणं सत्तपस्तीर्थयात्रा ।
संगादीना त्यजनमजननं क्रोधमानादिकाना-
माप्तैरुक्त वरतरकृपया सर्वमेतध्दि शुध्द्यै ।।४-१३।।

भावार्थ—श्री अरहन्त भगवन्तो ने अत्यन्त कृपा करके बताया है कि ये सब काम आत्मा की शुद्धि के लिए ही करने योग्य है—(१) परम पूज्य देव, शास्त्र, गुरु की स्तुति, वन्दना व पूजा। (२) सामायिक प्रतिक्रमण आदि छ नित्य कर्मों का तथा सम्यक्चारित्र का दृढता से पालना। (३) उत्तम तप करना, (४) तीर्थयात्रा करनी, (५) परिग्रह आरम्भ आदि का त्यागना, (६) क्रोध, मान आदि कषायो का जीतना।

विशुध्दिसेवनासक्ता वसंति गिरिगह्वरे ।
विमुच्यानुपमं राज्यं खसखानि धनानि च ।।१७-१३।।

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी आत्मा को शुद्ध करना चाहते हैं, वे उसकी सिद्धि के लिए अनुपम राज्य, इन्द्रियसुख तथा धनादि परिग्रह को त्याग कर पर्वत की गुफा मे निवास करते हैं।

विशुद्धः परमो धर्मः पुंसि सैव सुखाकरः ।

परमाचरणं सैव मुक्तेः पथाश्च सव हि ॥१९-१३॥

तस्मात् सैव विधातव्या प्रयत्नेन मनीषिणा ।

प्रतिक्षणं मुनीशेन शुद्धचिद्रूपचिंतनात् ॥२०-१३॥

भावार्थ—आत्म-विशुद्धि ही परम धर्म है, यही आत्मा को सुख की खान है। यही परम चारित्र है, यही मोक्ष का मार्ग है। इसलिए बुद्धिमान मुनि का कर्तव्य है कि प्रतिक्षण सदा शुद्ध चैतन्यस्वरूप के मनन से इसी आत्म शुद्धि का अभ्यास करे।

व्रतानि शास्त्राणि तपांसि

निर्जने निवासमंतर्बहि:संगमोचनं ।

मौनं क्षमातापनयोगधारणं

चिच्चिंतयामा कलयन् शिवं श्रयेत् ॥११-१४॥

भावार्थ—जो कोई महात्मा शुद्ध चैतन्यरूप के मनन के साथ-साथ व्रतो को पालता है, शास्त्रों को पढता है, तप करता है, निर्जन स्थान मे रहता है, बाहरी भीतरी परिग्रह का त्याग करता है, मौन धारता है, क्षमा पालता है व आतापनयोग धारता है वही मोक्ष को पाता है।

शास्त्राद् गुरोः सधर्मादेर्ज्ञानमुत्पाद्य चात्मनः ।

तस्यावलंबनं कृत्वा तिष्ठ मुंचान्यसंगतिं ॥१०—१५॥

भावार्थ—शास्त्र को पढकर, गुरु से समझकर व साधर्मी की सगति से आत्मा के ज्ञान को पाकर उसी का सहारा लेकर बैठ और ध्यान कर, अन्य सगति का त्याग कर।

संगत्यागो निर्जनस्थानकं च

तत्वज्ञानं सर्वचिंताविमुक्तिः ।

निर्बाधत्वं योगरोधो मुनीनां
मुक्त्यै ध्याने हेतवोऽमी निरुक्ताः ।।८— १६।।

भावार्थ—परिग्रह का त्याग, निर्जन स्थान, तत्वज्ञान, सर्व चिन्ताओ का त्याग, बाधारहितपना, मन वचन काय का निरोध, ये ही ध्यान के साधन मोक्ष के प्रयोजन से कहे गए है।

क्षणे क्षणे विमुच्येत शुद्धचिद्रूपचितया ।
तदन्यचितया नूनं बध्येतैव न सशयः ।।६—१८।।

भावार्थ—यदि शुद्ध चैतन्य स्वरूप का चिन्तवन किया जावे तो क्षण-क्षण मे कर्मो से मुक्ति होती चली जाएगी और यदि परपदार्थो का चिन्तवन होगा तो प्रति समय कर्मो का बन्ध होता ही रहेगा, इसमे कोई सशय नही है।

(२८) प० बनारसीदासजी बनारसीविलास मे कहते है—

छप्पै

जिन पूजहु गुरुनमहु, जैनमतवैन बखानहु ।
सघ भक्ति आदरहु,जीव हिंसा न विधानहु ।।
झूठ अदत्त कुशील, त्याग परिग्रह परमानहु ।
क्रोध मान छल लोभ जीत, सज्जनता ठानहु ।।
गुणिसग करहु इन्द्रिय दमहु, देहु दान तप भावजुत ।
गहि मन विराग इहिविधि चहहु, जो जगमैं जीवनमुकत ।।८।।

सवैया ३१

सुकृत को खान इन्द्रपुरी की नसैनो जान,
पाप रज खण्डन को, पौनरासि पेखिये ।
भव दुख पावक बुझायवे को मेघ माला,
कमला मिलायवे को दूती ज्यो विशेखिये ।।
सुगति बधू सो प्रीत, पालवेको आलीसम,
कुगति के द्वार दृढ, आगलसी देखिये ।
ऐसी दया कीजै चित, तिहू लोक प्राणी हित,
और करतूत काहू, लेखे मे न लेखिये ।।२५।।

जाके आदरत महा रिद्धि सो मिलाप होय,
मदन अव्याप होय कर्म बन दाहिये।
विघन विनास होय गीरवाण दास होय,
ज्ञान को प्रकाश होय भो समुद्र थाहिये॥
देवपद खेल होय मगल सो मेल होय,
इन्द्रिनि की जेल होय मोषपथ गाहिये।
जाकी ऐसी महिमा प्रघट कहै **कौरपाल**,
तिहुँ लोक तिहुँकाल सो तप सराहिये॥८२॥
पूरव करम दहै, सरवज्ञ पद लहैं,
गहै पुण्यपथ फिर पाप मैं न आवना।
करुना की कला जागै कठिन कषाय भागै,
लागै दानशील तप सफल सुहावना॥
पावै भवसिंधु तट खोलै मोक्षद्वार पट,
शर्म साध धर्म की धरा मै करै धावना।
एते सब काज करै अलख को अग धरै,
चेरी चिदानन्द की अकेली एक भावना॥८६॥

सवैया २३।

धीरज तात क्षमा जननी, परमारथ मीत महा रुचि भासी।
ज्ञान सुपुत्र सुता करुणा मति, पुत्रवधू समता प्रति भासी॥
उद्यम दास विवेक सहोदर, बुद्धि कलत्र महोदय दासी।
भाव कुटुम्ब सदा जिनके ढिग, यो मुनि को कहिए गृहवासी॥७॥

(२६) प० बनारसीदास जी नाटक समयसार मे कहते है—

सवैया ३१।

लज्जावत दयावन्त प्रसन्न प्रतीतवत,
पर दोप को ढकैया पर उपकारी है।
सौम्यदृष्टि गुणग्राही गरिष्ट सबको इष्ट,
सिष्ट पक्षी मिष्टवादी दीरघ विचारी है॥
विशेषज्ञ रसज्ञ कृतज्ञ तज्ञ धरमज्ञ,
न दीन न अभिमानी मध्य व्यवहारी है।
सहज विनीत पाप क्रियासो अतीत ऐसो,
श्रावक पुनीत इकवीस गुणधारी है॥५५॥

कोई क्रूर कष्ट सहे तप सो शरीर दहे,
धूम्रपान करे अधो मुख व्हैके भूले है ।
केई महाव्रत गहे क्रिया मे मगन दहे,
वहे मुनिभार पै पयार कैसे पूले हैं ।।
इत्यादिक जीवनि को सर्वथा मुकति नाँहि,
फिरे जगमाहि ज्यो वयार के बघूले हैं ।
जिन्ह के हिये मे ज्ञान तिन्ह ही को निरवाण,
करम के करतार भरम मे भूले है ।।२०।।

ज्ञान भान भासत प्रमाण ज्ञानवन्त कहे,
करुणा निधान अमलान मेरा रूप हैं ।
काल सो अतीत कर्म चाल सो अभीत जोग,
जाल सो अजीत जाकी महिमा अनूप है ।।
मोह को विलास यह जगत को वास मैं तो,
जगत सो शून्य पाप पुण्य अन्ध कूप है ।
पाप किने किये कोन करे करि है सो कौन,
क्रिया को विचार सुपने की दौर धूप है ।।६१।।

भेप मे न ज्ञान नहि ज्ञान गुरु वर्तन मे,
मन्त्र जन्त्र गुरु तन्त्र में न ज्ञान की कहानी है ।
ग्रन्थ मे न ज्ञान नही ज्ञान कवि चातुरी मे,
बातनि मे ज्ञान नही ज्ञान कहा बानी है ।
ताते वेष गुरुता कवित्त ग्रन्थ मन्त्र बात,
इनीते अतीत ज्ञान चेतना निशानी है ।
ज्ञानही मे ज्ञान नही ज्ञान और ठोर कहू,
जाके घट ज्ञान सोही ज्ञान की निदानी है ।।१११।।

हासी मे विषाद बसे विद्या मे विवाद बसे,
काया मे मरण गुरु वर्तन मे हीनता ।
शुचि मे गिलानि बसे प्रापती मे हानि बसे,
जय मे हारि सुन्दर दशा मे छबि छीनता ।।
रोग बसे भोग मे सयोग मे वियोग बसे,
गुण मे गरव बसे सेवा माहि दीनता ।
और जग रीत जेती गर्भित असाता तेति,
साता की सहेली है अकेली उदासीनता ।।६।।

जे जीव दरवरूप तथा परयायरूप,
दोऊ नै प्रमाण वस्तु शुद्धता गहत है ।
जे अशुद्ध भावनि के त्यागी भये सरवथा,
विषैसो विमुख ह्वै विरागता चहत है ।।
जे जे ग्राह्य भाव त्याज्यभाव दोउ भावनिको,
अनुभौ अभ्यास विषै एकता करत है ।
तेई ज्ञान क्रिया के आराधक सहज मोक्ष,
मारग के साधक अबाधक महत है ।।३५।।

(३०) प० द्यानतरायजी द्यानतविलास मे कहते हैं—

सवैया ३१ ।

काहूसौ ना बोलै बैना जो बोलै तौ साता दैना,
देखै नाही नैनासेती रागी दोषी होइ कै ।
आसा दासी जानै पाखै माया मिथ्या दूर नाखै,
राधा हीये माही राखै सूधी दृष्टी जोइ कै ।।
इन्द्री कोई दौरै नाही आपा जानै आपामाही,
तेई पावै मोख ठाही कर्मै मैल धोइ कै ।
ऐसे साधू बन्दी प्रानी हीया वाचा काया ठानी,
जातै कीजै आपा ज्ञानी भर्मै बुद्धी खोइ कै ।।२०।।

छप्पै

एक दया उर धरौ, करौ हिंसा कछु नाही ।
जति श्रावक आचरौ, मरो मति अव्रतमाहीं ।।
रतनत्रै अनुसरौ, हरौ मिथ्यात अँधेरा ।
दसलच्छन गुन वरौ, तरौ दुख नीर सबेरा ।।
इक सुद्ध भाव जल घट भरौ, डरौ न सु-पर-विचार मैं ।।
ए धर्म पच पालौ नरौ, परौ न फिरि ससार मैं ।।११।।

सवैया ३१

आव के बरस घमै ताके दिन केई गनै,
दिन मैं अनेक स्वास स्वासमाहि आवली ।
ताके बहु समै धार तामैं दोष है अपार,
जीव भाव के विकार जे जे बात बावली ।।
ताकौ दन्ड अब कहा लैन जोग सक्ति महा,
हो तो बलहीन जरा आवति उतावली ।

द्यानत प्रनाम करै चित्तमांहि प्रीत धरै,
नासियै दया प्रकास दास को भवावली ।।११।।

सवैया २३

भौतन-भोग तज्यौ गहि जोग, सजोग वियोग समान निहारे ।
चन्दन लावत सप कटावत, पुष्प चढावत खर्ग प्रहारे ।।
देहसौ भिन्न लखै निज चिन्न, न खिन्न परीसह मै सुख धारे ।
द्यानत साध समाधि आराधिकै, मोह निवारिकै जोति विचारे ।।१६।।
आठ धरै गुनमूल दुआदस, वृत्त गहै तप द्वादस साधे ।
चारि हु दान पिवै जल छान, न राति भखै समता रस लाधे ।।
ग्यारह भेद लहैं प्रतिमा सुभ, दर्सन ग्यान चरित्त अराधे ।
द्यानत त्रेपन भेद क्रिया यह, पालत टालत कर्म उपाधे ।।१६।।
लोगनिसो मिलनौ हमको दु ख, साहनिसौ मिलनौं दु ख भारी ।
भूपतिसौ मिलनौ मरनै सम, एक दसा मोहि लागत प्यारो ।।
चाह की दाह जलै जिय मूरख, बेपरवाह महा सुखकारी ।
द्यानत याहीतै ग्यानी अवछक, कर्म की चाल सबै जिन टारी ।।२७।।
निन्दक नाहिं क्षमा उर माहि, दु खी लखि भाव दयाल करै हैं ।
जीव को घात न झूठ की वात न, लेहि अदात न सील धरै हैं ।।
गर्व गयौ गल नाहिं कहू छल, मोम सुभाव सो जोम हरै हैं ।
देह सौं छीन हैं ग्यान मे लीन हैं, द्यानत ते सिवनारि वरै हैं ।।४६।।

सवैया ३१

वृच्छ फलै पर--काज नदी और के इलाज,
गाय-दूध सन्त-धन लोक-सुखकार है ।
चन्दन घसाइ देखौ कचन तपाई देखौ,
अगर जलाई देखौ शोभा विसतार है ।।
सुधा होत चन्दमाहिं जैसे छाहिं तरु माहि,
पाले मैं सहज सीत आतप निवार है ।
तैसे साध लोग सब लोगनि को सुखकारी,
तिनही कौ जीवन जगत माहिं सार है ।। ८ ।।

सवैया २३

क्रोध सुई जु करै करमो पर, मान सुई दिढ भक्ति बढावे ।
माया सुई परकष्ट निवारत, लोभ सुई तप सौं तन तावै ।।

राग सुई गुरु देव पै कीजिये, दोष सुई न विषै सुख भावै।
मोह सुई जु लखै सब आपसे, द्यानत सज्जन सो कहिलावै ॥११॥
पीर सुई पर पीर विडारत, धीर मुई जु कषाय सौ जूझै।
नीति सुई जो अनीति निवारत, मोत सुई अघसौ न अरूझै ॥
औगुन सो गुन दोष विचारत, जो गुन सो समता रस बूझै।
मजन सो जु करे मन मजन, अजन सो जु निरजन सूझै ॥१२॥

(३१) भैया भगवतीदास जी ब्रह्मविलास मे कहते हैं —

सवैया ३१

दहिकै करम--अघ लहिके परम मग,
गहिके धरम ध्यान ज्ञान की लगन है।
शुद्ध निज रूप धरै परसौ न प्रीति करै,
बसत शरीर पै अलिप्त ज्यो गगन है॥
निश्चे परिणाम साधि अपने गुणे अराधि,
अपनी समाधि मध्य अपनी जगन है।
शुद्ध उपयोगी मुनि राग द्वेष भये शून्य,
परसो लगन नाहि आपमे मगन है ॥ ६ ॥

मिथ्यामतरीत टारी, भयो अणुव्रतधारी,
एकादश भेद भारो हिरदै वहतु है।
सेवा जिनराज की है, यहै शिरताज की है,
भक्ति मुनिराज की है चित्त मे चहतु है॥
बीसद्वै निवारी राति भोजन न अक्ष प्रीति,
इन्द्रिनि को जीति चित्त थिरता गहतु है।
दयाभाव सदा धरै, मित्रता प्रगट करै,
पाप मल पक हरै मुनि यो कहतु है ॥ ७ ॥

आतम सरूप ध्रुव निर्मल तत्त्व जानि,
महाव्रतधारी वन माहि जाहि वसे है।
मोहनी जनित जे जे विकलप जाल हुते,
तिनको मिटाइ निज अन्तरग वसे है॥
मन रूप पवन सो अचल भयो है ज्ञान,
ध्यान लाइ ताही के आनन्द रस रसे हैं।
तजि सब सग भए गिरि ज्यो अडोल अग,
तेई मुनि जयवन्त जगत मे लसे हैं ॥ ७ ॥

परमाणु मात्र पर वस्तु सो न राग भाव,
विषय कषाय जिन्हे कबही न छाय हैं।
मन वच काय के विकार की न छाया रही,
पाया शुद्ध पद तहा थिरभाव धाय है ॥
जिनके विलास मे विनाश दीसे बन्ध ही को,
सहज प्रकाश होई मोक्ष को मिलाप है।
धर्म के जहाज मुनिराज गुन के समाज,
लगने स्वरूप मे विराजिहै आप है ॥ ५ ॥

सवैया २३

पथ वहै सरवज्ञ जहाँ प्रभु, जीव अजीव के भेद बतैये।
पथ वहै जु निग्रन्थ महामुनि, देखत रूप महासुख पैये ॥
पथ वहै जहँ ग्रन्थ विरोध न, आदि औ अन्तलो एक लखैये।
पथ वहै जहाँ जीव दया वृष, कर्म खपाइकै सिद्ध मे जैये ॥२३॥
पथ वहै जहँ साधु चलै, सब चेतन की चरचा चित लैये।
पथ वहै जहँ आप विराजत, लोक अलोक के ईश जु गैये ॥
पथ वहै परमान चिदानन्द, जाके चलै भव भूल न ऐये।
पथ वहै जहँ मोक्ष को मारग, सूधे चले शिवलोक मे जैये ॥२४॥

सवैया ३१

नर देह पाये कहा पण्डित कहाये कहा,
तीरथ के न्हाये कहा तीर तो न जैहै रे।
लच्छि के कमाये कहा लच्छ के अघाये कहा,
छत्र के धराये कहा छीनता न ऐहै रे ॥
केश के मुँडाये कहा भेष के बनाये कहा,
जोवन के आये कहा, जराहू न खैहै रे।
भ्रम को विलास कहा दुर्जन मे वास कहा,
आतम प्रकाश बिन पीछे पछितैहै रे ॥ ६ ॥
जाके होय क्रोध ताके बोध को न लेश कहू,
जाके उर मान ताके गुरु को न ज्ञान है।
जाके मुख माया बसै ताके पाप केई लशै,
लोभ के धरैया ताको आरत को ध्यान है ॥

चारो ये कषाय सु तौ दुर्गति ले जाय 'भैया',
इहा न वसाय कछू जोर बल प्रान है।
आतम अधार एक सम्यक प्रकार लशै,
याही ते आधार निज थान दरम्यान हैं॥ २३॥

छप्पै

जो अरहन्त सुजीव, जीव सब सिद्ध भणिज्जे।
आचारज पुन जीव, जीव उवझाय गणिज्जे॥
साधु पुरुष सव जीव, जीव चेतन पद राजे।
सो तेरे घट निकट, देख निज शुद्ध विराजे॥
सब जीव द्रव्य नय एकसे, केवल ज्ञान स्वरूप मय।
तस ध्यान करहु हो भव्यजन, जो पावहु पदवी अखय॥११॥

सवैया २३

जो जिनदेव की सेव करै जग, ता जिनदेव सो आप निहारै।
जो शिवलोक बसै परमातम, तासम आतम शुद्ध विचारै॥
आप मे आप लखै अपनो पद, पापरु पुण्य दुह निरवारै।
सो जिनदेव को सेवक है जिय, जो इहि भाति क्रिया करतारै॥१२॥

सवैया ३१

एक जीव द्रव्य मे अनन्त गुण विद्यमान,
एक एक गुण मे अनन्त शक्ति देखिये।
ज्ञान को निहारिये तो पार याको कहुँ नाहि,
लोक ओ अलोक सब याही मे विशेखिये॥
दर्शन की ओर जो विलोकिये तो वहै जोर,
छहौ द्रव्य भिन्न भिन्न विद्यमान पेखिये।
चारित सो थिरता अनन्त काल थिर रूप,
ऐसे ही अनन्त गुण भैया सब लेखिये॥१३॥
महा मन्त्र यहैं सार पच पर्म नमस्कार,
भो जल उतारै पार भव्य को अधार है।

विघ्न को विनाश करै, पाप कर्म नाश करै,
आतम प्रकाश करै पूरव को सार है।।
दुख चकचूर करै, दुर्जन को दूर करै,
सुख भरपूर करै परम उदार है।
तिहूँ लोक तारन को आत्मा सुधारन को,
ज्ञान विस्तारन को यहै नमस्कार है।। ६।।

छप्पै

दुविधि परिग्रह त्याग, त्याग पुनि प्रकृति पच दश।
गहहिं महा व्रत भार, लहहिं निज सार शुद्ध रस।।
धरहिं सुध्यान प्रधान ज्ञान अम्रत रस चक्खहिं।
सहहिं परीषह जोर, व्रत निज नीके रक्खहिं।।
पुनि चढहि श्रेणि गुण थान पथ, केवल पद प्रापति करहिं।
सत चरण कमल वन्दन करत, पाप पुज पकति हरहिं।।११।।

सवैया ३१

भरम की रीति भानी परम सों प्रीति ठानी,
धरम की बात जानी ध्यावत घरी घरी।
जिनकी बखानी बानी सोई उर नीके आनी,
निहचै ठहरानी दृढ ह्वै के खरी खरी।।
निज निधि पहचानी तब भयौ ब्रह्म ज्ञानी,
शिवलोक की निशानी आपमे धरी धरी।
भौ थिति विलानी अरि सत्ता जु हठानी,
तब भयो शुद्ध प्रानी जिन वैसी जे करी करी।।१२।।

— ० —

श्रीमद् रायचन्द्र कवि, शत अवधान कराय।
गुर्जर भू भूषित कियो, परम बुद्धि प्रगटाय ॥२५॥

जैन शास्त्र बहु देखकर, अध्यातम रुचि धार।
निश्चय नय के मनन से, उपजो सम्यक् सार ॥२६॥

सहजानन्द विलास मे, रत्नत्रय को पाय।
सफल जन्म कवि ने किया, चारित पन्थ बढाय ॥२७॥

दिव्य ज्योति निज तत्व को, प्रगट भई उमगाय।
वाणी सरस सुहावनो, बुधजन प्रेम बढाय ॥२८॥

व्यवहारी कितने हुते, क्रिया काण्ड मे लीन।
आतम तत्व लखे नही, रहे साधु सगहीन ॥२९॥

निजको तत्व दिखाइयो, भए सत्य पथ धार।
निजानन्द को पाय के, उमगे अधिक अपार ॥३०॥

थानक धारी साधुवर, बहु व्यवहार प्रवीण।
निश्चय पथ ज्ञाता नही, बाह्य तप मे लीन ॥३१॥

सो श्रीमद् परसाद से, पायो तत्व असग।
परम शिष्य उनके भए, श्री लघुराज अभग ॥३२॥

श्रीमद् के पश्चात् बहु, किया प्रकाश स्वतत्व।
बहुजन शिव मारग लखो, तजा स्वकल्पित तत्व ॥३३॥

निकटानन्द अगास मे, आश्रम रम्य बनाय।
नाम सनातन जैन का, दियो सकल सुखदाय ॥३४॥

श्री निज मन्दिर तह लस, उभय जु एकी थान।
दिगम्बरी श्वेताम्बरी, कर भक्ति सब आन ॥३५॥

सर्व धर्म पुस्तक मिलै, अध्यातम रस पोष।
पढे बहुत नर नारि तहॅ, जानै मारग मोष ॥३६॥

नित प्रति धर्म उपदेश की, वर्षा करत महान।
श्री लघुराज दयालु हो, सुनै भव्य दे कान ॥३७॥

बहुत बार सगति मिली, महाराज लघुराज।
अध्यातम चर्चा चली, भयो सु आतम काज ॥३८॥

सहज सुख साधन निमित्त, जैन रिषिन के वाक्य।
जो सग्रह हो जाये तौ, पढें भविक ते वाक्य ॥३९॥

ऐसी इच्छा पाय के, लिखा ग्रन्थ यह सार।
भूल चूक कुछ होय ता, विद्वन् लेहु सम्हार ॥४०॥

लेखक नाम निक्षेप से, है सीतल परसाद।
लक्ष्मणपुर वासी सही, भ्रमत हरत परमाद ॥४१॥

ब्रह्मचारि श्रावक कहै, लोग भेष को देख।
प्रेम कछुक वर्त्त सही, श्री जिन आगम पेख ॥४२॥

छप्पन वय अनुमान मे, अमरावतिपुर आय।
वर्षा काल बिताइयो, बहु श्रावक सग पाय ॥४३॥

सिंहई पन्नालाल जी, प्रोफेसर हीरालाल।
श्री जमना परसाद हैं, सब जज चित्त रसाल ॥४४॥

साधर्मी जन सग मे, सुख से काल बिताय।
लिखो ग्रन्थ निज हेतु हो, ज्ञान ध्यान मन लाय ॥४५॥

आश्विन सुदि अष्टम दिना, मगल दिन शुभ पूर्ण।
वीर मुकत सम्वत् तभी, चोविस साठ अपूर्ण ॥४६॥

विक्रम उन्निस इक्यानवे, सन् उन्निस चौंतीस।
सोलह अक्टूबर सुभग, वन्दहुँ वीर मुनीश ॥४७॥

जग जन भाव बढ़ाय के, पढ़ै सुनै यह सार।
मनन करै धारण करै, लहैं तत्त्व अविकार ॥४८॥

यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ जिनवाणी।
इह विधि गये न मिलै सुमनि ज्यो उदधि समानी ॥

प्रत्येक प्राणी को अनन्तकाल निगोद मे रहने के बाद मात्र २००० दो हजार सागर कुछ अधिक समय के लिए त्रसपर्याय मिलती हैं जिसमे १६ भव मनुष्य, १६ भव स्त्री पर्याय एव १६ नपुसक के जन्म प्राप्त होते हैं। यदि मनुष्य भव मे अपना आत्म-कल्याण नही किया तो फिर अनन्तकाल के लिए निगोद मे जाना पडता है। अनन्त भविष्य के जन्मो का अन्त इसी पर्याय मे करना होगा। जितनी चिन्ता शरीर की है उससे लाख गुणी चिन्ता आत्म कल्याण की इसी भव में करनी होगी तभी दु खो से छुटकारा होगा।

भजन (ब्र० शीतल प्रसाद जी कृत)

सुन मूरख प्राणी, कै दिन की जिन्दगानी ॥ टेक ॥
दिन-दिन आयु घटत है तेरी, ज्यो अजुली का पानी,
काल अचानक आन पडे, तब चले न आना कानी ॥ १ ॥

कौडी कौडी माया जोडी, बन गये लाख करोरी।
अत समय सब छूट जायेगा, न तोरी न मोरी ॥ २ ॥

ताल गगन पाताल बनो मे, मौत कही न छोडी।
तहखानो तालो के अन्दर, गर्दन आन मरोडी ॥ ३ ॥

अह मिक्को खलु सुद्धो दसण णाण-मइयो सदा रुवी।
ण वि अस्थिमज्झ किंचि वि अण्ण परमाणु मित्तपि ॥ ३८ ॥

निश्चय से मैं एक हू, शुद्ध हू, दर्शन ज्ञानमय हू, सदाकाल अरूपी हू, अन्य पर द्रव्य परमाणु मात्र भी मेरा कुछ नही है।

तत्प्रति प्रीतिः चित्तेन तस्य वार्तापि ही श्रुता।
निश्चित स भवेद् भव्यो भावि निर्वाण भाजनम् ॥

जो व्यक्ति आत्मा के गुणो की चर्चा भी यदि प्रसन्नचित्त से सुनता है तो वो भव्य निश्चित ही (शीघ्र) निर्वाण का पात्र है।

श्री महावीर भगवान की जय